प्रकाशक
हिन्दुस्तानी एकेडेमी,
इलाहाबाद

•

प्रथम संस्करण
१९६८

•

मूल्य सोलह रुपया

•

मुद्रक
पीके आर्ट प्रेस,
इलाहाबाद

माँ-श्री अरविंद

को

समर्पित

# प्रकाशकीय

"मध्ययुगीन हिन्दी कृष्ण-भक्तिधारा और चैतन्य सम्प्रदाय" का प्रकाशन हर्ष का विषय है। भारतीय अध्यात्म की भावधर्मिता कृष्ण-भक्ति आन्दोलन को पाकर वैदूर्यमणि की तरह आलोकित हो गयी और मध्ययुग का प्राय: संपूर्ण साहित्य उस आलोक में दिव्यता प्राप्त कर सका। डॉ० मीरा श्रीवास्तव ने इस विषय पर विशेष परिश्रम से शोध कार्य किया और उन्हें प्रयाग विश्वविद्यालय से डी० फिल्० की उपाधि मिली है। उनका यह प्रयास निश्चय ही स्तुत्य है। विदुषी लेखिका ने बंगाल के चैतन्य-सम्प्रदाय की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि और बंगभूमि में रचे गये कृष्ण-साहित्य को हिन्दी की ब्रजभूमि में विरचित विपुल कृष्ण-भक्ति साहित्य के समक्ष रखकर मध्ययुग की सांस्कृतिक चेतना को परखा है और समस्त सम्बन्धित साहित्य का विवेचन किया है। हिन्दी में यह अपने ढंग का अनूठा प्रयास है।

हमारा विश्वास है कि प्रस्तुत ग्रन्थ सुधी-पाठकों और विद्वानों के बीच उपयोगी सिद्ध होकर समादृत होगा।

हिन्दुस्तानी एकेडेमी,
इलाहाबाद
जनवरी, १९६८

उमाशंकर शुक्ल
सचिव तथा कोषाध्यक्ष

# प्राक्कथन

डॉ० मीरा श्रीवास्तव पहली महिला हैं जिन्हें प्रयाग विश्वविद्यालय से डी० लिट्० की उपाधि प्राप्त हुई और उसका श्रेय हिन्दी-विभाग को है जिससे सम्बद्ध रह कर उन्होंने अपना समस्त शोध-कार्य सम्पन्न किया। 'मध्ययुगीन हिन्दी कृष्ण-भक्तिधारा और चैतन्य-सम्प्रदाय' नामक उनका यह ग्रन्थ डी० फिल्० उपाधि के लिए सन् १९६१ में प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध है जिसके लेखन में उन्हें भूतपूर्व विभागाध्यक्ष डॉ० धीरेन्द्र वर्मा एवं डॉ० रामकुमार वर्मा का गौरवपूर्ण निर्देशन प्राप्त हुआ है। उनके परीक्षकों में डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी जैसे गण्यमान्य विद्वान् थे, जिन्होंने उनके कार्य की मुक्त हृदय से सराहना की है। हिन्दुस्तानी एकेडेमी ने इसके प्रकाशन की संस्तुति का दायित्व मुझे दिया था, अतएव इसे मुद्रित रूप में अपने सामने पाकर मैं सहज परितोष एवं आन्तरिक सुख का अनुभव कर रहा हूँ। अच्छा होता यदि लेखिका की विदेश-यात्रा से पूर्व ही इसका प्रकाशन हो जाता, परन्तु कतिपय अनिवार्य कारणों से वैसा संभव न हो सका। अब भारत में प्रकाशित अपने प्रथम ग्रंथ की प्रति डॉ० मीरा श्रीवास्तव को पहली बार इंग्लैण्ड में देखने को मिलेगी; मैं उनके उस एकाकी उपलब्धिसुख की मनोदशा का अनुमान अभी से कर रहा हूँ।

जिस तुलनात्मक अध्ययन का सूत्रपात गुजराती और ब्रजभाषा कृष्णभक्ति विषयक मेरे शोध-कार्य से प्रयाग विश्वविद्यालय में ही हुआ, उसकी अगली कड़ी बना डॉ० रत्नकुमारी का '१६वीं शती के हिन्दी और बंगाली वैष्णव कवि' शीर्षक शोध-प्रबन्ध। किंतु डॉ० मीरा श्रीवास्तव ने जो कार्य किया है वह उससे अनुप्रेरित होते हुए भी कहीं अधिक व्यापक एवं गम्भीर है। चैतन्य-सम्प्रदाय का प्रभाव ब्रज-प्रदेश को पार करता हुआ गुजरात के वैष्णव कवि नरसी और मीरा पर भी पड़ा, ऐसी के० एम० मुन्शी आदि की मान्यता है। भक्ति-आन्दोलन का अखिल भारतीय स्वरूप अपनी पूरी शक्ति और समृद्धि के साथ तभी सामने आता है जब उसके प्रान्तीय रूपों को तुलनात्मक दृष्टि से, क्षेत्रीय सीमाओं से ऊपर उठते हुए, देखा जाय। मीरा जी ने

सी दृष्टि का अपने शोध-कार्य में आद्यन्त परिचय दिया है और इतर प्रान्तीय साहित्य को पूरी सहानुभूति एवं आत्मीयता से आकलित तथा मूल्यांकित किया है। उन्होंने चैतन्य-सम्प्रदाय से ब्रज के इतर भक्ति-सम्प्रदायों की विचार-धारा की तुलना करते हुए उनके बीच तात्त्विक समन्वय की खोज जिस संश्लेषणात्मक रीति से की है, वह सराहनीय है। औपनिषदिक आनन्दवाद से प्रेरणा ग्रहण करते हुए रसात्मक वैष्णव आनन्दवाद ने रागानुगा-भक्ति को बंगाल में कैसा विशिष्ट रूप प्रदान किया, इसका सम्यक् अनुशीलन उनके इस ग्रन्थ में यथेष्ट जागरूकता के साथ किया गया है। 'उज्ज्वलनीलमणि' और 'हरिभक्तिरसामृतसिंधु' ने माधुर्य भाव को जैसी शास्त्रीयता प्रदान की है, वह भक्ति-रस को काव्य-रस से उत्कृष्टतर सिद्ध करने में ही सफल नहीं हुई, वरन् उसने मानव मनोभावों को गहरी आध्यात्मिक चेतना से सम्पृक्त करने में भी सफलता पायी है और लेखिका पर इन ग्रंथों का पूरा प्रभाव लक्षित होता है।

दार्शनिक सिद्धान्तों के विश्लेषण-क्रम में लीला आदि के स्वरूप की तात्त्विक व्याख्या पर्याप्त प्रमाणों के साथ नवीन समन्वयात्मक दृष्टिकोण से की गयी है। इसी प्रसंग में माया और अविद्या की समस्या उठाते हुए अपनी ओर से लेखिका ने गोपन-प्रकाशन के क्रीड़ा-भाव की स्थिति एवं लीलातत्त्व के अनुरूप समाधान भी प्रस्तुत करने की चेष्टा की है। उसकी यह धारणा कि 'व्यामोहिका माया आनन्द-ब्रह्म की गोपन-लीला में साधक होती है', वैष्णव-भक्ति के व्यापक स्वरूप से संगति रखती है। दार्शनिक दृष्टि से इसे ब्रह्मसूत्र के 'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्' से सम्बद्ध किया जा सकता है। वैष्णवमत ने मोक्ष से भक्ति को श्रेष्ठतर उद्घोषित किया है और साधन न मान कर साध्य का पद दिया है। अद्वैत से भक्ति-सिद्धान्त के इस भेद को लेखिका ने न केवल दृष्टि में रक्खा है, वरन् यह भी स्पष्ट रूप से निर्दिष्ट किया है कि अणु-विभु, जीव-ब्रह्म परस्पर ओत-प्रोत रहते हैं और वैष्णवों की ऐसी मान्यता उक्त लीला-भाव से ही निष्पन्न होती है। दार्शनिक सिद्धान्तों की जो नवीन व्याख्याएँ लेखिका ने स्थान-स्थान पर की हैं, वे प्रायः श्री अरविन्द के उद्धरणों से समर्थित हैं जिन पर लेखिका की विशेष आस्था प्रतीत होती है। अरविन्द की धारणाओं को गम्भीर रूप से ग्रहण करने तथा मध्यकालीन चिन्तन को भी प्रायः उतनी ही गहराई से आत्मसात् करते हुए दोनों के समन्वय की जो चेष्टा लेखिका ने की है, उसे अनेक अंशों में मौलिकता का श्रेय मिलना चाहिए।

भक्ति की तात्त्विक व्याख्या में आधुनिक शब्दावली और अभिव्यक्ति की जो दीप्ति सारे शोध-प्रबन्ध में व्याप्त है, वह विशेष ध्यान आकृष्ट करती है। पिष्टपेषण

और रूढ़ शाब्दिक अनुकथन से हटकर डॉ० मीरा श्रीवास्तव ने अपनी वैचारिक अभिव्यक्ति का स्वतन्त्र मार्ग निर्मित किया है, यह उनके भक्ति के विश्लेषण एवं निरूपण से प्रकट है। 'आत्मेन्द्रिय की लिप्सा काम है किन्तु सच्चिदानन्द की तृप्ति प्रेम है, जैसे कथन इस बात के द्योतक हैं कि वैष्णव-भक्ति का मूल रूप लेखिका के आगे सर्वथा स्पष्ट रहा है। 'भक्तिरस का योगदान' शीर्षक से छठे प्रकरण के उत्तरांश में भक्तिरस की व्यापकता के आकलन के साथ-साथ भेद-प्रभेद निदर्शन की अनुपादेयता और चमत्कारप्रियता की ओर भी दृष्टिपात किया गया है जो तटस्थ एवं औचित्यपूर्ण विवेचन-क्षमता का परिचायक है।

कृष्ण-भक्ति के सांस्कृतिक मूल्यांकन में लेखिका ने मानवीयता और लोकपक्ष को पर्याप्त महत्व दिया है। यह आधुनिक विचारधारा के अनुरूप है और प्रबन्ध की गरिमा को बढ़ाता है। ब्रज और बंगाल के बीच सांस्कृतिक आदान-प्रदान, पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या तथा सिद्धान्त-तालिका को परिशिष्ट रूप में देकर शोध-प्रबन्ध को और भी उपादेय बना दिया गया है। विस्तृत सहायक-ग्रंथों की सूची से ज्ञात होता है कि इस अध्ययन में अनेक हस्तलिखित ग्रंथों से भी सहायता ली गयी है। यह तथ्य भी प्रबन्ध के महत्व की ओर इंगित करता है।

मैं इसके प्रकाशन के निमित्त डॉ० मीरा श्रीवास्तव और हिन्दुस्तानी एकेडेमी दोनों को हार्दिक बधाई देता हूँ और विश्वास करता हूँ कि जिज्ञासुओं एवं विद्वानों द्वारा विदुषी लेखिका की इस शोध-कृति का समुचित समादर होगा। मैं यह भी कामना करता हूँ कि मीरा जी का डी० लिट्० का शोध-प्रबन्ध 'कृष्ण-काव्य में सौन्दर्य-बोध एवं रसानुभूति' भी इसी प्रकार शीघ्र प्रकाशित होकर सबके सामने आये जिससे उनके असाधारण व्यक्तित्व का और अधिक परिचय सबको प्राप्त हो सके।

मोती महल — जगदीश गुप्त

२४ जनवरी, १९६८

# भूमिका

मध्ययुग की कृष्णभक्ति-काव्यधारा प्रान्तों के पुलिनों को तोड़ कर उमड़ी। एक ही आनन्द-ब्रह्म की श्याम-यमुना ने व्रज और बङ्गाल को उन्मादित कर दिया। साम्प्रदायिक ग्रंथों ने अपने-अपने आचार्यों को श्रेष्ठ सिद्ध करने की जो भी कोशिश की हो, कृष्णभक्ति के प्रवर्तक आचार्यगण एक ही आराध्य के नाते परस्पर संगुम्फित थे, सजातीय थे। मध्ययुग के कृष्णभक्तों का एक सामान्य कुल था—राधावल्लभी। हरिरामव्यास अपने कुटुम्ब का ब्योरा देते हुए उसमें रूप, सनातन, सूरदास, परमानन्ददास, मीरां, स्वामी हरिदास आदि सबका नाम परिगणित करते हैं।[1] चैतन्य-मत के विद्वान् षड्गोस्वामियों—सनातन, रूप, जीव, रघुनाथदास, गोपाल भट्ट, रघुनाथ भट्ट—का स्थायी निवास व्रज ही था। बङ्गाल के अन्य भक्त भी आराध्य के धाम का दर्शनसेवन करने प्रायः वृन्दावन आया-जाया करते थे। फलस्वरूप, मध्ययुग में व्रज और बङ्गाल की कृष्णभक्ति एक-दूसरे के प्रदेश में संवाहित होती रही। कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि बङ्गाल और व्रज की कृष्णभक्ति की अपनी-अपनी विशिष्ट प्रतिभा नहीं है, वरन् मध्ययुग में जो कृष्णभक्तिधारा उच्छलित हुई उसमें दोनों की प्रतिभाओं का सङ्गम था। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में दोनों प्रान्तों के कृष्णभक्ति-आन्दोलन के विविध पक्षों पर विचार करते हुए और उन्हें संश्लेषणात्मक रीति से समेटते हुए, उनमें निहित समन्वय को खोजने का प्रयत्न किया गया है।

मध्ययुगीन कृष्णभक्ति के दर्शन, भक्ति, साहित्य, संस्कृति आदि सभी पहलुओं का विवेचन किया गया है। कवियों की नामावली तथा उनके रचना-काल को नए सिरे से उठाने की आवश्यकता नहीं समझी गई क्योंकि इस दिशा में दिनेशचन्द्र सेन, सुकुमार सेन, सतीशचन्द्रराय जैसे आधुनिक बङ्गाली विद्वान् तथा हिन्दी के कुछ शोध-प्रबन्ध ठोस कार्य कर चुके हैं। चैतन्य-सम्प्रदाय सम्बन्धित सामग्री कलकत्ता की नेशनल लाइब्रेरी, कलकत्ता विश्वविद्यालय तथा संस्कृत कालेज की लाइब्रेरियों एवं बङ्गीय साहित्य परिषद् से एकत्रित की गई है। व्रजभाषा के कुछ साम्प्रदायिक ग्रन्थ जो अब अप्राप्य हैं, उन्हें वृन्दावन के गोस्वामियों से प्राप्त किया जा सका है।

---

१. व्यासवाणी पूर्वार्द्ध पद, सं० ८०।

प्रथम अध्याय में, पृष्ठभूमि में चली आती हुई उन विचारधाराओं का अनुगमन किया गया है, जो मध्ययुग की कृष्ण-भक्तिधारा में सम्मिलित हो गईं। पृष्ठभूमि को परम्परागत तथा युगीन दोनों दृष्टियों से समझा गया है। परम्परागत पृष्ठभूमि से दर्शन, साधना (भावधर्म), तथा साहित्य के स्रोतों को लिया गया है। दर्शन के अन्तर्गत वैदिक, औपनिषदिक, पौराणिक, तथा चतुःसम्प्रदायों के दर्शन का दिग्दर्शन कराते हुए मध्ययुगीन-कृष्णभक्ति के दर्शन में उनके योगदान का मूल्याङ्कन किया गया है, साथ ही कृष्णभक्ति के मौलिक दर्शन का भी उल्लेख किया गया है। साधना के अन्तर्गत भावधर्म को ही लिया गया है क्योंकि कृष्णभक्ति की यही विशिष्ट साधना है। भारतीय साधना के इतिहास में भावधर्म के सूत्र को पकड़ने की चेष्टा की गई है। साहित्य के माध्यम से कृष्णभक्ति को प्रेरणा देने में जयदेव, चण्डीदास, तथा विद्यापति, तो प्रख्यात ही हैं, विल्वमङ्गल की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। विल्वमङ्गल के अतिरिक्त कालिदास के प्रभाव को भी कृष्णकाव्य के निर्माण में स्वीकार किया गया है। युगीन पृष्ठभूमि में तत्कालीन राजनैतिक, धार्मिक तथा सामाजिक परिस्थितियों का आकलन किया गया है, इनके प्रति प्रतिक्रिया से भी कृष्णभक्ति का उद्गम हुआ। कृष्णभक्ति के उद्गम की प्रेरणा को मुख्यतः आध्यात्मिक माना गया है, नीतिपरक नहीं; यह इसलिए कि उसने मानव के अन्तर्बाह्य जीवन की तमाम समस्याओं का समाधान आध्यात्मिक चेतना से किया है, मानवीय चेतना से नहीं।

द्वितीय अध्याय में, ब्रज एवं बङ्गाल के दार्शनिक-विचारों का समन्वयात्मक रूप प्रस्तुत किया गया है। इसके अन्तर्गत परमतत्व जिसमें कि शक्ति अन्तर्भुक्त है, माया, जीव, जगत्, वृन्दावन, लीलावाद का विवेचन किया गया है। राधाकृष्ण के आध्यात्मिक स्वरूप की रक्षा करते हुए उनके माधुर्यमण्डित स्वरूप को सर्वश्रेष्ठ माना गया है। शक्ति के प्रसङ्ग में कृष्णभक्ति में प्रमुख रूप से विकसित ह्लादिनी शक्ति—राधा—का विस्तृत विवेचन किया गया है। इसके अतिरिक्त शक्ति के बहिरङ्ग (माया) तथा अन्तरङ्ग (स्वरूप) रूपों के पारस्परिक सम्बन्ध को सुलझाने की चेष्टा भी की गई है। जीवतत्व के अन्तर्गत ब्रह्म-जीव का सम्बन्ध, जीव की स्थिति तथा उसके साध्य पर विचार किया गया है। जगत् का विवेचन कुछ अधिक गहराई से करते हुए तत्सम्बन्धी अपूर्ण धारणा की आलोचना की गई है। साध्यलोक वृन्दावन का विस्तार से वर्णन किया गया है। इहलोक तथा साध्यलोक के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में भी जो कुछ प्रश्न उठते हैं, उन्हें अभिव्यक्त किया गया है। लीलावाद का सिद्धान्त प्रतिपादित करते हुए दर्शन और साधना में उसके महत्व को अधिगत किया गया है। संक्षेप में कृष्ण-दर्शन के प्रत्येक पट पर आनन्द ब्रह्म की प्रतिष्ठा देखी जा सकती है।

तृतीय अध्याय में, भक्ति-प्रकरण आरम्भ किया गया है। मध्ययुगीन कृष्णभक्ति के पीछे किस प्रकार की दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक प्रेरणा थी, इसे समझने का प्रयास किया गया है। भक्ति के पीछे उसी आनन्द की प्रेरणा क्रियाशील थी, जो दर्शन में आनन्दब्रह्म कहलाया और जिसे श्रीकृष्ण-विग्रह में साकारता मिली। भक्ति का मनोविज्ञान भी आनन्द की खोज का मनोविज्ञान है, यह खोज परमप्रीत्यास्पद की खोज है। इसके बाद भक्ति के प्रकार—साधन, भाव, प्रेम, पुष्टि आदि—का विवेचन किया गया है। अन्त में भक्ति के अनिवार्य अंगों—भगवत्कृपा, गुरु आश्रय, आत्म-समर्पण, नाम, सत्संग—के सूक्ष्म मनोविज्ञान को समझने का प्रयास किया गया है।

चतुर्थ अध्याय में, कृष्णभक्ति की साधना का विकास-क्रम अंकित किया गया है—नवधा भक्ति, सेवाप्रणाली, तथा अनुरागमूलक साधना। नवधाभक्ति के नौ अंगों का विवरण ही न देकर भक्ति की भावभूमि में उसके अवदान पर भी विचार किया गया है। सेवा-विधान के अन्तर्गत सेवा की उदात्त भावना तथा उसके विभिन्न प्रकारों का उल्लेख करते हुए, प्रत्येक सम्प्रदाय की अष्टप्रहर सेवा का पृथक्-पृथक् विवरण दिया गया है ताकि उनकी साम्प्रदायिक विशेषता को भी अधिगत किया जा सके। राधावल्लभ-सम्प्रदाय के अष्टयाम सेवा का रूप डॉ० विजयेन्द्र स्नातक के शोधप्रबन्ध के अनुकूल ही प्रस्तुत किया गया है, क्योंकि इस सम्प्रदाय की सेवा का स्वरूप और कहीं से इतने पुष्ट रूप में नहीं प्राप्त किया जा सका। अनुरागमूलक साधना के अन्तर्गत चैतन्य तथा वल्लभ-सम्प्रदाय में प्रचलित शृङ्गारपरक भक्ति का आध्यात्मिक संकेत उद्‌घाटित करने की चेष्टा की गई है और उसका साधनापरक अर्थ भी समझने का प्रयास किया गया है।

पञ्चम अध्याय में, सामान्यरूप से भक्ति तथा विशिष्ट रूप से कृष्णभक्ति की रसरूपता पर विचार किया गया है। सर्वप्रथम अलौकिक रस के आधार की प्रतिष्ठा की गई है, फिर भक्तिरस की चिन्मयता को व्यक्त करने की चेष्टा की गई है और काव्यरस से उसके अन्तर को स्पष्ट करते हुए भक्तिरस का स्वरूप स्थापित किया गया है। काव्यरस और भक्तिरस की—विभाव, उद्दीपन आदि सभी दृष्टियों से तुलना भी की गई है। अन्त में गौड़ीय सम्प्रदाय में शास्त्रीय रीति से प्रतिपादित-कृष्णभक्तिरस का चित्र उपस्थित करते हुए उसके विभिन्न अवयवों के अध्यात्मपरक अर्थ को समझने का उपक्रम भी किया गया है।

षष्ठ अध्याय में, कृष्णभक्ति रस के पाँच मुख्य रसों—शांत, प्रीति, प्रेय, वात्सल्य, मधुर तथा सात गौण रसों—हास्य, अद्‌भुत, वीर, करुण, रौद्र, भयानक, वीभत्स—की स्थापना की गई है। मुख्य रसों के सूक्ष्मातिसूक्ष्म पक्षों का

उद्‌घाटन करते हुए उनका विस्तृत विवेचन किया गया है; गौण रसों का उल्लेख मात्र है। मुख्य रसों की सूची में जीव गोस्वामी द्वारा प्रतिपादित 'प्रश्रय भक्तिरस' का विवरण भी अलग से दिया गया है । रस-विवेचन, काव्य के उदाहरणों से समन्वित है तथा जहाँ भी अवसर मिला है, वहाँ ब्रज के सम्प्रदायों की रस सम्बन्धी शास्त्रीय व्याख्या को भी सम्मिलित कर लिया गया है, जैसे मधुर भक्ति के विप्रलम्भप्रकरण में नन्ददास द्वारा उल्लिखित पलकोतर, मनांतर आदि विरह। रसाभास का प्रसङ्ग भी वर्णित है। अन्त में प्राप्त काव्यशास्त्र को भक्तिरसशास्त्र की देन का विवेचन करते हुए भक्तिरसशास्त्र के औचित्य- अनौचित्य, उसकी स्वाभाविकता तथा कृत्रिमता पर विचार-वितर्क प्रस्तुत किया गया है।

सप्तम अध्याय में, कृष्णकाव्य के भावपक्ष को लिया गया है। कृष्ण-भक्ति के मुख्य भावों का चित्रण करते हुए कृष्णभक्ति के लीलाप्रवण के साथ ही भावात्मक स्वरूप को अभिव्यंजित किया गया है। दास्य, वात्सल्य, सख्य एवं मधुर भावों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते हुए उन्हें उन रन्ध्रों से भी देखने का प्रयत्न किया गया है जिनसे कृष्णकाव्य के भावों की अलौकिकता की झलक मिलती है। अतः इन भावों की मनोवैज्ञानिक अन्तर्दशाओं की भक्तिपरक चेतना को भी यत्र-तत्र अभिव्यंजित किया गया है।

अष्टम अध्याय में, कृष्णकाव्य का कलापक्ष वर्णित है। कलापक्ष के भी मोटे रूप—छन्द, अलंकार, भाषा—को ही लिया गया है, सूक्ष्मपक्षों पर दृष्टिपात नहीं किया गया है। वस्तुत; कृष्णकाव्य का कलापक्ष इतना संकुल, इतना चमत्कारपूर्ण, इतना समृद्ध है कि उसकी समग्रता को देखने के लिए स्वतंत्र शोध की आवश्यकता है। छन्द में बङ्गला तथा हिन्दी कृष्णकाव्य में प्रयुक्त होने वाले विभिन्न वर्णिक तथा मात्रिक छन्दों का विवरण भी दिया गया है। अलंकार-विधान के अन्तर्गत प्रमुख शब्दालंकारों तथा अन्य भी अलंकारों का दिग्दर्शन कराया गया है। किन्तु भाषा पर कुछ गहनता से विचार किया गया है। ब्रजभाषा तथा ब्रजबुली के साम्य पर प्रकाश डालते हुए उनके सादृश्यमूलक व्याकरण-रूपों का अध्ययन किया गया है। साहित्य की दृष्टि से यह भाषा-साम्य अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

नवम अध्याय में, दर्शन, धर्म, साहित्य आदि में प्रस्फुटित मध्ययुगीन कृष्णभक्ति की सांस्कृतिक-चेतना का मूल्यांकन किया गया है। परम्परा से चला आता हुआ निवृत्ति-परक भारतीय अध्यात्म, जिस को शुद्ध-प्रवृत्ति से रागरंजित करने में कृष्णभक्ति ने महत् प्रयास किया, इस पर भी प्रकाश डाला गया है। भारतीय आध्यात्मिक संस्कृति में

मध्ययुगीन कृष्णभक्ति-संस्कृति की महत्वपूर्ण देन को स्पष्ट किया गया है। कृष्णभक्ति-संस्कृति, आध्यात्मिक संस्कृति की दृष्टि से ही महत्वपूर्ण नहीं है, लौकिक संस्कृति का आलिंगन करने में भी इसकी उदारता और विशालता की उपेक्षा नहीं की जा सकती। कृष्णभक्ति संस्कृति ने लौकिक संस्कृति को अपनाकर, उसके समुन्नयन का श्लाघ्य प्रयत्न किया है और सन्निविष्ट लौकिक-संस्कृति के तत्वों का विश्लेषण भी किया है। कुल मिलाकर कृष्णभक्ति महान् भारतीय संस्कृति का प्रतिनिधित्व करने में सक्षम है, इसकी भव्य सांस्कृतिक चेतना में लौकिक- अलौकिक की सीमारेखाएँ मिट जाती हैं, ससीम और असीम ओत-प्रोत होने लगते हैं। यही तो वह महान् साधना है जिसे भारतीय संस्कृति कह कर अभिहित किया जाता है—जिसमें ससीम की हर गति असीम से मिलकर ही सार्थक होती है और असीम, ससीम में व्यक्त होकर ही धन्य होता है।

परिशिष्ट में ब्रज तथा बङ्गाल की कृष्णभक्ति के पारस्परिक आदान-प्रदान को अभिव्यंजित किया गया है, पारिभाषिक शब्दों का अर्थ स्पष्ट किया गया है तथा मुख्य-मुख्य सिद्धान्तों की तालिका प्रस्तुत की गई है।

'रागांचल'
८६, टैगोर टाउन,
इलाहाबाद

मीरा श्रीवास्तव

## विषय-सूची

## भाव-चित्रण

# संकेत-सूची

| | |
|---|---|
| पद सं० | पदसंख्या |
| पृ० | पृष्ठ |
| प० क० त० | पदकल्पतरु |
| चै० च० | चैतन्य-चरितामृत |
| आदि० ली० | आदि-लीला |
| म० ली० | मध्य-लीला |
| भ० र० सि० | भक्तिरसामृतसिंधु |
| पू० वि० | पूर्व-विभाग |
| प० वि० | पश्चिम-विभाग |
| उ० वि० | उत्तर-विभाग |
| द० वि० | दक्षिण-विभाग |
| प्र० ल० | प्रथम लहरी |
| द्वि० ल० | द्वितीय लहरी |
| तृ० ल० | तृतीय लहरी |
| च० ल० | चतुर्थ लहरी |
| पं० ल० | पंचम लहरी |
| सू० सा० | सूरसागर |
| सु० बो० | सुधर्मबोधिनी |
| परि० | परिच्छेद |
| वृ० ज० प्र० | वृन्दावन जसप्रकास |
| भा० | (श्रीमद्) भागवत |

# कृष्ण-भक्तिधारा का उद्‌गम

आर्य-संस्कृति के प्रभातकाल में ही ईश्वर और मानव के बीच सम्बन्ध स्थापित होने लगा था। जिस क्षण से भारतीय-संस्कृति ने नयनोन्मीलन किया, उस क्षण से वह केवल मानवीय धरातल पर ही सन्तुष्ट होकर जीवित न रह सकी। पार्थिवता में सीमित, परिवेश तथा प्राकृत परिस्थितियों से बद्ध होकर रहना उसके लिए असह्य हो उठा। उसकी दृष्टि अपने चारो ओर फैली हुई विशाल सृष्टि पर गयी और यह सृष्टि जड़ावसन्न प्रतीत न होकर किसी अद्‌भुत आश्चर्यमयी चेतना से स्फूर्तिशील जान पड़ी। इस 'इदम्' के अन्तराल में भारतीय-मनीषियों को स्पष्टतया एक ऐसी सत्ता का बोध हुआ जो जीवन और जगत् को अपनी गरिमा तथा महानता से अभिभूत करके इन्हें परिवेष्टित किये हुए है। आर्य जाति ने एक वृहत् सत्य तथा ऋतम्भरा-चेतना का स्पर्श मानव-जीवन में भी अनुभव किया। उसने यह अनुभव किया कि जीवन सङ्घर्षों से आकुल है, नाना प्रकार की विषम-शक्तियाँ स्वस्थ सुन्दर जीवन को पङ्किल तथा नष्ट कर देने के लिये विचरण करती हैं किन्तु मानव-मन उसके सम्मुख परास्त नहीं होना चाहता। परन्तु मानवेतर शक्तियों से सङ्घर्ष को केवल मानवीय शक्ति से झेल पाना असम्भव प्रतीत हुआ। आत्मविकास के सङ्घर्ष में विजयी होने के लिये उसने अपने से अधिक महत्तर शक्तियों का आश्रय लिया जिसे उसने प्रकाशमयी चेतना किंवा 'देव' का नाम दिया। यह चेतना उसका सतत संरक्षण करने वाली बोध हुई, अतएव सङ्घर्ष में उसने उसका आवाहन किया। यह आवाहन मानव तथा देव-चेतना के बीच मन्त्र का माध्यम लेकर वैदिक साहित्य का सर्जक हुआ। इस प्रकार आरम्भ से ही भारतीय जीवन की दृष्टि इस लोक तक सीमित तथा सन्तुष्ट न रह कर आलोकान्वेषी रही है।

## परम्परागत पृष्ठभूमि : दर्शन

**वेद-दर्शन**—दार्शनिक दृष्टि से वैदिक विचारधारा को 'दैवतवाद' कहा जा सकता है। आधुनिक अंग्रेज-विद्वानों ने उसका नामकरण बहुदेववाद (Polytheism) किया किन्तु यह शब्द उस युग की विचारधारा को स्पष्ट करने के लिये उपयुक्त नहीं है। आधुनिक भारतीय गवेषणा के इस भ्रान्त तथ्य का निराकरण हो चुका है। 'बहुदेववाद' शब्द भी वैदिक-दर्शन को स्पष्ट करने में असमर्थ सिद्ध हो

चुका है। वास्तव में आर्यऋषि नाना देवों को एक देव की ही विभिन्न अभिव्यक्ति, उसके भिन्न-भिन्न रूप तथा नाम समझते थे। उस 'एक' असीम सत्य, ऋत् चेतना की व्यञ्जना पुरुष-सूक्त में हुई है। किन्तु उस 'एक' का प्रत्यक्षतः निदर्शन वैदिक साहित्य में नहीं हुआ, उसकी विविध-रूपता की ही प्रतिष्ठा विपुल विस्तार से हुयी। 'कस्मै देवाय हविषा विधेम' का प्रश्न उसके सम्मुख उपस्थित हुआ था। हवि किसी एक विशिष्ट देव को न देकर सभी देवरूपों को अर्पित की गई। सभी देवता उस देव के, उस एक यज्ञपुरुष के रूप थे, अतएव किसी देवता को प्रमुख स्थान न मिल सका। विष्णु, इन्द्र, अग्नि, वायु, वरुण, सविता आदि परमचेतना की ही विभिन्न अभिव्यक्तियाँ थीं, केवल विष्णु या इन्द्र देवाधिदेव नहीं बने, वरन् प्रत्येक देवता में अन्य देवता का स्वरूप निहित था, अतएव उनमें पारस्परिक सङ्घर्षण का प्रश्न नहीं उठता। सभी देवता एक-दूसरे के सहायक एवं सहयोगी थे, उनमें किसी प्रकार की प्रतिस्पर्धा नहीं थी।

विष्णु, रुद्र एवं ब्रह्मा (ब्रह्मणस्पति) का आवाहन अन्य देवों की भाँति ही किया गया, पुराणकालीन-त्रयी के रूप में नहीं। देवों के अतिरिक्त देवियों का आवाहन भी हुआ जिनमें प्रमुख थीं—भारती, इला, सरस्वती, उषा एवं सावित्री। अदिति को आदि-मातृचेतना कह कर सम्बोधित किया गया है, जो समस्त देवताओं की जननी है। किन्तु प्रत्येक देवता के साथ उसकी अविच्छेद्य शक्ति का युगल-रूप वेद-दर्शन में नहीं मिलता। शक्ति और शक्तिमान् के द्वैत-युगल की स्थापना इस युग में नहीं की गयी।

**उपनिषद्-दर्शन**—वस्तुतः वैदिक युग में साहित्य की धारा में दर्शन अन्तःसलिला की भाँति प्रवाहित होता रहा। उपनिषद् युग में वैदिक दर्शन की स्पष्ट रूप से मीमांसा हुयी। श्रुतियों में ध्वनित दार्शनिक तत्त्वों को उभारा गया, उन्हें स्वतन्त्र रूप से ग्रहण करने की चेष्टा की गयी। इस प्रयास ने वैदिक-विचारधारा को दो धाराओं में विभक्त कर दिया। एक ओर वैदिक-साहित्य के प्रतीकों में व्यक्त उपासना-तत्त्व के आधार पर ब्राह्मण-ग्रन्थों में एक सुसम्बद्ध कर्मकाण्ड का नियोजन हुआ। यज्ञ, हवि, स्तोम आदि शब्दों का जिनका ऋषियों की आन्तरिक साधना में एक आन्तरिक, अध्यात्मपरक अर्थ होता था, बिल्कुल शाब्दिक अर्थ लेकर जनसाधारण के लिये एक विस्तृत तथा जटिल कर्मकाण्ड का प्रणयन होने लगा। दूसरी ओर उपनिषद् में विशुद्ध ज्ञान का प्रकाश हुआ। इस प्रकार कुछ इने-गिने व्यक्तियों को छोड़ कर, जो कर्मकाण्ड की लाक्षणिकता से अवगत थे, इतर लोगों के निकट भारतीय मनीषा में विभाजन उपस्थित हो गया। कर्मकाण्ड की मान्यता होते हुए भी युग की प्रधान विचारधारा चिन्तनप्रधान उपनिषदों की रही है। उपनिषदों ने वैदिक तत्त्ववाद को

ऊपर लाने की चेष्टा की, किन्तु लाक्षणिक किंवा साङ्केतिक शैली में नहीं, सूक्ष्म-चिन्तन की शैली में। प्रथम वार इस साहित्य ने वैदिक-देवतवाद का रूप स्पष्ट किया, विविध देवचेतनाओं के आधारभूत एक ईश्वर की स्थापना की जिसे किसी नाम-विशेष से न पुकार कर केवल 'तत्' कहा गया। देवताओं के मन्त्राभिव्यञ्जित स्पष्ट व्यक्तियों का तिरोभाव होने लगा। एक परमचेतना का अमूर्त में ग्रहण होना आरम्भ हो गया। यह प्रतिक्रिया सम्भवतः प्रवृत्तिमूलक कर्मकाण्ड से बचाव के लिये हुयी। वैदिक तत्त्ववाद की गरिमा उपनिषद् में अभिव्यक्त हुई किन्तु उपनिषद्-साहित्य में परमदेव की भावना अरूप, अगोचर बन कर व्यक्त हुई।[१] वहाँ दृष्टि, वाक्, मति सब हतप्रभ हो जाते हैं, वह कुछ ऐसी अनिर्वचनीय चेतना है जो न ज्ञात है, न अज्ञेय।[२] इस निर्गुणता की ओर सङ्केत करते हुए सूर ने कहा है — 'मन वाणी सौं अगम अगोचर सो जाने जो पावै।' उपनिषद् में ब्रह्म की परात्परता के साथ ही उसकी सृष्टि में परिव्याप्ति भी घोषित की गयी—

'ईशावास्यमिदं सर्वं यत् किञ्च जगत्यां जगत्।[३]'

तथा अंगुष्ठमात्र ज्योतिपुरुप को सबकी हृद्-गुहा में अधिष्ठित बतलाकर अन्तर्यामी रूप की भी प्रतिष्ठा हुई।

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति।
ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते॥ एतद्वै तत्॥[४]
अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः।
ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्वः॥ एतद्वै तत्॥[५]

**पुराण-दर्शन**—उपनिषद् का तत्त्ववाद बहुत अमूर्त होने लगा था। जनसाधारण की बुद्धि उस 'तत्' को ग्रहण करने में कुण्ठित होने लगी। ज्ञान की ऊँचाइयों को छू पाने में असमर्थ सर्वसाधारण ने कर्मकाण्ड का बोझा उठाना स्वीकार किया; किन्तु

---

१—दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात् परतः परः॥२॥ द्वितीय मुण्डक, प्रथमखण्ड। (Eight Upanishads : Published by Shri Aurobindo Ashram Pondicherry, 1952).

२—न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग् गच्छति नो मनो।
न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यात्।
अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादपि।
इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद्व्याचचक्षिरे॥३॥ प्रथमखण्डः केनोपनिषद् (वही संस्करण)।

३—ईशोपनिषद्, प्रथम श्लोक।

४—कठोपनिषद् अध्याय २. वल्ली १, श्लोक १२ (वही संस्करण)।

५—कठोपनिषद् अध्याय २, वल्ली १, श्लोक १३।

भारत में अध्यात्म जीवन से विच्छिन्न होकर पनप नहीं सका। पुराणों ने उपनिषद् के महत्तम तत्त्ववाद को जनजीवन के निकट लाने का प्रयास किया। 'तत्' की गरिमा भुलाई नहीं जा सकती थी क्योंकि उसके भूल जाने से अध्यात्मचिन्तन का मन्दिर खण्डहर बन जाता। किन्तु उसका साक्षात्कार करने के लिये जिस अलभ्य ज्योति की आवश्यकता थी, वह सर्वसाधारण को प्राप्य नहीं थी। उसे प्राप्त करने के लिये पुराणकालीन मनीषा ने परमचेतना को देह एवं आकार प्रदान किया। पुराण-साहित्य का विश्वास अरूप एवं अमूर्त के दार्शनिक विवेचन से हट कर उसकी अभिव्यक्त मूर्ति पर, मर्त्यजगत् के अन्धकार में अवतरित परमतेज के अवतार पर केन्द्रित हुआ। यह अवतार उस परमचेतना का ही अवतार था जिसे 'तत्' कह कर सम्बोधित किया गया था, किन्तु अब वह 'तत्' मन-बुद्धि की ग्राहिका-शक्ति का एकदम तिरस्कार करने वाला नहीं बना रह सका, उसे मानव के पकड़ में आने का मार्ग खोजना पड़ा। गुणातीत ब्रह्म की नश्चिय अनुभूति देह, प्राण, मन की चेतनाओं में बद्ध जनसाधारण के लिये अलभ्य थी। ब्राह्मण-ग्रन्थों में प्रतिपादित कर्मकाण्ड की जटिलता उसे और उलझा रही थी। कोई समाधान न था। ऐसी विकट परिस्थिति में उसे ब्रह्म के ऐसे रूप की आवश्यकता थी जिसको वह पहिचान सकती थी, अपना सकती थी। पुराण के अवतारवाद ने इस दुरूह कार्य को सम्पादित किया। श्री रा० जी० भण्डारकर के अनुसार साधारण जन को एक ऐसे आराध्य की आवश्यकता महसूस हो रही थी जिसका व्यक्तित्व सुस्पष्ट होता और जो जीवन के व्यावहारिक पक्ष को छू सकता।[१] पुराणों में भागवत-पुराण का प्रभाव सबसे अधिक महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ। श्रीमद्भागवत को व्यासदेवरचित वेद की व्याख्या कह कर घोषित किया गया। ब्रह्म की मानवीय लीला, यहाँ तक कि शृङ्गारपरक लीला, का रोचक इतिहास पुराणों में विकसित हुआ। तन्त्र के प्रभाव से शक्ति की स्थापना अनिवार्य हो उठी, आराध्य के साथ आराध्या का अविच्छेद्य सम्बन्ध उपासना में प्रचलित होने लगा।

चतुःसम्प्रदाय—उत्तरभारत के कृष्णभक्ति आन्दोलन को प्रभावित करने में १२वीं, १३वीं शताब्दी तथा इसके भी पूर्व विकसित दक्षिण के वैष्णव-सम्प्रदायों का हाथ रहा है। दक्षिण में जन्म लेकर चार सम्प्रदायों ने उत्तरभारत में विकास किया।

१—"But for the ordinary people, an adorable object with a more distinct personality than that which the theistic portions of the Upnishads attributed to God, was necessary and the Philosophic speculations did not answer practical needs."—Vaishnavism, Shaivism and other minor religious systems, P. 2.

ये चार सम्प्रदाय हैं—श्रीरामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैत पर आधारित श्री-सम्प्रदाय, श्री मध्वाचार्य का द्वैतवाद पर प्रतिष्ठित ब्रह्म-सम्प्रदाय, श्री निम्बार्काचार्य का द्वैताद्वैत पर आश्रित सनक-सम्प्रदाय तथा विष्णुस्वामी का शुद्धाद्वैत पर आधारित रुद्र-सम्प्रदाय। वल्लभाचार्य जी को विष्णुस्वामी की परम्परा में अन्तर्मुक्त करके विष्णुस्वामी के सम्प्रदाय की विचारधारा को शुद्धाद्वैत कह कर स्थिर किया गया है किन्तु इसका कोई पुष्ट ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है।

इन चार सम्प्रदायों में से प्रथम केवल रामभक्ति सम्प्रदाय का आधार बना, अतएव उसका अवदान कृष्णभक्ति-आन्दोलन में नगण्य है। शेष तीनों सम्प्रदायों का प्रभूत संस्पर्श बङ्गाल एवं ब्रज की कृष्णभक्ति धारा को प्राप्त हुआ। यहाँ पर संक्षेप में हम इन सम्प्रदायों की विचारधारा का दिग्दर्शन करेंगे। ब्रह्म-सम्प्रदाय में द्वैतवाद की प्रतिष्ठा है। इसके अनुसार जीव और ब्रह्म में द्वैतभाव है। जीव की उत्पत्ति ब्रह्म से हुयी अवश्य है किन्तु दोनों में भेद है। इनमें स्वामी-सेवक का सम्बन्ध है क्योंकि ब्रह्म स्वतन्त्र है और जीव परतन्त्र। कृष्ण ब्रह्म है, राधा की मान्यता इस सम्प्रदाय में नहीं है। कृष्ण को प्राप्त करने का एकमात्र साधन भक्ति है। निम्बार्क के मत से ब्रह्म और जीव का सम्बन्ध अद्वैत-द्वैत का है। जीव की स्वतन्त्र भेदात्मक सत्ता नहीं है, वह अपना अस्तित्व ब्रह्म के अस्तित्व में डुबा सकता है, ब्रह्म से उसका तत्त्वतः अभेद है। कृष्ण ब्रह्म हैं, किन्तु इस सम्प्रदाय में राधा की भी प्रतिष्ठा है। यद्यपि राधा का आविर्भाव कृष्ण से ही माना गया है, तथापि निम्बार्क मत में राधा-कृष्ण की एक साथ उपासना विहित है। विष्णुस्वामी के सम्प्रदाय का क्या स्वरूप था, यह निश्चित नहीं हो सका है। उनके सम्प्रदाय को वल्लभाचार्य जी ने शुद्धाद्वैत-मत के रूप में पल्लवित किया, ऐसी सामान्य धारणा है।

**मध्ययुगीन कृष्ण-भक्ति-दर्शन**—उपरोक्त दर्शन-परम्परा में कृष्णभक्ति के दर्शन का आविर्भाव हुआ। वस्तुतः मध्ययुग में कृष्णभक्तिधारा का अपना नितान्त स्वतन्त्र दर्शन नहीं है किन्तु परम्परा का एकदम पिष्टपेषण भी उसने नहीं किया। भारतीय तत्त्वचिन्तना के विभिन्न पहलुओं का समन्वय करने की प्रवृत्ति इस धारा की विशेषता है।

आराध्य का स्वरूप मुख्यतया पौराणिक ही रहा, वह भी शृङ्गार-प्रधान; किन्तु उसके निरूपण में गम्भीर तत्त्वचिन्तन दृष्टिगत होता है। यह अवश्य है कि श्रीकृष्ण के अवतार रूप की उसमें उत्कट प्रतिष्ठा है किन्तु श्रीकृष्ण की नराकृति के सरस और ललित होते हुए भी उनके परमब्रह्मत्व को कहीं भी भुलाया नहीं गया। आकृति उनकी नर की अवश्य है किन्तु हैं वे मूलतः, स्वरूपतः, अवतारी परमब्रह्म ही। कृष्ण के अवतरित रूप को मानव मानने की भ्रान्ति से अकुण्ठ रखने के लिये

इस सगुणधारा ने निर्गुण को भी स्वीकार किया। उपनिषद् के अनिर्वचनीय 'तत्' ही श्रीकृष्ण हुए, कोई महामानव अवतारक नहीं बना यद्यपि श्रीकृष्ण के महामानव की ऐतिहासिक प्रतिष्ठा भी थी। गीता के पुरुषोत्तम की महिमा ललित कृष्ण में पूर्णतया सुरक्षित रखी गयी। किन्तु उनके निर्गुण होने का अर्थ अरूप अव्ययवत् नहीं रखा गया। रूपधारी होकर भी रूपातीत होना, सगुण होकर भी त्रिगुणातीत होना श्रीकृष्ण के व्यक्तित्व की विशेषता है। अप्राकृत धर्मों का पुनस्स्थापन 'तत्' को सगुण श्रीकृष्ण का रूप दे देता है किन्तु इन धर्मों की परिकल्पना भी उपनिषद् के सूत्र-वाक्यों के आधार पर ही सम्भव हुई, मानवीयता के आरोप से नहीं। श्रीकृष्णतत्त्व की व्याख्या चैतन्य-सम्प्रदाय में एक विशिष्ट प्रणाली से हुई जो भक्ति की सुरक्षा के साथ-साथ सूक्ष्म दार्शनिक तत्त्वों का समावेश भी कर सकी। इस विवेचन का आधार भागवत में अभिव्यक्त एक श्लोक है जिसमें परं ब्रह्म का भगवान्, परमात्मा एवं ब्रह्म, इन तीन रूपों में अनुकथन हुआ है। भक्ति के लिये भगवान् को सर्वश्रेष्ठ ठहराकर उन्हें परं ब्रह्म की सर्वोच्च अभिव्यक्ति माना गया। यही तथ्य श्रीमद्वल्लभाचार्य जी ने गीता के आधार पर निरूपित किया। क्षर एवं अक्षर से अतीत पुरुषोत्तम ही वल्लभ-सम्प्रदाय के इष्टदेव हैं। अस्तु, हम देखते हैं कि भक्ति की इस भावप्रवण धारा में सम्यक् तत्त्वचिन्तन को स्थान मिला है। सम्प्रदायों का भाष्य प्रस्थान-त्रयी [बादरायण का ब्रह्म सूत्र, उपनिषद्, गीता] पर ही लिखा गया है। अस्तु, सम्प्रदाय की मान्यताओं में उच्चाति उच्च ज्ञानतत्त्वों की प्रतिष्ठा हुई। प्रस्थान-त्रयी के अतिरिक्त पुराणों में भागवतपुराण का प्रभाव सभी सम्प्रदायों के साधनाक्षेत्र पर पड़ा। किन्तु चैतन्य-सम्प्रदाय के तत्त्वनिरूपण में भी उसे भुलाया नहीं गया। भक्ति के भावों का मूलस्रोत तो वह बना ही रहा, श्रीकृष्ण-तत्त्व की प्रतिष्ठा में भी उसने कम सहायता नहीं पहुँचाई।

'ईशावास्यमिदं सर्वं...' को सूत्ररूप में स्वीकार करके सम्पूर्ण जगत् परं ब्रह्म का आविष्कृत परिणाम माना गया किन्तु लीलावाद की प्रतिष्ठा पुराणों के आधार पर ही हुई। यह सारा जगत् ईश का आवास समझा अवश्य गया, किन्तु उसका पूर्ण परिपाक आनन्द के लिये कम से विरतवादी कृष्ण-भक्तिधारा में न हो सका।

कृष्ण की प्रतिष्ठा करने में वेद की उदात्त विचारधारा को भुला दिया गया। कृष्ण, वैदिक देव विष्णु के प्रतिरूप नहीं थे, वे सारे देवताओं का अतिक्रमण कर सत्ता के सर्वोच्च शिखर पर विराजमान हुए। जैसा कि पहिले कहा जा चुका है, वेद में विष्णु, इन्द्र, अग्नि, वायु, वरुण आदि देव एक ही देव की विभिन्न अभिव्यक्ति थे। प्रत्येक देवता में अन्य देवताओं का स्वरूप सन्निहित था, उनमें परस्पर विरोध का अवकाश नहीं था। वैदिक-द्रष्टाओं की यह व्यापक दृष्टि पुराणकाल में लुप्त हो

चुकी थी। इन्द्र, वरुण आदि देवता लोकमानस में जिस रूप में गृहीत हो गये, वह उनके मूलस्वरूप से कदापि साम्य नहीं रखता था। मानव मन की कल्पना से इन्द्र, वरुण, आदि ऐसे छोटे देवता बन गये जिनमें आत्मपरितृप्ति तथा अहङ्कार की क्षुद्रता थी। यहाँ तक कि ब्रह्मा, जो सृष्टि के सर्जक समझे जाते रहे हैं, कृष्ण के एक रोम की तुलना में भी खड़े नहीं रह सके। इस प्रवृत्ति का यह परिणाम हुआ कि सारे देवताओं में किसी न किसी प्रकार की भ्रान्ति का संस्थापन कर उन्हें कृष्ण के सम्मुख छोटा सिद्ध किया गया। इस प्रकार विभिन्न देवता परं ब्रह्म श्रीकृष्ण की स्वरूपाभिव्यक्ति न बन कर अनुचर बन गये। अवतारवाद की प्रतिष्ठा में दृष्टि का यह सङ्कोच पौराणिक कथाओं के कारण घटित हुआ, वेद-दर्शन की विशाल दृष्टि को क्षति पहुँची। एक निष्ठा के लिए यह आवश्यक नहीं था कि भारत के सत्यद्रष्टाओं की उपलब्धियों को विकृत रूप दे डाला जाय।

भारत की वैदिक, औपनिषदिक तथा पौराणिक परम्पराओं को उत्तरभारत की कृष्ण-भक्तिधारा में ग्रहण अवश्य किया गया किन्तु उसका साक्षात् सम्बन्ध चतुः-सम्प्रदायों की परम्परा से ही है, यद्यपि उस परम्परा को हम परवर्ती कृष्ण-सम्प्रदायों का यथातथ्य साम्प्रदायिक आधार नहीं मान सकते; क्योंकि स्वतन्त्र सम्प्रदाओं की स्वतन्त्र मान्यताएँ भी हैं। चैतन्य महाप्रभु के दीक्षागुरु के माध्व सम्प्रदायानुयायी होने के कारण गौड़ीय वैष्णवों को माध्व कहने की प्रथा चल पड़ी। इसी प्रकार वल्लभाचार्य जी को विष्णुस्वामी की गद्दी सौंपी गई क्योंकि विजयनगर के शास्त्रार्थ में उन्होंने शङ्कर के अद्वैतवाद का खण्डन कर एक ऐसे मत की प्रतिष्ठा की जिसका साम्य विष्णुस्वामी के यथाकथित मत से था। किन्तु वल्लभ एवं चैतन्य के सम्प्रदायों को हम सनक तथा ब्रह्म-सम्प्रदाय नहीं कह सकते। इन महान् व्यक्तियों ने अपना विशिष्ट भक्तिपन्थ चलाया जिसका दर्शन भी अपना विशिष्ट है। विष्णुस्वामी के रुद्र-सम्प्रदाय की क्या विचारधारा रही है, यह अब भी सन्दिग्ध है क्योंकि उनके द्वारा रचित ग्रन्थों का सन्धान नहीं हो पाया है, हो सकता है कि वल्लभाचार्य द्वारा प्रतिपादित शुद्धाद्वैत मत से विष्णुस्वामी के मत का कुछ साम्य रहा हो, किन्तु इसके आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि वह विष्णुस्वामी की परम्परा में थे। वल्लभाचार्य जी के जीवनकाल में रुद्र-सम्प्रदाय प्रचलित था भी या नहीं, इसका भी कोई निश्चित प्रमाण नहीं है। इसी प्रकार चैतन्य-सम्प्रदाय का दर्शन भी माध्वदर्शन से भिन्न दिशाओं में विकसित हुआ है। ब्रह्म एवं जीव तथा जगत् की द्वैतता को चैतन्य-सम्प्रदाय में स्वीकार नहीं किया गया। यद्यपि चैतन्य महाप्रभु ने स्वयं किसी दर्शनग्रन्थ का प्रणयन करके सम्प्रदाय स्थापित नहीं किया, किन्तु उनके तिरोधान के उपरान्त जो गौड़ीय-सम्प्रदाय प्रस्थापित हुआ उसके दर्शन का नाम 'अचिन्त्यभेदाभेद'

रखा गया। जैसा कि भेदाभेद शब्द से ही अभिव्यक्त है, इस सम्प्रदाय का दर्शन, भेद में अभेद की कल्पना लेकर विकसित हुआ, इसमें शुद्ध भेद किंवा द्वैतवाद नहीं है। माध्व-सम्प्रदाय से अधिक तो इस पर निम्बार्क-सम्प्रदाय का प्रभाव माना जा सकता है, क्योंकि निम्बार्कमत भी द्वैताद्वैत नाम से प्रसिद्ध है। भेदाभेद एवं द्वैताद्वैत वस्तुतः एक ही भाव को व्यक्त करने वाले दो पृथक्-पृथक् शब्द हैं। गौड़ीय दर्शन में केवल 'अचिन्त्य' शब्द और जोड़ दिया गया है जिसका अर्थ केवल यही है कि भेद में अभेद एवं अभेद में भेद को समझना मानव-बुद्धि से गम्य नहीं है, अतएव 'अचिन्त्य' है, वह मानसिक स्तर से ऊर्ध्व किसी प्रज्ञा से ग्राह्य है, चिन्तन से नहीं। निम्बार्कमत से प्रेरित ब्रजभाषा में स्वतन्त्र साहित्य भी है, हरि-व्यासदेवाचार्य इसके अत्यन्त प्रसिद्ध कवि हुए हैं। हरिदास स्वामी की उपासना-पद्धति में राधाकृष्ण के युगल रूप की प्रतिष्ठा होने के कारण उन्हें निम्बार्कानुयायी कह देने का आग्रह देखा जाता है, किन्तु इसका कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है। राधा की सर्वोपरि प्रतिष्ठा कर हितहरिवंश जी ने स्पष्टतः एक नए विचारधारा का प्रवर्तन किया। सूक्ष्म अन्तर्भेद चाहे जो भी हो, सामान्य रूप से उत्तरभारत की कृष्णभक्ति का रूप एक ही है। जो भी अन्तर है वह अन्य का पूरक है, निषेधक नहीं। वल्लभाचार्य, स्वामी हरिदास, हितहरिवंश, निम्बार्काचार्य तथा चैतन्यमहाप्रभु के सम्प्रदायों से एक व्यापक कृष्णधर्म की कल्पना की जा सकती है जिसमें दर्शन एवं साधना आदि के विभिन्न अङ्गों का समन्वय स्थापित किया जा सकता है।

साधना : भावधर्म—कृष्ण-भक्तिधारा की विशिष्टता उसके भगवत्परायण होकर मानवीय रूप से रसात्मक होने में है। नवधा-भक्ति आदि को वैधी भक्ति का स्थान स्वीकृत अवश्य है किन्तु इस साधना का मूल स्वर रागात्मिका वृत्ति का परं ब्रह्म कृष्ण में नियोजन है। आचार्य हजारीप्रसाद जी के शब्दों में "श्रीकृष्णावतार की लीलाओं में अद्भुत मानवीय रस है। उसी मानवीय रस को भक्त कवियों ने अत्यन्त उच्च धरातल पर रख दिया है। मनुष्य के जितने मनोराग हैं वे सभी भगवान् की ओर प्रवृत्त होकर महान् बन जाते हैं।"[१] यह मानवीय रस कृष्ण-भक्ति की नितान्त निजी सम्पत्ति है। कृष्णभक्ति साहित्य ने भागवत-प्रेम को जिस मानवीय ढङ्ग से अभिव्यक्त किया है, वह ऊँचा होने पर भी जनमानस के निकट है। प्रश्न उठता है कि भगवान् के प्रति ऐसी प्रबल रागात्मकता क्या एकाएक फूट पड़ी या कहीं इसका अन्तःस्रोत भी खोजा जा सकता है?

वेद

मानव एवं देवचेतना के बीच पारस्परिक आदान-प्रदान का सम्बन्ध वेद-

---

१—श्रीकृष्ण की प्रधानता—मध्यकालीन धर्म साधना, पृष्ठ १२०।

साहित्य से ही आरम्भ हो जाता है। हवि ग्रहण करने के लिये देवताओं का आवाहन अनुग्राह्य एवं अनुग्राहक का सम्बन्धसूत्र बन कर भक्ति का अङ्कुर बना। यद्यपि वेदों में साधक तथा देवता के बीच वह तीव्र रागात्मक आवेग नहीं है, जो मध्ययुगीन कृष्ण-भक्ति की विशेषता है, तथापि उनमें मानवीय राग का अभाव नहीं है। पारिवारिक सम्बन्ध के रूपक से पृथ्वी को माता तथा द्युलोक को पिता कह कर इनमें 'मातापितरौ' का सम्बन्ध स्थापित किया गया। पार्थिव-अपार्थिव लोकों का एकीकरण करने वाली आर्यजाति ने अपने को इनका सन्तान घोषित किया। सन्तान का सम्बन्ध ही नहीं, द्युलोक के देवताओं से साधक ने साधना-क्रम में अन्य सम्बन्ध भी स्थापित किया। देवतागण उसकी रक्षा करते थे, उसका पालन तथा उसके शत्रुओं का विनाश करते थे, किन्तु आत्मीय बन कर, तटस्थ होकर नहीं। शत्रुओं के अभिनवकारी, रक्षक रूप में इन्द्र का आवाहन किया गया किन्तु इन्द्रत्व के नाते ही नहीं बल्कि उन्हें सखा बना कर।[1] उग्र इन्द्र की महिमा उनके शौर्य के कारण तो है ही किन्तु उनका आवाहन इसलिये अधिक हुआ है कि जैसी मित्र की महिमा होती है वैसी आर्यों की रक्षा में इन्द्र की महिमा हो।[2] वह सखा हैं, मित्र हैं, पति तथा पिता हैं। इन्द्र से कहा गया है कि जैसे यज्ञशाला में ऋत्विकों के पति यजमान हैं और जैसे नक्षत्रों के पति अस्ताचल को जाते हैं वैसे तुम पुरोवर्ती सोम की भाँति स्वर्ग से हमारे पास आओ। जैसे पुत्रगण अन्न ग्रहण करने के लिये पिता का आवाहन करते हैं, वैसे ही हम तुम्हें बुलाते हैं।[3]

इस प्रकार हम देखते हैं कि साधना के प्रस्फुरणकाल से ही मानव-चेतना देवचेतना से सब प्रकार का मानवीय सम्बन्ध स्थापित करने को उत्सुक रही है। ईश, विभु चेतना से जीव तथा अणु चेतना का सम्बन्ध ईसाई धर्म की भाँति यहाँ शासक एवं शासित का ही नहीं रहा। दण्डदाता की भयानक छाया से वह कभी आक्रान्त नहीं हुआ, उसने रक्षक रूप में एकमैत्री भाव से उग्रातिउग्र रुद्रों का भी

---

१—अस्माकं व इन्द्रमुश्मसीष्टये सखायं विश्वायुं प्रासहं युजं वाजेषु प्रासहं युजम्। अस्माकं ब्रह्मोतयेऽवा पृत्सुषु कासुचित्। नहि त्वा शत्रुः स्तरते स्तृणोषि यं विश्वं शत्रुं स्तृणोसि यम् ॥ ४ ॥ —ऋग्वेदसंहिता, २ अध्याय, १ मंडल, २ अष्टक १६ अनुवाक, प्रकाशक—पं० गौरीनाथ झा व्याकरणतीर्थ, सञ्चालक 'वैदिक पुस्तकमाला' कृष्णगढ़, सुल्तानगञ्ज, भागलपुर, १९८९ वि०, प्रथम संस्करण।

२—त्वं न इन्द्र राया तरूषसोग्रं चित्त्वा महिमा सक्षदवसे महे मित्रं नावसे ॥१०॥—ऋग्वेदसंहिता, १२९ सूक्त, द्वितीय अष्टक, प्रथम मंडल, प्रथम अध्याय, १९ अनुवाक—(वही संस्करण)।

३—इन्द्रयाह्यमुप नः परावतो नायमच्छा विदथानीव सत्पतिरस्तं राजेव सत्पतिः। हवामहे त्वा वयं प्रयस्वन्तः सुते सचा। पुत्रासो न पितरं वाजसातये मंहिष्ठं वाजसातये ॥१॥—ऋग्वेद संहिता, १३० सूक्त, द्वि० अष्टक, प्रथम मण्डल, प्रथम अध्याय, १९ अनुवाक।—(वही संस्करण)।

आवाहन किया। त्राता तथा संरक्षक का रूप आरम्भ से व्यक्त होने लगा। आर्यजाति ने इस सुदुर्लभ ऐश्वर्य को पिता के रूप में अपना संरक्षक बनाकर पुकारा, मित्र की भाँति अपने निकट खींच लाने का प्रयास किया। इस रागात्मक सूत्र से मानव तथा देवता के बीच की खाई कम हो गई। देवतागण यजमान बन कर मित्र, पिता, पति, स्वामी आदि के रूपों में ऋत्विकों का हवि ग्रहण करने लगे। सृष्टि एवं स्रष्टा के बीच के पारस्परिक-सम्बन्ध को मानव ने आरम्भ से ही पहिचान लिया।

## उपनिषद्

उपनिषदों में यह रागात्मकता सूख सी गई। उसमें ईश्वर का तत्त्वचिन्तन प्रमुख है, भावग्रहण नहीं। वहाँ मानव एवं प्रभु के रागात्मक सम्बन्ध की अधिक चर्चा नहीं मिलती। किन्तु सूत्ररूप में उसमें एक ऐसा रूपक है जो कृष्ण-भक्ति का निविड़ रूप से भावक बना। उपनिषद् में कहा गया है कि पत्नी, पति से आलिङ्गित होकर जिस प्रकार सर्वस्व आत्मविस्मृत हो जाती है उसी प्रकार आत्मा, परमात्मा को प्राप्त कर सर्वहारा हो जाती है। इसी भाव को राधाकृष्ण के माध्यम से कृष्ण-काव्य मे व्यक्त किया गया। आत्मा-परमात्मा के सम्बन्ध को प्रेयसी-प्रियतम (राधा-कृष्ण) के संयोग के माध्यम से व्यक्त करके साधना की प्रगाढ़तम अवस्था का निरूपण किया गया।

## पुराण

पुराणों में अवतारवाद की प्रतिष्ठा के कारण मानवीय सम्बन्धों से भगवत्-उपासना का मार्ग उन्मुक्त हो गया। पौराणिक साहित्य में कृष्ण की लीलाओं का वर्णन हुआ है। हरिवंशपुराण में गोपियों का प्रसङ्ग भी है। इस पुराण में पूतनावध, माखनचोरी, कालियदमन तथा गोवर्द्धन-धारण आदि लीलाओं का विशद रूप में कथन है। पद्मपुराण, वायुपुराण, वामनपुराण, कूर्म और गरुणपुराणों में कृष्ण की कथा का कोई-कोई अंश अत्यन्त संक्षिप्त रूप में वर्णित है। हरिवंश एवं विष्णुपुराण में रासलीला का उल्लेख है किन्तु मध्ययुगीन-कृष्ण भक्ति को प्रभावित करने वाला सबसे प्रमुख पुराण श्रीमद्भागवत है। भागवत में कृष्ण की कथा विस्तार से दी गयी है एवं उनकी अनेक लीलाओं का भक्तिविभोर कण्ठ से गायन हुआ है। पुत्र, सखा, प्रिय—सभी रूपों में कृष्णावतार की सरस मानवीयता का प्रच्छन्न-स्रोत प्रवाहित हुआ है। गोपी-कृष्ण भाव की, परिवर्द्धित रूप में बंगाल एवं ब्रज के सम्प्रदायों में जिसकी उत्कट प्रतिष्ठा हुई, श्रीमद्भागवत में विस्तृत चर्चा है। रासपञ्चाध्यायी में आध्यात्मिक सङ्केत देते हुए भी भागवतकार ने गोपी-कृष्ण के शृङ्गारिक सम्बन्ध का चित्र स्पष्ट रेखाओं में अङ्कित किया है।

**भागवत-धर्म**—इसमें वासुदेव कृष्ण की प्रतिष्ठा थी। भक्तिपरक यह धर्म ऐकान्तिक तथा सात्वत आदि नामों से भी अभिहित हुआ। इस धर्म में सगुण रूप की उपासना, भगवान् की लीला में भाग लेने, प्रेम तथा आत्मसमर्पण का महत्व था। किन्तु इसमें भक्ति के अतिरिक्त ज्ञान, योग, तप, वैराग्य आदि अन्य साधन भी समाविष्ट हो गये, जिससे भक्ति की निविड़ ऐकान्तिकता अक्षुण्ण नहीं रह सकी। फिर भी भक्ति का सर्वोपरि महत्व था, इष्ट के प्रति ऐकान्तिक भाव से आत्मदान के इस धर्म की विशेषता थी। इष्टदेव में परानुरक्ति को भक्ति मानने के कारण रागधर्म का सूत्र भागवत धर्म में भी मिल जाता है।

**आलवार**—भक्ति का यह रूप, जो मूलतः रागात्मक है, द्रविड़ प्रदेश के आलवार-भक्तों में पर्याप्त विकसित था। भक्ति के उद्भव क्षेत्र के रूप में दक्षिण प्रसिद्ध हैं। ८वीं-९वीं शताब्दी में दक्षिण प्रान्त के कृष्ण-भक्त कवियों में परवर्ती कृष्ण-भक्ति की सुसम्बद्ध झाँकी देखने को मिलती है, इन कवियों को आलवार कहा गया है। इनकी भक्ति-साधना में प्रायः सभी मानवीय मनोराग गृहीत हुए हैं। गोदा आलवार का गोपी-भाव से कृष्ण की उपासिका होना अतिश्रुति है। उन्होंने माधव के साथ अपने परिणय तक की चर्चा की है तथा उनके काव्य में विरहव्यथा भी व्यक्त हुई है। नम्म आलवार की कृतियों में भाव की दृष्टि से वात्सल्य, सख्य तथा मधुर, तीनों भावों की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई। सब भावों को स्थान देते हुए भी माधुर्यभाव की ओर विशेष रुझान होना इस भाव की उत्कटता का परिचायक है।[१] उत्तर भारत की कृष्ण-भक्ति-धारा ने आलवार भक्ति में प्रचलित इन सभी भावों का पूर्ण प्रस्फुटन किया। वल्लभ-सम्प्रदाय में कृष्ण के बालभाव की, वात्सल्य-भक्ति के मुख्य होते हुए भी सख्य, दास्य यहाँ तक कि माधुर्य को भी स्थान मिला। वल्लभाचार्य जी ने गोपीभाव को सबसे उत्कट भी माना है यद्यपि उसे सिंह जी का दूध समझ कर सब के पुरुषार्थ के लिये अपच कहा है। विट्ठलनाथ ने समकालीन विचारधारा के प्रभाव से गोपीभाव की अपने सम्प्रदाय में पूर्ण प्रतिष्ठा की। दाक्षिणात्य होने के कारण यह असम्भव नहीं कि महाप्रभु वल्लभाचार्य आलवारों की विचारधारा से परिचित रहे हों। यह अवश्य है कि उन-पर भागवत का भी प्रभाव पड़ा। किन्तु जिस प्रकार बङ्गाल में जयदेव

---

१—"नम्म आलवार ने उपास्यदेव के मिलन को 'आध्यात्मिक सहवास' की संज्ञा दी है और उसके लिए तीन प्रकार के प्रेम को मुख्य साधन ठहराया है जिन्हें हम क्रमशः सख्य, वात्सल्य एवं माधुर्य कह सकते हैं। किन्तु इन तीनों में से उन्होंने माधुर्य को ही प्रधानता दी है और प्रसिद्ध है कि इस भाव की पूर्ण अभिव्यक्ति के लिये वे कभी स्त्री का वेश धारण कर लिया करते थे।"—तमिल प्रान्त के आलवार-भक्तकवि—मध्यकालीन प्रेम साधना—श्री परशुराम चतुर्वेदी, पृ० २०

और चण्डीदास की पदावली गूंज उठी, उसी प्रकार ८वीं-९वीं शताब्दी में तामिल प्रान्त में गोदा, नम्म एवं अन्य आलवार भक्तों का स्वर भी गूंजा। चैतन्य महाप्रभु ने भक्ति का यह भावात्मक रूप अपने दक्षिणाञ्चल यात्रा से भी ग्रहण किया था, जैसा कि 'चैतन्यचरितामृत' में वर्णित है। गोदावरी तट पर राय रामानन्द से उनकी भक्ति-विषयक वार्ता प्रसिद्ध है। राय रामानन्द दक्षिणी ब्राह्मण थे, वे कृष्णभक्ति के समस्त भावों से भलीभाँति परिचित जान पड़ते हैं। महाप्रभु ने राय रामानन्द से पूछा कि भक्ति क्या है ? प्रत्युत्तर में क्रम से स्वधर्माचरण, समस्त कर्मों का अर्पण, सारे धर्मों को छोड़कर श्रीकृष्ण की शरणागति, कृष्ण के प्रति दास्य, सख्य तथा कान्तप्रेम की चर्चा है। किन्तु कान्तभाव से भी महाप्रभु को सन्तोष नहीं हुआ। जब राय रामानन्द ने राधाभाव को साध्यशिरोमणि ठहराया तो महाप्रभु को पूर्ण सन्तोष हुआ। इस प्रसङ्ग से यह स्पष्ट है कि राय रामानन्द भक्ति के सब भावों से विज्ञ थे। यहाँ तक कि राधाभाव से भी, जिसे उत्कटतम भाव स्वीकार करके बाद में सखी-भाव की उपासना-पद्धति निकल पड़ी। राधाभाव ने उत्तरकाल की कृष्ण-भक्तिधारा को आक्रान्त कर लिया। राधावल्लभ-सम्प्रदाय की परमोपास्य देवता ही श्री राधा हैं, हरिदासी एवं निम्बार्क-सम्प्रदायों में भी राधाकृष्ण की निकुञ्ज-लीला का गान ही एकमात्र उपासना-पद्धति है तथा चैतन्य सम्प्रदाय के पदावली-साहित्य में राधाकृष्ण-लीला का उन्मत्त वेग प्रवाहित हुआ है। अन्य भावों की धाराएँ मन्द तथा क्षीण हैं। राधाभाव, कृष्ण काव्य के शिखर पर आसीन है। यह भाव गोपीभाव से पृथक् है। गोपीभाव तो आलवार भक्तों में प्राप्त है किन्तु यह नूतन भाव व्रज एवं वङ्गाल की कृष्ण-भक्तिधारा में विकसित हुआ। इस राधाभाव की चर्चा न तो आलवार-साहित्य में है न श्रीमद्भागवत में। भागवत में किसी एक गोपी का कृष्ण की प्रियतमा होना अवश्य इङ्गित है किन्तु वह गोपीभाव के प्रसङ्ग में ही, स्वतन्त्र राधा-भाव की उसमें कोई चर्चा नहीं है। किन्तु यह भाव इतने उत्कट रूप में अचानक कैसे प्रतिष्ठित हो गया ? इसका कोई स्रोत भी था अथवा नहीं ? अभी तक केवल एक ही स्रोत का सन्धान हुआ है जिसे हम लोग लोकमानस एवं तत्प्रेरित साहित्य कह सकते हैं।

## साहित्य

कृष्णभक्ति के आविर्भाव में विशेषकर राधाभाव की सर्वोपरि प्रतिष्ठा में लोक-संस्कृति एवं तज्जन्य साहित्य की देन अकाट्य है। वङ्गाल में लोकमानस की परकीया नायिका राधा ने कृष्ण के साथ अपना स्थान सुरक्षित कर रखा था। चैतन्यमहाप्रभु के आविर्भाव के पूर्व जयदेव एवं चण्डीदास की पदावली में राधा के प्रेम की अत्यन्त भावुक और विपुल गाथा है।

जयदेव—जयदेव की राधा में उन्मत्त विलासकांक्षा है किन्तु विरह-कातरता भी है। उनमें प्रेम का अभिमान नहीं, गोपियों से घिरे रहने पर भी कृष्ण के प्रति एकान्त दुर्बलता है। यद्यपि जयदेव के गीतगोविन्द में खुलकर विलास-चर्चा है तथापि उसके भीतर प्रेम की ऐसी अनुपम कातरता व्यञ्जित हुई है, जो राधा प्रेम को लौकिक धरातल से ऊपर उठाकर हरिस्मरण के उपयुक्त भी बना देती है। स्वयं जयदेव ने कहा है :—

> यदि हरिस्मरणेसरसं मनो
> यदि विलास कलासु कुतूहलम्।
> मधुर कोमल कान्तपदावली
> शृणु तदा जयदेव सरस्वतीम्॥

जयदेव के विलासोच्छ्वास को सुनकर चैतन्य महाप्रभु राधा की महाभावदशा तक में लीन हो जाया करते थे। जयदेव की पदावली सुनकर वह भावदशा जिसे वैष्णव शास्त्र में दिव्योन्माद कहा गया है, चैतन्यदेव पर व्याप्त हो जाती थी। उनके अतीन्द्रिय भाव से उन्मादग्रस्त होने पर वे नाना अनुभव प्रकट होने लगते थे, जो जयदेव की कैतविनी राधिका में काव्यकला के प्रसङ्ग में वर्णित है। रोमाञ्च, सीत्कार, कम्प, तनाव, विभ्रम, नेत्रोन्मीलन, भूमिपतन, मूर्च्छा आदि दशाएँ महाप्रभु के शरीर में साकार हो जाया करती थीं। उनकी साधना में लौकिक विलास-कौतुक अलौकिक भावदशा में परिणत हो गया। इसका श्रेय केवल उनकी अध्यात्म-चेतना को ही नहीं है, वरन् जयदेव की सरस्वती को भी है। जयदेव की राधा में ही अनन्यासक्त भक्त का तीव्रतम चित्र प्रस्तुत है। आधुनिक विद्वान् के मत में "जयदेव की विलासिनी राधा और कृष्ण की विलास कला वस्तुतः आधी भी नहीं रहेंगी अगर राधिका को एकान्त निर्भर भक्त के रूप में न देखा जाय। भगवान् की प्राप्ति के लिये जयदेव की राधा इतनी व्याकुल हैं कि वे सभी कारण जो सांसारिक रमणियों की विरक्ति के साधन हैं, उन्हें प्रेम के मार्ग से विचलित नहीं कर सकते।[१]"

जयदेव का प्रभाव केवल बङ्गाल तक ही सीमित नहीं था। भाषा संस्कृत होने के कारण उनकी कोमलकान्तपदावली का प्रभाव ब्रज के कवियों पर भी परिलक्षित होता है। गीत के स्वर, लय की अभूतपूर्व माधुरी से आकर्षित होकर शायद ही कोई ऐसा भाषा कवि हुआ हो जिसने जयदेव की शैली में एकाध पद न

---

१—'गीत गोविन्द की विरहिणी राधा'—मध्यकालीन धर्म साधना, पृ० १५७—हजारीप्रसाद द्विवेदी

रचे हों। कहीं-कहीं पर तो जयदेव की पदावली का भावार्थ ही पद्यबद्ध कर डाला गया है।[१]

विद्यापति का प्रभाव ब्रज एवं बङ्गाल दोनों पर परिलक्षित है। विद्यापति के मैथिल-गीत हिन्दी के काव्य-प्रेमियों में उतने ही समादृत रहे होंगे जितने उनके काव्य के प्रभाव से 'ब्रजबुलि' नामक नूतन भाषा के आविष्कर्त्ता बङ्गाली कवियों एवं काव्य-प्रेमियों में। विद्यापति की राधा में सामान्य नायिका के भावपूर्ण चित्र हैं। वयःसन्धि से लेकर सुरत तक के चित्र नायिका राधा के प्रसङ्ग में खींचे गये हैं। विद्यापति की राधा में यौवन और रूप के तीखेपन के साथ ही प्रेम की तरलता भी है। भक्त की कातरता और कृष्ण-मिलन की उत्कण्ठा में विद्यापति की राधा की उत्कण्ठा का समीकरण हो सकता है।

सामर सुन्दर ए बाट आएत,
ते मोरि लागलि आँखि।
आरति अञ्चर साजि न मेले,
सब सखीजन साखि॥
कहहि मो सखि कहहि मो,
कत ताकर अधिवास।
दुरहु दुगुन एड़ि में अब औं
पुनू दरसन आस॥[२]

'कहहि मो सखि कहहि मो' प्रेम की तीव्रोत्कण्ठा जिस विकलता से प्रकट हुई है, वह सहज ही कृष्ण-भक्ति काव्य में पूर्वराग की 'अभिलाषा' दशा बन सकी। विद्यापति तथा चण्डीदास के गीत सुन कर चैतन्य महाप्रभु का अधीर हो जाना विदित है। विद्यापति की पदशैली ने ब्रजबुलि की पदशैली को जन्म दिया। उसकी

---

१— बिहरत बन सरस बसंत स्याम। संग जुवती जूथ गावें ललाम॥
मुकुलित नूतन सघन तमाल। जाही जुही चम्पक गुलाल॥
पारिजात मन्दार माल। लपटावत मधुकरिन जाल॥
कुटज कदम्ब सुदेस ताल। देखत बन रीझे मोहनलाल॥
अति कोमल नूतन प्रवाल। कोकिल कल कूजत अति रसाल॥
ललित लवङ्ग लता सुवास। केतकी तरुनी मानो करत हास॥
यह विधि लालन करें विलास। बारन जाइ जन 'गोविन्ददास'॥
—गोविन्दस्वामी, पद सं० १०६

२—'विद्यापति'—कु० सूर्यवली सिंह, लाल देवेन्द्र सिंह, पद सं० १३; सम्पादक—विश्वनाथ प्रसाद मिश्र।

अकूट सरलता, सरसता तथा लोकगीत की भाँति सहज प्रवाह ने ब्रजभाषा तथा ब्रजबुलि की काव्य-शैली के निर्माण में महत्त्वपूर्ण योगदान किया। बङ्गाल विद्यापति से इतना अधिक प्रभावित रहा है कि आधुनिक बङ्गाली विद्वान् विद्यापति को मध्ययुगीन बङ्गला काव्यकार प्रवर्तक कवि तक मानते हैं।

चण्डीदास—जयदेव और विद्यापति ब्रज तथा बङ्गाल दोनों के साहित्य-क्षेत्रों में समादृत थे किन्तु चण्डीदास का प्रभाव बङ्गाल तक ही सीमित ज्ञात होता है। बङ्गाल में राधा का जो रूप विकसित हुआ उसमें चण्डीदास की राधा का प्रभाव कम नहीं है; परकीया राधा बङ्गभूमि की उपज हैं। ब्रज के सम्प्रदायों में राधा स्वकीया ही हैं। चण्डीदास की परकीया राधिका में जो प्रबल मदनावेग है, वह गौड़ीय-सम्प्रदाय में परकीयावाद का सिद्धान्त स्थिर करने का प्रेरक बना। १२वीं-१३वीं शताब्दी में बङ्गीय-साहित्य में धमाली-काव्य का साम्राज्य था। धमाली-काव्य में अश्लीलता की मात्रा इतनी सीमारहित थी कि पुर-ग्राम में वे नहीं गाये जा सकते थे। ग्राम के बाहर ही उनके गाये जाने की प्रथा थी। चण्डीदास का 'कृष्ण कीर्तन' धमाली-काव्य का नमूना है। यद्यपि उसमें संस्कार की पर्याप्त चेष्टा की गई है, किन्तु संशोधित तथा परिमार्जित दशा में भी वह कम अश्लील नहीं है। समाज में प्रतिष्ठित परकीया-राधा का रूप चण्डीदास की काव्यमय भाषा में कुछ निखार के साथ सम्मुख आया। राधा कहती हैं—

**कि मोर ए घर दुयारेर काज**
**लाजे करिवारे नारि।**[१]

किन्तु अपनी प्रीति की विवशता को राधा कातर-भक्त की भाँति निवेदित करती हैं। कृष्ण से वे निवेदन करती हैं कि "यद्यपि तुम्हारा भजन करने से मुझे अपार कलङ्क का भागी होना पड़ रहा है किन्तु मैंने तुम्हारे लिये पर्वत के समान कुल-शील का त्यागकर दिया है। तुम्हारी प्रीति अत्यन्त अनुपम है, मैं तुम्हें दे ही क्या सकती हूँ—तुम्हारा धन तुम्हें सौंपती हूँ (त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये)। जो भी तुम करते हो वही मुझे रुचिकर लगता है।[२]" राधाकृष्ण-भक्ति का जो रूप बङ्गाल में चैतन्य महाप्रभु के प्रभाव से निर्मित हुआ, उसमें चण्डीदास के राधा-कृष्ण का पर्याप्त सहयोग है। कृष्ण के आवाहन पर लोक-मर्यादा को तिलाञ्जलि देकर चल पड़ने वाली चण्डीदास की परकीया राधा, बङ्गाल के कृष्ण-भक्तिधारा की मार्गदर्शिका बनीं। उनमें प्रेम का जो स्वरूप व्यक्त हुआ, उसे

---

१—चण्डीदास पदावली, प्रथम खण्ड, पद सं० ५६
२—वही, पद सं० ३७

सिद्धान्त का रूप देने का प्रयास किया गया। शैली में भी चण्डीदास की छाप गोविन्ददास, ज्ञानदास आदि ब्रजबुलि-कवियों पर देखी जा सकती है।

विल्वमङ्गल—चैतन्यमहाप्रभु दक्षिण-यात्रा से ब्रह्मसंहिता के अतिरिक्त विल्वमङ्गल का कृष्णकर्णामृत भी लाये थे। यह ग्रन्थ उन्हें विशेष प्रिय था। इसका एक श्लोक सुनकर वह महाभाव की विरह दशा में लीन हो जाते थे—

हे देव ! हे दयित !! हे भुवनैक बन्धो !!!
हे कृष्ण ! हे चपल !! हे करुणैक सिन्धो !!!
हे नाथ ! हे रमण !! हे नयनाभिराम !!!
हा हा कदा नु भवितासि पदं दृशोर्मे ॥[१]

कर्णामृत के रचयिता विल्वमङ्गल को लीला का 'शुक' कहा गया है। उनकी वाणी में कृष्ण के वेणु का सा राग है, वंशी की सी मधुरता है। उन्होंने अपनी वाणी में कृष्ण की माधुरी की क्षुद्रतम कणिका के अवतरित होने की प्रार्थना की है—

कमनीय किशोरमुग्धमूर्तेः, कलवेणुक्वणितादृताननेन्दोः।
मम वाचि विजृम्भतां मुरारेर्मधुरिम्णः कणिकापि कापि कापि ॥[२]

उनके काव्य में कृष्ण की जो मूर्ति अङ्कित हुई है वह अत्यन्त सुकुमार 'बाल' की है, किन्तु उसमें तारुण्य की तरलता और मादकता भी है। अनङ्ग रेखारस से रञ्जित कृष्ण-अपाङ्ग अनुक्षण व्रज सुन्दरियों को विद्ध करते रहते हैं। विल्वमङ्गल ने इन्हीं तरुण विभु का आश्रय माँगा है।[३] उनके कृष्ण, माधुर्य के वारिधि हैं, उस माधुर्य के जिसमें मद की तरङ्गराशि है। जयदेव की भाँति विल्वमङ्गल भी "मदन-केलि शयोत्थित" कृष्ण का अभिनन्दन करने को उत्सुक रहते हैं। उनका मन उस 'मधुरिमणि' में विलयमान हो रहा है जो व्रज-सुन्दरियों से रति-कलह में विजय-लीला के कारण मद से मुदित हैं। विल्वमङ्गल के मानस से लम्पटसम्प्रदाय के रसज्ञ, मनोज्ञ देवता संलग्न हैं।[४]

रस के केलिरूप के ही वे उपासक नहीं हैं; वे उस अनिर्वचनीय सौन्दर्य का दर्शन करना चाहते हैं जो कृष्ण हैं। विल्वमङ्गल के काव्य में श्रीकृष्ण की रूप-माधुरी

१—कृष्णकर्णामृतम्, श्लोक ४०

२— वही, श्लोक ७

३—अपाङ्गरेखाभिरभङ्गुराभिरनङ्गरेखा रसरञ्जिताभिः।
अनुक्षणं वल्लभसुन्दरीभिरभ्यस्यमानं विभुमाश्रयामः ॥—कृष्णकर्णामृतम्, श्लोक १०

४—लग्नं मुहुर्मनसि लम्पटसम्प्रदाय, लेखावलेहिनि रसज्ञमनोज्ञ वेषम्।
रज्यन्मृदुस्मित मृदूल्लसिताधरांशु, राकेन्दु लालित मुखेन्दु मुकुन्दबाल्यम् ॥
—कृष्णकर्णामृतम्, श्लोक ५०

के राशि-राशि के चित्र अङ्कित हैं; न जाने कितनी भावभङ्गिमा में उनके सौन्दर्य का पान किया गया है। मुखाकृति के माधुर्य से परास्त होकर वे कह उठते हैं—'चित्र चित्रमहो, विचित्रमहो चित्रं विचित्रं महः।' किन्तु वे स्पष्ट घोषित करते हैं कि जो रसज्ञ-संपट्ट उनके हृदय से संलग्न है वही मुनीन्द्र जन के मानस का ताप हरता है, ब्रज-वधुओं का क्लेश दूर करता है, भुवनेश्वर इन्द्र का दर्प-दलन करता है। उस सर्वज्ञ की मुग्ध छवि दुर्लभ है; कृष्ण का कैशोर, उनका मुखारविन्द, उनकी करुणा, उनका लीला कटाक्ष, उनका सौन्दर्य, उनकी स्मितश्री अत्यन्त दुर्लभ है —

> **तत्कैशोरं तच्च वक्तारविन्दं तत्कारुण्यं ते च लीलाकटाक्षाः।**
> **तत्सौन्दर्यं सा च सान्द्रस्मितश्री सत्यं सत्यं दुर्लभं दैवतेऽपि ॥**[१]

इसी अपार्थिवता के आग्रह के कारण विल्वमङ्गल का काव्य जयदेव, चण्डीदास आदि अन्य कवियों के काव्य से ऊँचे धरातल पर प्रतिष्ठित है। वे कहीं भी यह नहीं कहते कि उनकी सरस्वती का आस्वादन विलास-कला-कौतूहल की क्षान्ति के लिये भी है। वे सदैव कृष्ण की अवर्णनीय नीलद्युति का दर्शन करने को लालायित रहते हैं।

**कालिदास**—कृष्णकाव्य को ऐन्द्रियपरक रूप देने में कालिदास का प्रभाव भी स्वीकार किया जा सकता है। प्रेम का जो मादक, ऐन्द्रिय, उल्लासमय चित्र कालिदास ने प्रस्तुत किया है वह कालान्तर में लोककथा के कृष्णचरित में ग्रहीत हो गया हो तो आश्चर्य क्या? राधा-कृष्ण-कथा में विलास का प्राचुर्य है, विलास विभ्रम का वैचित्र्य है, यही महाकवि कालिदास के शृङ्गार-काव्य में है। ऐन्द्रिय अनुभूति के माध्यम से अनिर्वचनीय सौन्दर्य को पकड़ने की जो चेष्टा कालिदास के काव्य में है, वह बाद में कृष्ण-काव्य में पनपकर जीव की, भगवान को प्राप्त करने की लालसा में परिणत हो गयी।

लोक-परम्परा में तथा साहित्य-परम्परा में चले आये हुए राधा-कृष्ण के इस स्वरूप ने मध्ययुग की कृष्णभक्ति को पुराणों से भी अधिक प्रभावित किया। कृष्णभक्ति के अधिकतर सम्प्रदायों में मात्र इस युगल प्रेमी की मूर्ति विराजमान है। राधावल्लभ-सम्प्रदाय ने शान्त, दास्य, सख्य, मधुर आदि की चर्चा भले ही की हो, सम्प्रदाय में इन रसों की अभिव्यञ्जना भी मुश्किल से ही ढूंढ़े मिलेगी। रूपगोस्वामी ने बड़े विस्तार के साथ दास्यादि रसों का साङ्गोपाङ्ग विवेचन प्रस्तुत किया है किन्तु चैतन्य-सम्प्रदाय में दास्य, सख्यादि भावों के पद हैं कितने? और तो और स्वयं मधुर भाव भी तो वहाँ राधा-कृष्ण भाव में सिमट गया।

चण्डीदास, विद्यापति आदि के साहित्य में मुखरित राधा-कृष्ण की विलास-

---

१—कृष्णकर्णामृतम्, श्लोक ५५

लीला ने ब्रज और वङ्गाल की कृष्ण-भक्ति को आच्छादित कर लिया। स्वामी हरिदास, हितहरिवंश, निम्बार्क, चैतन्य देव सभी सम्प्रदायों में केवल मात्र एक ही भाव समासीन है—निकुञ्जभाव-असंख्य विलासोर्मि से उद्वेलित राधा-कृष्ण का प्रेम-कैतव। यदि किसी सम्प्रदाय में भक्तिरस के सारे भाव-सन्निध हैं तो केवल वल्लभ-सम्प्रदाय में ही। उसमें राधा-कृष्ण की युगलमूर्ति की विलास-चर्चा ही एकमात्र चर्चा नहीं है, युगल-दम्पति की आसक्ति में ही वल्लभ-सम्प्रदाय का चित्त नहीं भटका, उसने जीवन में कल्लोल उत्पन्न करने वाले सारे मानवीय मनोरागों को भक्तिभाव में बदल दिया। यद्यपि वल्लभ-सम्प्रदाय ने भक्तिरस के पाँच भावों—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य, मधुर का शास्त्रीय रूप निर्धारित नहीं किया, तथापि उसके भक्ति-रस का अमृतसिन्धु सबसे विपुल है और नाना भावों के वीचि-विलास से सङ्कुल है।

रसपरक साधना का रूप ब्रज एवं वङ्गाल में प्रायः एक-सा है। वात्सल्य, सख्य, मधुर आदि भाव ब्रज के सम्प्रदायों में उसी प्रकार मान्य हैं जैसे वङ्गाल के गौड़ीय-सम्प्रदाय में। किन्तु ब्रज में उस चित्र से उत्पन्न आह्लाद में किसी को यह चिन्ता नहीं है कि चित्र की शैली क्या है। इसके विपरीत वङ्गाल के कृष्णभक्त-कवियों ने उस चित्र के विशद टेकनीक का विशद विश्लेषण भी किया है। वृन्दावन के षट् गोस्वामियों ने चैतन्य-सम्प्रदाय में स्वीकृत भावों को शास्त्रीयता प्रदान की। उन्होंने अपनी सूक्ष्म पैनी दृष्टि से भावपरक इस कृष्ण रस-साधना को एक ऐसा विवेचनात्मक रूप दिया जो रसबोध का *अनिवार्य उपकरण* बनकर काव्य-जगत् के मानदण्ड पर अपनी अकाट्य प्रतिष्ठा कर सकी। जयदेव के विशुद्ध-विलास-कैतव ने गम्भीर शास्त्रीय मर्यादा का परिधान पहना। अब तक सम्प्रदायों की देन केवल दर्शन या पद-रचना तक ही सीमित थी, चैतन्य-सम्प्रदाय के प्रभाव से वह काव्य-शास्त्र को भी एक महान् दान दे गयी। फलस्वरूप मध्ययुग की कृष्ण-भक्तिधारा को हम काव्य के संसर्ग एवं प्रभाव से अलग करके नहीं देख सकते। कृष्ण-भक्ति धर्म तथा साहित्य में कोई विभाजन-रेखा नहीं है, जो दर्शन है वही साहित्य में रस है, जो रस है वही धर्म है। मध्ययुग की इस सगुणधारा में दर्शन-साधना एवं साहित्य का बेजोड़ सङ्गम है।

## युगीन-पृष्ठभूमि

ब्रजभाषा में विनय के पदों में तथा कलिकाल-वर्णन के प्रसङ्ग में तत्कालीन राष्ट्रीय परिस्थितियों का आकलन हुआ है। वङ्गाल की तत्कालीन परिस्थिति चैतन्य महाप्रभु पर लिखे गये चरितकाव्यों में ही अधिकतर व्यक्त हुयी है। मध्ययुग को सामान्य रूप से व्यक्तिगत एवं सामाजिक ह्रास का युग कहा जा सकता है। ह्रास की वेगवती अधोगति ने भगवान् को विकल होकर पुकारने की प्रेरणा दी। जब सारे

आश्रय पतनोन्मुखी होने लगे तब भक्तों ने ऐसे अवतार का शरण ग्रहण किया जिसने अपने सौन्दर्य तथा माधुर्य से पङ्किल जीवन को नवीन सौन्दर्य प्रदान किया।

## सामाजिक अवस्था

समाज की दशा अत्यन्त हीन हो चुकी थी। श्री वृन्दावनदास जी ने 'कलि-चरित्र वेली' में अपने युग की स्थिति का अत्यन्त विस्तृत चित्र उपस्थित किया है। विप्रों ने आकुल होकर ग्रस्त-व्यस्तता में मन लगाया तथा दया, शौच, तप, सत्य का किञ्चित भी छुआव उनसे न रहा। क्षत्रियों ने अपना धर्म छोड़ दिया तथा वणिकों के कपट का ओर-छोर न था। वे सब प्रकार से छल के आश्रित हो रहे थे। शूद्र घोर मद में किसी को कुछ समझते ही नहीं थे। यह तो हुई वर्णाश्रम-विश्रृङ्खलता। व्यक्तिगत जीवन भी निन्दनीय था। साधारण जन कपट-स्नेह करते थे; दस दिन में धुयें के मेघ की भाँति उनका स्नेह उधर जाता था। विधवाएँ शृङ्गार करती थीं, वे कुल में कलङ्क लगाने से नहीं डरती थीं और परद्वार फिरा करती थीं। जुआ का व्यसन आहार के समान था, धन-कामिनी की बाजियाँ भी उस पर लगा दी जाती थीं। विप्र शिकार खेलते थे।[१]

व्यक्ति के जीवन पर उपालम्भ करते हुए सूरदास ने लिखा है कि सारा जीवन पशु की भाँति बिताया जाता है। समस्त आयु हरिस्मरण के बिना गवाँ दी जाती है। साधु-चर्चा न करके दूसरों की निन्दा करने में जीवन नष्ट किया जाता है। ध्यान केवल बाहरी सजधज का रहता है। तेल लगाकर रुचिपूर्वक मर्दन किया जाता है, वस्त्र मलमल कर धोये जाते हैं और बाहर से तिलक-छापा लगाकर धार्मिक होने का स्वाङ्ग भी रचा जाता है। किन्तु आन्तरिक प्रक्षालन तनिक भी नहीं होता, व्यक्ति सदैव विषयों का मुँह देखा करता है। मानव की यह अवस्था पशु के समान ही है जो अपना पेट भरता है और निश्चिन्त होकर सो रहता है; जिसके जीवन में आहार, निद्रा आदि के अतिरिक्त और किसी बात का महत्व ही नहीं रहता।[२] हरिराम व्यास ने भी व्यक्ति के गर्हित जीवन पर क्षोभ प्रकट किया है। 'कुटुम्ब-उपदेश' में व्यास जी ने अत्यन्त खुलकर व्यक्ति के हीन-जीवन का चित्र उपस्थित किया है—

> साधु न बसत असाधु संग महँ, जब तब प्रीति भंग दुख रासी।
> देह गेह संपति सुत दारा, अधर, गण्ड, भग, उरज उपासी॥
> पूतनि के हित मूत पियत हैं, भूत विप्र करि कासी।
> तिनसों ममता करि हरि बिसरे, जानत मंद न तिनहिं बिसारी॥

१—कलिचरित्र वेली, पृ० ७

२—सूरसागर के विनय पद, पद सं० ५१—'किते दिन हरि सुमिरन बिनु खोये।'

स्वारथ परमारथ पथ छूट्यो, उपजी खाज कोढ़ में खासी।
देह वृद्ध भयी बंस व्यास को, बिसरयो कुंजनि कुंज निवासी ॥[१]

चैतन्य भागवत में भी इसी प्रकार का वर्णन है।[२]

सामूहिक जीवन भी हेय था। समाज कृतघ्न व्यक्तियों से भरा था, कदाचित् ही कोई कृतज्ञ होता हो। वेश्यारति, मदपान, झूठे वाद-विवाद तथा विषय-चर्चा करना लोगों की नित्य क्रियायें थीं। प्रकट रूप से अनेक पाप करके भी लोग जग में यश चाहते थे, चाहते ही नहीं थे उन्हें सम्मान मिलता भी था। निरपराध जनों को दुःख देना लोगों को सुख प्रदान करता था, जो साधु थे उन्हें असाधु समझा जाता था तथा जो असाधु थे उन्हें साधु। हृदय में पाप का भण्डार भरा रहता था और प्रकट रूप से साधुता प्रदर्शित की जाती थी।[३]

## राजनैतिक अवस्था

मध्ययुग में मुसलमानी साम्राज्य निश्चित रूप से जम चुका था। यद्यपि केन्द्रीय शासक की नीति उदार थी जैसा कि विट्ठलनाथ एवं अन्य भक्तों के नाम पर अकबर के फर्मानों से विदित होता है, तथापि धार्मिक असहिष्णुता का भारतवर्ष में अभाव नहीं था। नवद्वीप के मुसलमान शासक हिन्दुओं पर भाँति-भाँति के अत्याचार करते थे। चैतन्य-महाप्रभु की कीर्तन-मण्डली को वहाँ का काजी बहुत सताया करता था, यहाँ तक कि उनका मृदङ्ग भी एक दिन तोड़ डाला गया। इसकी प्रतिक्रिया हिन्दू जनता पर अच्छी नहीं हुयी। महाप्रभु का उत्साह कम नहीं किया जा सका, वरन् जो कीर्तन को पाखण्ड समझते थे वे भी उसमें सम्मिलित होने लगे। यह अवश्य है कि यवन-शासक को तान्त्रिक लोग उकसाया करते थे, किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि स्वयं यवन-शासक नदिया की हिन्दू जनता के प्रति उदार थे।

केन्द्रीय व्यवस्था जैसी भी रही हो, सामान्य राजनीतिक परिस्थिति बहुत सन्तोषजनक नहीं प्रतीत होती। नृप अन्यायी और चोर थे तथा प्रजा का पालन नहीं करते थे, अनीति का बोलबाला था। प्रजा कङ्गाल थी, अन्न के अभाव में सब जगह घूमती-फिरती थी, बार-बार अकाल पड़ा करता था।[४]

---

१—व्यासवाणी (पूर्वार्द्ध), कुटुम्ब उपदेश प्रकरण, पद सं० १४४

२—'नानारूपे पुत्रादिर महोत्सव करे। देह गेह व्यतिरिक्त आर नाहि स्फुरे ॥'
चैतन्यभागवत—आदिखण्ड, सप्तम अध्याय, पृ० ४६

३—कलिचरित्र वेली, पृ० ७-८

४—नृप अन्यायी चोर, परजा कौ पालन तज्यौ।
लहि अनीति अकोर, कलि प्रताप हरि कृपा बिनु ॥६१॥
प्रजा कृपन कंगाल, अन्न बिना दिस दिस फिरै।
पुनि पुनि परत अकाल, कलि प्रताप हरि कृपा बिनु ॥६२॥
कलिचरित्र वेली—हित वृन्दावनदास, पृ० ११

धार्मिक अवस्था

ऐसी ध्वस्त परिस्थितियों में धर्म से कुछ आश्वासन मिलने की आशा हो सकती थी किन्तु जीवन का यह अन्तिम संबल सबसे अधिक विकृत था। जिन सामाजिक, राजनैतिक कुरीतियों से क्षुब्ध होकर व्यक्ति धर्म की ओर मुड़ता था, वे धर्म की आड़ में और भी पनप रही थीं। धार्मिक पाखण्ड का एक छत्र साम्राज्य था। धर्म की इस दुरवस्था से खीझ कर हरिराम व्यास ने कहा कि उन्हें किसी पर भी विश्वास नहीं रहा—

**मोहि न काहू की परतीति।**
**कोऊ अपने धर्म न सोचो, कासों कीजे प्रीति।**
**कबहुंक न्यासि उपासि दिखावत, लै प्रसाद तजि छीति।**
**ह्वै अनन्य शोभा लगि दिन द्वै, सब सों करत सभीति।**
**स्वारथ परमारथ पथ बिगर्‌यो, उन मग चलत अनीति।**
**व्यास दिनै धारिक या बन में, जामि गही रस रीति॥**[1]

वचनों में साधु, लक्षण में निपट असाधु, ऐसे लोग सब के विश्वास-पात्र बने हुए थे। स्वप्न में भी जिन्हें हरि से पहिचान नहीं थी, वे संसार को विकाररहित करने का बीड़ा उठाये हुए थे। ऐसे लोगों का आदर होता था जो चिकनियाँ और चोर थे।[2] भावविहीन भक्तों की भरमार थी। वे तन्त्र-मन्त्र-टोना पढ़कर लोगों को वशीभूत करते थे। लोभ के वशीभूत स्वामियों, गोस्वामियों तथा भट्टों की संख्या बेशुमार थी, सच्ची भक्ति का कहीं नाम नहीं था।[3] धन के लिये पण्डित भागवत सुनाते थे, इसी के लालच में लोग गौड़ गुजरात भटकते फिरते थे। धन के लोभ से लोग साधु वेश धारण करके दो दिन तक अनन्य भक्त बने रहते थे, फिर संसार में लिप्त हो जाते थे। ज्ञान-वैराग्य से हीन जन भस्म धारण करके तापसी बने फिरते थे, लोभी संन्यासी धन के लिये गृह तथा गृहिणी का परित्याग करते थे। संसार से

---

१—व्यासवाणी, पूर्वार्द्ध, पद सं० १०९

२—छैल चिकनिया चोर, भरुवनि कौ आदर अधिक।
आरज संग मरोर, कलि प्रताप हरि कृपा बिनु ॥२४॥ कलिचरित्र वेली—हितवृन्दावनदास

३—गावत नाचत आवत लोभ कहत।
याही तें अनुराग न उपजत, राग वैराग सो कहत।
मन्त्र जन्त्र पढ़ि मेलि ठगौरी, वश कीनौ संसार।
स्वामी बहुत गुसाईं अगनित, भट्टनि पै न उवार।
भाव बिना सब बिलबिलात अरु, किलकिलात सब तेहू।
'व्यास' राधिका रवन कृष्ण बिनु, कहूँ न सहज सनेहू ॥२४१॥ व्यासवाणी, पूर्वार्द्ध

विरक्ति का लेश भी न था, भक्त राजाओं के द्वार पर खड़े होकर बाजा बजाकर गाना सुनाते थे।[१]

वङ्गाल में वज्रयान के विकृत प्रभाव से समाज में दुराचरण का प्रसार था। नेड़ा-नेड़ी से समाज भरा पड़ा था। न इनमें वैराग्य था, न तान्त्रिक साधना का ज्ञान। परस्पर अवैध-सम्बन्ध गर्हित धर्म का रूप धारण करने लगा। नित्यानन्द ने इन बौद्ध भिक्षुक-भिक्षुणियों को बृहत् संख्या में अपने मत में दीक्षित किया और इस प्रकार उनमें सच्ची धार्मिक चेतना जागृत करने का प्रयास किया। केवल बौद्ध-प्रभाव के कारण ही नहीं, अन्य लोक-प्रभावों से भी वङ्गाल में बीभत्स तान्त्रिकाचार का प्रचलन था। चण्डी वाशुली एवम् मनसा आदि देवियों पर मङ्गल-काव्य प्रणीत हुए। भक्ष्य-अभक्ष्य, पेय-अपेय पदार्थों से वज्रयानी देवियों की अर्चा होती थी। जादू, टोना, मन्त्र-यन्त्र—यही तान्त्रिक-साधना का रूप रह गया। वङ्गाल को आच्छादित करने वाले तान्त्रिक प्रभाव से चैतन्यमहाप्रभु को पर्याप्त लोहा लेना पड़ा। भावविहीन गर्हित तन्त्र-साधना ने चैतन्यमहाप्रभु के भावप्रवण शुद्ध भक्ति भाव का बड़ा तिरस्कार तथा विरोध किया, किन्तु महाप्रभु के सुतीक्ष्ण भक्तिराग ने उनके अस्त्र काट दिये—मद्यप जगाई मधई की कथा इसका ज्वलन्त प्रमाण बनी।

धर्माचरण इतना जर्जर था ही, ज्ञान का भी वास्तविक अर्थ विलुप्त होता जा रहा था। ज्ञान का अर्थ केवल कुतर्क या तर्क-शास्त्र मात्र रह गया। इतना ही नहीं, जिन्होंने कुछ भी ज्ञानार्जन नहीं किया था, वे पण्डित भट्टाचार्य कहलाते थे। जिन्हें शब्द-ज्ञान नहीं था, वे तर्क बखानते थे।[२] ज्ञान, मनुष्य को आत्मा की खोज में प्रवृत्त न करके दिग्विजय की खोज में प्रवृत्त करने लगा। यह शास्त्रार्थियों के दम्भ को उद्दीप्त करता था, उनमें वैराग्य, विज्ञान, भक्ति का उन्मेष नहीं कर पाता था। पश्चिमोत्तर प्रान्त के एक दिग्विजयी बड़ी सजधज के साथ नवद्वीप पहुँचे और वहाँ उन्होंने अपने प्रतिद्वन्दी का आवाहन किया। उनके शास्त्रार्थ में सूक्ष्मातिसूक्ष्म दोष दिखाकर चैतन्यदेव ने उनका अहङ्कार विचूर्ण कर दिया। भक्ति के सम्मुख शास्त्रज्ञान की हीनता भी उन्हें विदित हो गयी। इसी प्रकार बनारस में संन्यासियों के ज्ञान गर्व पर महाप्रभु ने प्रहार किया।

ज्ञान, कर्म, भक्ति—सभी मार्ग पाखण्डियों एवं दम्भियों से भर गये। वास्तविक शान्ति कहीं भी नहीं मिल पाती थी। 'कृष्णाश्रय' में वल्लभाचार्य जी ने तत्कालीन

१—उमकत मुकत पौरियन डरपत गाय दजाय सुनावत तार ॥२४८॥—व्यासवाणी, पूर्वार्द्ध

२—प्रभु बोले सन्धिकार्य ज्ञान नाहि जार।
कलियुगे 'भट्टाचार्य' पदवी ताहार॥
शब्द ज्ञान नाहि जार से तर्क बखाने॥—चैतन्यभागवत, मध्यखण्ड, प्रथम अध्याय, पृ० १०८

विषम अवस्था का वर्णन करते हुए लिखा है कि धर्माचरण के सब साधन पथ-भ्रष्ट हो चुके हैं, तीर्थ अपवित्र हो चुके हैं, व्रत-उपवास सब नष्ट हो गये हैं। ऐसी विचित्र सामाजिक-धार्मिक-दुर्दशा में एकमात्र इष्टदेव के अतिरिक्त और कोई आश्रय विश्वसनीय नहीं रहा। भक्तों की दृष्टि एकमात्र अपने आराध्यदेव पर अटकी। यह बात कृष्ण-भक्तों के लिये विशेष उल्लेखनीय है, क्योंकि प्रचलित कुरीतियों का निरसन करने के लिये किसी नीतिप्रधान सामाजिकप्रथा में आस्था प्रकट न कर, उन्होंने सब प्रकार से कृष्ण भजन को ही श्रेयस्कर माना। इस वृत्ति के मूल में एक गहन मनोवैज्ञानिक प्रेरणा जग रही थी।

मध्ययुगीन ह्रासोन्मुखी समाज के उद्धार के लिये अन्य भक्ति-सम्प्रदायों ने प्रयत्न भी किया। निर्गुणमार्गीय सन्तभक्तों ने धार्मिक पाखण्ड की खुलकर भर्त्सना की और काम, क्रोध, मोह-मत्सर में लिप्त माया के वशीभूत लोगों को बार-बार सचेत किया। किन्तु कुरीतियों पर कुठाराघात उन्हें समूल उखाड़ न सका, फटकारे जाने से वे भयावसन्न अवश्य हो गई किन्तु मर न सकीं। दुराचारण की कटु आलोचना ने कुछ सीमा तक समाज को पङ्क से निकाला किन्तु इस रोष ने उसका संस्कार नहीं किया। रामभक्तिशाखा ने इस दिशा में ठोस कार्य किया। तुलसीदास जी ने अपने वृहत् 'रामचरितमानस' में समाज के पुनस्सङ्गठन का मार्ग दिखाया। राष्ट्र के अमर्यादित असन्तुलित जीवन के सम्मुख महान् रघुकुल का आदर्श उपस्थित किया गया। राम के चरित से तथा उनके तप, संयम, शील, मर्यादा से, समाज को तपःपूत एवं संयमित करने का महत्वपूर्ण प्रयास हुआ। एकबार पुनः वर्णाश्रम-व्यवस्था का प्रयत्न हुआ, सन्तों के लक्षण समझाये गये और जीवन की वैयक्तिक तथा सामूहिक मर्यादायें स्थापित की गयी। अनैतिकता के बीच नैतिकता की संस्थापना करने का प्रयास किया गया, बिखरे हुए समाज को नैतिक संस्कृति के सूत्र में बाँधने का महत् उद्योग हुआ। तत्कालीन परिस्थितियों को सुधारने में सफल होने के कारण 'रामचरिमानस' भारतीय जन-जीवन का अनिवार्य अङ्ग बनने लगा।

कृष्णभक्ति का उद्गम—किन्तु मर्यादावाद के द्वारा देश के उद्धार करने की प्रवृत्ति से कृष्णभक्तिधारा प्रायः उदासीन रही। रामभक्ति का कार्य महत्वपूर्ण था, किन्तु उससे भी महत्वपूर्ण कार्य कृष्णभक्ति की विचारधारा ने सम्पादित किया—नैतिक व्यवस्था से अधिक गहन तथा अधिक स्थायी। नैतिकता के दबाव से बाह्य-जीवन अवश्य सन्तुलन की ओर लौटने लगा, किन्तु उसमें जिन कुसंस्कारों का बीज पड़ चुका था, उनकी जड़ें अन्दर ही अन्दर उपचेतना में गड़ी हुयी फैली थीं। चेतनमन से निकाली जाकर वे अवचेतन में घर बसाने में व्यस्त थीं। मानव जीवन की इस विडम्बना को कृष्णभक्तिधारा ने भलीभाँति परखा, जीवन की विकृतियों

की नाड़ी को कृष्णभक्तों ने ठीक तरह से पहिचाना। उनका उपचार इतना अचूक हुआ कि १५ वीं-१६वीं शताब्दी में कृष्णकाव्य की जो धारा उमड़ी उसने बङ्गाल से गुजरात तक के प्रदेश को आप्लावित कर डाला, सम्पूर्ण उत्तरभारत को जैसे सञ्जीवनी मिल गयी। कृष्णभक्ति-साहित्य की लोकप्रियता का कारण जन-जीवन को छू सकने की क्षमता में है, किन्तु इससे भी अधिक गूढ़ कारण युग की आवश्यकता, उस युग की क्या, युग-युग की मानवीय समस्या को समझने एवं उसका आध्यात्मिक स्तर से प्रत्युत्तर देने में है। कृष्णभक्तिधारा के उद्गम का प्रेरणास्रोत भारतीय अध्यात्म का मनोविज्ञान है। उसके द्वारा प्रस्तुत समाधान उस युग की परिस्थितियों का ही समाधान नहीं है, वरन् मानव-मन की तमाम वृत्तियों के उत्तर में दिया गया निदान है।

वस्तुत: नैतिक-नियम तथा धर्मशास्त्र के नियम मानसी-भूमिका की उपज हैं। मन, चेतना की सर्वोत्तम एवं सर्वसमृद्ध भूमि नहीं है, देह, प्राण की तरह वह भी ज्ञान-अज्ञान का एक यन्त्र है। मानसिक विचार से जिसे सत्य एवं शुभ स्थिर किया जाता है वह अन्तिम सत्य एवं शुभ हो, यह नहीं कहा जा सकता। यह ठीक है कि मनुष्य के प्राण एव देह-जगत् में ऐसी वृत्तियों का वास है जिनका मानसिक किंवा नैतिक नियन्त्रण आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है। किन्तु इस नियन्त्रण से व्यक्तित्व की तमाम गुत्थियाँ एकदम सुलझ नहीं जातीं, सत्ता के विभिन्न अङ्गों में सामञ्जस्य स्थापित नहीं हो पाता, केवल एक व्यवस्था कायम हो जाती है। नैतिक आचरण द्वारा अर्जित पूर्णता आंशिक होती है, मानव-चेतना की वह पूर्ण तृप्त स्थिति नहीं बन पाती। मध्ययुग में व्यक्ति एवं समाज दोनों की माँग नैतिक-समाधान से गहनतर किसी ऐसी चेतना के लिये थी जो जीवन को समूल बदलकर उसे मिथ्या के स्पर्श से अछूता रख सकती। किसी निश्चित प्रकाश के अभाव में युग-चेतना उल्टी दिशा में प्रवाहित हो रही थी। केवल नैतिक-व्यवस्था की मर्यादा से वह पूर्ण सन्तोष पाती नहीं दिखती। नहीं तो क्या कारण है कि रामभक्ति-साहित्य से अधिक कृष्णभक्ति-साहित्य का लोकव्यापी प्रभाव पड़ा? आरम्भ में नैतिक चेतना की आवश्यकता रहती है। जिस समय मनुष्य में वर्बरता प्रबल हो उठती है, व्यक्तिगत स्वार्थ तथा तज्जन्य मनोविकार सामूहिक हित को आघात पहुँचाने लगते हैं, उस समय नीति की उपयोगिता अतर्क्य है। किन्तु इससे भी बढ़कर आवश्यक है कि व्यक्ति अपनी आत्मा का संस्पर्श प्राप्त करे, जिसके प्रकाश से वह अपनी सारी विकलाङ्गताएँ ठीक कर सके। कृष्णभक्ति-धारा ने इसी अन्तश्चेतना का द्वार खोलने का प्रयास किया। व्यक्ति केवल मानव बनकर सन्तुष्ट हो जायगा, यह नहीं कहा जा सकता। उसके भीतर का अन्तर्यामी देव किस विधान से मानवीय आवरण को भेद कर प्रकट होना चाहता है,

इसे देख सकने की क्षमता अज्ञानप्रधान मानसिक भूमिका के नीति ज्ञान से सम्भव नहीं है। उसे अनुभव करने के लिये ऐसी चेतना की आवश्यकता है जो सत्ता की समस्त भ्रान्तियों से मुक्त है, जिसमें वह अन्तर्भेदी ज्ञान प्रकाशित हो उठता है, जिसे 'प्रज्ञा' कहा गया है। इस स्वयंप्रकाश चेतना में सामञ्जस्य की अपनी विधा होती है, उसमें विरोधी तत्वों के सत्य को समझने यथा उद्‌घाटित करने की क्षमता होती है। इसमें ज्ञान-अज्ञान के बीच किसी प्रकार का बाहरी समझौता करके नैतिक नियम को ही अन्तिम शरणस्थल मान लेने की प्रवृत्ति नहीं होती, वरन् अज्ञान के समस्त उपकरणों को सत्य ज्योति से तपःपूत करने की आन्तरिक दृष्टि होती है। मानसिक और मानस से ऊर्ध्व की चेतना प्रणालियों में अन्तर है। नीति मानसिक रूप से सुलझाकर निश्चिन्त हो जाती है, किन्तु बाह्य सन्तुलन के नीचे अवचेतन का जो आलोड़न मचा रहता है, उसे शान्त करने में धर्मशास्त्र के विधिनिषेध असफल हो जाते हैं। उसे शान्त स्थिर करने में अतिचेतना के रहस्यों की ओर उन्मुख होना व्यक्ति के लिये आवश्यक हो उठता है अन्यथा औपचारिक समाधान तो हो जाता है किन्तु आत्यन्तिक विकास नहीं हो पाता। व्यक्ति का विकास अन्दर से होता है, उत्तरोत्तर बढ़ती स्वतन्त्रता के भीतर, व्यक्तसत्ता की सीमाओं के दमन से नहीं। उसके अतिक्रमण (transcendence) से व्यक्तित्व का संस्कार, बर्बरता से नीतिप्रधान मनुष्यता तक ही पहुँचकर समाप्त नहीं हो जाता, वरन् आगे की चेतना, जिसे आत्म-चेतना कह सकते हैं— में ही प्रवेश करके कुछ स्थायित्व प्राप्त कर पाता है। अन्तर्यामी की चेतना में पहुँचकर दिव्य-चक्षु से विकास की रेखाएँ निर्दिष्ट होती हैं। सत्ता का विकास, उसका आत्मप्रस्फुटन, स्कूल मास्टर की प्रणाली से शिक्षित तथा अनुशासित करके नहीं होता, वरन् उस चेतना से होता है जो स्वयं पूर्ण है जिसके सत् में सम्भूति का रेखाचित्र रहता है और जो सत् की अनिन्द्य पूर्णता को सम्भूति में उतार लाने में सतत क्रियाशील है। यही विश्वचेतना का कर्मयोग है।

यह आत्म-चेतना किसी मानसिक नियम या फार्मूला से कार्य करने को बाध्य नहीं है। वह सत्य की ऐसी व्यापक तथा अन्तर्प्रवेशी सज्ञानता से परिचालित रहती है जो मानव की भावनाओं, इच्छाओं तथा क्रियाओं के अन्तिम उद्देश्य को समझती एवं उनके दिव्य गन्तव्य को उनके सम्मुख उद्‌घाटित करती है। आत्मा का यह सतत संस्पर्श इष्टदेव के प्रतिपूर्ण आत्मसमर्पण से प्राप्त होता है। यों तो सभी भक्ति-सम्प्रदायों में आत्मनिक्षेप का महत्व है किन्तु कृष्णभक्ति की अन्तश्चारिणी चेतना के लिये रामभक्ति का यह प्रथम सोपान है। नवधाभक्ति को अतिक्रमण कर इस दशधाभक्ति की यह विधा आरम्भ होती है जो सम्पूर्णरूप से कृष्ण पर निर्भर है। व्रज एवं बङ्गाल में भक्ति का जो विशुद्ध रागमार्ग विकसित हुआ वह कृष्ण के प्रति

सारी आकांक्षाओं, भावनाओं के समर्पण से सम्भव हो सका। इस राममार्ग का कोई निश्चित नियम नहीं है, उसे स्वयं भगवान् परिचालित करते हैं। नैतिक मानदण्डों के सम्मुख ध्वस्त अर्जुन से श्रीकृष्ण ने जो वाक्य कहा—"सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज, अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः" वह कृष्णभक्ति का मूलमन्त्र बना। मानसिक दृष्टिकोणों से सद्-असद् की विवेचना को छोड़कर व्यक्तित्व को सर्वाङ्गीण रूप से आराध्य कृष्ण को समर्पित करना, इस साधना की प्रथम अनिवार्य शर्त है। समर्पण में व्यक्ति के श्वेत श्याम अङ्ग भगवान् के सम्मुख प्रणत होने लगे, उन पर से अहं का शासन समाप्त होने लगा। अब मनोविकारों को डाटने-फटकारने की किंवा धर्मशास्त्र के नियमों से बाँधने की आवश्यकता नहीं रही। आवश्यकता थी उनके आलम्बन को ही बदल देने की, मनुष्य से हटाकर श्रीकृष्ण में लगा देने की। काम, क्रोध, भय, स्नेह, ऐक्य यहाँ तक कि वैर भाव से भी कृष्ण को भजा जा सकता था, भागवत में इसकी स्पष्ट स्वीकृति है।

भक्ति के इतिहास में यह एक नूतन अनुभव था। भगवान् के संसर्ग से व्यक्तिगत जीवन आमूल परिवर्तित हो गया, व्यक्ति के समस्त व्यक्तितत्व मनोराग, इन्द्रियाकांक्षा, विचार—ने अपनी दिव्य परितृप्ति पा लिया। सन्तों का निराकार के प्रति प्रेम यदि सबको वशीभूत नहीं कर पाया तो इसका कारण इतना ही नहीं था कि जनसाधारण की बुद्धि निर्गुण को ग्रहण नहीं कर सकी। कबीर के निर्गुण प्रेम में ऐसी मार्मिकता है कि वह साकार-निराकार के भेद को चीरती हुयी सीधे परमप्रेमास्पद से सम्बन्ध स्थापित कर लेती है। प्रेम चाहे निर्गुण के प्रति हो या सगुण के प्रति, वह हृदय से सम्बन्ध रखता है, बुद्धि से नहीं। श्रीराम के व्यक्तित्व में केवल दासभाव की ही गुन्जाइश रखी गयी, उनके शील एवं शक्ति से अभिभूत रहने का वातावरण निर्मित हो सका, इससे भाव का श्रद्धा अंश तो तृप्त हुआ, किन्तु राग अंश नहीं। भाव में राग की प्रधानता रहती है, श्रद्धा की नहीं। श्रद्धा के कारण एक पार्थक्य, एक दूरी का अनुभव भक्त और भगवान् के बीच बना रहता है। श्रद्धा से व्यक्तित्व के दुर्बल अंश विस्मृत हो सकते हैं, पूर्णतया परितृप्त नहीं। जन-जीवन का रूप इतना अधिक बिगड़ चुका था कि वह केवल आत्मा की पुकार से ही परमात्मा को नहीं पुकार रहा था, वह प्राण के समस्त आवेश से, इन्द्रियों की सारी विकलता से, भगवान् का आवाहन कर अपने को निवेदित कर देने पर तुला हुआ था। इसीलिये कबीरदास का अनहलक-परक प्रेम या सूफ़ियों का नूर-ए-इश्क, भारतीय जन-मानस को सन्तुष्ट करके चुप न करा सका। उनकी अदम्य पुकार के प्रत्युत्तर में ब्रह्म को अपना नूतन स्वरूप उद्‌घाटित करना पड़ा—तन्मय आराधना के योग्य चित्ताकर्षक, इन्द्रियाकर्षक मनमोहन रूप, श्रीकृष्णावतार !

# दार्शनिक-सिद्धान्त

## परमतत्व

निर्गुण-सगुण—वेद, उपनिषद्, जिस परमतत्व को 'तत्' कह कर अव्यक्त, अगम, अगोचर, अकल, अमल, अनामय, अरूप घोषित करते हैं, जिस आधारभूत सत्ता को सच्चिदानन्द बताते हैं, वही मध्ययुगीन कृष्णभक्ति-धारा में 'तत्' श्रीकृष्ण हैं। श्रीकृष्ण, अर्थात् शक्ति-समन्वित ब्रह्म। श्रीकृष्ण ही परमतत्व हैं, कृष्णभक्ति-सम्प्रदाय एक स्वर से इसकी घोषणा करते हैं। वह एक, नित्य, अखण्ड, अज, अनादि एवं अविनश्वर हैं। ब्रह्म के इस अनिर्वचनीय निर्गुण रूप का वर्णन श्रीकृष्ण स्वयं अपने मुख से ब्रह्मा के सम्मुख करते हैं—

> पहिले हों ही हों तब एक।
> अमल, अफल, अज भेदविवर्जित सुनि विधि विमल विवेक।[1]

यही परब्रह्म हैं, अनन्त महिमामण्डित है इनका स्वरूप। समस्त ब्रह्माण्डों के अधीश्वर हैं, अचिन्त्य और अगम हैं। सारे अवतारों के बीजस्वरूप अवतारी श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं। इनसे परे और कुछ नहीं है। महावाणीकार के शब्दों में श्रीकृष्ण हैं—

> अनन्त,अनीह, अनावृत, अव्यय अखिल अण्ड आधीश अपार।
> अंघ्रि, अब्ज, आभूषण-रव करि केतनकेत लेत अवतार॥
> अचल, अचित्य, अगम, गुनआलय, अक्षर ते अक्षर अधिकार।
> श्रीहरिप्रिया विराजत हैं जहां कृपासाध्य प्रापति सुखसार॥[2]

किन्तु नेति-नेति कह कर, अतद्व्यावृत्ति रूप में कह देने मात्र से ब्रह्म का बोध नहीं हो पाता। यदि हो भी पाता है तो गूंगे के गुड़ की भाँति, जो इसे पाता है, वही इसका रसास्वदन कर पाता है, अन्य सब इस परमतत्व से अनभिज्ञ ही रहते हैं। सर्वसंवेद्य हो सके यह तत्व, इस हेतु कृष्णभक्त इन अचित्य अगम-तत्व को ही सगुण-साकार का रूप देकर सबके बोधगम्यरूप में वर्णित करते हैं। केवल 'निर्गुण' ब्रह्म का एकपक्षीय अपूर्व रूप है, केवल 'सगुण' भी उसको देखने का सीमित रूप है।

---

१—सूरसागर, पद सं० ३८१
२—महावाणी, सिद्धान्त सुख, पद सं० २

वास्तव में, निर्गुण-सगुण उसी एक परमतत्व के परस्पर ओत-प्रोत दो पक्ष हैं, उसकी विचित्रपूर्णता के द्योतक दो पहलू। उस अकल सत्ता का ज्ञान उसके सगुण-साकार रूप में अवतरित होने पर अधिक सुगम हो जाता है। इसलिये श्रीकृष्ण को अवतारी मानते हुए भी सभी सम्प्रदाय उनके पूर्णावतार होने में विश्वास रखते हैं।

सगुण, साकार कह देने से उस 'तत्' को मानवीय न मान बैठा जाय, 'नारायण' को नर न समझ लिया जाय, इस भ्रम के निवारणार्थ भक्तों ने श्रीकृष्ण-तत्व की प्रचुर व्याख्या की है। श्रीमद्वल्लभाचार्य ने श्रुतियों के आधार पर ब्रह्म के सगुण रूप की एक नई व्याख्या प्रस्तुत की। परब्रह्म निर्गुण रहते हुए ही सगुण है, इस तत्व को बोधगम्य करने के लिये आचार्य वल्लभ ने कहा कि यद्यपि श्रीकृष्ण साकार होकर सगुण प्रतिभासित होते हैं तथापि उनके गुण निर्गुण ही हैं, अर्थात् प्रकृतिजन्य विकारी गुणों से सर्वथा भिन्न दिव्य गुण हैं, श्रीकृष्ण 'स्वरूपात्मक' स्वीय दिव्य गुणों से संवलित हैं। सत्व, रज, तम के प्राकृत गुणों से अलिप्त होने के कारण श्रीकृष्ण निर्गुण हैं, किन्तु आनन्द, प्रेम, करुणा आदि निज स्वाभाविक धर्मों से नित्य-युक्त होने के कारण स-गुण हैं। श्रीकृष्ण में प्रकृतिजन्य जड़ गुणों की कल्पना हास्यास्पद है, उनको स्वीय चैतन्य धर्मों से रहित मानना उनके ब्रह्मत्व की एकाङ्गिता है। सभी धर्मों के आधार होने के कारण श्रीकृष्ण धर्मी हैं, अतः दिव्य गुणों का पूर्ण प्रादुर्भाव ब्रह्म की पूर्णता का पोषक ही है, निषेधक नहीं। सत्, चित्, आनन्द—ये श्रीकृष्ण के आधारभूत धर्म हैं। 'सत्' से सचराचर में व्याप्त उनकी सत्ता तथा उनकी स्थिति का बोध होता है, एवं अन्य को सत्ता धारण कराने की क्षमता प्रकट होती है, चित् से उनका वह चैतन्य परिभावित होता है जिसके बिना सत्ता की अवस्थिति असम्भव है, सत्ता का परिज्ञान ही चित् है, एवं इस सत्ता के ज्ञान की अनुभूति का नाम आनन्द है। वास्तव में सत्, चित्, आनन्द परस्पर अनुस्यूत हैं, एक के बिना अन्य की स्थिति ही नहीं है, ये तीनों एक ही हैं। जहाँ परब्रह्म की स्थिति है वहाँ चेतना अवश्यम्भावी है, जहाँ चेतना है वहाँ द्वन्द्व की सम्भावना नहीं, अतः आनन्द अनिवार्य ही नहीं अविच्छेद्य है। अस्तु, श्रीकृष्ण विश्व के मूलाधार सच्चिदानन्द हैं।

विरुद्ध-धर्माश्रय—दृश्य-अदृश्य, चल-अचल, सभी कुछ इस परमतत्व में समाये हुए हैं। वह परमसत्ता विश्वातीत, परात्पर, अव्यक्त होते हुए भी विश्वव्यापी एवं वैश्व है (Universal)। मानसिक बुद्धि को विरुद्ध प्रतीत होने वाले गुणों का उसमें सहज समीकरण हो जाना सुकर है, सुकर ही नहीं अत्यन्त स्वभावज है। इसे ही वल्लभाचार्य जी ने 'विरुद्ध धर्म्माश्रय' का सिद्धान्त कह कर निर्धारित किया है। श्रीकृष्ण किंवा परब्रह्म सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है, साथ ही महान् से भी महान् हैं, अणु होते हुए भी विभु हैं, कूटस्थ होते हुए भी चल हैं, निकट रहते हुए भी दूर, सब में

समाये रहते हुए भी सबसे अछूते हैं। आदि अन्त से रहित होते हुए भी सब के आदि अन्त हैं।[1]

**परब्रह्म की तीन स्थितियाँ**—ब्रह्म, परमात्मा, भगवान; अक्षरब्रह्म, अन्तर्यामी पुरुषोत्तम, श्रीकृष्ण अद्वय-तत्व हैं, इनके अतिरिक्त लोक-लोकान्तर में और कुछ नहीं है किन्तु इस अद्वय-तत्व की अनेक स्थितियाँ हैं जिनमें से तीन मुख्य हैं—ब्रह्म, परमात्मा एवं भगवान्। श्रीकृष्ण ज्ञानमार्गियों के ब्रह्म, योगियों के परमात्मा, तथा भक्तों के भगवान् हैं। कृष्णभक्तों को श्रीकृष्ण का भगवान् रूप ही श्रेयस्कर है क्योंकि दार्शनिक दृष्टि से ब्रह्म और परमात्मा भगवान् की ही आंशिक अभिव्यक्ति ठहरते हैं। उनकी दृष्टि में भगवान् की महत्ता सर्वोपरि है, स्वयं-भगवान् श्रीकृष्ण में ब्रह्म एवं परमात्मा सन्निहित हैं। भगवत्सन्दर्भ में परब्रह्म के इन तीनों रूपों की व्याख्यायें प्रस्तुत की गयी हैं। उस अद्वय-ज्ञान लक्षण के सामान्य निरूपण के पश्चात् उपासक की योग्यता के भेद से उसकी विशिष्ट स्थितियों का वर्णन हुआ है। श्रीमद्भागवत में उस अद्वयतत्व को त्रिधा अभिव्यक्त किया है—

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति, परमात्मेति, भगवानिति शब्द्यते॥[2]

इस श्लोक के क्रम में ब्रह्म प्रथम, परमात्मा द्वितीय एवं भगवान् तृतीय आये हैं एवं इस क्रम का उत्तरोत्तर महत्व भी है। शक्ति के वैचित्र्य से असम्पन्न, अर्द्धसम्पन्न किंवा पूर्णसम्पन्न होने से परमतत्व ब्रह्म, परमात्मा एवं भगवान् का रूप धारण करता है। ब्रह्म परमतत्व के साक्षात्कार का प्रथम चरण, परमात्मा मध्य एवं भगवान् अन्तिम चरण हैं।

जब तक उस स्वरूपशक्ति सम्पन्न अद्वयतत्व को पृथक् करके, उनकी विचित्र शक्ति एवं उस शक्ति की अनन्तमहिमश्रीभगवान् के साथ लीला के दर्शन करने की योग्यता नहीं प्राप्त होती, तब तक साधक के सम्मुख शक्ति और शक्तिमान् की जो अपृथक्भाव की स्फूर्ति है, वही 'ब्रह्म' संज्ञा धारण करती है। भगवत्सन्दर्भ में इसे इस प्रकार व्यक्त किया गया है—

"तदेकमेवाखण्डानन्दस्वरूपं तत्त्वं थूत्कृतपारमेष्ठ्यादिकानन्दसमुदायानां परमहंसानां साधनवशात् तादात्म्यमापन्ने सत्यामपि तदीयस्वरूपशक्तिवैचित्र्यां तदग्रहणासामर्थ्ये चेतसि यथा सामान्यतो लक्षितं तथैव स्फुरद् वा तद्वदेवाविविक्तशक्ति—शक्तिमत्ताभेदतया प्रतिपाद्यमानं वा ब्रह्मेति वा शब्द्यते।"[3]

---

१—आदि अन्त नहिं जाहि, आदि अन्तहि प्रभु सोई।—सूरसागर, पद सं० १७९३
२—श्रीमद्भागवत १।२।११
३—भगवत्-सन्दर्भ, पृ० २

वेदान्तियों के परकाम्य ब्रह्म की उपमा कृष्णभक्त, श्रीकृष्ण की अंगच्छटा से देते हैं। जिस प्रकार सूर्य केन्द्रस्थानीय है एवं उसका मण्डल उसकी प्रतिच्छाया है, उसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण केन्द्र हैं एवं ब्रह्म उनकी अङ्गज्योति है, केन्द्रस्थ भगवान् की निराकार ज्योति। ब्रह्मसंहिता में कहा गया है कि कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड, क्षिति आदि पृथक्-पृथक् भूतों में जो अधिष्ठित है, उस निष्कल, अनन्त एवं अशेषस्वरूप ब्रह्म की, जो प्रभावशाली गोविन्द की देहप्रभा हैं, हम आराधना करते हैं।[१] ज्ञानीसाधकगण ब्रह्म में शक्तिसमूह का धर्म अनुभव नहीं कर पाते, धर्मातिरिक्त केवल ज्ञान अनुभव करते हैं, इसलिये परमतत्व उनके निकट केवल ज्ञान रूप में ही प्रतीयमान होता है, योगी इस परमतत्व को अन्तर्यामी रूप में, सर्वजीवनियन्तारूप में अनुभव करते हैं, अतः परब्रह्म उनके निकट परमात्मा रूप में प्रतिभासित होता है। स्वयं गोविन्द अपने अंश रूप से सारी सृष्टि में प्रवेश कर इसका नियमन तथा सञ्चालन करते हैं, परब्रह्म के इस अन्तर्यामी रूप से सञ्चालक अंश को ही परमात्मा कहा गया है। परमात्मा की व्याख्या सर्वजीवनियन्ता के रूप में की गई है। परमात्मा में मायाशक्ति का प्राचुर्य तथा चित्-शक्ति का अंश विद्यमान रहता है, अतएव एक ओर वे ब्रह्म से अधिक सुव्यक्त हैं दूसरी ओर मायाशक्ति से संकलित होने के कारण भगवान् के अंशमात्र हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि एक ओर ब्रह्म है, जो हमारी वैचित्र्यविहीन ऐक्यानुभूति का निर्लिप्त निर्विकार प्रतिरूप है, जिसकी अनाविल सत्ता में सृष्टि प्रलय आदि सारे धर्म बुद्बुद् की भाँति विलीन रहते हैं, इस ब्रह्म का सृष्टि के यावत् पदार्थ से कोई सम्बन्ध नहीं दीखता। दूसरी ओर परमात्मा हैं जो हमारी व्यक्तिगत चेतना के आधार हैं, जो अन्तर्यामी रूप से सर्वभूतों का सञ्चालन कर रहे हैं। किन्तु इस ब्रह्म की वैश्वचेतना तथा परमात्मा की व्यक्तिगत चेतना के बीच सम्बन्धसूत्र क्या है? उत्तर है भगवान्। यह भगवान् ही श्रीकृष्ण की वास्तविक स्थिति है। भगवान् ब्रह्म की निर्वैयक्तिकता से परमात्मा की वैयक्तिकता का सम्बन्ध स्थापित करते हैं। ये दोनों के सूत्रधार हैं। जो स्वयं अहेतु एवं एकमात्र निजशक्ति की विलासमयता के द्वारा प्रकृति के प्रति भी उदासीन हैं एवं उदासीन होकर भी जो प्रकृति व जीव की प्रवर्तकावस्था में, परमात्मानामा निज अंशरूप पुरुष द्वारा इस सृष्टि, स्थिति व लयादि के हेतु होते हैं, उन्हें भगवान् कहा जाता है। इस प्रकार भगवत्तत्व की परमात्मावस्था भी उपस्थापित होती है।

---

१—यस्यप्रभा प्रभवतोजगदण्डकोटिकोटिष्वशेषवसुधादि विभूतिभिन्नम्।
तद् ब्रह्मनिष्कलमनन्तमशेषभूतम् गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥ब्रह्मसंहिता ५।४८

## भगवान् ही सर्वश्रेष्ठ हैं : श्रीकृष्ण भगवान् हैं

वस्तुतः भगवान् में ब्रह्म एवं परमात्मा दोनों स्थितियों का समाहार हो जाता है। इसलिये वह सर्वश्रेष्ठ हैं, श्रीकृष्ण ज्ञानियों एवं योगियों के ब्रह्म व परमात्मा से ऊपर हैं, उनको अपने में समाहित किये हुए कुछ और भी हैं। ब्रह्म, भगवान् का असम्यक् आविर्भाव है। ब्रह्म में शक्तिवर्ग के रहते हुए भी वह अनुद्बुध्य हैं; जिस प्रकार काष्ठ में अग्नि के अनुद्बुध्य रहने पर काष्ठ को अग्नि नहीं कहा जाता, उसी प्रकार ब्रह्म में विशेष्य-विशेषण की विशिष्टता की उपलब्धि न होने से ब्रह्म निर्विशेष रह जाता है, अतः उसे परमतत्व का पूर्णाविर्भाव नहीं कहा जा सकता। उसी प्रकार परमात्मा में शक्तितत्व के आंशिक आविर्भाव के कारण उन्हें भगवान् का अंशमात्र कहा गया है। भग का अर्थ है ऐश्वर्य। भगवान् ऐश्वर्य समन्वित हैं—ज्ञान, श्री, वैराग्य, वीर्य, ऐश्वर्य, यश। भगवान्। में शक्ति का वैचिव्य पूर्णतया में उद्बुद्ध रहता है। भगवत्सन्दर्भ में भगवान् की व्याख्या इस प्रकार की गई है—

"अथ तदेकं तत्वं स्वरूपभूतयैव शक्त्या कमपि विशेषं धर्तुं परासामपि शक्तीनां मूलाश्रयरूपं तदनुभवानन्दसन्दोहान्तर्भावितताद्दशब्रह्मानन्दानां भागवतपरमहंसानां तया-नुभवैकसाधकतमतदीयस्वरूपानन्द शक्तिविशेषात्मकभक्तिभावितेष्वन्तर्वहिरपीन्द्रियेषु परिस्फुरद् वा तद्वदेव विविक्तताद्दशशक्तिमत्ताभेदेन प्रतिपाद्यमानं वा भगवानिति-शब्द्यते।[१]"

शक्तिशक्तिमान् भेद से स्थित परब्रह्म की पूर्णाभिव्यक्ति भगवान्, विग्रहधारी श्रीकृष्ण रूप में, संपूर्ण कृष्णभक्तिधारा के आराध्य हैं। भगवान् का महत्व इसलिए और भी बढ़ जाता है कि परमतत्व की पूर्णाभिव्यक्ति होने के साथ-साथ वह सबके निकटतम भी हैं। इस तत्व को श्रीकृष्ण सन्दर्भ में नारद के रूपक द्वारा सुस्पष्ट किया गया है। जब राजसूय-यज्ञ में देवर्षि नारद श्रीकृष्ण को निमन्त्रित करने के लिए गगनपथ से आ रहे थे तब श्रीकृष्ण ने पहिले देखा कि एक 'तेजःपुञ्ज' आ रहा है, उसके बाद निकट आने पर आकृति का दर्शन कर उस तेजःपुञ्ज को शरीरी कह कर निर्धारित किया, और निकटवर्ती होने पर दृश्यमान कर-चरणादि को देख कर 'पुरुष' निश्चय किया। सन्निकटवर्ती होने पर 'नारद' स्थिर किया। इस स्थान पर नारद रूपी दर्शन ही जिस प्रकार अन्तिम एवं मुख्य है, और ज्योतिः, शरीरी से एवं पुरुष रूप में दर्शन गौण, एक नारद के ही दूरत्व-निकटत्व से दर्शन का तारतम्यभेद घटित हुआ। उसी प्रकार परमतत्व के दर्शन को भी समझना होगा। भगवद्रूप में ही परमतत्व का साक्षात्कार मुख्य है, वह श्रेष्ठतम भी है। गीता में स्वयं श्रीकृष्ण ने कहा है—

१—भागवत-सन्दर्भ, पृ० २

"तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्म्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद् योगी भवार्जुन ॥
योगिनामपि सर्व्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमोमतः ॥"[१]

यह भगवान् ही पुरुषोत्तम हैं। इन्हें ही वल्लभसम्प्रदाय में अगणितानन्द पूर्ण पुरुषोत्तम कह कर अभिहित किया गया है। इन्हीं का गणित अर्थात् सीमित रूप अक्षरब्रह्म है। यह अक्षरब्रह्म, परब्रह्म पुरुषोत्तम का ही रूप है। इस अक्षरब्रह्म से जगत-जीव का आविर्भाव होता है। अक्षरब्रह्म से ही सृष्टि का प्रसार होता है। पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण अपने गणितरूप अक्षरब्रह्म द्वारा सृष्टि को उत्पन्न करके अन्तर्यामी रूप से इसमें अनुप्रविष्ट हैं[२]। अन्तर्यामी एवं अक्षरब्रह्म का साम्य चैतन्य-सम्प्रदाय के परमात्मा से है।

## परब्रह्म-नराकृति

अवतारवाद—यह पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं। अन्य अवतार इनके अंश, कला आदि हैं, किन्तु श्रीकृष्ण स्वयं अवतारी हैं, पूर्णब्रह्म हैं। यह अवतरित रूप में भी अवतारी ही रहते हैं, उनकी पूर्णता की कोई हानि नहीं होती। तत्वतः जो परब्रह्म पुरुषोत्तम है, अवतरित दशा में वह मनुजाकार यशोदानन्दन, गोपीवल्लभ श्रीकृष्ण हैं। अस्तु, महत्ता की दृष्टि से एक होने पर भी, मनुष्य के अधिक निकट भगवान् का अवतरित रूप ही ठहरता है। परब्रह्म की नराकृति, अवतारी स्वयं भगवान् का अवतार तथा अप्राकृत नरदेह, कृष्णभक्तों की दृष्टि में सर्वोत्तम साथ ही सर्वसुलभ है। श्रीकृष्णसन्दर्भ में परब्रह्म-नराकृति को ही सर्वोच्चरूप में प्रतिष्ठित किया गया है। किसी-किसी के मत में गीता के एकादश अध्याय में उक्त विश्वरूप ही श्रीकृष्ण का परमरूप है। भक्तों की दृष्टि में यह एक भ्रम ही है। कारण, गीता में अनुकथित वाक्य एवं वक्ता की स्थिति से श्रीकृष्ण के अवतरित नर रूप की ही सर्वश्रेष्ठता प्रतिपादित होती है। असद्व्यपदेशात् इत्यादि वेदान्तसूत्रानुसार शास्त्र का उपसंहार वाक्य ही उपक्रम-वाक्य का अर्थ निर्णय करता है एवं उपक्रम-उपसंहार-वाक्य द्वारा निर्णीत अर्थ समग्र शास्त्र का तात्पर्य प्रकट करता है,

१—गीता ६/६४, ४६

२—वस्तुतः इस सम्प्रदाय के अनुसार अक्षरब्रह्म तथा अन्तर्यामी ब्रह्म भी पूर्ण पुरुषोत्तम ब्रह्म के ही स्वरूप हैं। आविर्भाव और तिरोभाव की क्रिया द्वारा अक्षरब्रह्म की ही अनेकरूपता होती है। अक्षरब्रह्म से ही जीव और जगत् की उत्पत्ति है। अक्षरब्रह्म और परब्रह्म अथवा पूर्णपुरुषोत्तम अलग-अलग ब्रह्म नहीं हैं, एक परब्रह्म की ही अनेक स्थितियां हैं।" डॉ० दीनदयालु गुप्त—अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, पृ० ४०१

इसलिये 'मन्मनाभव' इत्यादि श्लोक के वक्ता, अर्जुन से सखा रूप में विराजमान नराकृति ही परमस्वरूप हैं, विश्वरूप श्रीकृष्णरूप के अधीन है। यह संगत भी है, क्योंकि श्रीकृष्ण ने ही विश्वरूप का दर्शन कराया है। विश्वरूप श्रीकृष्ण के अधीन है इसलिये इच्छामात्र से ही उन्होंने अर्जुन को उसका दर्शन करवाया, यदि श्रीकृष्ण रूप विश्वरूप के अधीन होता तो वे इच्छामात्र से ऐसा न कर सकते। विशेषतः गीता के इस अध्याय में कहा गया है कि अर्जुन से ऐसा कह कर श्रीकृष्ण ने पुनः स्वीयरूप का दर्शन कराया[१]। इस स्थल पर नराकार चतुर्भुजरूप को ही स्वीयरूप कहा है, इसलिये उक्त विश्वरूप श्रीकृष्ण का साक्षात्स्वरूप नहीं है, यह स्पष्ट प्रतीत हो रहा है। सुतराम्, परमभक्त अर्जुन को वह विश्वरूप अभीष्ट नहीं है, यह भी स्पष्ट है। श्रीकृष्ण का स्वीय नररूप ही अर्जुन को प्रिय है, अतएव विश्वरूप दर्शन के पश्चात् अर्जुन ने कहा "जिस रूप को मैंने कभी भी नहीं देखा, तुम्हारा वह रूप देखकर भय से, विस्मय से, मेरा मन अभिभूत हो रहा है"—इस वाक्य से विश्वरूप दर्शन में अर्जुन की अनभिरुचि प्रकट होती है।

बहुविध उपदेश के उपरान्त 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरण व्रज' इस महोपसंहार वाक्य का श्रेष्ठत्व निर्देश करके अर्जुन यही उपदेश ग्रहण करें—यह अभिप्राय प्रकट किया गया है। 'अशोच्यान' इत्यादि गीता का उपक्रम वाक्य है तथा 'सर्वधर्मान्' इत्यादि उपसंहार वाक्य है। इन दोनों वाक्यों का एक ही अर्थ है, अर्थात् 'मन्मनाभव' इत्यादि रीति से नररूप श्रीकृष्ण-भजन में प्रवृत्ति। अतएव अवतरित श्रीकृष्ण का भजन ही यहाँ स्वयं भगवान् ने निर्देशित किया है। गीता में 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' इत्यादि उपसंहार वाक्य के अनुरोध से, एवं 'सुदुर्दर्श' इत्यादि निजवचन प्रमाण से विश्वरूप प्रकरण को भी श्रीकृष्ण के पश्चात् समझना चाहिये। इन सब दृष्टियों से नररूप श्रीकृष्ण का सर्वोपरित्व सूचित होता है। तर्कसहित स्थापित भक्तों के इस विश्वास की व्याख्या आधुनिक युग में श्री अरविंद के गीता-प्रबन्ध में भी प्रकट हुयी है जिसमें यह कहा गया है कि मानुषी तनु के आश्रित श्रीकृष्ण एवं परमप्रभु, जो सर्वजीवों के सुहृद् हैं, एक पुरुषोत्तम के ही दो प्रकाश हैं—एक में वह अपने स्वरूप में अभिव्यक्त है और अन्य में मानव के रूप में।[२] निर्गुण-सगुण वपुधारी व्रजेन्द्र-नन्दन स्वयं भगवान् हैं, लीला पुरुषोत्तम हैं—

---

१—इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः।
आश्वासयामास च भीतमेनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥—गीता ११।५०

२—"Krishna in the human body, 'मानुषीं तनुं आश्रितम्' and the Supreme Lord and Friend of all creatures are but two revelations of the same divine Purushottam, revealed there in his own being revealed here in the type of humanity". Sri Aurobindo—Essays on Gita, Ist series, P. 185.

स्वयं भगवान् आर लीला पुरुषोत्तम ।
एइ दुइ नाम धरे व्रजेन्द्रनन्दन ॥[१]

जाको माया लखै न कोई । निर्गुन-सगुन धरे वपु सोई ।
चौदह भुवन पलक में टारै । सो वन-वीथिन कुटी संवारै ।[२]

अवतार का यह 'मानुषी तनुम्' ही 'रहस्यमुत्तमम्' को उद्घाटित करने का अनिवार्य साधन है। इसीलिये कृष्णगीता में कहा गया है कि देवकीपुत्र गीत ही एकमात्र शास्त्र है, देवकीपुत्र ही एकमात्र देवता है, देवकीपुत्र सेवा ही एकमात्र कर्म है, देवकीपुत्र नाम ही एकमात्र नाम है। यहाँ देवकीपुत्र शब्द से अवतरित श्रीकृष्ण ही उद्देशित हैं। इसी महान् तत्व को कृष्णभक्त गद्गद कण्ठ से बारम्बार इस प्रकार घोषित करते हैं कि जिनका ध्यान अनेक यत्न करके भी सुर नर मुनि नहीं धर पाते, उन्हीं पुरुषोत्तम को यशोदा एक निरीह शिशु की भाँति प्रेमोल्लसित पालने में झुलाती हैं। रसखान ने अपने सवैयों में इस भाव का निरूपण किया है—

सेस, गनेस, महेस, दिनेस, सुरेसहु जाहि निरन्तर गावैं ।
जाहि अनादि अनंत अखण्ड अछेद अभेद सुवेद बतावैं ॥
नारद से सुक व्यास रहैं पचि हारे तऊ पुनि पार न पावैं ।
ताहि अहीर की छोहरिया छछिया भरि छाछ पै नाच नचावैं ॥[३]

शक्ति—अन्तरङ्ग, बहिरङ्ग, तटस्थ अथवा ह्लादिनी, संवित्, सन्धिनी—श्रीकृष्ण अद्वयतत्त्व हैं, स्वजातीय-विजातीय स्वगत भेदों से रहित शुद्ध अद्वैत हैं। इससे पूर्व न और कोई तत्व था न इससे परे कुछ और है। किन्तु शक्ति का अवस्थान पुरुषोत्तम से अविच्छेद्य है। उपनिषद् में कहा गया है—

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते ।
न तत्समश्चाप्यधिकश्च दृश्यते ।
पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते ।
स्वाभाविकी ज्ञान बलक्रिया च ॥

शक्तिमत्ता, भगवान् किंवा पुरुषोत्तम का स्वाभाविक गुण है, आगन्तुक नहीं। ब्रह्म एवं परमात्मा से पुरुषोत्तम की विशेषता उनमें प्रस्फुटित शक्ति के वैचित्र्य-विलास के कारण हैं। वस्तुतः शक्तिसमन्वित ब्रह्म ही पुरुषोत्तम हैं, भगवान् हैं। शक्ति के अतिरिक्त उनकी कोई स्थिति ही नहीं है, शक्ति और शक्तिमान्, एक ही तत्व के दो

१—चैतन्यचरितामृत, मध्यलीला ( २०वाँ परिच्छेद ) पृ० २४८
२—सूरसागर, पद सं० ६२१
३—सुजान रसखान, पद सं० ३२ [रसखान और घनानन्द]

अन्तरङ्ग ह्लादिनी ही उनकी आत्ममाया है क्योंकि उसमें वह अनाविल भाव से, अक्षुण्ण रूप से प्रतिच्छायित रहते हैं। वहिरङ्ग मायाशक्ति तथा तटस्थ जीवशक्ति भगवान् के परमात्मरूप से उद्भूत होने के कारण उनसे सीधे सम्बन्धित नहीं है, उनका सीधा सम्बन्ध पुरुषोत्तम से न होकर अक्षर-ब्रह्म से है। इन दोनों में भी तटस्थशक्ति में उभयांश—माया एवं स्वरूपशक्ति का अंश होने के कारण वह दोनों से समान निकटता पर है, अन्तरङ्गशक्ति की समीपता भी उसे प्राप्त है। किन्तु मायाशक्ति भगवान् की नितान्त वहिरात्मिकाशक्ति है। पुरुषोत्तम से उसका सम्बन्ध अत्यन्त परोक्ष है। श्री शशिभूषण दासगुप्त महोदय ने कहा है कि "दासी जिस प्रकार प्रभु (गृहपति) की आश्रिता होती है, उसके आश्रय में ही रह कर वह मानो प्रभु से दूर रह कर प्रभु की ही तृप्ति के लिये बाहरी आँगन में सभी प्रकार के सेवा कार्य किया करती है, मायाशक्ति भी ठीक वैसी है। भगवान् की आश्रित होकर, वह भगवान् की वहिर्द्वारिका सेविका की भाँति सृष्टि आदि कार्यों में लगी रहती है—घर की महरी जिस प्रकार महिषी द्वारा वशीभूत होकर रहती है, भगवान् भी उसी प्रकार अपनी चिच्छक्ति या स्वरूप शक्ति के द्वारा माया को वशीभूत रख कर सभी प्रकार के प्राकृत-गुण-स्पर्शहीन की भाँति अपने में, केवल अपने में अवस्थित हैं।[१]

ह्लादिनी का उत्कर्ष—सन्धिनी, संवित, ह्लादिनी में उत्तरोत्तर शक्ति पहिले की अपेक्षा अधिक पूर्ण है। सन्धिनी में केवल सत् है। संवित् में सत् एवं चित् है, ह्लादिनी में सत्, चित् के साथ ही आनन्द भी है। इस प्रकार ह्लादिनी शक्ति सर्वोपरि है, इसमें ऊपर दोनों शक्तियों का समाहार हो जाता है, क्योंकि आनन्द की स्थिति चैतन्य से है और चैतन्य सत्ता के आधार से ही सम्भव है। अतः सत्तात्मक चैतन्य की, आनन्द रूप में अनुभूति ह्लादिनी द्वारा ही सम्भव है। अतएव ह्लादिनी का महत्व सभी कृष्ण-भक्ति सम्प्रदायों में सर्वाधिक है। राधा ही ह्लादिनी शक्ति है। राधा को ह्लादिनी शक्ति कह कर उनका सम्यक् विवेचन चैतन्य-सम्प्रदाय में हुआ है किन्तु आनन्दरूपिणी राधा की महत्ता स्वीकार करने से सभी सम्प्रदायों में ह्लादिनी की दुन्दुभि का स्वर सुनाई पड़ता है।[२] इस ह्लादिनी किंवा स्वरूप शक्ति का महत्व इसलिये भी और अधिक है कि वह ईश्वरकोटि एवं जीवकोटि, दोनों के बीच समानरूप से विचरण करती है। श्री तथा माध्व-सम्प्रदाय में जो स्थान लक्ष्मी का

१—श्रीराधा का क्रम विकास, पृ० १९०

२—नित्यसिद्धि अह्लादिनी देवी, अगम निगम अगोचर भेवी।
अति अगाध महिमा अपरेवी, अखिल लोक सुरसम्पति सेवी ॥९०॥ सहजसुख, महावाणी
रसवन मोहन मूर्ति, विचित्रकेलि-महोत्सवोल्लसितम्।
राधा-चरण विलोडित रुचिर शिखण्ड-हरि वन्दे ॥ राधासुधानिधि पद सं० २००

है, वही स्थान कृष्णभक्ति सम्प्रदायों में राधा का है। ये जीव एवं कृष्ण का सम्बन्ध-सूत्र जोड़ने वाली शक्ति कही गयी हैं। माया से असंपृक्त ईश्वरकोटि में रह कर भी ह्लादिनी संसारबद्ध जीवकोटि के प्रति करुणा-विगलित रहती हैं तथा इन दोनों कोटियों के बीच सेतु का निर्माण करती हैं। ईश्वरविमुख जीवों पर आच्छादित बहिरङ्ग माया का प्रभाव हटा कर यह उन्हें भगवदुन्मुखी करती हैं। इस ह्लादिनी का स्वभाव आनन्दमय भगवान् को आह्लादित करना तो है ही, जीव को भी आह्लाद प्रदान करना है। भगवतकोटि में यह असीम आनन्द के लीलारस का प्रसार करती हैं और जीवकोटि में अनुप्रविष्ट होकर यह भक्ति का आनन्द विधान करती हैं।

अद्वय-द्वय—व्यावहारिक एवं पारमार्थिक दोनों दृष्टि से ह्लादिनी शक्ति का उत्कर्ष सिद्ध होता है। यह ह्लादिनी संपूर्ण शक्ति हैं, इनसे स्वतन्त्र किसी शक्ति की अवस्थिति नहीं है, और न ही इनसे परे कोई शक्ति है। पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण से अभिन्न यह शक्ति 'राधा' नाम से पुकारी गयी है। आख्यानों एवं प्रचलित किंवदन्तियों में राधा चाहे आभीरबाला रही हों, चाहे परकीया नायिका, कृष्ण भक्तों की दृष्टि में वे शक्तिमान् पुरुषोत्तम की साक्षात् पूर्णशक्ति हैं। वह कृष्ण की 'श्री' हैं, कृष्ण से अभिन्न। श्रीकृष्ण अद्वयतत्व हैं सही, किन्तु यह अद्वयतत्व द्वैताभास में ही अपनी पूर्णता सम्पादित कर पाता है। 'एक' की स्वतन्त्रता एवं पूर्णता में यह द्वैतता बाधक नहीं है, वरन् एक की पूर्णता ही द्वैत-सा प्रतिभासित होने में है। इसलिये राधाकृष्ण दो दिखते हुए भी एक ही हैं, वे 'एक' अद्वय ही हैं, अधिक से अधिक उनके इस द्वैताभास को 'जोड़ी' कहा जा सकता है। वही एक तत्व शक्तिरूप से राधा है और शक्तिमान् रूप से कृष्ण। शक्ति से अलग न तो शक्तिमान् की स्थिति सम्भव है, न शक्तिमान् से स्वतन्त्र शक्ति की, जहाँ एक है वहाँ दूसरा अवश्य है। रश्मि से पृथक् सूर्य और दाहकत्व से पृथक् अग्नि की कल्पना ही सम्भव नहीं है। ऐसा ही सम्बन्ध शक्ति और शक्तिमान्, राधाकृष्ण का है—स्वरूप एक ही है, नाम दो हैं।[1] राधाकृष्ण का सम्बन्ध सतत, सर्वदा, एकरस, अखण्ड है, अनादि है, अज है, अनारोपित एवं सहज है।[2] राधाकृष्ण के अभेद का कथन सर्वत्र ही अत्यन्त दृढ़तापूर्वक किया गया है। 'ऐक्य में किंवा द्वित्व में ऐक्य' (Two-in-one)—यह तत्व मानव-बुद्धि के ससीम तर्कों के लिये इतना दुरूह एवं अगम है कि इसे भलीभाँति अवगत

१—एक स्वरूप सदा द्वै नाम।
आनन्द के अह्लादिनि स्यामा अह्लादिनि के आनन्द स्याम।
सदा सर्वदा जुगल एक तन एक जुगल तन विलसत धाम ॥२६॥—सिद्धान्तसुख, महावाणी

२—निरवधि नित्य अखण्डल जोरी गोरी स्यामल सहज उदार।
आदि अनादि एकरस अद्भुत मुक्तिपरे पर सुखदातार ॥२॥—सिद्धान्तसुख, महावाणी

करने में कोई भी रूपक सहायक नहीं होता। चिन्तन एवं युक्ति से परे अध्यात्मजगत् की यह अनुभूति बुद्धिव्यापार से अलग तो है ही, वाणी से भी व्यक्त नहीं की जा सकती। भेद में अभेद, अभेद में भेद एक ऐसी पहेली है जिसकी व्याख्या सहज सम्भाव्य नहीं है। अस्तु, बंगाल के वैष्णव आचार्य बलदेव विद्याभूषण ने इस भेदाभेद को 'अचिन्त्य भेदाभेद' का सिद्धान्त कह कर स्थिर किया। इसी की ओर इङ्गित करते हुए हरिव्यास देवाचार्य जी ने कहा है—

"अद्वय-द्वय वहु भेद विशेषन आदि आभास अचिन्त्य अनन्त"[१]

शक्तिसमन्वित पुरुषोत्तम का यह रूप सर्वोपरि है। सच्चिदानन्द का यह द्वैताभास उनकी समस्त गतिविधियों के सञ्चालन के लिये अपरिहार्य है। कभी ये परस्पर संलग्न होकर एक दूसरे में लीन रहते हैं, सृष्टि से परे किसी अचिन्त्य निरामय आनन्द के निस्तरङ्ग जलधि में सुपुप्त रहते हैं, कभी सक्रिय होकर नानारूपात्मक सृष्टि को तरङ्गायित करते हैं। निष्क्रिय-सक्रिय, सब अवस्थाओं में इनका सम्बन्ध एकरस है, नित्य है।

अक्रियमाण अनादि आदि है, एक समान स्वतन्त्र विलास।
पारब्रह्म कहियतु है इनको, पदनख ते सुख ज्योति प्रकाश॥
सदा सनातन इकरस जोरी, सत् चित् आनन्दमयी स्वरूप।
अनन्तशक्ति पूरन पुरुषोत्तम, जुगलकिशोर विपिनपति भूप॥४॥[२]

राधाकृष्ण परस्पर अधीन हैं। कभी शक्ति शक्तिमान् के वश में है तो कभी शक्तिमान् शक्ति के वश में। दोनों ही अवस्था में एक का अस्तित्व दूसरे के बिना नहीं है। प्रिया-प्रियतम के रूपक से राधाकृष्ण की परस्पर अधीनता को समझाते हुए रसिक-शेखर हितहरिवंश जी कहते हैं कि जो राधा को अच्छा लगता है वही कृष्ण करते हैं, और जो-जो कृष्ण करते हैं वह राधा को प्रिय है। चित् और तपस् में कोई अन्तर नहीं है। वस्तुतः तपस् और चित् एक ही हैं, ये अभिन्न हैं इनमें पूर्णसामञ्जस्य है।[३] राधा-कृष्ण जल और तरङ्ग की भाँति परस्पर ओतप्रोत हैं। इन दोनों तत्वों के ओत-प्रोत-तत्व को समझाने के लिये बहुधा उनके वस्त्रों का सहारा लिया जाता है। श्रीकृष्ण, राधा की अङ्गकान्ति के वर्ण का पीताम्बर धारण करते हैं और राधा,

---

१—सिद्धान्त सुख, महावाणी, पद सं० १४
२— वही, पद सं० ४
३—जोई-जोई प्यारो करै सोई मोहि भावै, भावै मोहि जोई सोई सोई करै प्यारे।
मोको तौ भावती ठौर प्यारे के नैननि में प्यारो भयौ चाहै मेरे नैननि के तारे॥
मेरे तन मन प्राण हू ते प्रीतम प्रिय, अपने कोटिक प्राण मोसों हारे।
हितहरिवंश हंसहंसिनी साँवल-गौर कहौ कौन करै जलतरङ्गनि न्यारे॥
—हितचतुरासी, पद सं० १

श्रीकृष्ण की अङ्गद्युति के वर्ण का नीलाम्बर। इसी को सिद्धान्त रूप में स्थिर करते हुए लाड़िली दास कहते हैं—

"श्याम हृदय वह गौर हैं, गौर हृदय वह श्याम।[१]'
"गौर श्याम तन एक मन श्रीराधावल्लभ लाल।[२]"

ईश्वर-शक्ति—इस प्रकार यह सच्चिदानन्द अद्वयतत्व सांख्य के द्वित्व—पुरुषप्रकृति—से भिन्न है। राधाकृष्ण का वर्णन अनेक कवियों ने प्रायः सांख्य के प्रकृति-पुरुष की भाँति किया है, किन्तु इस बात का उन्होंने सदैव ध्यान रखा है कि उनकी सच्चिदानन्दमयी राधा सांख्य की जड़-प्रकृति नहीं हैं, निगुणात्मिका प्रकृति नहीं हैं; मूलप्रकृति, पराप्रकृति हैं, भगवान् की आत्म-माया हैं। इसी प्रकार श्रीकृष्ण भी सांख्य के पुरुष की भाँति इस प्रकृति से निर्लिप्त तटस्थ द्रष्टा मात्र नहीं हैं, वे शक्ति के वैचित्र्य में रस लेने वाले, उसके नियन्ता अनुमन्ता पुरुषोत्तम हैं। यह उपनिषद् के ईश्वर-शक्ति की अद्वैतता है, सांख्य के पुरुष प्रकृति का विच्छेद नहीं। जिस प्रकार ईश्वर-शक्ति, प्रकृति पुरुष से परे है, वैसे ही राधा-कृष्ण भी सांख्यप्रतिपादित जड़-प्रकृति तथा साक्षी पुरुष से परे हैं। प्रकृति-पुरुष से ही नहीं, नारायण आदि सभी ईश-रूपों से परे राधा-कृष्ण का युग्म सबके ऊर्ध्व में आसीन है। योगियों के परमात्मा, ज्ञानियों के ब्रह्म इनकी अपूर्ण अभिव्यक्तियाँ हैं, सच्चिदानन्द पुरुषोत्तम-शक्ति सभी के ईश हैं।[३] चर-अचर, परा-अपरा सबके ये अधिष्ठाता हैं, सबके अधीश्वर हैं।[४] इस अपार महिम रूप में राधा-कृष्ण ब्रह्मा, विष्णु, महेश एवं उनकी शक्तियों की त्रयी से परे हैं। ब्रह्मा, विष्णु, महेश की त्रयी श्रीकृष्ण का गुणावतार है, श्रीकृष्ण के अंशमात्र हैं। सृष्टि के सर्जक ब्रह्मा 'वालवत्सहरण' लीला के उपरान्त श्रीकृष्ण की स्तुति करते हुए कहते हैं कि उनके एक-एक रोम में सौ-सौ ब्रह्मा हैं, उनकी सत्ता परमब्रह्म श्रीकृष्ण के सम्मुख अत्यन्त तुच्छ एवं नगण्य है। स्वयं विष्णु, जिन्हें साधारणतया श्रीकृष्ण का अवतारी कहते हैं, श्रीकृष्ण से अपनी हीनता प्रदर्शित करते हुए लक्ष्मी से कहते हैं कि रासरस उनसे अत्यन्त दूर है। श्रीकृष्ण विश्वातीत हैं, परात्पर ब्रह्म हैं। ब्रह्मा, विष्णु, महेश, सर्जन, पालन तथा संहार की क्षमता रखते हुए भी श्रीकृष्ण के गुणावतार हैं। पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण का राधा के संग विहार अत्यन्त ऊर्ध्व में स्थित

---

१—सुधर्मबोधिनी, पृ० २१, दोहा सं० ६

२— वही, पृ० २१, दोहा सं० ११

३—निर्विकार, निराकार, चैतन्यतन विश्वव्यापक प्रकृति पुरुष के ईश।
अक्षरातीत परब्रह्म परमात्मा सर्वकारन परै ज्योति जगदीश ॥१०॥
—सिद्धान्तसुख-महावाणी

४—परावरादि असतसत स्वामी, निरवधि नामी नाम निकाय।
नित्यसिद्ध सर्वोपरि हरिप्रिया, सब सुखदायक सहज सुभाय ॥२०॥—सिद्धान्तसुख-महावाणी

है, अधोक्षज है। यह जोड़ी विश्वदेव की वन्द्य है, राधा-कृष्ण सबके 'अधिप' हैं, इनसे परे और कुछ नहीं है।[1]

आनन्द-ब्रह्म : माधुर्यधूर्य

श्रीकृष्ण की पुरुषोत्तमता का मूलमन्त्र उनके अपरिसीम आनन्द रूप में है। वल्लभ-सम्प्रदाय में इस बात का स्पष्ट कथन है कि श्रीकृष्ण अगणितानन्द पुरुषोत्तम हैं। अक्षरब्रह्म तो सच्चिदानन्द की 'गणित' अवस्था है, उसका आनन्द ऐसा है जिसकी गणना की जा सकती है, किन्तु जिसके आनन्द की कोई सीमा ही निर्धारित न की जा सके, वह पूर्ण-पुरुषोत्तम परमानन्द श्रीकृष्ण ही हैं। परब्रह्म का चरमरूप, उसकी पूर्णतम परिपूर्णता, उसके अमेय आनन्दमय होने में ही है। आनन्दब्रह्म ही जिज्ञासा की परिसमाप्ति है। 'अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात' से आरम्भ कर 'प्राणो ब्रह्मेति व व्यंजानात्', 'मनो ब्रह्मेति व्यजानात्', 'विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्' कहते हुए 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' परब्रह्मजिज्ञासा की समाप्ति की गयी है। उक्त आनन्द ब्रह्म ही श्रीकृष्ण भगवान् हैं जो अपने आनन्दानुभव से आनन्दी होते हैं। 'रसो वै सः' श्रुति में जिसकी रसरूपता घोषित हुयी है और जो श्रीकृष्ण में साकार है, वही ब्रह्म जिज्ञासा की समाप्ति है। 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वन्' श्रुति में भी उस अद्वय ब्रह्म को आनन्द जानकर विद्या की परिसमाप्ति अभिहित हुयी है। इसलिये भगवान् ने गीता में कहा है—'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्'। ब्रह्म के इसी परमानन्द रूप की ओर भक्तों का एकान्त झुकाव है। श्रीकृष्ण अपनी माया तथा तटस्थ शक्ति में प्रतिबिम्बित होकर सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, सत्य, शिव, शुभ, असीम, अनन्त तथा शाश्वत परमपुरुष के रूप में प्रतिभासित होते हैं किन्तु ह्लादिनी शक्ति में प्रतिबिम्बित होकर उनकी शक्ति एवं प्रज्ञा, न्याय, महत्ता, शुभता तथा असीमता आदि गुण पूर्ण सौन्दर्य में मग्न हो जाते हैं, और यह सौन्दर्य उस 'रस' किंवा आनन्द का आधार है जिससे सृष्टि उत्पन्न होती है, सञ्चालित होती है और जिसमें निमग्न होती है। अस्तु, व्रज एवं बङ्गाल के मध्ययुगीन कृष्ण-भक्ति सम्प्रदायों में कृष्ण के महिमामण्डित ऐश्वर्यपक्ष का तिरस्कार करते हुए परमानन्द-पारावार में नित्य विहारी कृष्ण के आराधना की एकान्त प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। उनके भक्त समस्त आकर्षणों के चूणामणि-श्रीकृष्ण का आस्वादन करने को ही उत्सुक रहते हैं, उनकी वन्दना करने को नहीं। श्रीकृष्ण की पूर्णता ही उनके परमानन्द होने में है, इसीलिये कृष्णभक्तगण उनके कर्ता-हर्ता पालक आदि कार्यों की उपेक्षा करके उनके अखण्ड आनन्द रूप के

---

१—आनन्दमय ब्रह्म इंगितज्ञ ईश्वर अधिप अनन्त विच्चैश्वर्य रूप अधिकार।
सौन्दरेशादि इन्द्रि उपेन्द्रादि उत्कट अनन्यादि कारन भर्तार।

सान्निध्य के ही अभिलाषी रहते हैं। उस आनन्द का सान्निध्य श्रीकृष्ण की महिमाओं से सम्भव नहीं है, उनके 'रूप' से है। अतः सत्य एवं शिव को डुबाकर जब 'सुन्दर' सर्वोपरि विराजमान होता है तब आनन्द की अभिव्यक्ति अपनी एकान्तपूर्णता में होती है। अतएव कृष्णभक्त वैष्णवों ने यद्यपि पुरुषोत्तम को परमब्रह्म की सर्वोच्च अवस्था मानी है, तथापि उनके यह पुरुषोत्तम लोकवेदानुमोदित महाराज राम की भाँति केवल मर्यादा पुरुषोत्तम नहीं हैं। उनके पुरुषोत्तम अपने सर्वोपरि आकर्षक रूप के कारण पुरुषोत्तम हैं, श्रीकृष्ण है। श्रीकृष्ण का पुरुषोत्तमत्व उनके रसेश रूप में है और इस रूप में वह लोकवेद की मानस-परम मर्यादाओं का अतिक्रमण कर उस लोक किंवा चेतना का प्रतिनिधित्व करते हैं, जहाँ विधि निषेध से परे प्रपञ्चातीत अखण्ड रस का, अखण्ड आनन्द का एकछत्र साम्राज्य है। समस्त द्वन्द्वों से अतीत एकरस आनन्द के पूर्णावतार ही श्रीकृष्ण हैं। श्रीकृष्ण निर्गुण आनन्द ही नहीं हैं, वे असीम आनन्द के साकार विग्रह हैं, आनन्दचेतना के देहधारी विभु हैं। निर्गुण किंवा गुणातीत आनन्द की साकार मूर्ति बनकर श्रीकृष्ण भक्तों के आह्लादकारी इष्ट किंवा उपास्य हैं।

साधारणतः ऐश्वर्य किंवा विभूति को भगवत्ता का सार समझा जाता था, किन्तु कृष्णभक्तिधारा ने माधुर्य को ही भगवत्ता की परावधि स्वीकार की है। श्रीकृष्ण रसिकशेखर हैं, वृन्दावन के अप्राकृत मदन हैं। वे विपुल ऐश्वर्य के अधीश्वर होते हुए भी उसमें अपनी चरमपरिपूर्णता नहीं पाते, इसलिये साक्षात् मन्मथ-मदन बन कर ही परिपूर्णता संसिद्ध करते हैं। उनके इस सुन्दर रूप में ही उनका सत्य तथा शिव निहित है। इससे परे और कुछ है ही नहीं। आनन्द और सौन्दर्य एक ही सत्ता के दो पक्ष हैं और सौन्दर्य की घनीभूत अनुभूति माधुर्य से होती है। इसीलिये श्रीकृष्ण का माधुर्यमय रूप ही पुरुषोत्तम की चरम परिणति है। श्रीकृष्ण का सभी कुछ मधुर है, उनका रूप, उनकी चेष्टा, उनका धाम, उनके परिकर सभी मधुराक्रान्त हैं और कृष्ण मधुराधिपति हैं।[१] इस माधुर्य की अनुभूति ही ब्रह्म-जिज्ञासा की अन्तिम सीढ़ी है।

---

उत्तमोत्तम उपादान उत्पत्तिरहित एक ऐश्वर्य परिपूर्णाधार।
ओज औदार्य्य ऊर्ध्वज उशत्तम उर्ध्व नित्य नैमित्य प्रति कृपा कू पार।
अजित, अच्युत, अनामय, असतसत, असङ्ग, अप्रेमयादि अव्यक्त सुविहार ॥९॥

—सिद्धान्तसुख—महावाणी

१—अधरं मधुरं वदनं मधुरं नयनं मधुरं हसितं मधुरम्।
हृदयं मधुरं गमनं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्॥
वेणुर्मधुरो रेणुर्मधुरः पाणिर्मधुरः पादौ मधुरौ।
नृत्यं मधुरं सख्यं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्॥

जिस प्रकार निर्गुण ब्रह्म का रस 'मन वाणी से अगम अगोचर, सो जाने जो पावै' है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण के माधुर्य का रस भी अगम्य, अनिर्वचनीय है। उस माधुर्यधुर्य को जब लीलाशुक विल्वमंगल अभिव्यक्त करने में निरस्त होने लगे तब केवलमात्र 'मधुरं मधुरं' की झंकार में क्षान्त हो गये—

मधुरं मधुरं वपुरस्य विभो। मधुरं मधुरं वदनं मधुरम्॥
मधुगंधि मधुस्मितमेतदहो। मधुरं मधुरं मधुरं मधुरम्॥

श्रीकृष्ण का माधुर्य श्रीराधा के सान्निध्य में परम उत्कर्ष प्राप्त करता है इसलिये राधाकृष्ण का युगलरूप ही व्रज एवं बङ्गाल की कृष्ण-भक्तिधारा का परम उपास्य है। माधुर्यमण्डित राधा-कृष्ण ही परमतत्व है।[१]

राधा : परमाराध्य

राधावल्लभसम्प्रदाय में स्थिति कुछ भिन्न है। वहाँ युगल रूप स्वीकार्य तो है किन्तु राधा ही उपास्य हैं। राधा की स्थिति कृष्ण की शक्ति के रूप में ही नहीं, स्वतन्त्र रूप में भी है। वे आनन्दस्वरूपिणी परादेवता हैं और कृष्ण उनके अधीन हैं। अपने सम्प्रदाय की मान्यता को स्पष्ट करते हुए हितहरिवंश जी ने कहा है—

रहौ कोऊ काहू मनहिं दिये।
मेरें प्राणनाथ श्रीश्यामा शपथ करौं तृण छिये॥[२]

श्रीकृष्ण तक उनके उपासक वन कर उपस्थित होते हैं। राधाकृष्ण का नित्यविहार वहाँ मान्य अवश्य है, किन्तु सेव्य श्रीराधिका हैं और सेवक श्रीकृष्ण।[३]

गुंजा मधुरा माला मधुरा यमुना मधुरा वीची मधुरा।
सलिलं मधुरं कमलं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्॥
गोपी मधुरा लीला मधुरा युक्तं मधुरं मुक्तं मधुरम्।
दृष्टं मधुरं शिष्टं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्॥ मधुराष्टकम्-श्रीमद्वल्लभाचार्य

१—यद्यपि कृष्णसौन्दर्य माधुर्येर धूर्य। व्रजदेवीर संगे तारे बाढ़ये माधुर्य॥
× × ×
इंहार मध्ये राधार प्रेम साध्यशिरोमणि। जाहार महिमा सर्व्वशास्त्रेते वाखानि॥
—चैतन्यचरितामृत, मध्यलीला, अष्टम परि०, पृ० १४०

सहज सुख रङ्ग की रुचिर जोरी।
अतिहिं अद्भुत कहुँ नाहिं देखी सुनी सकल-गुन-कला-कौशल किशोरी।
एकहीं द्वै जु द्वै एकहीं दीपहिं दिन किहिं साँचे निपुनई करि सुढोरी।
श्रीहरिप्रिया दर्श छित दोय तन दर्शवत एक तन एक मन एक दोरी॥१॥
—सहज सुख; महावाणी

२—स्फुटवाणी, पद सं० २०

३—वहां सेव्य श्री राधिका सेवक मोहन लाल।
ये चकोर ये चन्द्रमा यह निकुंज की चाल॥३३॥—सुधर्मबोधिनी, पृ० ६५

राधा ही इस सम्प्रदाय की अधिष्ठातृदेवी हैं। कृष्ण उनके सम्मुख नतशिर हैं। निकुञ्ज लीला में व्रजलीला की भाँति कृष्ण का प्राधान्य नहीं है, वहाँ राधा का प्राधान्य है। अस्तु, उपास्य की दृष्टि से राधा ही सर्वोपरि हैं, कृष्ण एवं अन्य सहचरियाँ उनके आश्रित हैं।[१] राधा सच्चिदानन्दमयी हैं, वही सर्वेश्वरी हैं।[२]

### श्रीकृष्ण का सापेक्षिक महत्व

इसके विपरीत वल्लभ सम्प्रदाय में राधा की अपेक्षा कृष्ण का अधिक महत्व है। कृष्ण की ही अधिक प्रतिष्ठा पुष्टिमार्ग में परिलक्षित होती है। यद्यपि कृष्ण, राधा से अपना अभेद स्वीकार करते हैं,[३] किन्तु तब भी केवलमात्र राधाकृष्ण की ही प्रतिष्ठा इस सम्प्रदाय में नहीं है। यद्यपि राधाकृष्ण की भृङ्ग-कीट की भाँति तद्रूपस्थिति गोपियों को काम्य है, किन्तु आरम्भ से ही वे इस अभेद-युगलरूप की उपासिका नहीं हैं। कृष्ण के साथ गोपियों का स्वतन्त्र सम्बन्ध भी है, राधा की उपासिका किंवा राधा-कृष्ण के सम्मिलित रूप की अर्चिका के रूप में नहीं। वे राधा के भाव की प्रशंसा अवश्य करती हैं किन्तु राधा की आराधना नहीं करतीं। अस्तु, उपास्य की दृष्टि से राधाकृष्ण के साथ गोपीकृष्ण भी प्रारम्भिक अवस्था में भक्तों के उपास्य ठहर सकते हैं। अन्त में अवश्य राधाकृष्ण की युगल-जोड़ी को ही साधना का लक्ष्य माना है, जैसा कि सूरदास जी की वार्ता से प्रकट होता है। देहसंवरण के समय उन्होंने अपनी नेत्र की वृत्तियों को राधा के रूप में अटका हुआ बताया एवं चित्त की वृत्ति को राधा भाव में। इस प्रकार अन्ततः राधा की भी उतनी ही प्रतिष्ठा हो जाती है जितनी कृष्ण की। किन्तु उपास्य के रूप में युगल-

---

१—अङ्ग अङ्ग प्रति फूल भाइ आनन्द उर न समाइ।
भाग मानि पहिचानि करि, चले लाल सिर जाइ।
सर्वोपरि राधा कुंवरि पिय प्राननि के प्रान।
ललितादिक सेवत तिनहिं, अति प्रवीन रसजानि॥
—ध्रुवदास–'ब्यालीस लीला', वृहद्वामनपुराण की भाषा टीका, पृ० ३९

२—सर्वेश्वरि तव नाम, यह विनती श्रवननि सुनो।
सत चित आनन्द धाम, श्रीराधा करि कृपा मम॥ ५॥
—हितवृन्दावन दास, श्री कृष्णकृपा अभिलाषवेली, पृ० २

३—व्रजहिं बसै आपुहिं विसरायो।
प्रकृति पुरुष एकहि करि जानहु बातनि भेद करायो।
जल थल जहाँ रहौ तुम बिनु नहिं वेद उपनिषद गायो।
द्वै तन जीव-एक हम दोउ, सुख-कारन उपजायो।
ब्रह्मरूप द्वितिया नहिं कोऊ, तव मन तिया जनायो।
सूर स्याम मुख देखि अलपि हंसि, आनन्द पुंज बढ़ायो॥—सूरसागर, पद सं० २३०५

वन्दना कम हुयी है। पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण का स्थान वहाँ सर्वोपरि है। वे सारी लीला में सूत्रधार हैं। आराध्य के रूप में उनका जितना महत्व है उतना राधा का नहीं। परब्रह्म के रूप में श्रीकृष्ण का यशोगान ही पुष्टिमार्गीय कवियों का मूलस्वर है।[१] इस सम्प्रदाय के मूल इष्टदेव भी कृष्ण ही हैं—बालकृष्ण।

माया : शुद्ध एवं विकृत

श्रीकृष्ण की शक्ति के दो रूप प्रमुख हैं—स्वरूप शक्ति किंवा अन्तरङ्ग शक्ति तथा वहिरङ्ग शक्ति किंवा माया शक्ति। तटस्थ शक्ति इन्हीं दो की मध्यवर्तिनी स्थिति है। इस प्रकार माया श्रीकृष्ण की ही शक्ति है। शक्ति के दो रूप हैं—प्रकृति किंवा जड़शक्ति, अप्राकृत किंवा चित्‌शक्ति। पहली को वल्लभाचार्य जी ने व्यामोहिका एवं दूसरी को करण माया कहा है। व्यामोहिका ही वहिरङ्ग शक्ति है तथा करणमाया अन्तरङ्ग शक्ति है।

विकृतमाया किंवा वहिरङ्ग शक्ति (व्यामोहिका माया)—प्राकृत माया त्रिगुणात्मिका है—सत्व, रज एवं तमोमयी। इसके प्रधानतः दो गुण हैं—अध्यास एवं विकृति। असत्य में सत्य की प्रतीति अध्यास है तथा जीवात्मा की अहमिका में परिणति विकृति। समस्त मूल-भ्रान्तियों तथा अनिष्ट आकर्षणों की प्रेरिका यह जड़माया ही है। यह सांख्य की जड़ प्रकृति के समानान्तर है, इसकी मोहक प्रेरणाएँ अत्यन्त सबल हैं। इसका आकर्षक रूप अत्यन्त प्रबल है, यद्यपि अन्त में अत्यन्त अशुभ भी है। यह ब्रह्म से साक्षात्कार में नितान्त बाधक है, जीव का ब्रह्म से कपट करवाती है तथा नाना प्रकार के अकरणीय कर्मों में जीव की बुद्धि को भ्रान्त करती है। इसे ही अविद्या या अपरा प्रकृति कहते हैं। यही जीवात्मा के स्वरूप-अंश की विस्मृति उत्पन्न कर उसकी चेतना को अहन्ता ममता की सीमित दृष्टियों में संकुचित कर देती है। इसी के कारण जीव-जीव का पारस्परिक स्वरूपगत सम्बन्ध विस्मृत हो जाता है और उनका सम्बन्ध प्रभु द्वारा निर्धारित आत्मा का न रह कर देहजनित सम्बन्धों से विकृत हो जाता है। आत्मविस्मृति तथा स्वरूप-विस्मृति

---

१—जै जै जै श्रीकृष्ण, रूप, गुन, कर्म अपारा।
परमधाम, जग-धाम, परम अभिराम उदारा ॥५॥
विश्व प्रभाव, प्रतिपाल, प्रलै कारक, आयत्त-वस।
जाग्रति, स्वप्न, सुषुप्ति, धाम परब्रह्म प्रकासै॥
इन्द्रियगन मन-प्रान, इनहि परमातम भासै।
पद्युन अरु अवतार-धरन नाराइन जोई।
सबको आश्रय अवधि-भूत नन्द नन्दन सोई ॥१५॥

सिद्धान्त-पञ्चाध्याय, नन्ददास—भाग २, पृ० १८३

का प्रधान कारण यह व्यामोहिका माया है।[१] इसी स्वरूप-विस्मरण से जीव, जीव को पिता, माता, पुत्र कलत्र आदि नाना प्रकार के दैहिक सम्बन्धों में बाँध लेता है। जीव का यह व्यामोह अत्यन्त क्लिष्ट है। इसके बन्धन में फँसकर भगवत्स्वरूप जीव अपने षडैश्वर्यों से रहित होकर षट्रिपुओं का शिकार होता है। चेतन, जीवात्मा को जड़माया अज्ञानमय अहंकार एवं तज्जन्य काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह, मत्सर, हिंसा आदि दुष्प्रवृत्तियों से जकड़ कर विवश एवं श्रीविहीन कर डालती है। जीव इसके वशीभूत होकर कपि की भाँति नाचता है, उसके चैतन्य की स्वतन्त्रता छिन जाती है। नाना प्रकार की भ्रान्तियों में मग्न मनुष्य पशु-सदृश जीवन व्यतीत करता है।[२] किन्तु यह माया भी श्रीकृष्ण के अधीन है। स्वतन्त्र विभु कृष्ण के सम्मुख यह मृगी की भाँति भयभीत रहती है।[३] इसके प्रभाव से मुक्त होना जीव के वश का नहीं है, जिसकी यह दासी है वही यदि इसे आज्ञा दें, तब वह जीव को छोड़ सकती है अन्यथा नहीं, इसीलिये भक्त की यह प्रार्थना रहती है—

**माधौ नेकु हटकौ गाइ**
**नारदादि सुकादि मुनिजन, थके करत उपाइ।**
**ताहि कहु कैसे कृपानिधि, सकत सूर चराइ॥**[४]

श्रीकृष्ण विद्या अविद्या सभी के सञ्चालक एवं अधीश्वर हैं, अतएव वे ही इस माया का नियमन, संयमन कर सकते हैं।

**विशुद्ध माया किंवा अन्तरङ्ग शक्ति**—माया का गर्हित रूप ही नहीं है, उसका एक उदार रूप भी है। माया का एक अन्य उच्च, उदात्त रूप है जो श्रीकृष्ण से अभिन्न, भगवत्मय है। माया का यह अन्य रूप योगमाया या चिच्छक्ति कहलाता

---

१—मैं मेरी इतनी जगत ताको माया मूल।
माया भूलनि रूप निजु सो भूलनि निर्मूल ॥४०॥—सुधर्मबोधिनी, पृ० १२

२—अब मैं माया हाथ बिकानी।
परवस भयो पसू ज्यों रजु-बस, भज्यो न श्रीपति रानी।
हिंसा-मद-ममता-रस भूल्यौ, आसा ही लपटानी।
याही करत अधीन भयो हौं, निद्रा अति न अघानी।
अपने ही अज्ञान तिमिर में, बिसर्यौ परम ठिकानौ।
सूरदास की एक आँखि है, ताहू में कछु कानौ ॥४७॥
—सूरसागर, 'विनय'—पद सं० ४७

३—यह सब माया कर विकार, कहैं परमहंस गन।
सो माया जिनके अधीन नित रहत मृगी जस ॥१०॥
—सिद्धान्त-पञ्चाध्यायी-नन्ददास, भाग २, पृ० १८३

४—सूरदास 'विनय' के पद, पद सं० ५६।

है। इसे ही भगवान् कृष्ण की स्वरूपशक्ति श्रीराधा के नाम से अभिहित किया जाता है। यह पराशक्ति विशुद्ध ज्ञानमय है, स्वयंप्रकाश चेतना से विलसित। इसमें भ्रान्ति का लेश नहीं, यह विशुद्ध प्रज्ञा है। यही सृष्टि की करणमाया किंवा दिव्य-प्रकृति है। इसी के द्वारा भगवद्विच्छिन्न जीव का भगवान् से मिलन सम्भव होता है।[१]

श्रीराधा स्वरूपविस्मृतकारिणी नहीं हैं, वरन् स्वरूप की याद दिला कर उसकी पुनः प्रतिष्ठा करने वाली हैं। राधा ही भगवान् कृष्ण को आनन्द का आस्वादन कराती हैं, राधा ही जीव के मन का भ्रम एवं अज्ञान मिटा कर कृष्ण से प्रेम करना सिखाती हैं। उनकी गति जीव एवं ईश्वर में उभयवर्तिनी है। इसलिये लीलारस में राधा अपरिहार्य तत्व हैं। वे ही परम पुरुष श्रीकृष्ण को वश में कर पाती हैं, अतः भक्त उनकी वन्दना करता है—

यो ब्रह्मरुद्र शुकनारदभीष्म मुख्यं—
रालक्षितो न सहसा पुरुषस्य तस्य
सद्योवशीकरण पूर्णमनन्तशक्तिं
तं राधिकाचरणरेणुमनुस्मरामि ॥[२]

यह पराप्रकृति ही भगवान् से अविनाबद्ध-भाव से संयुक्त है। संसार-चक्र के पाशों को काट कर लीलारस में प्रवेश कराना इन्हीं को शक्य है, अन्य किसी भी शक्ति को नहीं। इसीलिये इन्हें भगवान् की अन्तरङ्ग शक्ति कहा गया है। भगवान् के नित्य सन्निधान में अवस्थित रहने के कारण तथा भगवद्रूपिणी होने के कारण, इन्हें उनकी स्वरूपशक्ति कहा गया है। यह त्रिगुणात्मिका नहीं, त्रिगुणातीत हैं, सच्चिदानन्दमयी अप्राकृत शक्ति हैं।[३]

यही भगवान् की करण माया है। सृष्टि की रचना एवं लीला का सञ्चालन भगवती राधा ही करती हैं। बिना इनके ईश्वर कृष्ण सक्रिय नहीं हो पाते, निष्क्रिय

---

१—रूप-रासि सुख-रासि राधिके, सील महा गुन-रासी।
कृष्ण-चरन ते पावहिं स्यामा, जे तुव चरन उपासी॥
जग-नायक, जगदीश-पियारी, जगत-जननि।जगरानी।
नित विहार गोपाललाल-संग, वृंदावन रजधानी॥
अगतिनि की गति, भक्तनि की पति राधा मंगलदानी।
असरन-सरनी, भव-भय-हरनी वेद पुरान बखानी॥
रसना एक नहीं सत कोटिक, सोभा अमित अपार।
कृष्ण-भक्ति दीजै श्रीराधे, सूरदास बलिहार॥—सूरसागर, पद सं० १६७३

२—राधासुधानिधि, श्लोक ४

३—सच्चिदानन्द की सिद्धि-दा शक्ति स्यामा सुधामा सुधादा शुभा जय॥६॥
—सिद्धान्तसुख, महावाणी।

ही रहते हैं। एक का वहु में विस्तार इसी आत्ममाया के द्वारा ही सम्भव एवं सम्पादित होता है। यह श्रीकृष्ण को उनका आत्मास्वादन किंवा आत्मस्मरण कराने में अपरिहार्य हैं। विना राधा के न तो कृष्ण एक से अनेक होकर रमण कर सकते हैं और न आनन्द का आस्वादन कर सकते हैं। राधा ही अपने को गोपियों की विविधता में प्रसारित कर 'एक' को 'अनेक' वनाती हैं एवं क्रीड़ा का रस उपलब्ध कराती हैं। राधा, कृष्ण-लीला की प्रेरिका एवं सञ्चालिका हैं। श्रीकृष्ण की इच्छाशक्ति राधिका ही उनके आत्मप्रसार की इच्छा को पूर्ण करने में समर्थ हैं। कृष्ण की, जीवात्माओं के साथ, आत्मरमण की इच्छारास है, एवं राधारास की अनिवार्य शृङ्खला हैं।[१] सारी शक्तियाँ राधा का ही अंश हैं। लक्ष्मी, महिषी एवं व्रजाङ्गनाएँ सभी श्रीराधिका की विस्तार हैं। लक्ष्मीगण उनकी अंशविभूति हैं, महिषियाँ उसी प्रकार उनकी विम्व हैं। लक्ष्मीगण उनके वैभव की विलासांश रूप हैं, महिषीगण प्रभाव प्रकाश स्वरूप हैं, तथा आकार स्वभाव भेद से व्रजदेवियाँ उनकी कामव्यूह हैं। वहु-कान्ताओं के विना रस का उल्लास नहीं होता, इसलिये यह योगमग्न किंवा आत्ममाया लीला के उल्लास के लिये अपना नाना रूपों में प्रकाश करती हैं। व्रज में नाना भावों की लीलाएँ भी राधा द्वारा ही सञ्चालित होती हैं; केवल मधुर भाव की ही वह संपोषिका नहीं है, वात्सल्यादि सारे भावों की अधिष्ठातृ भी पराप्रकृति राधिका ही है। चैतन्यचरितामृत में विस्तारपूर्वक इस तथ्य को उद्घाटित करते हुए कहा गया है—

> कृष्णेर कराय जैछे रस आस्वादन।
> क्रीड़ार सहाय जैछे शुन विवरण॥
> कृष्णकान्तागण देखि त्रिविध प्रकार।
> एक लक्ष्मीगण पुरे महिषीगण आर॥
> व्रजाङ्गनारूप आर कान्तागण सार।
> श्रीराधिका हइते कान्तगणेर विस्तार॥
> अवतारी कृष्ण ।जैछे करे अवतार।
> अंशिनी राधा हैते तिन गणेर विस्तार॥

---

१—सम्यक् वासना कृष्णेर इच्छा रासलीला।
रासलीला-वांछाते राधिका शृङ्खला॥
ताहा विनु रासलीला नेह भाय चित्ते।
मण्डली छाड़िया गेला राधा अन्वेषिते॥
—चैतन्यचरितामृत, मध्यलीला, अष्टम परि०, पृ० १४१

लक्ष्मीगण हय तार अंश-विभूति।
विम्व-प्रतिविम्वस्वरूप महिषीर तति॥
लक्ष्मीगण तार वैभव विलासांशरूप।
महिषीगण प्राभव, प्रकाशस्वरूप॥
आकार स्वभाव भेदे ब्रजदेवीगण।
कायव्यूह रूप तार रसेर कारण॥
वहु कान्ता विना नहे रसेर उल्लास।
लीलार सहाय लगि बहुत प्रकाश॥
तार मध्ये ब्रजे नाना भाव रसभेदे।
कृष्ण के कराय रासादिक लीलास्वादे॥
गोविन्दानन्दिनी राधा गोविन्द-मोहिनी।
गोविन्द-सर्वस्व सर्व्वकान्ता-शिरोमणि॥[१]

कृष्ण की सारी वाञ्छा राधा में ही रहती है और राधा ही उनकी सारी वाञ्छाओं को पूर्ण करती हैं। वे जगन्मोहन कृष्ण को भी मोहित किये रहती हैं, इसलिये वे पराशक्ति हैं। वे पूर्णशक्ति हैं, पूर्णशक्तिमान् से अभिन्न[२] कृष्ण की समस्त मनोकामनाओं की पूर्ति तो वे करती ही हैं, भक्त की भी मनोवाञ्छा वे ही पूर्ण करती हैं। राधा का अनुग्रह भक्त के लिये चिन्तामणि है। वही परमपद की प्राप्ति कराने में समर्थ है, श्रीराधा सकल-सिद्धि-स्वरूप हैं।[३] वे ही जीव में कृष्ण के प्रति प्रेम उत्पन्न करती हैं, चञ्चल चित्त को परमप्रीत्यास्पद में नियोजित करती हैं।[४]

**विद्या-अविद्या माया का सम्बन्धः**—किन्तु इस शुद्धा, सहज-सिद्धा पराप्रकृति

---

१—चैतन्य चरितामृत, आदिलीला, चतुर्थ परि०, पृ० २१-२२

२—कृष्णेर सकल वाञ्छा राधातेइ रहे।
राधिका करेन कृष्णेर वाञ्छित पूरण॥
जगत् मोहन कृष्ण तांहार मोहिनी।
अतएव समस्तेर परा-ठाकुरानी॥
राधा पूर्ण-शक्ति कृष्ण पूर्ण शक्तिमान्।
दुइ वस्तु भेद नाहि शास्त्र-परमाण॥—चैतन्यचरितामृत, आदिलीला, चतुर्थ परि०, पृ० २२।

३—अहो मेरी स्वामिनी सुख-रूप।
नाहिं गति मोहिं आन तुम विन सकल-सिद्धि-सरूप।
ज्यों-ज्यों चाहत त्यों-त्यों पुरवत परन प्रचर अनूप।
श्रीहरिप्रिया चिन्तत फलदेनी चिन्तामनि चिद्रूप॥६६॥ सुरतसुख, महावाणी।

४—चारु छवि चञ्चला चित्त आकर्षिनी वर्षनी प्रेम-घन मोहिनी जू।
सहज सिद्धा प्रसिद्धा प्रकासक प्रभा दिव्य वरकनक-तन मोहिनी जू॥१॥ सुरतसुख-महावाणी

माया का नितान्त सुचारु रूप से विवेचन कृष्णभक्ति सम्प्रदायों में नहीं हुआ है। जो भी हुआ है, उससे उस शक्ति का उद्देश्य स्पष्ट नहीं होता। वस्तुतः अपरा प्रकृति में पराप्रकृति का सारा रहस्य छिपा हुआ है। अपरार्द्ध में परार्द्ध सच्चिदानन्द अन्तर्यामी रूप से स्थित होकर इसमें ही आत्मोद्घाटन की लीला रच रहा है। अपरा प्रकृति पराप्रकृति की छाया है, इसके भीतर से परा का प्रकाश प्रस्फुटित होकर इसे अपने में रूपान्तरित कर रहा है। यह अविद्या अपने मूल स्वरूप विद्या में परिणत होना चाहती है।[१]

## जीव

ब्रह्म और जीव—पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण ही सब कुछ हैं, (Absolute) परम हैं, किन्तु उनके इस सर्व स्वत्व में जीव का तिरस्कार नहीं, समाहार है। जीव उनसे ठीक उसी प्रकार सम्भूत है जैसे अग्नि से स्फुल्लिंग[२] या समुद्र से लहर। चैतन्यमतानुसार जीव सच्चिदानन्द कृष्ण की तटस्थ शक्ति का प्रतिनिधित्व करता है,[३] इस तटस्थ शक्ति में स्वरूप एवं बहिरङ्ग शक्तियों का समान अंश रहता है। राधावल्लभ मत के

---

१—But if we find that knowledge and Ignorance are light and shadow of the same consciousness, that the beginning of Ignorance is a limitation of knowledge, that it is limitation that opens the door to a subordinate possibility of partial illusion and error, that the possibility takes full body after a purposeful plunge of knowledge into a material inconscience but that the knowledge too emerges along with an emerging consciousness out of the Inconscience, then we can be sure that this fullness of Ignorance is by its own evolution changing back into a limited knowledge and can feel the assurance that the limitation itself will be removed and the full truth of things become apparent, the cosmic Truth free itself from the cosmic Ignorance. In fact, what is happening is that the Ignorance is seeking and preparing to transform itself by a progressive illumination of its darkness into the knowledge that is already concealed within it, the cosmic truth manifested in its real essence and figure would by that transformation reveal itself as essence and figure of the Supreme Omnipresent Reality."

—The Life Divine P. 446 (*New York Edition—Ist ed.*).

२—'विस्फुलिंगा इवाग्नेः सदंशेन जडा अपि।'—तत्वदीप निबन्ध, शास्त्रार्थ प्रकरण, श्लोक ३३

३—जीव नाम तटस्थाख्य एक शक्ति हय।—चै० च० आदिलीला (५वाँ परिच्छेद), पृ० ३३

अनुसार, जीव राधाकृष्ण का विम्ब है, युगल का अंश है।[१] वल्लभाचार्य जी के अनुसार असंख्य जीवों की यह समष्टि मुख्यतः श्रीकृष्ण के चिदंश का प्रतिनिधित्व करती है, यद्यपि पुरुषोत्तम अपने आनन्दांश से प्रत्येक जीव में अन्तर्यामी रूप से स्थित है।

इस प्रकार तत्वतः ब्रह्म और जीव में समानता है, सादृश्य है। किन्तु जिस प्रकार लहर समग्र समुद्र नहीं है स्फुलिंग समग्र अग्नि नहीं है, उसी प्रकार जीव ब्रह्म नहीं है, इनमें भेद भी है—अंशी-अंश का, विभु-अणु का। अद्वैतवाद के अनुरूप जीव के विभु होने की तथा ब्रह्म से नितान्त एक होने की मान्यता वैष्णव सम्प्रदायों में नहीं है, भेद के लय से आनन्द-क्रीड़ा का लय हो जाता है, इसीलिये। किन्तु जैसे क्षुद्र लहर में असीम सागर का प्रत्येक गुण विद्यमान है, जैसे स्फुलिंग में अग्नि की समस्त विशेषताएँ वर्तमान हैं, वैसे अणु जीवात्मा में विभु पुरुषोत्तम के समस्त गुण विद्यमान हैं, खण्ड में पूर्ण का स्वभाव निहित है। यही इनका अभेद है। लहर-जल की भाँति जीव और ब्रह्म, अणु और विभु परस्पर ओतप्रोत हैं।[२] किन्तु जिस प्रकार लहर का अस्तित्व समुद्र से पृथक् नहीं है परन्तु समुद्र का अस्तित्व लहर को अपनी निश्चलता में समाहित कर लेने पर भी है, उसी प्रकार जीव का अस्तित्व ब्रह्म के बिना नहीं है, पर ब्रह्म का अस्तित्व जीव की पृथक् सत्ता की लीनावस्था में भी है। यही भेद जीव और ब्रह्म में है—जीव परतन्त्र है, ब्रह्म स्वतन्त्र। दोनों में अन्तर इस बात का है कि जीव मायाधीन है और ईश्वर मायाधीश।[३]

### जीव की दो स्थितियाँ

परब्रह्म से सारतः एक होने के कारण जीवात्मा में अज्ञान नहीं है। वह ज्योतिरूप एवं अप्राकृत है। जीवात्मा, शरीर मन प्राण से पृथक् है, यद्यपि इनमें भी वह अपने चैतन्य से परिव्याप्त है। ये तत्व परिवर्तनशील होने के कारण अनित्य हैं किन्तु जीव ब्रह्म का अंश होने के कारण नित्य है, सनातन है। तटस्थशक्ति जीव में स्वरूपशक्ति के कारण चिद्रूपता है, किन्तु बहिरङ्ग शक्ति के कारण उसमें जड़ता आ

---

१—युगल अंश नर-नारि सब जगत भक्त भगवान।
पूरन हित दम्पति सुखद अंश अंश सुखदान ॥४१॥—सुधर्मबोधिनी, पृ० २४

२—(क) मो मैं उन मैं अन्तरौ, एकौ छिन भरि नाहिं।
ज्यौं देखो मो माँझ वे, त्यौं मैं उन ही माहिं ॥
—तरङ्गनि वारि ज्यौं, भंवर गीत, पंक्तिक्रम ३७० (नन्ददास), भाग १, पृ० १४१

(ख) जल-तरङ्ग भूषण-कनक-घट-माटी पट-तन्त।
सब वामैं वह सबं मैं ओत-प्रोत लसन्त ॥२६॥—सुधर्मबोधिनी, पृ० २८

३—मायाधीश मायावश ईश्वर जीवे भेद।
हेन जीवे ईश्वर सने करह अभेद ॥
—चैतन्यचरितामृत, मध्यलीला (छठवाँ परिच्छेद), पृ० १२६

जाती है और वह अज्ञान-बद्ध हो जाता है। जीव की इन दो स्थितियों को चैतन्य-सम्प्रदाय में नित्य-मुक्त और नित्य-बद्ध या नित्य-संसार कहा गया है।[१] पर जीव की बद्धता नित्य नहीं होती, स्वरूपशक्ति के प्रकाश से अज्ञानजन्य संसार-दशा समाप्त हो जाती है। अतः नित्य-मुक्त और नित्य-बद्ध का नितान्त स्वतन्त्र भेद अपूर्ण है। वल्लभाचार्य जी ने जीवकोटि का व्यापक रूप उपस्थित किया है। जीव दो प्रकार के होते हैं—दैवी, आसुरी। आसुरी के दो भेद हैं—अज्ञ, दुर्ज्ञ। अज्ञ का कृष्ण में उत्कट वैर भाव होता है और इसी भाव से उसका उद्धार हो जाता है। दुर्ज्ञ का कभी उद्धार नहीं होता। दैवी जीव के अन्तर्गत पुष्टि (कृपाकांक्षी या कृपाप्राप्त) जीव तथा मर्यादा (स्वर्ग या मुक्ति के आकांक्षी) जीव हैं। पुष्टि जीव में नित्य-सिद्ध भक्त (शुद्ध-पुष्ट), केवल कृपा के प्रति जागरूक जीव (पुष्टि-पुष्ट), कृपाकांक्षी मर्यादाचारी जीव (मर्यादा पुष्ट) एवं कृपाभिलाषी सांसारिक जीव (प्रवाही पुष्ट) आ जाते हैं। इनमें से केवल शुद्ध पुष्ट जीव ही नित्य-मुक्त हैं, अन्य सभी जीव, बद्ध होते हुये भी कृष्ण-कृपा से संसार-पाश से मुक्ति पा जाते हैं। अस्तु, दुर्ज्ञ के अतिरिक्त कोई जीव-कोटि नित्य-बद्ध या नित्य-संसार नहीं रहती।

बद्धदशा—जिन उपकरणों को जीवात्मा जन्म ग्रहण करने में अपनाती है वे उसके मूलस्वरूप के प्रकाशक न बनकर उसे आच्छादित कर लेते हैं। शरीरबद्ध होने पर जीवात्मा व्यामोहिका माया के कारण अपना चैतन्यस्वरूप भूल जाती है, वह अपनी ब्रह्मसाम्यता खोने लगती है। शरीर, इन्द्रिय, प्राण एवं अन्तःकरण के संयोग से वह अपना तादात्म्य इन्हीं तत्वों से करने लगती है। नित्य तत्व का अनित्य तत्वों से यह तादात्म्य जीवात्मा से जीव बना देता है, और उसे चार प्रकार की भूल भ्रान्तियों किंवा अध्यासों में—अन्तःकरण, प्राण, देह, इन्द्रिय के अध्यास—उलझाकर उसे मूलस्वरूप से च्युत कर देता है। शरीर एवं इन्द्रियों से अपना एकाकार करने पर जीव में देह का भाव, 'दारा, सुत' आदि सम्बन्धों का मोह उत्पन्न होता है, प्राण से तादात्म्य करने पर कामनाजन्य वृत्तियाँ और अन्तःकरण या मन से अपना साम्य समझ लेने पर भोक्ता कर्त्ता का भाव तथा सुख-दुःख की निरन्तर द्वन्द्वात्मक अनुभूतियाँ उत्पन्न होती हैं। इन अध्यासों में पड़कर उसे स्वरूपाध्यास हो जाता है। आत्मा को भूलकर मन इन्द्रियों में सुख लेने लगता है, इससे मुक्त जीव कर्म एवं काल के आधीन हो जाता है। मन एवं इन्द्रियों की पारस्परिक आसक्ति के कारण स्वरूप विस्मृत हो जाता है, स्वरूप के विस्मरण से तन-मन के प्रति अभिमान जगता

---

१—सेइ विभिन्नांश जीव दुइ त प्रकार।
एक नित्यमुक्त एक नित्य-संसार॥—चै० च०, मध्यलीला (२२वां परिच्छेद), पृ० २६३

है और इस अभिमान से अहङ्कार।[1] अहङ्कार से मेरा तेरा का भाव आरम्भ हो जाता है और इससे क्लेश, अज्ञान या अविद्या ही अहन्ता ममता की जननी है। अज्ञान के वशीभूत होकर ब्रह्म के सनातन अंश की दशा अत्यन्त दीनहीन, दुःखमय हो जाती है तथा वह षटैश्वर्यहीन हो जाता है, अहङ्कार के कारण भय, चाह, सुख, दुख उसे बांध लेते हैं, जड़ासक्तियां विवश कर डालती हैं और नाना तापों से संत्रस्त वह कभी शान्ति का अनुभव नहीं कर पाता।[2]

मुक्त स्वरूप

किन्तु सारे अध्यासों के पीछे जीवात्मा का शुद्ध स्वरूप सदैव स्थित रहता है, अविचलभाव से पृथक् बना रहता है। इन देह, मन, प्राण की छायानुकृतियों के पीछे आत्मा की अनाविल स्थिति रहती है। सत्य पर विकृति का घना पर्दा पड़ा रहता है, किन्तु इससे सत्य तिरोहित मात्र होता है, नष्ट नहीं। इन आवरणों के उच्छेदन पर जीव फिर से अपना स्वरूप पहिचान लेता है। स्वरूप-प्राप्ति पर ब्रह्म से उसका नित्य सम्बन्ध फिर से सजग होकर क्रियाशील होता है। आत्मविस्मृति की चेतना में मन, इन्द्रियां तथा प्राण आत्मा से विमुख रहते हैं और आपस में ही उलझ कर आनन्द से विरत हो जाते हैं। किन्तु जब जीव अपनी शुद्ध अवस्था प्राप्त कर लेता

---

१—(क) अहङ्कार उपजै मरै अहङ्कार भै नाहि।
अहङ्कार सुख दुःख लहै अहंमन्ध्यां जग आदि ॥४२॥—सुधर्मबोधिनी, पृ० २४

(ख) माधौ जू मन माया वस कीन्हौ।
लाभ हानि कछु समुझत नाहीं, ज्यों पतङ्ग तन दीन्हौं।
गृह दीपक, धन तेल, तूल तिय, सुत ज्वाला अति जोर।
मैं मतिहीन मरम नहिं जान्यौ, पर्‌यौ अधिक करि दौर।
विवस भयौ नलिनी के सुक ज्यों, बिनगुन मोहि गह्यौ।
मैं अज्ञान कछू नहिं समझ्यौ, परि दुख पुञ्ज सह्यौ।
बहुतक दिवस भये या जग में, भ्रमत फिर्‌यो मति-हीन।
सूर स्याम सुन्दर जो सेवै, क्यों होवै गति दीन ॥—सूरसागर, 'विनय', पद सं० ४६

(ग) नित्यबद्ध कृष्ण हैते नित्य बहिर्मुख।
नित्य संसार भुंजे नरकादि दुख।
सेइ दोषे मायापिशाची सङ्गे करे तारे।
आध्यात्मिक तापत्रय तारे जारि मारे।
काम क्रोधेर दास हआ तार लाथि खाय ॥—चै० च०, मध्यलीला (२२वाँ परिच्छेद) पृ० २६४

२—मन भूल्यौ निज आतमा इन्द्रिन मिल सुख लीन।
तन अभिमानी जग भयौ कर्म काल आधीन ॥१६॥
भोगी भोग आशक्ति सौं भूलि आपनौ रूप।
तन मन प्रति मानी भये मैं तू जगत स्वरूप ॥१७॥—सुधर्मबोधिनी, पृ० २७

है तब तन, मन और प्राण अध्यसित न रहकर सत्य के प्रकाश में आनन्द के उपकरण बनाते हैं। आत्मा इन समस्त उपकरणों के साथ परमात्मा के साथ क्रीड़ा करने लगती है। ऐसी स्वरूपानुभूति में शरीर भगवत्क्रीड़ा का लीलाक्षेत्र वृन्दावन वन जाता है और इन्द्रियाँ अपनी अधोवृत्ति त्यागकर आत्मा की सखी बनकर आत्मरस का आस्वादन करती हैं।[१] दूसरे शब्दों में अन्न, प्राण, मनोमय कोष आनन्दकोष में प्रविष्ट होकर उसकी गतिविधि से परिचालित होने लगते हैं। ईश्वर की ओर उन्मुख होकर तन, मन और प्राण अपनी भोगासक्ति त्यागकर, भोक्ता ईश के रसास्वादन के द्वार बन जाते हैं। मूलरूप में सत्ता के सारे अङ्ग हरि के ही हैं, किन्तु अज्ञान के कारण जीव उन्हें अपना मानकर उनका दुरुपयोग करने लगता है। अज्ञान-नाश के अनन्तर अपराप्रकृति पराप्रकृति में रूपान्तरित हो जाती है तथा मन, इन्द्रियाँ आदि चैतन्य आत्मा के रसोपकरण बन जाते हैं।[२] इस प्रकार अभ्यास के सारे उपकरण ब्रह्म के ही यन्त्र हैं, किन्तु अहंभाव का आवेश उन्हें विकृत कर डालता है और इसीलिए आत्मा के सहज आनन्द में रसाभास उत्पन्न हो जाता है। स्वरूप-सम्प्राप्ति पर ये ही उपकरण अपनी-अपनी विकृतियाँ छोड़कर आत्मा का स्वीकृति बन जाते हैं, तब ब्रह्म-जीव का शाश्वत आनन्द-सम्बन्ध पुनर्जागरित हो जाता है, असीम और ससीम की आनन्द क्रीड़ा जारी हो जाती है।[३] स्वरूप से अवगत होने पर जीवात्माओं का पारस्परिक सम्बन्ध अपनी विशुद्ध गतियों को प्राप्त करता है। इस अवस्था में एक जीव का सम्बन्ध अन्य जीव से देह, प्राण आदि के आकर्षणों के कारण नहीं रह जाता, वरन् एक परब्रह्म से उद्भुत होने के

---

१—(क) सर्व देह मय विपिन है, सर्व मनोमय लाल।
सर्व जु इन्द्री सखी गन सर्व आत्मा बाल ॥१८॥—सुधर्मबोधिनी, पृ० २७

(ख) तन वृन्दावन जगमगी इच्छा सखी अनूप।
कोटिन कोटि समूह सुख रुख लिये इच्छाशक्ति।
श्री वृन्दावन में सदा नित विलास विलसन्त ॥१६॥—सिद्धान्तसुख-महावाणी

२—हरि ही की सब इन्द्रिरी हरि के तन मन प्रान।
जगत भयौ अज्ञान सों जीव आपने मान ॥३८॥
चैतन्य सर्व आत्मा सुहरि रचि मन इन्द्री द्वार।
पान करत निज रूप रस खेलत खेल अपार ॥३९॥—सुधर्मबोधिनी, पृ० २९

३—(क) तहाँ साँवरे कुँवर रीझि कै रीझि रहत यौं।
निज प्रतिबिम्ब-विलास, निरखि सिसु भूल रहत ज्यौं ॥२५५॥
—नन्ददास-सिद्धान्त पञ्चाधारी, पृ० १९४

(ख) मैं मेरी जबही मिटी सर्व दुखनि की भूल।
जाकी ही ताकी रही विलसनि सब अनुकूल ॥२०॥—सुधर्मबोधिनी, पृष्ठ २८

कारण आत्मा-आत्मा का होता है। ऐसी अवस्था में न नर-नारी का भेद रहता है और न बाल-वृद्ध-युवा का। सभी परमब्रह्म के नाते एक-दूसरे से सङ्गुम्फित होते हैं।[१] वस्तुतः सारे जीव उस एक पुरुषोत्तम के सेवक हैं एवं उनसे सम्बन्धित सारी वस्तुएँ उसकी सेवा के उपकरण हैं। अंश रूपी जीव अंशी भगवान् का सेवक है, अभिमान वश वह भगवतप्रदत्त वस्तुओं को अपने अहङ्कार की सेवा में लगा लेता है।[२] जब अहङ्कार छूट जाता है तब जीव दास बन जाता है।[३] वैसे सारी जीवात्माएँ स्वभावतः भक्त हैं, अज्ञान के कारण मैं-मेरा का भ्रम उनके बीच उपस्थित हो जाता है, किन्तु इस भ्रम के टूटने पर उनका वास्तविक रूप पुनः उद्घाटित हो जाता है। जीव का स्वभाव ही आत्मानन्द का रसास्वाद करना है, अतः वह मूलतः चिदानन्द का रसिक है। अहङ्कार के कारण वह रस से विमुख हो जाता है, अन्यथा वह भक्त ही है—

स्वतः जगत सबही भगत मैं मेरी बिच आड़।
अभी रसिक यह होंहि सब मैं जु मेरी वें छाड़ ॥३९॥[४]

## जीव का चरम साध्य

देह, मन, प्राण में अपने इसी 'रसिक' रूप की संसिद्धि करना चिद्घन जीवात्मा का साध्य है। मूलरूप में तो वह भगवान् से नित्य-युक्त है ही। तब जो सच्चिदानन्द ने उसे देह, मन, प्राण का यह चित्रविचित्र वस्त्र धारण करवाया यह क्यों ? इसका उद्देश्य रसास्वादन में वैचित्र्य उत्पन्न करना था।

रस का आधार भाव होता है। ब्रह्म और जीव का भावात्मक सम्बन्ध कई प्रकार का होता है—स्वामी-सेवक, पुत्र-माता, सखा-सखा प्रियतम-प्रेयसी किंवा युगल

---

१—तन कुटुम्ब-धन गेह ये जब सेवा मैं लगैं।
हित हित जन सौं नेह तबै जानि सांचो भयौ ॥५८॥—सुधर्मबोधिनी, पृ० ४६
देह देह सम्बन्ध सौं नेह जगत की रीति।
इष्ट इष्ट सम्बन्ध सौं हित हित जन की प्रीति ॥७०॥—वही, पृ० ४७

२—सर्व सेव हित युगल पर सेवक सब नर नारि।
ग्रह मन्दिर भण्डार धन रसानन्द आकारि ॥३२॥
सेवक इनकौ नाम है सेवा इनकौ धर्म।
कुल अभिमानी ह्वै करत काम मोह वश कर्म ॥३३॥—वही, पृ० १३

३—(क) नित्यमुक्त नित्य कृष्ण-चरणे उन्मुख।
कृष्णपारिषद नाम भुञ्जे सेवा-सुख।—चै० च०, मध्यलीला (२२वाँ परिच्छेद) पृ० २६१
(ख) अहंकार जबहीं छुट्यौ भयौ जीव तें दास।
महल टहल रस चहल में रहै युगल के पास ॥४४॥—सुधर्मबोधिनी, पृ० २५

४—सुधर्मबोधिनी, पृ० १३

एवं उनकी सखी। इनमें से प्रथम चार भावों को, ब्रजलीला में परिगणित किया जाता है और अन्तिम भाव को 'नित्यविहार' अथवा 'निकुञ्जलीला' कहकर अभिहित किया जाता है—यों तो सभी भाव अपने स्थान पर महत्वपूर्ण हैं और तत्तत् भावकों के लिए सर्वश्रेष्ठ हैं किन्तु भाव-साधना के क्रम में सखी भाव को ही चरम साध्य ठहराया गया है।[१] रायरामानन्द से चैतन्यमहाप्रभु की वार्ता में राधा प्रेम का साध्य शिरोमणि होना स्वीकृत हुआ है,[२] राधावल्लभ, हरिदासी तथा निम्बार्क सम्प्रदायों में एकमात्र युगल-उपासना ही परिव्याप्त है,[३] वल्लभ सम्प्रदाय में गोपियों की प्रतिष्ठा होते हुये भी राधा का उत्कर्ष सुस्पष्ट है, युगल-उपासना के पद उसमें भी रचे गये हैं। अस्तु, सखीभाव से राधा-कृष्ण के रस का आस्वादन करना अन्ततः जीव का चरम साध्य ठहरता है।

'इदम्'

नित्य अद्वय-तत्व सजातीय, विजातीय एवं स्वगत भेदों से रहित है। वल्लभाचार्य के अनुसार सच्चिदानन्द अपने किसी एक तत्व का उत्कर्ष करके एवं अन्य दो को उस एक के अन्तर्मुक्त करके अपना आत्म-प्रसार सत्प्रधान जगत् एवं चित्

---

१—ज्ञान, शान्त रस ते अधिक, अद्भुत पदवी दास।
सखा भाव तिनतें अधिक, जिनके प्रीति प्रकास॥
अद्भुत बाल चरित्र को, जो यशुदा सुख लेत॥
ताते अधिक किशोर रस, ब्रज वनितनि के हेत॥
सर्वोपरि है मधुर रस, युगल किशोर विलास।
ललितादिक सेवत तिनहिं, मिटत न कबहुँ हुलास॥
यापर नाहिन भजन कछु, नाहिंन है सुख और।
प्रेम मगन विलसत दोऊ, परम रसिक सिरमौर॥
—भजनाष्टक लीला, ध्रुवदास ब्यालीसलीला, पृ० ६३

२—इहार मध्ये राधार प्रेम साध्यशिरोमणि।
जाहार महिमा सर्वशास्त्रेते वाखानि॥—चै० च०, मध्यलीला (७वाँ परिच्छेद) पृ० १४०

३—(क) गौर श्याम अलि हृद कमल अचल विराजत तास।
पद्मासन कर अभय वर सर्वोपास्य उपास॥१०॥ —सुधर्मबोधिनी, पृ० २१

(ख) आचारज ललितसखी रसिक हमारी छाप,
नित्य किसोर उपासना युगलमंत्र को जाप॥१॥—भगवतरसिक, निम्बार्क माधुरी, पृ० ३७१

(ग) अङ्गेतु वामे वृषभानुजाम्मुदा
विराजमानामनुरूपसौभगाम्।
सखी सहस्रैः परिसेवितां सदा।
स्मरेम देवीं सकलेष्टकामदाम्।—(दशश्लोकी, श्लोक, ५)

प्रधान जीव की सृष्टि में करता है। इन दोनों में वह स्वयं ग्रानन्दप्रधान ग्रन्तर्यामी रूप से प्रवेश करता है।[१]

## ग्रविकृतपरिणामवाद : जगत्

ग्रस्तु, जीव की भाँति जगत् भी ग्रह्म से निःसृत है। निर्गुण सच्चिदानन्द ब्रह्म ही ग्रक्षर-ब्रह्म के द्वारा जगत् के रूप में ग्रपने सदंश का विस्तार करता है। ग्रतः ब्रह्म से प्रसूत होने के कारण जगत् भी ब्रह्म जैसा शुद्ध तथा सत्य है, मायाजनित भ्रम किंवा मिथ्या नहीं। ब्रह्म सृष्टि का निमित्त कारण है, उपादान कारण भी स्वयं वही है।[२] इसलिये सृष्टि ब्रह्म की ही ग्रन्यरूप में परिणति है, ग्रतः उसके जड़ किंवा ग्रसत् होने की धारणा भ्रान्त है। सभी कृष्णभक्ति सम्प्रदाय सृष्टि को ब्रह्म का ग्रविकृत परिणाम मानते हैं।[३] कनक-भूषण, तन्तु-पट की भाँति ब्रह्म ग्रौर जगत् का सम्बन्ध है। ब्रह्म ग्रौर सृष्टि का सम्बन्ध ग्रविभाज्य है, वह ग्रपनी सृष्टि में ग्रोत-प्रोत है।[४]

ब्रह्म नित्य है, ग्रतएव जगत् भी नित्य है। इसका सर्ग, प्रलय ग्रादि कुछ नहीं होता, ये तो ब्रह्म के द्वारा की गयी ग्राविर्भाव तिरोभाव की क्रियाएँ हैं। जब ब्रह्म चाहता है तब वह ग्रपने से सृष्टि उद्भूत करता है, जब चाहता है तब फिर उसे ग्रपने में लीन कर लेता है। जगत् सत्य है, इस सृष्टि में स्वयं परब्रह्म प्रतिविम्बित है। सब ग्रनन्त के ही नामरूप हैं।[५]

## संसार

किन्तु मनुष्य के ग्रध्यास-मलिन दर्पण में विम्व ग्रपने शुद्ध रूप में प्रतिविम्वित

---

१—विस्फुलिङ्ग इवाग्नेस्तु सदंशेन जड़ा अपि।
ग्रानन्दांशस्वरूपेण सर्वान्तर्यामिरूपिणः ॥—तत्वदीप निवन्ध, शास्त्रार्थप्रकरण, श्लोक २३

२—जगतः समवायि स्यात्तदेव च निमित्तकम्।
कदाचिद्रमते स्वस्मिन्प्रपञ्चेऽपि क्वचित्सुखम् ॥—वही, श्लोक ६९

३—अविचिन्त्य-शक्तियुक्त श्रीभगवान्। इच्छाय जगत्रूपे पाय परिणाम ॥
तथापि अचिन्त्यशक्त्ये हय अधिकारी। प्राकृत चिन्तामणि ताहे दृष्टान्त जे धरि ॥
नाना रत्नाराशि हय चिन्तामणि हैते। तथापिह मणि रहे स्वरूप अविकृते ॥
प्राकृत वस्तुते यदि अचिन्त्यशक्ति हय। ईश्वरेर अचिन्त्यशक्ति ए कोन विस्मय ॥
—चैतन्य चरितामृत, आदिलीला (सप्तम परिच्छेद), पृ० ४९

४—जल तरङ्ग भूषण कनक घट माटी पट तन्त।
खेल खिलाड़ी यों सदा ओत-प्रोत लसन्त ॥५२॥—सुधर्मबोधिनी, पृ० १४

५—सबै ग्रनन्त ग्रनन्त के नाम रूप रस माइ।
ग्रन्त किछू पायौ नहीं मगन भये गुन गाइ ॥३३॥—वही, पृ० २८

नहीं हो पाता ।[१] प्रतीयमान रूप में जगत् अपने मूलरूप से भिन्न अनुभूत होता है । इसका कारण व्यक्ति का दृष्टिकोण-विपर्यय है । सृष्टि को उसके केन्द्र पुरुषोत्तम के दृष्टिबिन्दु से न देखने से, सचराचर को उनके सम्बन्ध से अनुभव न करने से, अपने 'अहं' एवं 'मम' को केन्द्र में प्रस्थापित करके इदम् को देखने पर सत् सृष्टि कुछ और ही प्रतिभासित होती है । वल्लभाचार्य जी के शब्दों में 'जगत्' हमारे अहङ्कार एवं ममताजन्य अज्ञान के कारण 'संसार' में परिणत हो जाता है । शुद्ध सृष्टि, जिसे वल्लभाचार्य जी ने जगत् की संज्ञा दी है, संसार से नितान्त भिन्न है । संसार जीव का अविद्या द्वारा गृहीत जगत् का विकृत रूप है, यह जीवकृत है ।[२] वैसे जगत् संसार के पीछे सदैव विद्यमान रहता है । संसार के लय से जगत् का लय नहीं होता, जगत् का लय कृष्णेच्छा पर निर्भर है ।[३]

### जगत्-संसार

जीव के ज्ञानचक्षु के उन्मीलन पर जगत् का संसार रूप विलीन हो जाता है और जगत् अपने प्रकृत रूप में दृष्टिगत होने लगता है । जगत् को ब्रह्ममय देखना ही शुद्ध दृष्टि का परिचायक है । तब जीव सृष्टि में प्रसरित ईश की अप्राकृत लीला का दर्शन करने लगता है । इस प्रकार जगत् नित्य है, वह बनता बिगड़ता नहीं, केवल हमारी दृष्टिभङ्गियों के कारण उसका आच्छादन और प्रकाशन होता है ।[४] सत्मय जगत् सत्य है, ब्रह्म की इच्छाशक्ति का, उसकी चिच्छक्ति का विलास है । सभी कुछ ब्रह्ममय है ।

### अक्षरब्रह्म एवं पूर्ण पुरुषोत्तम की सृष्टियों का सम्बन्ध

परब्रह्म जगत् में परिव्याप्त होते हुए भी इसी में समाप्त नहीं हो जाता ।

---

१—सर्व विलासी आपु हरि, सर्व शक्ति सब ठौर ।
माया याकी नाम है जु या बिन दीसै और ॥२४॥—सुधर्मबोधिनी, पृ० २८

२—(क) हरि रचना सब सुखमई लीला धाम अपार ।
दुःख हेत या जीव कौं आतम कृत संसार ॥६३॥—वही, पृ० ७

(ख) प्रपञ्चो भगवत्कार्यस्तद्रूपो माययाभवत् ।
तच्छक्त्याविद्यया त्वस्य जीवसंसार उच्यते ।—तत्वदीपनिबन्ध, शास्त्रार्थप्रकरण, श्लोक, २७

(ग) जीवेर देहे आत्मबुद्धि सेइ मिथ्या हय ।
जगत जे मिथ्या नहे नश्वर मात्र कय ।
—चैतन्य-चरिता, मध्यलीला (६वाँ परिच्छेद), पृ० १२७

३—संसारस्य लयो मुक्तौ न प्रपञ्चस्य कर्हिचित् ।
कृष्णस्यात्मरतौ त्वस्य लयः सर्वसुखावहः ।—तत्वदीपनिबन्ध, शास्त्रार्थप्रकरण, श्लोक २८

४—हरि लीला सब नित्य है कोटिक धाम विलास ।
जीव अविद्या रचित जग विद्या होत विनास ॥६३॥—सुधर्मबोधिनी, पृ० ६

सृष्टि में अभिव्यक्त उसका वैश्व रूप उसकी सत्ता की समग्रता नहीं है। इससे परे भी उसका एक रूप है जिसे 'परात्पर' स्वरूप कहते हैं। भारतीय सर्वेश्वरवाद असीम को ससीम में ओतप्रोत देखता हुआ भी ब्रह्म की असीमता को विश्व में निःशेष नहीं कर देता। पुरुषोत्तम का विश्वातीत रूप भी है। वस्तुतः सृष्टि अक्षर ब्रह्म का प्रसार है, पुरुषोत्तम इससे भी परे है। सृष्टि में मणि के सूत्र की भाँति अनुस्यूत होने पर भी श्रीकृष्ण इससे पृथक् हैं।[1] इस प्रकार श्रीकृष्ण, अक्षर-ब्रह्म के रूप में इस सृष्टि के परिणाम भी हैं और पुरुषोत्तम रूप से इससे परे भी। किन्तु सृष्टि को गणितानन्द अक्षर-ब्रह्म की आत्म-परिणति मानने पर एक समस्या उपस्थित हो जाती है। वह यह कि यदि साक्षात् पुरुषोत्तम से सृष्टि उत्पन्न नहीं है तो जगत् श्रीकृष्ण का अविकल अनुवाद भी नहीं है। अगणितानन्द की रचना तो वृन्दावन की अप्राकृत सृष्टि में देखने को मिलती है। अस्तु, पुरुषोत्तम या भगवान् रचित वृन्दावन और परमात्मा किंवा अक्षर-ब्रह्म सम्भूत जगत् दो पृथक् सृष्टियाँ ठहरती हैं। श्रीकृष्ण अपनी रचना वृन्दावन में ही तृप्त हैं, इस सृष्टि से पुरुषोत्तम को कोई सरोकार नहीं है; पर अक्षर-ब्रह्म के द्वारा पुरुषोत्तम ने जगत् को उत्पन्न ही क्यों किया, इसलिये कि सम्भूत जीव जगत् में आकर वृन्दावन की खोज में प्रवृत्त हों? यदि सब जीवों की सत्ता पुरुषोत्तम से ही है तब उसने कुछ जीवों को वृन्दावन में शुद्धपुष्ट भक्त बनाकर अन्य समस्त जीवों को क्यों जगत् में भेज दिया? अपने ही अंश का जगत् में वितरण कर उसे पुनः वृन्दावन में बुलाने में क्या लीला है? किन्तु यदि वृन्दावन ही जगत् का असली रूप है जो जीवकृत संसार के पीछे विद्यमान है तो सृष्टि को अगणितानन्द पुरुषोत्तम से उत्पन्न न मानने का कोई कारण नहीं है। यह स्वीकार अवश्य किया गया है कि जगत् में भगवान क्रीडा कर रहे हैं, यही उनका अद्भुत कर्म है,[2] किन्तु कृष्ण का जगत्‌रूपी क्रीड़ास्थल और वृन्दावन क्रीड़ास्थल तत्वतः एक है या नहीं, यह स्पष्ट नहीं

---

१—(क) ज्यों गज फटिक मध्य न्यारौ वसि पञ्च प्रपञ्च विभूति।
ऐसे मैं सबहिन तें न्यारें, मनिनि ग्रथित ज्यौं सूत ॥—सूरसागर, पद सं० ३८१

(ख) शब्दातीत स्वरूप मम अति दुर्लक्ष अनूप।
सर्व विलासनि तें परें सर्व विलास सरूप ॥५०॥—सुधर्मबोधिनी, पृ० ३२

(ग) आप अलिप्त लिप्त लीला रचि करत कोटि ब्रह्माण्ड विलास।
शुद्ध सत्व सबके परमेश्वर जुगलकिशोर सकल सुख-रास॥
परावरादि असत सत स्वामी निर्वधि नामी नाम निकाय।
नित्यसिद्ध सर्वोपरि हरिप्रिया सब सुखदायक सहज सुभाय ॥२०॥—सिद्धान्तसुख-महावाणी

२—नमो भगवते तस्मै कृष्णायाद्भुतकर्मणे।
रूपनामविभेदेन जगत्क्रीडति यो यतः ॥—तत्वदीपनिबन्ध, शास्त्रार्थप्रकरण, श्लोक १

किया गया। श्रीकृष्ण पूर्णरूपेण आत्मप्रसार वृन्दावन की सृष्टि में ही करते हैं। वृन्दावन परात्परलोक है जो कदाचित् 'इदम्' में परिव्याप्त नहीं है, वह केवल परब्रह्म श्रीकृष्ण के अवतार के समय पृथ्वी पर आविर्भूत होता है अन्यथा जगत् से असंपृक्त है। प्रश्न उठ सकता है कि क्या पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण की लीला वृन्दावन तक ही सीमित है और क्या सम्पूर्ण 'जगत्' उनका क्रीड़ाक्षेत्र नहीं है ? यदि नहीं, तो फिर इस जगत् को रचने का उद्देश्य क्या था ? क्या पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण ने आत्मक्रीड़ा के लिये सम्पूर्ण सृष्टि को जन्म नहीं दिया ? दिया है, सृष्टि में क्रीड़ाभावना की ओर कृष्ण भक्तिसम्प्रदायों ने इंगित किया है; तो फिर उस आत्मक्रीड़ा का क्षेत्र केवल वृन्दावन ही क्यों है, समस्त जगत् क्यों नहीं ?

कृष्ण-काव्य में परब्रह्म की अविकृत-परिणति वृन्दावन में ही देखने को मिलती है। जगत् को अविकृत मानकर भी किसी ने यह नहीं कहा कि समस्त जगत् वृन्दावन है और पुरुषोत्तम का दिव्य क्रीड़ाक्षेत्र बन सकता है। कृष्ण-भक्तों में इहलोक की लीला का संवरण कर वृन्दावन के नित्य लोक में प्रवेश पाने की उत्कट अभिलाषा सुव्यक्त है। अतएव यह स्पष्ट है कि उनकी दृष्टि में यह जगत् सत्य अवश्य है किन्तु नश्वर है,[१] नित्यलीला का धाम नहीं, इसीलिये वे इसे छोड़कर वृन्दावन में प्रविष्ट होकर श्रीकृष्ण की लीला का आस्वादन करने को उत्सुक रहते हैं। किन्तु जो सत्य है वह अवश्यम्भावी रूप से नित्य है, सत्य नश्वर नहीं होता। कृष्ण-भक्त के लिये इदम् ईश का आवास होते हुए भी परोक्ष रूप से ही ऐसा है, प्रत्यक्ष आवास वृन्दावन का अप्राकृत लोक है जो सच्चिदानन्द की दिव्य आत्मपरिणति है, चिदानन्द की चिदात्मक केलि-स्थली है। कृष्णभक्त की दृष्टि में वृन्दावन ही साध्यलोक है। श्रीवृन्दावन श्रीकृष्ण का धाम है, श्रीकृष्णरचित अविकृत सृष्टि है जहाँ पुरुषोत्तम के अपरिसीम आनन्द का अखण्ड साम्राज्य है, निर्बाध क्रीड़ा है और अद्भुत लीला-विलास है।

साध्यलोक

वृन्दावन—सृष्टि की पूर्णतम सिद्धि उस दिव्यलोक में मानी गयी है जिसे 'वृन्दावन' अथवा 'गोलोक' कहा गया है। यह लोक अगणितानन्द श्रीकृष्ण की रचना है, अतएव उन्हीं की भाँति परम आनन्दमय है। सच्चिदानन्द की सृष्टिरूप में परिणति सच्चिदानन्दमयी वृन्दा भूमि में देखने को मिलती है। चिदानन्दमयी वृन्दाटवी अवतारी-अवतार श्रीकृष्ण की लीलाभूमि है।[२] माया-विरहित यह सृष्टि राधाकृष्ण की

१—जगत जे मिथ्या नहे नश्वरमात्र क्य ॥—चैतन्य चरितामध्यलीला (६ठाँ परिच्छेद), पृ० १२७

२—ब्रज ही मैं नित करन बिहारन। जसुमति-भाव-भक्ति हित कारन ॥
यह लीला इनकौं अति भावै। देह धरत पुनि पुनि प्रकटावै ॥
नैंकु तजत नहिं ब्रज-नर-नारी। इनकैं सुख गिरि धरत मुरारी ॥—सूरसागर, पद सं० १५६६

रङ्ग-स्थली है।[1] भक्तों का यह विश्वास है कि पुरुषोत्तम के अवतरण के समय यह सच्चिदानन्द धाम भी पृथ्वी पर अवतरित होता है।[2] यह दिव्यचेतना की क्रीड़ाभूमि है, दिव्यचेतना की क्रीड़ा अपने प्रतिबिम्ब में ही सम्भव है, अतः वृन्दावन कृष्ण की भाँति दिव्य है, उसका भूतत्व तक दिव्य है।[3] वृन्दावन पृथ्वी पर गोलोक किंवा द्युलोक का अवतरण है, अतः यह पार्थिव सृष्टि न होकर ज्योतिर्मय तथा चिन्मय है। उस पञ्चयोजन परिमित भूमि के सभी तत्व दिव्य हैं, आकाश, चिदाकाश है और पृथ्वी, चिन्मयी। पृथ्वी का जड़तत्व भी दिव्य आभा से भरपूर है, किन्तु उसको देखने के लिये दिव्यचक्षु का होना भी अनिवार्य है, वहिर्मुखी व्यक्ति के लिये उसे देख सकना असम्भव है।[4] वृन्दावन में सच्चिदानन्द का आत्म-प्रकाशन है। वहाँ की समस्त प्रकृति ज्योतिर्मय है, चिदुद्दीपित है।[5] यमुना में जल नहीं, चिदानन्दरस प्रवाहित हो रहा है, उसमें विकसित पुष्प नहीं, ऋद्धि-सिद्धि हैं—

सलसिलात सलिता छविछलता, रसवलिता आवृत अनुकूल।
अरुन पीत सित असित अमित, रिधि जा मधि फूलें बहुविधि फूल॥[6]

---

१—(क) विश्व रचना सबै पुरुष प्रकृति की निपुन, अवनी अद्दा रूप चैतन्य है।
छदम परस्तु नहीं जहा माया नटी, जुगल आनन्द वर्द्धन जु सम्पन्य है।
—वृन्दावन जस प्रकाश, (हित वृन्दावनदास), पृ० ३

(ख) सहज विराजत एकरस, वृन्दावन निज धाम।
ललितादिक सखियन सहित क्रीड़त स्यामा स्याम।
—वृन्दावन लीला, ध्रुवदास ब्यालीसलीला, पृ० २१

२—सच्चिदानन्द यह रूप ब्रजचन्द को, कियौ नर नारि रस मधुर जग विस्तर्यौ।
अवनि को रूप यों ग्रहन कियौ धाम नें, वन्दि पुनि पुनि मना काज सुकृतिनु सर्यौ॥
—वृन्दावन जस प्रकाश, पृ० ८

३—(क) ऐसो निज धाम जा मध्य नित भूमि अमित दल आकार रहि भूमि।
सुभग सुठि सिद्धिन की अति प्रकाशा, जगमगहिं जोति उठि रह्यौ उजासा॥३॥
—सिद्धान्त सुख, महावाणी

(ख) अवनी अद्दा रूप चैतन्य है।—वृन्दावन जसप्रकाश, पृ० ३
अमल अवनी बिछी चूर कर्पूर की। कही सोभा कहा देत उपमा नसै॥—वही, पृ० ५

४—भूमि सम्पुट धर्यौ नग अलौकिक वना। मोतियाबिन्द छिय दृग वहिरसुपनि कैं।
सूझि नहि परतु यह निगम गोचर धना...।—वही, पृ० १

५—दिव्य कंचनमयी अवनि रमनी, जटित मनि विविधवर चित्र कमनी।
विमल घृचन की शोभा बनीसार, पेड़ मनि-नील तो हरित-मनि डार।
पत्र मनि पीत फल अरुन अनुकूल, मधुर सौरम सुभग सुरंग रंग फूल॥३॥
—सिद्धान्त-सुख, महावाणी

६—सिद्धान्तसुख, पद सं० ४, महावाणी।

यमुना में चैतन्य का प्रकाश है, वह आनन्दरूपिनी है।[१] वहाँ के तरुओं तथा वनस्पति में राधाकृष्ण का रूप और उनकी आभा झलकती है।[२] आनन्दरूपिणी तरु-लतिकायें मन में आनन्द की अभिलाषा जागृत करती हैं, द्रुमवेलियों से चैतन्यामृत झरता है।[३] चर-अचर सभी कुछ में वहाँ सच्चिदानन्द का प्रस्फुटन है।[४] वृन्दावन के सम्पद् के सम्मुख द्वारिकावैकुंठ का सम्पद् एक विन्दु तुल्य ठहरता है। वृन्दावनधाम के अधिष्ठाता स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण हैं। अतः वृन्दावन की भूमि चिन्तामणिमय है, चिन्तामणि वहाँ की दासियों का चरणाभूषण है। वन, कल्पवृक्ष-लता से परिव्याप्त हैं तथा धेनुएँ, कामधेनु हैं, जल अमृत है, लोककथा दिव्यगीत है, व्रजवासियों का सहज गमन नृत्य है। जल अमृत के समान है। वहाँ चिदानंद ज्योति का रस मूर्तिमान् है।[५] वृन्दावन के इस अलौकिक वैभव से सम्बन्धित स्वामी हरिदास के जीवन में एक किंवदन्ति प्रसिद्ध है कि हरिदास जी का संगीत सुनने के पश्चात् बादशाह अकबर इतना विभोर हो उठा कि उसने दिव्य गायक की कोई सेवा करने के लिये आग्रह किया। पहिले तो हरिदास जी ने स्पष्ट ही मना कर दिया किन्तु जब अकबर हठ करने लगा तब उन्होंने वृन्दावन के किसी एक घाट की सीढ़ी का एक टूटा कोना बनवा देने को कहा। इस तुच्छ-सी बात के लिये सम्राट् अकबर का सेवाभिमान बड़ा आहत हुआ। फिर भी जब वह उसे देखने गया तब वृन्दावन का वह घाट मणिमय दिखायी पड़ा। लज्जित होकर

---

१—हंस जा वारि चहुं ओर पारस दिपत।—वृन्दावन जसप्रकाश, पृ० १२
रविजा आनन्द रूपिनी विधि रुचि लै ढरनी।—वही, पृ० १४

२—वृन्दावन मही सब भई आली, पग पग पर मानो रूप झर पर्‌यो है।
कनक वरन भये पत्र फूल द्रुमनि कै, आभा तन रही छाइ कुन्दन सौं ढर्‌यो है॥
—भजन शृङ्गार सत, ब्यालीसलीला—ध्रुवदास, पृ० ८२

३—कुञ्ज-कुञ्ज आनन्द की अभिलाषा भरनी।
द्रुम वेली चैतन्य घन अमृत कन झरनी॥४१—वृ०, ज० प्र०, पृ० १४
तहाँ आनन्द रूपी नवल द्रुम लता—वही, पृ० ४

४—सबै थिर चर सच्चिानन्दमय।—वही, पृ० १०

५—वृन्दावने सामाजिक जे सम्पद्सिन्धु। द्वारक वैकुण्ठ-सम्पद् तार एक विन्दु॥
परमपुरुषोत्तम स्वयं भगवान। कृष्ण जहाँ धनी सेई वृन्दावनधाम॥
चिन्तामणिमयभूमि रत्नेर भवन। चिन्तामणिगण दासी-चरण-भूषण॥
कल्पवृक्षलता जाहाँ सामाजिक वन। पुष्पफल विना केह ना मागे अन्यधन॥
अनन्त कामधेनु जाहाँ चरे वने वने। दुग्धमात्र देन कँह ना मागे अन्यधन॥
सहजलोकेर कथा जाहाँ दिव्यगीत। सहजमन करे नृत्य प्रतीत॥
सर्वत्र जल जाहाँ अमृत-समान। चितानन्द ज्योतिः स्वादु जाहाँ मूर्तिमान॥
—चैतन्य चरितामृत, मध्यलीला (१४वां परिच्छेद), पृ० १६५

उसने यह स्वीकार किया कि उसके जैसी सैकड़ों बादशाहतें उस सीढ़ी के एक कोने में लगे एक रत्न की भी समानता नहीं कर सकतीं।[१]

किन्तु वृन्दावन का वैभव प्रेमरसमय है। वह परमानन्द की क्रीड़ाभूमि है, अतः रस की, शोभा की तथा सुख की, उदधि है, चिदानन्द का रस प्रवाहित करती हुई पृथ्वी पर विराजमान है।[२] रस रीति में प्रवेश करने के लिये भक्तों की यही कामना रहती है कि उन्हें वृन्दावनवास मिले। अन्य स्थानों में रहकर भक्ति सुलभ नहीं होती, वृन्दावन में रहकर स्वार्थी व्यक्ति भी परा-भक्ति की ओर ढलने लगता है।[३] वहाँ की सारी प्रकृति कृष्णरति देने में तत्पर है। वृन्दावन की द्रुमवेलियाँ कृष्ण प्रेम से सराबोर हैं। वहाँ की समस्त प्रकृति राधाकृष्ण के प्रति प्रेम उपजाने में समर्थ हैं। इसीलिये भक्तों ने यमुना का स्मरण कृपास्वरूपिणी, मोहभञ्जिनी तथा भक्ति-दायिनी कहकर किया है।[४] प्रीतिप्रवण चिदानन्दमय वृन्दावन में निवास रसमार्गी कृष्ण भक्तों का प्रेय है, इसी में उनका श्रेय भी है।[५] किन्तु त्रिगुणातीत लोक में

---

१—श्रीस्वामी जी महाराज का जीवनचरित (केलिमाल की भूमिका), पृ० ६-१०

२—(क) महत महिमा भर्यौ राधिका रांत सदन।
रस उदधि सुख उदधि विपुल सोभा उदधि बहुरि कौतिक उदधि क्यों कहौं इहि बदन।
सुगम पुनि अगम भुव पर सवनि मुकुट मणि दैन सम चहत कवि करी उपमा रदन।
—वृन्दावन जस प्रकास, पृ० ३३

(ख) वृन्दावन हित रुप बन्दि रविजा तटी।
उदधि आनन्द बहै जहाँ अष्ट जाम है॥—वही, पृ० ३४

३—(क) और देश के बसत ही, घटत भजन की बात।
वृंदावन में स्वारथी, उलटि भजन ह्वै जात॥
—वृन्दावनलीला, (ब्यालीस लीली-ध्रुवदास) पृ० १७

(ख) इन सनमुख ही होत विघन सब ना जानौं किहिं और पलाइक।
कृपा स्वरूप दीन जन पोषक वरदातनि मैं ये बड़ा नाइक॥
—वृन्दावन जसप्रकास, (हितवृन्दावनदास) पृ० २८

४—(क) वहन्तिकां श्रियां हरेर्मुदाकृपा-स्वरूपिणीं, विशुद्ध भक्तिमुज्वलां परे रसात्मिकां विदुः।
सुधा श्रुतित्वलौकिकीं परेश-वर्ण-रूपिणीं, भजे कलिन्द-नन्दिनीं दुरन्त मोह-भञ्जिनीम्॥
—हितहरिवंश, यमुनाष्टक, श्लोक ५

(ख) ममास्तु तव सन्निधौ तनुनवत्वमेतावता न दुर्लभतमा रतिर्मुररिपौ मुकुन्दप्रिये।
अतोऽस्तु तव लालना सुरधुनी परं संगमा त्तवैव भुवि कीर्तिता न तु कदापि पुष्टिस्थितैः॥
—यमुनाष्ट, श्लोक ७-(वल्लभाचार्य षोडश-ग्रन्थ)

५—मन लगाय प्रीति कीजे करकरवासों ब्रजबीथिन दीजे सोहनी
वृन्दावन सों वन उपवन सों गुंजमाल हाथ पोहनी॥
गौ गौं सुतनसों मृगी मृग सुतनसों, और तन नेकु न जोहनी
हरिदास के स्वामी श्यामा कुंजबिहारी ज्यों सिर पर दोहनी॥
—स्वामीहरिदास सिद्धान्त के पद, पद सं० १२

त्रिगुणमय देह से रह सकना सहज नहीं है, यह वृन्दावन के अधिष्ठातृ देवता की कृपा से ही सम्भव हो पाता है, तभी उसका अप्राकृतस्वरूप भी प्रकट होता है ?[१] केवल मनुष्य ही नहीं देवतागण भी परम ब्रह्म के धाम में रहने के लिये लालायित रहते हैं। ब्रह्मा तक श्रीकृष्ण से यही प्रार्थना करते हैं कि उन्हें वृन्दागनवास मिले, चाहे वह अचर ही क्यों न कर दिये जाँय।[२]

कहीं-कहीं पर वृन्दावन का योगपरक सङ्केत दिया गया है। वृन्दावन चेतना की वह स्थिति है जो 'शून्य' से भी महत है। सगुण ब्रह्म का यह लोक-निर्गुण से अधिक ऊर्ध्व का चेतना-लोक है।[३] वृन्दावन निष्क्रिय समाधि की चेतना नहीं है, वह समाधि की सक्रिय चेतना है जहाँ पुरुषोत्तम की सतत लीला चलती है। अष्टदल कमल पर अष्टसखियों का वर्णन एवं कर्णिका में राधाकृष्ण का निवास योगपरक अनुभूतियों से साम्य रखता है।

वस्तुतः कृष्ण भक्तों का यह विश्वास है कि पुरुषोत्तम की चेतना उनके धाम के जल, वायु और आकाश आदि पञ्चभूतों में भी व्याप्त रहती है। पुरुषोत्तम अपनी परम चेतना से उस दिव्य भूमि-खण्ड विशेष को परिवेष्टित कर देते हैं। अस्तु क्लिष्ट साधन से प्राप्य भाव-दशा उसके भौमिक वातावरण के सेवन से अनायास ही प्राप्त हो जाती है। भूमि में स्थित वृन्दावन की चेतना और परमव्योम के ऊपर स्थित

---

१—तीन गुनिन हू तें परें तुव धामकहावैं। गुनिन रचित यह देह किहि विधि रहि आवैं॥
कुंवरि कृपा जो प्रेरिकै मन रुचि उपजावैं। अति दुर्लभ वृन्दाटवी तव रूप दिखावैं॥
—वृन्दावन, जसप्रकाश, पृ० १५

२—करहु मोहिं ब्रज रेनु देहु वृन्दावन वासा।
मागौं यहै प्रसाद और मेरैं नहिं आसा॥
जोइ भावै सोइ करहु तुम, लता सिला द्रुम गेहु।
ग्वाल गाइ को भृत करौ, मानि सत्य व्रत एहु।
जो दरसन नर नाग अमर सुरपतिहुँ न पायो।
खोजत जुग गयौ बीति अंत मोहूँ न लखायौ॥
इहि ब्रज यह रस नित्य है, मैं अब समुझ्यो आइ।—सूरसागर, पद सं० ११९०

३—अखिल ब्रह्मांड वैराट के थाट सब महावैराट के रोम के कूप।
सावकासैं उड़त रहत नित सहजहीं परमेश्वर्य आश्चर्य मय रूप॥
सो प्रथम एकहीं शून्य मधि रमि रह्यो जैसे त्रिसरेनु के रेनु सत अंश।
याते दस-दसगुनो सहस्र सत शून्य पुनि तिनते लखसहस्र महाशून्स अवतंस
तिन महाशून्य के। शिखर पर तेज को कोटि गुनते गुनौ अमित विस्तार।
तहाँ निजधाम वृन्दाविपिन जगमगे दिव्य वैभवन को दिव्य आगारा॥ १०॥
—सिद्धान्तसुख, महावाणी।

वृन्दावन की चेतना में तात्विक कोई अन्तर नहीं है, दोनों एक ही हैं।[१] अन्तर इतना है कि एक कष्टसाध्य है, अन्य अयत्नज—प्रसादजनित, आयासहीन।[२]

लीला

श्रीकृष्ण पूर्णप्रकाम हैं, स्वयं आनन्दमय हैं, किन्तु आत्मक्रीड़ा से प्रेरित होकर वह एक से अनेक होते हैं। 'एकोऽहं बहुस्याम' के अनुसार वह अपना आत्मप्रसारण करते हैं। इस प्रसारण में विभाजन नहीं होता, वही एक अनेक बन जाता है और अनेक होकर भी एक बना रहता है। एक से अनेक होने में अद्वय-तत्त्व के पूर्णता की किञ्चित् भी हानि नहीं होती, वह निरवद्य अखण्डित रहता है। विभाजन तो रमण के लिये आवश्यक है किन्तु पूर्ण सदैव पूर्ण ही बना रहता है।[३] इच्छा करने पर भगवान् अपनी शक्ति के आश्रय से एक से अनेक होकर वैचित्र्य में रमण करते हैं और इच्छा करने पर अपनी समस्त प्रतिमूर्तियों को अपने में समाहित कर आत्मलीन हो जाते हैं। यह रमणेच्छा उनकी लीला कहलाती है। इस लीला का कोई प्रयोजन नहीं है। लीला ही लीला का प्रयोजन है, इतर कोई उद्देश्य इसमें नहीं है। वल्लभाचार्य जी के शब्दों में "न हि लीलायाम्किञ्चित् प्रयोजनमस्ति। लीलाया एव प्रयोजनत्वात्।"[४] इस लीला का उद्देश्य लीला अर्थात् पुरुषोत्तम की आत्मक्रीड़ा है। इसके उद्देश्य में अर्थ-धर्म-काम तो बाधित हैं ही, मोक्ष भी बाधित हो जाता है। लीला, लीला के लिये है, आनन्द, आनन्द के लिये हैं, प्रेम स्वयं में पूर्ण है, लीला का आनन्द स्वयं में पूर्ण है, इनमें किसी इतर उद्देश्य की गुन्जाइश नहीं है।

लीला की इसी निर्हेतुक भावना की सर्वमान्यता होने के कारण इन कृष्ण-भक्ति सम्प्रदायों में मुक्ति का कोई मूल्य नहीं है। लीला की मुक्ति के आधारस्वरूप ही भक्त का अविद्या के बन्धनों से मुक्त होना आवश्यक है, अन्यथा मुक्ति स्वयं में तुच्छ एवं नगण्य है। कृष्ण की उपासना मे कृष्ण-सेवा के अतिरिक्त आत्म-सुख की कोई वान्छा नहीं रखी जाती। मुक्ति एक प्रकार से आत्मसुख ही है, चाहे वह कितने उदात्त प्रकार

१—परम अलौकिक देखि लोकवत इहि कौतिक कवि। मति लटी।
है भुव पर हरि धाम मुकुट मणि यह अचिरज गति अटपटी॥—वृन्दावन जसप्रकाश, पृ० १८

२—(क) बिनु श्रम जतन जहाँ सब साधन महिमा भक्ति लखावही।—वही, पृ० २१
(ख) वृन्दावन सेवौ विधि भली।
जिहिं प्रसाद उज्ज्वल उर दरसै प्रेम भक्ति भावनि फली।
सघन द्रुमनि कौ छांह रही परि त्रिविध पवन आवै चली॥—वही, पृ० २३

३—एकै आप अनेक ह्वै, ह्वै अनेक ते एक।
आदि मध्य अवसान में रमि रहे एकाएक॥१६॥—सिद्धान्त सुख, महावाणी

४—अणुभाष्य, द्वितीय अध्याय, प्रथम पाद, सूत्र ३३।

का क्यों न हो ! यों सालोक्य, सामीप्य, सायुज्य और सारूप्य मुक्तियाँ भगवत्कृपा से कृष्ण-भक्तों को अनायास उपलब्ध हो सकती हैं, वे तो भक्त की दासियाँ बनने में अपने को कृतकृत्य समझती हैं, किन्तु भक्त को मुक्ति से कोई प्रयोजन नहीं। वह तो लीला-रस का अभिलाषी है, इसलिये वृन्दावन की लीलास्थली में 'चूहरी' तक मुक्ति को ठुकराकर मोक्ष के प्रति अनादर प्रकट करती है, भक्ति के गन्धमात्र से मुक्तिसुख की वाञ्छा छूट जाती है।[१] वास्तव में मुक्ति को बिना ठुकराये लीला में प्रवेश सम्भव नहीं है। मुक्ति में आत्म-विलय हो जाता है किन्तु लीला में वैचित्र्य के हेतु आत्म की पृथक् सत्ता आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। फिर मुक्ति तो एक प्रकार की अहम्मन्यता ही है। भक्त केवल भगवान् श्रीकृष्ण की प्रीति सम्पादित करता है, इसलिये कृष्ण की इच्छा यदि रमण करने की है तो भक्त उससे विमुख क्यों हो ? मुक्ति में देह-मन-प्राण को छोड़कर आत्मविलयन के स्वसुख की कामना है, लीला में प्रेम की, आकृष्ण-सुख की। यदि भगवान् में लय हो जाना ही आत्म-विभाजन का अन्तिम उद्देश्य था तो उसने अपने से जीवों को पृथक् ही क्यों किया ? अभेद की अवस्था में तो जीव ब्रह्म से एकाकार था ही, युक्त होकर मुक्त ही था। फिर जो असीम के द्वारा जीवात्मा इतने बन्धनों में बाँधी गयी, वह क्या पुनः अपनी पूर्वस्थिति को प्राप्त करने के लिये ? यह पुनरावृत्ति कितनी नासमझी लगती है। सच्चिदानन्द के पूर्ण ज्ञान में यह विवेकहीन चेष्टा असम्भव है। वस्तुतः उसने अपनी अन्तर्लीन सत्ता का आत्मनिक्षेप करके उसे बाहर भी देखना चाहा, एकता को अनेकरूपता में विकीर्ण करके उनमें अपना अनुभव करना चाहा। आत्मसङ्कोचन में ही आनन्द का आस्वादन न करके आत्मविस्तार में भी अपना रस लेना चाहा। यही सृष्टि का हेतु है, यही पुरुषोत्तम की शक्ति की क्रीड़ा है और उसकी वैचित्र्य-सम्पन्नता है।

इसीलिये श्री वल्लभाचार्य जी ने लीला की अनुवर्तिनी एक पाँचवीं प्रकार की मुक्ति की अभिभावना की है जिसे उन्होंने 'सायुज्य-अनुरूपा' कहा है और शेष चारों प्रकार की मुक्तियों से श्रेष्ठ ठहराया है, क्योंकि अन्य मुक्तियाँ केवल संयोगात्मक होती हैं किन्तु यह संयोगात्मक-वियोगात्मक दोनों है। इसे 'स्वरूपानन्द' या 'लीलाप्रवेश' कहते हैं। मुक्तियाँ लयात्मक होती हैं, इसलिये उनमें लीला का परिपाक नहीं होता, सत्ता का वैचित्र्य आत्मानन्द में छूट जाता है। ब्रह्मानन्द में

---

१—(क) वृन्दावन की चूहरी हू, चली मुक्ति ठुकराय।—सुधर्मबोधिनी, पृ० ५१

(ख) भक्ति सुख मुक्तिसिद्धि छाड़ाय जार गन्धे।
अलौकिक शक्तिगुणे कृष्ण कृपाय बान्धे॥

—चै० च० मध्यलीला (चौबीसवाँ परिच्छेद) पृ० २८१

केवल आत्मा प्रवेश पाती है, अन्तःकरण, इन्द्रियाँ आदि नहीं।[१] किन्तु भजनानन्द में इन सब को प्रवेशाधिकार मिलता है, भगवान् की चमत्कारमयी पूर्णता में ये चिदानन्द-सूर्य की किरणें हैं। पुरुषोत्तम के सान्द्र आनन्द-पारावार में ये ऊर्मियों का कल्लोल बनते हैं, चिच्छक्ति का वैचित्र्य-विलास इनमें भी उमड़ता है। इसलिये भक्त दिव्य-देह पाकर कृष्ण में रमण करना चाहता है, लीला-रस का उपभोग करना चाहता है। तटस्थ निर्लेप ब्रह्म से उसे कोई प्रयोजन नहीं है, वह तो ब्रह्म में लिप्त होना चाहता है, उन्हें लिप्त करना चाहता है, अतः उन्हें आकर्षित करना चाहता है। गुणमय जीव निर्गुण के गुणों के प्रति आकृष्ट होता है।[२] यह आकर्षण लीला या आनन्द के लिये अनिवार्य है। आनन्द का विलास भेदाभेद के सापेक्ष ऐक्य में वैचित्र्य धारण करता है, इसलिये कृष्णलीला में जीव और भगवान् की सायुज्यावस्था होते हुए भी इनका तारतम्य-सम्बन्ध बना रहता है, अभेद नहीं। अभेद होने से विलास की तीव्रता निरपेक्ष-अन्तर्लीनता में परिणत होने लगती है, इसीलिये पुरुषोत्तम में अवस्थित रहकर भी उनसे भेद बना रहे, भेदाभेद रहे, यही कृष्ण भक्ति सम्प्रदायों की साधना का लक्ष्य है। लीलाप्रवेश एकमात्र श्रीकृष्ण की कृपा से सम्भव है, जीव के निभृत पुरुषार्थ से नहीं। लीला में प्रवेश करने के लिये अविद्या का नाश आवश्यक है, इसलिये जीव, कृष्ण के अनुग्रह से सद्योमुक्ति (बिना ज्ञान कर्म आदि के) पाकर लीला में प्रवेश करता है। श्रीकृष्ण की अपने परिकरों के साथ यह लीला कई भावों के आश्रय से चलती है जिनका विवेचन रस के अध्यायों में किया गया है।

---

१—ब्रह्मानन्दे प्रविष्टानामात्मनैव सुखप्रभा। संघातस्यविलीनत्वाद् भक्तानां तु विशेषतः।५३।
सर्वेन्द्रियैस्तथा चान्तःकरणैरात्मनामपि हि। ब्रह्मभावात्तु भक्तानां गृहमेवविशिष्यते।।५४।।
—तत्वदीप निबन्ध, शास्त्रार्थ प्रकरण

२—भक्तिर स्वभाव ब्रह्म करे आकर्षण। दिव्य देह कराय कृष्णेर भजन।।
भक्तदेह पाइले हय गुणेर स्मरण। गुणाकृष्ट हैया करे निर्मल भजन।।
—चै० च० मध्यलीला, (चौबीसवाँ परि०), पृ० २८५

# भक्ति

## भक्ति का दार्शनिक आधार

जड़-जीवन एवं मन से परिवेष्टित सृष्टि का उत्स एक महत् अपरिसीम आनन्द है, जो इसका अप्रतिहत सञ्चालन कर रहा है और जगत् की क्षार गतियों के बीच भी जीव को उस उत्स की ओर प्रेरित कर रहा है जहाँ से उसका उद्गम है। प्रत्येक व्यक्ति अखण्ड सुख की वाञ्छा करता है। यह वाञ्छा ईश्वर प्रेरित है क्योंकि श्रीमद् वल्लभाचार्य के अनुसार प्रत्येक जीव में, ( सृष्टि के प्रत्येक तत्त्व में ) आनन्दांश-प्रधान अन्तर्यामी अनुप्रविष्ट होकर उसका सञ्चालन कर रहा है। आनन्द की यह पिपासा जीवमात्र में स्वभावज है क्योंकि अंश में अंशी का गुण विद्यमान है। अवश्य ही वह अपने मूलस्वरूप में अभिव्यक्त नहीं हो पाती क्योंकि जीव में अहंकार का आवरण आ जाता है। फिर भी आनन्द की खोज तो है ही। सारी सृष्टि इस व्यापक परमानन्द के आकर्षण में बँधी है। ब्रह्म जो स्वयं पूर्ण-स्वतन्त्र एवं मुक्त है, अपनी समस्त गतियों का स्वामी है, अतः किसी माया से अनुप्राणित नहीं है। वह जो अपनी अखण्ड एकता को नानारूपता देता है यह क्यों ? इसका केवल एक ही उत्तर है—आनन्द के लिये। पूर्णप्रकाम के आत्म-रमण की प्रेरणा केवलमात्र आनन्द ही है। लीला ही लीला का प्रयोजन है।

सृष्टि के जिस सूत्रधार को वेदान्तियों ने केवल सत् के रूप में देखा, जिसकी अनुभूति उपनिषद्कारों ने निराकार सच्चिदानन्द के रूप में की, वही कृष्णभक्ति-धारा में परमानन्द श्रीकृष्ण के विग्रह में घनीभूत होकर प्रकट हुआ। कृष्णभक्तों का अनादि सत्य निराकार असीम नहीं जिसकी यावत् सृष्टि में कोई वास्तविक रुचि नहीं है और न ही श्रीकृष्ण की आत्मशक्ति असत् है, जो संसार के मिथ्या-भ्रम को जन्म दे। वह सत्ता एक सक्रिय सत्ता है जिसकी शक्ति का मूलस्वभाव ही चेतानन्द है, ह्लादक है। जो असीम है, उसमें आनन्द अनिवार्य है क्योंकि सारा निरानन्द सीमाजन्य होता है। सीमा का आ जाना असन्तोष का कारण बनता है। बाधा कि वा सीमा के अतिक्रमण पर ही आत्मतुष्टि मिल पाती है। तत्वतः पूर्ण होने के कारण जीव अपनी आत्मपूर्णता का खोजी है, वह अपनी इस पूर्णता का अधिकारी भी है क्योंकि अणु की सत्ता विभु से स्वतन्त्र है ही नहीं। जिस मात्रा में खण्ड, पूर्ण को, ससीम, असीम को छू लेता है उस मात्रा में वह आत्मतुष्टि लाभ करता है, आनन्द की ओर प्रगति करता है। आत्मोपलब्धि का दूसरा नाम आनन्द है।

यह आनन्द है क्या ? इसका स्वरूप क्या है जिसको पाकर व्यक्ति पूर्ण तृप्त हो जाता है। यह निश्चित है कि इस आनन्द को हम मानवीय सुख से एकाकार नहीं कर सकते, क्योंकि यदि ऐसा होता तो व्यक्ति को सुख के क्रम में दुःख न मिलता। सुख के क्रम में दुःख अवश्यम्भावी है, सुख-दुःख के द्वन्द्वात्मक अनुभव निरन्तर साथ लगे रहते हैं, किन्तु आनन्द एक ऐसा अनुभव है जो आत्मपरिपूर्ण है, एकरस है। सत्ता का आनन्द आत्म-स्थित (self-existent) एवं वस्तु-निरपेक्ष है। सृष्टिव्यापी आनन्द मानव के संवेगात्मक, स्नायविक हर्ष-सुख से भिन्न एक मूलभूत बृहत्तर तत्त्व है जिसका केन्द्र आत्मा है, मनुष्य की वाह्यचेतना नहीं। वाह्यचेतना में प्रतिविम्बित होकर वही निरपेक्ष आनन्द सापेक्ष हो उठता है और हर्ष, विषाद, तटस्थता—इन तीन चल अनुभूतियों का रूप धारण करता है। सुख, हर्ष, उल्लास आदि जिन्हें हम आनन्द का पर्याय समझते हैं, ये सब अवसरजन्य हैं एवं दुःख-विषाद आदि की भाँति ही सकारण एवं सापेक्ष्य हैं। सत् का आनन्द चित् की निर्द्वन्द्व स्थिति में निवास करता है, वह न तो अवसरजन्य है, न किन्हीं कारणों पर निर्भर। वस्तुतः सुख-दुःख आदि उस आनन्द की विकलाङ्ग प्रतिच्छायाएँ हैं। जब सत् का आनन्द सम्भूति में अपनी उपलब्धि करना चाहता है, जब अक्षर आनन्द क्षर में भी अपना प्रतिविम्ब देखता है तब वह व्यक्ति में अहं की सीमा से बाधित होकर सुख-दुःख के रूप में अनुभूत होता है। यदि अहं की बाधा टूट जाय तो क्षर में भी अक्षर मूलरूप में प्रतिविम्बित हो जाय। यह सत्य है कि अंशी अंश में, असीम ससीम में अपना प्रतिविम्ब देखना चाहता है, सच्चिदानन्द श्रीकृष्ण जीव के देह-मन-प्राण की चेतना में भी अपने पूर्णानन्द का आस्वादन करना चाहते हैं। तत्वतः जीवात्मा सच्चिदानन्द से एक होने के कारण आनन्दरूपी तो है, किन्तु तत्वतः ही नहीं, वाह्यतः भी वह उसे अपने समकक्ष बनाना चाहता है :—

> कमल नैन करुनामय, सुन्दर नन्द-सुवन हरि।
> रच्यौ चहत रस रास, इनहिं अपनी समसरि करि ॥[१]

श्रीकृष्ण का आनन्द किंवा आत्मानन्द व्यक्ति की वाह्य-चेतना से आच्छादित रहता है, अहंता एवं ममताजन्य कामनाओं से आवृत हो जाता है। निर्विकार आनन्द एषणाओं के प्रसार के कारण तिरोहित होकर व्यक्ति के अतिचेतन में निवास करता है और उसकी चेतन-सत्ता में व्यक्त होने की प्रतीक्षा करता है। जब तक कामनाओं का साम्राज्य ध्वंस नहीं हो जाता तब तक आनन्द प्रच्छन्न रहता है। सारी कामनाएं अहंकारजन्य हैं, अतः अहंकार का आत्मा रूप बनना, आनन्द को पा लेना है। दूसरे

१—सिद्धान्तपञ्चाध्यायी, नन्ददास, पंक्ति-क्रम १२५, पृ० १८६।

शब्दों में जब जीव मायासंवलित अहं को छोड़कर स्वरूपशक्ति राधा का सारूप्य प्राप्त कर लेता है, तभी वह परमानन्द श्रीकृष्ण को पाता है। जीव का मूलस्वरूप निष्काम किंवा आत्म-प्रकाश है, अतः उसमें एषणाओं का स्थान नहीं है। सुख-दुःख आदि अनुभव अज्ञान के उपज हैं। जब जीव में स्वरूप या ह्लादिनी शक्ति आत्म-प्रकाश करती है तब उसका मायाजन्य अन्धकार नष्ट हो जाता है और वह अहंता-ममता से परिचालित दुःख-सुख को छोड़कर अखण्ड आनन्दस्वरूप श्रीकृष्ण की ओर धावित होता है। विशुद्ध आनन्द का आकर्षण उसे आनन्द की भ्रान्तियों से विमुक्त कर देता है। स्वरूपशक्ति अथवा ह्लादिनी शक्ति ही इस आकर्षण को उत्पन्न करती है। वही विशुद्ध आनन्द की अभीप्सा जागृत करती है। आनन्द की यह अभीप्सा प्रेम कहलाती है।[1] यही प्रेम भक्ति में ग्राह्य है। ह्लादिनी का सार प्रेम है और प्रेम का सार भाव, भावपरक भक्ति ही कृष्णभक्ति की विशिष्ट देन है। प्रेम, आनन्द की पुञ्जीभूत किरण है, यह आत्मा का नित्यगुण है। भट्ट रमानाथ जी शास्त्री के शब्दों में "उस आनन्दरूप आत्मा का ही विशुद्ध धर्म या किरण जब मन के द्वारा अन्तर प्रकट होता है तब वह स्नेह किंवा प्रेम कहलाता है।" वास्तव में यह स्नेह आनन्द का ही धर्मान्तर होने से आत्मधर्म है।[2]

## भक्ति का मनोविज्ञान

आनन्द की यह खोज आत्मचेतन मानव में अधिक जागरूक हो उठती है। प्रेम उसी आनन्द को पाने का प्रबलतम साधन है किन्तु देह-मन-प्राण के विकारों से ग्रस्त होने के कारण आत्मा का धर्म मानव की वाह्य सत्ता में प्रकट नहीं हो पाता। अहन्ता एवं ममता से परिचालित मानव-प्रेम देह एवं प्राण की कामनाओं किंवा अधिक-से-अधिक मानसिक आदान-प्रदान में उलझकर रह जाता है। जहाँ प्रेम अपने अनाविल रूप में प्रकट नहीं हो पाता वहाँ आनन्द भी नहीं रह सकता। प्रेम आत्यन्तिक रूप से दुःख की निवृत्ति चाहता है, दूसरे शब्दों में आनन्द की खोज करता है। प्रीतिसन्दर्भ में कहा गया है कि पुरुष का प्रयोजन सुख प्राप्ति एवं दुःखनिवृत्ति है। भगवत्प्रेम में ही आत्यन्तिक सुख है। अन्य आश्रयों से प्राप्त सुख कदापि सत्य नहीं हो सकता क्योंकि वह नित्य नहीं है, जो सत्य है वही नित्य है। अतएव अन्य प्रेम अफुरन्त न होने के कारण अनिवार्यतः दुःख में परिणत होता है, आनन्द का निषेधक बनता है। केवलमात्र भगवान् नित्य परमानन्द स्वरूप हैं, अतः भगवान् के प्रति उन्मुख प्रेम

---

१—ह्लादिनी सार प्रेम प्रेमसार भाव।
भावेर परमकाष्ठा नाम महाभाव॥—चैतन्यचरितामृत, आदि लीला, चतुर्थ परि०, पृ० २१

२—भक्ति और प्रपत्ति का स्वरूपगत भेद, पृ० ३।

ही नित्य आनन्दस्वरूप हो सकता है, उसी में दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति सम्भव है। परमात्मा में लीन होकर, अज्ञान की वृत्तियों के स्तब्ध होने पर योगी जिस निश्चल, नीरव आनन्द का अनुभव करता है उससे भी बढ़कर आनन्द का अनुभव भक्त, पुरुषोत्तम में स्थित होकर करता है। भगवान् में देह-मन-प्राण का अज्ञान स्तब्ध नहीं, रूपान्तरित होकर आनन्द का उपकरण बन जाता है। अतएव भक्त की भाव-समाधि सक्रिय होती है, उसमें लीला की अनुभूति होती है। भगवान् के प्रेम में ब्रह्मानन्द के प्रशान्त सागर के बीच लीला की लहरों का विलास उच्छलित होता है, अतएव भगवान्मूर्ति श्रीकृष्ण ही प्रेम के परम आधार हैं।

प्रश्न हो सकता है कि जीव में भी तो भगवान् का अंश रहता है, अतएव एक प्राणी का दूसरे प्राणी से स्नेह अपर्याप्त क्यों है? यह सत्य है कि जीव-जीव परस्पर प्रीति करते हैं किन्तु यह भी सत्य है कि कोई किसी की प्रीति का विषय नहीं बन पाता। शैशव से यौवन तक और बाद में भी, प्रीति के आधार परिवर्तित होते रहते हैं। प्रीति सुखस्वरूपा है, वह अखण्ड सुखात्मक वस्तु चाहती है। जीव स्वरूपतः आनन्द वस्तु होने पर भी अणु-आनन्द मात्र है। वह अणु-आनन्द भी व्यक्ति की बहिर्चेतना के दुर्भेद्य आवरणों में स्थित है। आवरणकारिणी माया के विकार के कारण कोई भी स्वरूपगत आनन्द के निकट नहीं पहुँच पाता। अतएव त्रितापग्रस्त जीव को चाह कर भी कोई सुखी नहीं हो पाता। प्रीति चाहती है अनावृत्त आनन्द। जीव के आवरण को भेद कर उसके स्वरूप को पकड़ पाने पर भी पूर्णतृप्ति नहीं मिल सकती, क्योंकि जीव में आनन्द का परिमाण अत्यन्त कियत् है, अणुमात्र है। इसीलिये जीव क्रमशः प्रीति के विषयों का परित्याग करता हुआ निरन्तर नूतन प्रीत्यास्पद के सन्धान में व्याकुल रहता है। शैशव में जननी, बाल्य में सखा, यौवन में प्रेयसी तथा उसके पश्चात् और भी नूतनतर प्रिय के सन्धान में धावित होना दिखाई पड़ता है। अतएव जब सभी प्रीति के विषय का अनुसन्धान कर रहे हैं, तब यह बोध होता है कि कोई भी किसी की प्रीति का विषय नहीं हो सकता। फिर भी आश्रय की खोज तो रहती ही है। प्रीति के एक विषय, एक आधार और हैं जिन्हें जीव ने अभी तक पाया नहीं है—वे हैं श्री भगवान्। भगवान् ही यथार्थ प्रीति के विषय हैं। उनमें अनावृत अस्फुरन्त सुख है, आनन्द है। इसीलिये प्रीति का पर्यवसान भगवान् में ही होता है।[१]

---

१—सर्वे हि प्राणिनः प्रीतितात्पर्यका एव तदर्थमात्मव्ययादेरपि दर्शनात्। किन्तु योग्यविषयमलब्ध्वा तैस्तत्र-तत्र स परिवर्त्यते। अतः सर्वैरेव योग्यतद्विषयेऽन्वेष्टुमिष्टे सति श्रीभगवत्येव तस्याः पर्यवसानं स्यादिति।—प्रीतिसन्दर्भ, पृ० ४१-४२

यह भगवत्प्रेम आत्मा का नित्यगुण है, अंश का अंशी के प्रति, खण्ड का पूर्ण के प्रति साग्रह अनुधावन। यद्यपि कुछ काल तक जीव अन्य समान जीव में अनुरक्त रह सकता है किन्तु अन्ततः अपने स्वरूप से प्रेरित होकर वह भगवान् में ही शाश्वत प्रेम और आनन्द का रसास्वादन करता है। कुछ काल तक जीव मित्र तथा पत्नी आदि को परमात्म अंश के कारण स्नेह कर सकता है, जैसा कि याज्ञवल्क्य ने कहा है कि वे स्वयं अपने कारण प्रिय नहीं हैं वरन् उनमें स्थित परम-आत्म के कारण प्रिय हैं, किन्तु सम्पूर्ण की खोजी आत्मा खण्ड में प्रतिच्छायित पूर्णता को त्यागकर पूर्णता को उसके स्वरूपगत आधार में खोजेगी। आत्मा, परमात्मा को उसी के स्वरूप में खोजती है न कि पत्नी तथा मित्र आदि के मानवीय आधार में। सत्यान्वेषी आत्मा सत्य को पाना चाहती है, सत्य के किसी टुकड़े को नहीं, सत्य की किसी सुदूर कल्पना से वह तृप्त नहीं हो सकती। किसी भी रूप में सही, याज्ञवल्क्य ने यह स्वीकार किया है कि पत्नी एवं मित्र आदि प्रीत्यास्पद नहीं है, वरन् उनमें निहित 'परम-आत्मा' है। इसी से मिलता-जुलता एक तर्क यह है कि व्यक्ति की अपूर्णता के कारण हम उसके साक्षात् स्वरूप से प्रेम नहीं करते वरन् उसके अन्दर निहित भविष्यत् दिव्यता की कल्पना के कारण उससे प्रेम करते हैं। जो भी हो, प्रेम में दिव्यता का आग्रह परोक्ष रूप से विद्यमान रहता है। भक्त में यह आग्रह परोक्ष न होकर प्रत्यक्ष होता है, वह भगवान् के अभिव्यक्त स्वरूप में ही आत्मतुष्टि लाभ करता है।[१]

भक्ति उस परमप्रेमास्पद को निकटतम लाने का सहजतम साधन है। ज्ञान की ऊँचाइयों तक पहुँचकर भगवत्साक्षात्कार करना सर्वसाधारण की दुर्बल शक्ति के लिये सुकर नहीं है, कर्म में कर्त्तापन का अभाव या संन्यास उसे नीरस प्रतीत हो सकता है, किन्तु प्रेम की अतल तरलता में डूबकर अहं के खो जाने पर भगवान् को छू पाना अपेक्षाकृत आसान है। प्रेम का मार्ग आकर्षक भी है। कृष्णभक्ति सम्प्रदायों

---

१—In any case there seems to be here an avowal that it is not the human being ( What he now is ) but Divine or a portion of the Divine within ( call it God if you will or call it Absolute ) that is the object of the love. But the mystic would not be satisfied like McTaggart with that 'will be'—would not consent to remain in love with the finite for the sake of an unrealized Infinite. He would insist on pushing towards full realisation, towards finding the divine in Itself or the divine Manifest, he would not rest satisfied with the divine unconscious of itself, unmanifested or only distantly in posse" Sri Aurobindo 'Letters', IInd-Series, P. 275

ने प्रेम को ही साधन माना है और इसे ही साध्य भी। प्रेम सारी चेतना का शिरोमणि है, सत्ता की आत्मपरिपूर्णता का पथ है। इसके द्वारा आत्मा, आत्मोपलब्धि की गहनता, आह्लाद एवं सम्पूर्णता को प्राप्त कर लेती है। प्रेम, विभाजन के क्लेश से ऐक्य के आनन्द में पहुँचाता है, अतः भगवान् की ओर प्रेम सहित अभिमुख होना सर्वाधिक आध्यात्मिक पूर्ति के लिये अपने को तैयार करना है। मनुष्य में प्रेम, संवेग के रूप में अधिक व्यक्त होता है। उसे जीवन में लिप्त करने वाला आकर्षण प्रमुखतः संवेग का ही होता है। संवेग से ही जीवन को गति मिलती है, किन्तु दुःख का कारण भी वही होता है। यदि संवेग की धारा को भगवान् की ओर मोड़ दिया जाय तो व्यक्ति की चेतना में दिव्य परिवर्तन आ जाय। कृष्णभक्ति इन्हीं संवेगों को भगवान् श्रीकृष्ण में नियोजित करती है, अतएव इसकी साधना में आवेग है, गति है। कृष्णभक्ति में सारे मानवीय मनोरागों के साथ पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण से सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। भक्त का यह विश्वास है कि जिस प्रकार वह भगवान् का आवाहन करता है उसी प्रकार भगवान् उसे प्रत्युत्तर देता है। जिस प्रकार भक्त भगवान् में आनन्द लेता है उसी प्रकार भगवान् भी भक्त में आनन्द लेता है—'येयथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।' जो भी रूप गुण भक्त भगवान् को प्रदान करता है उन्हें स्वीकार करता हुआ वह उसके क्षीण प्रयास को सबल बनाता है और उसका निरन्तर प्रत्युत्तर देता हुआ अन्त में भक्त को अपना स्वरूप दे डालता है, अपने से एकाकार कर लेता है। परमऐक्य की, भगवान् से तदाकारता की, अनुभूति भक्ति से ही शक्य है। प्रेम ऐसा संवेग है जो नितान्त निःस्वार्थ एवं आत्मपरिपूर्ण है, अपने अतिरिक्त इसमें और किसी प्रयोजन की आवश्यकता नहीं है। प्रेमभक्ति के माध्यम से व्यक्ति-दिव्य-चेतना के आत्मानन्द में सीधे प्रवेश कर जाता है। यह दिव्य-प्रेम ही मूलभूत आनन्द की उपलब्धि है, उसका साकार विग्रह है।

## प्रेमाभक्ति का स्वरूप

किन्तु जिस प्रकार विशुद्ध आनन्द की अनुभूति मानव की बहिश्चेतना से सम्भव नहीं है, उसी प्रकार भगवदोन्मुख प्रेम किंवा भक्ति मानव-कल्पना की पहुँच से परे है। यद्यपि कृष्णप्रेम मानवीय रूप धारण करके जनसाधारण के सम्मुख उपस्थित हुआ, किन्तु उसकी भावगरिमा चेतना के अत्यन्त उच्च धरातल की वस्तु है। सत्व, रज, तम की वृत्तियों तथा इनकी आसक्तियों से परे कृष्णरति चिदासक्ति है, चिच्छक्ति का विलास है।[१] भक्ति, गुणों से अतीत तो है ही ज्ञान से भी अतीत है। परा-

---

१—गुणाशक्ति सो काम शुभ चिदाशक्ति सो नेह।
चिदाशक्ति तत्सुखसुखी गुणाशक्ति सो देह ॥४७॥—सुधर्मबोधिनी, पृ० ३०

भक्ति धार्मिक भावना भी नहीं है। यह विधिनिषेध से परे आत्मस्थित आनन्द का महास्रोत है। सबके ऊर्ध्व में स्थित रामभक्ति का आसन अत्यन्त ऊँचा है। रास के पूर्व श्रीकृष्ण गोपियों को अर्थ-धर्म आदि का उपदेश देते हैं, वह केवल व्रजदेवियों के शुद्ध प्रेमरस को प्रकट करने के लिये, प्रत्युत्तर में गोपियाँ कहती हैं कि धर्म की उपयोगिता वहीं तक है जहाँ मन का कलुष धुल जाय। मन के निर्मल होने पर बुद्धि निखर उठती है, उसके अविद्या के नाश पर 'विज्ञान' प्रकाशित होता है, इस विज्ञान चेतना के प्रकट होने पर सत्य, ज्ञान तथा आनन्द रूपिणी आत्मा प्रभासित होती है, तब कहीं कृष्ण की पराभक्ति व्यक्त होती है।[१] विज्ञान चेतना में अभिव्यक्त सच्चिदानन्द का यह रस कृष्णभक्ति में मानवीय प्रेम के व्यापारों के रूप में प्रकट हुआ है। यहाँ तक कि उसमें ऐन्द्रिकता का भी समावेश है। बहुधा इस बात पर कटु-आक्षेप किया जाता है कि कृष्णभक्ति में ऐन्द्रियता ( sensuousness ) ही नहीं, ऐन्द्रिकता ( sensuality ) है और उसका होना कृष्णभक्ति की विशेषता है। कृष्णप्रेम वह अतीन्द्रिय रहस्यपरक प्रेम नहीं है जिसमें आत्मा व्यक्तित्व के बाधक अंशों को छोड़कर परमात्मा से मिलने को आतुर रहती है, वह निर्गुण नहीं सगुण प्रेम है। इसलिये व्यक्तित्व के अन्य अंशों को जहाँ का तहाँ न छोड़ कर उन्हें भी कृष्णप्रेम में नियोजित किया जाता है। पुरुषोत्तम की चेतना मात्र ब्रह्मचेतना नहीं है जो सम्भूति से कोई सरोकार नहीं रखता और जीव की देहबद्ध चेतना को एक स्वप्न या भ्रम समझती है। श्रीकृष्ण जब इस देहबद्ध चेतना में अन्तर्यामी रूप से प्रविष्ट हुए तब उसका कोई उद्देश्य भी था। परार्द्ध सच्चिदानन्द अपरार्द्ध देह-मन-प्राण में अभिव्यक्त होना चाहता है अन्यथा श्रीकृष्ण अन्तर्यामी रूप से इनमें प्रविष्ट न होते क्योंकि आत्मा तो परमात्मा से नित्य युक्त है ही। जहाँ आत्मा विच्छिन्न है किंवा जहाँ परमात्मा प्रच्छन्न है, वहाँ भी अपनी अभिव्यक्ति सच्चिदानन्द को काम्य है। श्रीकृष्ण की रुचि लीला में है, इस लीला में आत्मा, परमात्मा में लीन हो कर निष्क्रिय नहीं हो जाती, वह अपने समस्त अवयवों सहित वैचित्र्य का विस्तार करती है। लीला में जीव के

---

१—धरम कर्‌यौ दृढ़ ताकौं, धरमहि रत कोई।
जा धरमहि आचरत, समल मल निरमल होई॥
मन निर्मल भये सुबुधि, तहाँ विग्यान प्रकासै।
सत्य ज्ञान आनन्द, आतमा तब आभासै॥११०॥
तब तुमरी निज प्रेम-भगति-रति अति है आवै।
सौ कहुँ तुम्हरे चरन कमल कौं निकटहिं पावै॥११५॥

—सिद्धान्त पञ्चाध्यायी, नन्ददास, पृ० १८८

प्रत्येक अंश की क्रीड़ा है, इसलिये कृष्णप्रेम में इन्द्रियों का बहिष्कार नहीं, समुन्नयन है, सच्चिदानन्द के संस्पर्श से जड़ता-ग्रस्त इन्द्रियों की भी चिन्मयता साधित होती है। कृष्ण के प्रति प्रेम में ऐन्द्रिकता काम नहीं, प्रेम है। आत्मेन्द्रिय की लिप्सा काम है, किन्तु सच्चिदानन्द की तृप्ति प्रेम है। कृष्णभक्त की इन्द्रियाँ स्वसुख या विषयसुख के हेतु नहीं हैं वे परमानन्दरूपी श्रीकृष्ण, केवल श्रीकृष्ण के आस्वादन हेतु हैं। चैतन्यचरितामृत में कहा गया है—

आत्मेन्द्रिय प्रीति इच्छा तारे बलि काम।
कृष्णेन्द्रिय प्रीति इच्छा धरे प्रेम नाम।

× × ×

कामेर तात्पर्य निज सम्भोग केवल।
कृष्णसुख तात्पर्य हय प्रेम महाबल॥[१]

श्रीकृष्ण केवल निराकार सच्चिदानन्द नहीं हैं, वे सच्चिदानन्द-विग्रह हैं। अतएव यदि भगवद्‌विग्रह की इन्द्रियाँ चिन्मय हैं तो उन्हीं के प्रतिविम्ब उनके भक्तों की इन्द्रियाँ भी आत्मोज्ज्वल हैं, अन्यथा कृष्ण उनमें रमण नहीं कर सकते। वह केवल आत्माराम हैं, अपने में, अपने से सादृश्य-प्राप्त वस्तुओं में ही रमण करते हैं। भक्त सच्चिदानन्द के ही दिव्य अंश हैं।[२]

चिद्रूप इन्द्रियों की चेतना की समानता विषयग्रस्त इन्द्रियों की निम्न चेतना से करना हास्यास्पद है। प्राकृत मानव-चेतना से दिव्य मानव-चेतना का साम्य खोजना जड़बुद्धिवादिता है। ह्लादिनी की अति-प्रवुद्ध चेतना ज्ञाननिष्ठ संवित् से भी ऊँची है। ह्लादिनी में संवित निहित है। कृष्णप्रेम भगवत् साधना की सिद्धि है, प्रेमभक्ति ज्ञान से भी ऊपर है। ज्ञान, भक्ति तथा वैराग्य से व्यक्तित्व का संस्कार हो जाने पर, उसके सुदृढ़ होने पर ही परमानन्द की निविड़ अनुभूति, जिसे मधुर प्रेम कहते हैं, टिक पाती है।[३] वैसे ऐन्द्रिकता के विकारों से ग्रस्त होते हुए भक्ति का गली-गली

---

१—चैतन्यचरितामृत, आदिलीला, चतुर्थ परि०, पृ० २९।

२—जैसेई कृष्ण अखण्ड रूप चिदरूप उदारा।
तैसेई उज्ज्वल रस अखण्ड तिन करि परिवारा॥१८५॥
—सिद्धान्तपञ्चाध्यायी, नन्ददास, पृ० १६१

३—ज्ञानभक्ति वैराग्य विन छुटै न माया फन्द।
छूटे विन भेंटे नहीं पूरन परमानन्द॥१॥
ज्ञान भक्ति वैराग्य सौं पात्र बनाइ पकाइ।
तब निश्चल माधुर्य रस रहै नहीं ठहराइ॥२॥—सुधर्मबोधिनी, पृ० २८

ढिंढोरा पीटने वालों की कमी नहीं है। इस दुःसाध्य प्रेम में शायद ही किसी का शरसन्धान ठीक लग पाता है। यह पराभक्ति अत्यन्त तलवर्ती अन्तश्चेतना है, व्यक्तित्व के वाह्यांगों सहित उसमें डूबना विरल है। कृष्णप्रेम का सागर अत्यन्त गहन है, निराकार का रूपधर्म दुर्वगाह है।[१] लौह जिस प्रकार दग्ध करने में समर्थ नहीं होता उस प्रकार प्राकृत इन्द्रियाँ भी भगवत्साक्षात्कार में समर्थ नहीं होती, अग्नि-तादात्म्यप्राप्त लौह जैसे दहन में समर्थ होता है वैसे भगवान् की स्वरूपशक्ति से तादात्म्य प्राप्त इन्द्रियाँ ही उन्हें अनुभव कर सकती हैं। राधा की कामव्यूह बन कर ही गोपियाँ कृष्ण साक्षात्कार के योग्य हो पाती हैं। शृङ्गारपरक राधाकृष्ण प्रेम का सैद्धान्तिक विवेचन राधावल्लभ सम्प्रदाय में अत्यन्त सूक्ष्मता के साथ किया गया है। कृष्णप्रेम अन्तरतम की अत्यन्त गम्भीर चेतना है जिसमें उच्छ्लता को अधिक महत्व नहीं दिया गया। केलि, भक्ति की प्रारम्भिक दशा समझी जाती है जिसे 'नेम' कहते हैं। वस्तुतः प्रेम एवं कौतुकमय प्रेम किंवा 'नेम' में अन्तर है। भक्तिरसामृतसिन्धु में भक्ति को सान्द्रानन्दविशेषात्मा कह कर उसे ब्रह्मानन्द से प्रगाढ़तर कहा गया है।[२] जब यह सान्द्र प्रेम उत्पन्न होता है तब वहाँ नेम नहीं ठहरता।[३] जिसका आदि और अन्त होता है वह सब नेम है। कोक के विलासादि सब प्रेम के नेम हैं।[४]

जो सदैव एकरस रहता है वह प्रेम है। इस प्रेम की ऐसी गति है कि देह के जितने सुख हैं वे भूल जाते हैं। यह प्रेम अत्यन्त अद्भुत है, इसके एक निमेष पर और सुखों के कोटि कल्प न्योछावर किये जा सकते हैं।[५] जब तक अपने सुख की चाह है तब तक कृष्ण प्रेम असम्भव है। ध्रुवदास की दृढ़ोक्ति है कि कामादि सुख

---

१—प्रेम समुद्र रूप रस गहरे कैसे लागे थाह।
बेकारो दै जान कहावत जान पन्यौ की कहा परी वाट।
काहू को शर सूधौ न परै मारत गाल गली गली हाट,
कह हरिदास जाने ठाकुर विहारी तकत वोट पाट ॥१८॥
—सिद्धान्त के पद (स्वामी हरिदास), पद सं० १८

२—ब्रह्मानन्दो भवेदेषश्चेत् परार्द्धगुणीकृतः।
नेति भक्तिसुखाम्भोधेः परमाणुतुल्यमपि ॥२५॥
—पूर्व विभाग-प्रथम लहरी, भक्तिरसामृतसिन्धु

३—देखो यह रस अति सरस, विरसावत सब नेम हीं।
हित ध्रुवरस की राशि दोउ, दिन विलसत रहे प्रेम ही ॥
—भजनकुण्डलियालीला (व्यासलीला-ध्रुवदास), पृ० ६५

४—सिद्धान्त विचार लीला—(व्यालीसलीला ध्रुवदास), पृ० ४४

५—वही, पृ० ४५-४६

जब स्वार्थ परायण है तब और सुखों की क्या हस्ती—'निमित्य रहित नित्य-प्रेम सहज एकरस श्री किशोरी किशोर जू के हैं और कहूँ नहीं।'[१] यह प्रेम राधाकृष्ण में ही सम्भव है। जब तन-मन की वृत्तियाँ प्रेम में थक जाती हैं तब उन्हें प्रासवत कहा जाता है। इस गहन गम्भीर प्रेम में मान तक की गुञ्जाइश नहीं है। लौकिक दृष्टि में मान प्रेम का पोषक समझा जाता है किन्तु उस अकाम एकरस आनन्दतन्मय कृष्णरति में नहीं। राधावल्लभ मत के अनुसार 'हित' किंवा दिव्य प्रेम आत्मा-परमात्मा के मिलन की वह पूर्णावस्था है जहाँ नेम क्या विरह एवं मान तक का प्रवेश असामञ्जस्य-पूर्ण है। यह 'हित' स्थूलप्रेम नहीं है जिसमें अहं तथा स्वसुख के कारण मान एवं विरह की गुञ्जाइश रहती है, यह आत्मा का मूल स्वभाव के होने कारण निरवद्य आनन्द का अक्षय स्रोत है। यह प्रेम उज्ज्वल, कोमल, स्निग्ध, सरस तथा सदा एकरस है, सहज, स्वच्छन्द, मधुर एवं मादक है। किन्तु इस एकरस प्रेम में स्थूल विरह मान के अभाव में भी 'चाह', 'चटपटी' है, क्षण-क्षण नूतनता का आस्वादन है।[२] वह इसलिए कि यह प्रेम ही विरह रूप है।[३] इस एकरस प्रेम का स्वभाव विरह रूप है, अर्थात् चिरमिलन में भी उत्कटता, चिरनूतनता, विभ्रम-वैचित्र्य तथा दिव्योन्माद बना रहता है। यह प्रेम तीव्रतम है किन्तु अगम भी। जिस पर राधा की कृपा होती है वही इसे समझ सकता है। सारे प्रेम-नेम इस महाप्रेम के साधन हैं। इस पर न और कोई रस है न कोई सुख, और न कोई प्रेम, यह सब रसों का सार है, हेतुरहित है, एकरस, अभङ्ग है।[४] देहगत प्राकृत प्रेम से इसकी तुलना नहीं की जा सकती। इस महाप्रेम के प्रकट होने पर मनुष्य की प्राकृतता विलुप्त होने लगती है। शरीर में जब यह प्रकट हो जाता है तब केलि कौतुक अदृश्य हो जाते हैं।[५] मन की प्रवृत्तियाँ तभी तक विषयोन्मुख रहती हैं जब तक कि भगवत्प्रेम उन्हें आयत्त नहीं कर लेता। विषय के लालच को प्रेम नहीं कहा जा सकता। इस प्रेम की तुलना में

---

१—सिद्धान्त विचार लीला (ब्यालीसलीला ध्रुवदास), पृ० ४६-४७

२—प्रेम को निजरूप चाह, चटपटी, अधीनता उज्ज्वलता, कोमलता, स्निग्धता, सरसता, नूतनता सदा एकरस रुचि तरङ्ग बढ़त रहै। सहज सुछन्द मधुरता मादकता, जाको आदि अन्त नाहिं छिन छिन नूतनता आस्वाद......,—सिद्धान्त विचारलीला—वही, पृ० ४३-४४

३—या प्रेम में न स्थूल प्रेम की समाई, न स्थूल विरह की समाई, न मान की। एकरस यह प्रेम ही विरह रूप है।—सिद्धान्त विचार लीला—(ब्यासलीला ध्रुवदास), पृ० ५१

४—एक रङ्ग रुचि एक रस, अद्भुत नित्य विहार।

—बृहद्वामनपुराण की भाषालीला—वही, पृ० ४०

५—जेहि तन वन गरजत रहै, अद्भुत केहरि प्रेम।

तामें पावै रहन क्यों, गज विहङ्ग मृग नेम॥—प्रीतिचौवनी लीला—वही, पृ० ५८

सार प्रेम विषयजन्य ठहरते हैं। सुविख्यात चातक, पतङ्ग, मीन, चकोर आदि का प्रेम, प्रेम नहीं, विषय-विकार है। एकमात्र कृष्णाभिमुखी प्रेम ही कञ्चन प्रेम है, अन्य सारे प्रेम, प्रेम की अनुकृतियाँ हैं।[१] विषय सुख का आदि, अन्त होता है और जिसका आदि-अन्त हो, वह प्रेम नहीं कहा जा सकता। सुख-दुख, विरह-मिलन की द्वैतता से प्रेम की अखण्डता बाधित होती है।[२] वस्तुत. प्रेम शाश्वत वस्तु है, शाश्वत आत्मा का शाश्वत धर्म है, वह संवेग किंवा प्राण एवं देहजन्य वृत्ति नहीं है। भगवत्प्रेम एक-तान है, न यह घटता है न बढ़ता और न इसका आदि अन्त है—

प्रेम रूप वय घटत नहि, मिटत न कबहुँ संयोग।
आदि अन्त नाहिन जहाँ, सहज प्रेम को भोग॥[३]

इसके आस्वादन का मूलमन्त्र रूपोपासना है। जिसके हृदय में राधाकृष्ण के रूप का दीपक ज्योतित हो उठता है उसके सुख-दुःख का सारा अन्धकार विलीन हो जाता है, केवलमात्र आनन्द का प्रकाश छा जाता है।[४] लोकवेद से अतीत यह प्रेम-पन्थ अत्यन्त विकट है। कामना के अश्व पर चढ़ कर इस तक नहीं पहुँचा जा सकता। अन्तर्दृष्टि से अलौकिक रूप का अवगाहन करके ही इसका आस्वादन किया जा सकता है। किन्तु यह आस्वादन भी अत्यन्त कठिन है, सर्वसुलभ नहीं।[५] इसीलिये प्रेमभक्ति की प्राप्ति का एकमात्र साधन कृपा कहा गया है।

## भक्ति के भेद

अखण्ड आनन्दरूपिणी पराभक्ति किंवा युगल-प्रेम, भक्ति की चरमपरिणति है। यहाँ तक पहुँचने के लिये भक्ति के अन्य प्रकारों का प्रयोजन स्वीकार किया

---

१—अलि पतङ्ग मृग मीन गज चातक चकइ चकोर।
ये सब झूठे नेह में बँधे विषय की डोर॥
× × ×
जहँ लगि लालच विषय को सो न होय ध्रुव प्रेम।
तासों कहा बसाइ ध्रुव पीतल सों कहै हेम॥—प्रीतिचौवनी लीला, पृ० ५८

२—आदि अन्त जाको भयो सो सब प्रेम न रूप। आवत जात न जानिये, जैसे छाँह अरु धूप॥
जब बिछुरत तब होत दुख, मिलतहि हियो सिराइ। राही में रस द्वै भये, प्रेम कह्यौ क्यों जाइ॥
—प्रीतिचौवनी लीला [व्यासलीला—ध्रुवदास], पृ० ५६

३—वही, पृ० ५६

४—जाके हिय में जगमगै, रूप दीप उजियार।
परसै ताके जाइ नसि, दुख सुख सब अँधियार॥—वही, पृ० ६०

५—संकट घाटी नेह की अतिहि दुहेली आहि। नैन पगनि चलिबो तहाँ जो ध्रुव बने तो जाहि॥
चढ़िकै मैन तुरङ्ग पर चलिबो पावक माहिं। प्रेम पंथ ऐसो कठिन, सब कोउ निबहत नाहिं॥
—वही, पृ० ६०

जाता है। यद्यपि श्रीकृष्ण के प्रति भक्ति एक ही है किन्तु भक्त की भावदशा एवं उसकी प्रगति के अनुसार वह विविध रूप धारण करती है। वल्लभाचार्य जी के अनुसार माहात्म्यज्ञानपूर्वक भगवान् से सुदृढ़ स्नेह स्थापित करने को भक्ति कहते हैं। सामान्यजन के लिये माहात्म्यज्ञान को उद्बुद्ध करने से लेकर सुदृढ़ स्नेह के होने तक भक्ति की कई सीढ़ियाँ हैं। भक्तिरसामृतसिन्धु में भक्ति के विविध रूपों का साङ्गोपाङ्ग वर्णन मिलता है। व्यक्ति की चेतना विकास-क्रम के अनुरूप वल्लभाचार्य जी ने भी भक्ति का मनोवैज्ञानिक वर्गीकरण किया है। इनका क्रम से निरूपण हो रहा है। 'भक्तिरसामृतसिन्धु' में भक्ति के तीन प्रकार कहे गये हैं—

१—साधन-भक्ति, २—भाव-भक्ति और ३—प्रेम-भक्ति।

## साधन-भक्ति

साधनों द्वारा साधित भक्ति को साधन-भक्ति कहते हैं, इसके द्वारा भक्त के हृदय में नित्यसिद्ध भाव प्रकट होता है।[१] इन्द्रियों की प्रेरणा अर्थात् श्रवण, कीर्तन आदि द्वारा साधनीय सामान्य भक्ति को ही साधन-भक्ति कहते हैं, जिसके द्वारा भाव या प्रेम साध्य होता है। यह साधन-भक्ति वैधी तथा रागानुगा भेद से दो प्रकार की होती है—

"वैधी रागानुगा चेति सा द्विधा साधनाभिधा।"[२]

वैधी—वैधी भक्ति वह है जिसमें राग की अप्राप्ति हेतु अनुराग उत्पन्न नहीं हुआ है, वरन् शास्त्र-शासन भय से भक्ति में प्रवृत्ति उत्पन्न हुयी है।[३] शास्त्र के जितने विधि-निषेध हैं, वे सब वैधी भक्ति के अन्तर्गत आते हैं। हरि के उद्देश्य से शास्त्र में जो क्रियाएं प्रतिपादित हैं, वे वैधी भक्ति के मार्ग में मान्य हैं और ये क्रियाएँ भगवान् के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करने के लिये तथा उनके प्रति प्रेम जागृत करने के लिये निर्धारित की गयी हैं। वास्तव में प्रभु का स्मरण विधि है तथा उनका विस्मरण निषेध।[४]

रागानुगा—साधनभक्ति का दूसरा रूप 'रागानुगा' भक्ति है। ब्रजवासियों में प्रकाश्यमान भक्ति को रागात्मिका भक्ति कहते हैं। इस रागात्मिका भक्ति की अनुगा

---

१—कृतिसाध्या भवेत् साध्यभावा सा साधनाभिधा।
नित्यसिद्धस्यभावस्य प्राकट्यं हृदि साध्यता॥
—पूर्वविभाग, द्वितीय लहरी, भक्तिरसामृतसिन्धु

२—वही, श्लोक, ४

३—यत्र रागानवाप्तत्वात् प्रवृत्तिरुपजायते। शासनेनैव शास्त्रस्य सा वैधीरुच्यते॥५॥—वही

४—विधि अखण्ड स्मृति सरस मूलनि ओरै निषेध। अनन्य व्रत उत्कट यहै प्रगटाप्रगट अभेद॥५०॥
—सुधर्मबोधिनी, पृ० ७२

जो भक्ति है, उसे रागानुगा भक्ति कहा जाता है।[1] राग का लक्षण देते हुए कहा गया है, कि अभिलषित वस्तु में जो स्वाभाविक परम-आवेश अर्थात् प्रेममयी तृष्णा होती है उसका नाम राग है और ऐसी रागमयी जो भक्ति है उसका नाम रागात्मिका भक्ति है।[2] यह रागात्मिका भक्ति कामरूपा एवं सम्बन्धरूपा भेद से दो प्रकार की होती है—

कामरूपा—जो भक्ति सम्भोग-तृष्णा को प्रेम रूप में परिणत करती है, उसे कामरूपा भक्ति कहा जाता है और इस कामरूपा भक्ति में केवल कृष्ण सुख के निमित्त उद्यम होता है।[3] यहाँ काम शब्द से अभिप्राय अभीष्ट विषयक प्रेम-विशेष से है। यह कामरूपा भक्ति केवल व्रज-देवियों में ही होती है। उनका यह विशिष्ट प्रेम किसी अनिर्वचनीय माधुरी को प्राप्त कर उन्हीं क्रीड़ाओं का कारण होता है जो काम में वर्णित होती हैं, इसलिये पण्डितगण इस प्रेमविशेष का उल्लेख काम शब्द से किया करते हैं।[4]

राधावल्लभ सम्प्रदाय में काम को 'नेम' कह कर अभिहित किया गया है। ध्रुवदास जी ने 'सिद्धान्तविचार लीला' में 'नेम' का स्पष्टीकरण किया है। उनके शब्दों में—"ताते सर्वनि कामसुख नेम में राखे—जो कोऊ कहै कि काम नेम में कहि आये तो उनहूं की कामकेलि तो गाई है। सो यह काम प्राकृत न होइ प्रेममई जानिवो निज प्रेममई जानिवो निज प्रेम है नेम रस सिङ्गार पोषक के लिइ न्यारे कै कहे हैं। जो बात प्रिया जू के अङ्ग सङ्ग ते उपजै सोई प्रीतम को प्यारी लगै यह अप्राकृत प्रेम है, श्रीकृष्ण काम के वस नाहीं।"[5] यहाँ स्पष्ट रूप से कहा गया है कि राधा (प्रकारान्तर से समस्त व्रजदेवियों) का नेम अथवा काम अप्राकृत है। उनका अङ्ग चिद्रूप है, अप्राकृत है। चिदाह्लाद-विग्रह का अङ्ग-सङ्ग प्राकृत काम की कोटि

---

१—विराजन्तीमभिव्यक्तं व्रजवासी जनादिषु।
रागात्मिका मनुसृता या सा रागानुगोच्यते ॥१३१॥
—पूर्व विभाग, द्वितीय लहरी, भक्तिरसामृतसिन्धु

२—इष्टे स्वारसिकी रागः परमाविष्टता भवेत्।
तन्मयी या भवेद्भक्तिः सात्र रागात्मिकोदिता ॥१३१॥ —वही

३—सा कामरूपासम्भोगतृष्णां या नयति स्वतां ॥६८॥
यदस्यां कृष्णसौख्यर्थमेव केवलमुद्यमः ॥ —वही, अच्युतग्रन्थमाला प्रकाशन

४—"इयं तु व्रजदेवीषु सुप्रसिद्धा विराजते ॥६९॥
आसां प्रेमविशेषो यं प्राप्तः कामपि माधुरीम्।
तत्तत्क्रीडानिदानत्वात्काम इत्युच्यते बुधैः ॥७०॥ —वही

५—सिद्धान्त विचार लीला, (ब्यालीस लीला—ध्रुवदास), पृ० ४६

में नहीं रखा जा सकता। वस्तुतः वहाँ नेम अथवा काम और कुछ नहीं, परस्परलीन प्रेम की सक्रियता है, तादात्म्य की ऊर्मि है। वहाँ प्रेम और नेम एक ही वस्तु के दो पहलू हैं, ताना-बाना की भाँति अनुस्यूत। वहाँ नेम अथवा काम प्रेम का साधक है, बाधक नहीं।[१] आनन्दरूपिणी राधा एवं व्रजाङ्गनाओं की क्रीड़ा आपाततः काम सदृश दीखने पर वस्तुतः प्रेम को पोषित एवं पल्लवित करती है। वहाँ देह और आत्मा, जड़ और चैतन्य का भेद नहीं है। व्रज में काम आत्मस्थ प्रेम की चेष्टा मात्र है, जड़ देह की अधोवृत्ति नहीं। श्रीकृष्ण काम के वशीभूत नहीं हैं। वे तो मन्मथमदन हैं। उनकी असमोर्द्ध आश्चर्यभूति को देख कर प्राकृत काम स्वतः मूर्छित हो जाता है जैसा कि नन्ददास की रासपञ्चाध्यायी में वर्णित है। श्रीकृष्ण इन्द्रियगामी नहीं हैं, वे प्रत्येक घट में स्थित अन्तर्यामी हैं जो नित्य आत्मानन्द के कारण सतत एक रस हैं—

> नहिं कछु इन्द्रियगामी, कामी कामिन के बस।
> सब घट अन्तरजामी स्वामी परम एकरस॥
> नित्य आत्मानन्द, अखण्ड सरूप उदारा।
> केवल प्रेम सुगम्य, अगम्य अवर परकारा॥[२]

ऐसे रस में नेम प्रेम की सक्रियता है। जब प्रेमीयुगल पर प्रेमसिन्धु व्याप्त हो जाता है तब वे विवश हो जाते हैं और जब नेम की तरङ्ग तरङ्गायित होती है तब वे चैतन्य होते हैं। प्रेम की क्रिया विवशता है और नेम की सावधानता। हैं दोनों एक ही, स्वाद के लिए भिन्न कहे गये हैं।[३] यह भेद असम्प्रज्ञात एवं सम्प्रज्ञात समाधि जैसा है। इसीलिये उद्धव जैसे ज्ञानी एवं ब्रह्मनिष्ठ भक्त में भी गोपियों के भाव की वाञ्छा देखी जाती है। किन्तु व्रजदेवियों के विशुद्ध प्रेम के अभाव में कुब्जा आदि पात्रों में जो रति देखी जाती है, उसे कामप्राया कहते हैं।

सम्बन्धरूपा—भगवान् में पिता आदि के अभिमान अर्थात् मैं कृष्ण का पिता, सखा, बन्धु, माता आदि हूँ—इस प्रकार की भावना पर आधारित भक्ति, सम्बन्धरूपा भक्ति कहलाती है। वृष्णिगण ने सम्बन्धमात्र से ही कृष्ण को प्राप्त किया था। यहाँ वृष्णि

---

१—"...रस को नेम ऐसो है जो प्रेम शोभा पावै। एकरस समकनो जैसे ताना बाना दोऊ मिलि एक पट भयो, स्वाद के लिये नेम न्यारे कै कहे हैं, नेम प्रेम को साधन सो एकै जानिबो।"
—वही

२—नन्ददास, सिद्धान्त पञ्चाध्यायी, पृ० १९२

३—ध्रुवदास—सिद्धान्तविचार लीला, पृ० ४६

शब्द उपलक्ष मात्र है, इसके द्वारा गोपगण को भी ग्रहण करना होगा, क्योंकि कृष्ण में ईश्वरत्वज्ञानशून्य होने के कारण गोपों का भी रागात्मिका भक्ति में अधिकार है।[१]

रागात्मिका भक्ति दो प्रकार की है, कामानुगा व सम्बन्धानुगा।[२] इस रागानुगा भक्ति के अधिकारी वे हैं जिनकी बुद्धि शास्त्र किंवा युक्ति की अपेक्षा न रखकर केवल नन्द, यशोदा और गोपी आदि के भावमाधुर्य का श्रवण करके तत्तत् भावों को प्राप्त करने को समुत्सुक रहती है। इस भक्ति में न शास्त्र है न युक्ति, केवल लोभ ही इसका एकमात्र हेतु है।[३]

जब तक भाव का आविर्भाव नहीं होता तभी तक वैधी भक्ति का प्रयोजन रहता है। जब तक लगन नहीं लगती तब तक शास्त्र-सिद्धान्त आवश्यक हैं। जब तक देह में आसक्ति है तब तक वैधी भक्ति अनिवार्य है। देहबद्धचेतना से आत्मा जब भ्रान्त नहीं होती तब रस का अधिकार मिल पाता है।[४] वैधी-भक्ति के जो अधिकारी हैं, उन्हें शास्त्र एवं अनुकूल तर्क की अपेक्षा करना उचित है, रागानुगा-नुयायी भक्तों को उतना नहीं। शास्त्र-विधि के अनुसार भजन वैधी-भक्ति है और लोभयुक्त विधिमार्ग से जो भजन है, वह रागानुगा भक्ति है। इन दोनों का थोड़ा-बहुत सम्बन्ध है। ये साथ-साथ कुछ दूर तक चल सकते हैं। इसीलिये वैधी भक्ति में श्रवण, कीर्तन आदि नवधाभक्ति के जो अङ्ग कहे गये हैं, रागानुगा भक्ति में भी उन अङ्गों की उपयोगिता स्वीकार की गयी है। अन्तर केवल भक्त की मनोदशा का है। एक में भाव की जागृति बुद्धि प्रेरित है, तर्क से भक्ति की महत्ता उद्बुद्ध की जाती है, शास्त्र से उसका अनुमोदन किया जाता है, दूसरे में हृदय की प्रबलता है—राग से भक्ति की उत्कृष्टता अनुभव की जाती है, एवं रागाविष्ट भक्त से तादात्म्य प्राप्त कर उसकी अनुभूति सम्पादित की जाती है।

---

१—सम्बन्धरूपा गोविन्दे पितृत्वाद्यभिमानिता।
अत्रोपलक्षणतया वृष्णीनां वल्लभा मताः॥
यदैश्यज्ञानशून्यत्वादेषां रागे प्रधानता॥१४६॥
—पूर्वविभाग, द्वितीय लहरी, भक्तिरसामृतसिन्धु

२—रागात्मिकाया द्वैविध्या द्विधा रागानुगा च सा।
कामानुगा च सम्बन्धानुगा चेति निगद्यते॥१४७॥—वही

३—नात्र शास्त्रन्न युक्तिञ्च तल्लोभोत्पत्तिलक्षणम्॥१४८॥—वही

४—जब लौ लगन लगी नहीं तबही लौं सिद्धान्त।
लगन लगी तब रस बिना श्रवण कथन सब भ्रान्त॥६१॥
जब लग मन तन में रहै तब लगि धर्म सम्भार।
अलग भयो जब देह तें तब रस को अधिकार॥६२॥—सुधर्मबोधिनी, पृ० ६७

कामानुगा—कामरूपा भक्ति की अनुगामिनी जो तृष्णा है, उसे कामानुगा भक्ति कहते हैं। यह सम्भोगेच्छामयी तथा तत्तद्भावेच्छामयी भेद से दो प्रकार की होती है।[१] इन दोनों प्रकारों में से अभीष्ट व्रजदेवी के भाव को प्राप्त करने की इच्छा पर आश्रित तत्तद्भावेच्छामयी कामानुगाभक्ति को जो रागानुगाभक्ति की प्रवर्तिका है, मुख्य माना गया है। सम्भोग शब्द का तात्पर्य केलि अर्थात् क्रीड़ामात्र से है। केलिविषयक तात्पर्यवती भक्ति को 'सम्भोगेच्छामयी' कहा गया है और अपनी-अपनी यूथेश्वरी के भावमाधुर्य की कामना पर आधारित भक्ति को 'तत्तद्भावेच्छात्मिका'। श्रीकृष्ण के माधुर्य का दर्शन करके अथवा उनके साथ गोपियों की लीला का श्रवण करके जो भक्त उस भाव की आकांक्षा करते हैं, वे इस द्विविध कामानुगा भक्ति के अधिकारी होते हैं। पुरुषों में भी इस भक्ति की आकांक्षा हो सकती है।[२] प्रसिद्ध है कि दण्डकारण्य के महर्षिगण ने राम के रूप से प्रभावित होकर कृष्णावतार में गोपीदेह धारण किया था।

रागानुगाभक्ति का एक रूप द्वारिका में महिषियों का प्रेम है। जो भक्त सुष्ठु रमणाभिलाषी होकर केवल विधि मार्गानुसार कृष्ण सेवा करते हैं, वे द्वारिका में महिषीत्व पाते हैं।[३]

रागानुगा भक्ति केवल कृष्ण एवं कृष्णभक्त की करुणा से प्राप्य है। रूपगोस्वामी ने कहा है कि रागानुगा भक्ति को कोई-कोई पुष्टिमार्ग कहते हैं, स्पष्ट ही यहाँ वल्लभाचार्य जी की ओर सङ्केत है।

## भावभक्ति

शुद्धसत्वमय, प्रेमस्वरूप सूर्यकिरण की सादृश्यमयी तथा रुचि (अर्थात् भगवान् की प्राप्ति की अभिलाषा) द्वारा चित्त को स्निग्ध करने वाली भक्ति का नाम भावभक्ति है।[४] यहाँ पर 'प्रेमसूर्यांशुसाम्यभाक्' से उदय होते हुए सूर्य को समझना चाहिये।

---

१—कामानुगा भवेत्तृष्णा कामरूपानुगामिनी।
सम्भोगेच्छामयी तत्तद्भावेच्छात्मेति सा द्विधा ॥१५३॥
—पूर्वविभाग, द्वितीय लहरी, भक्तिरसामृतसिन्धु

२—श्रीमत्तैर्माधुरीं प्रेक्ष्य तत्तल्लीलां निशम्य वा।
तद्भावाकांक्षिणो ये स्युस्तेषु साधनतानयोः ॥
पुराणे श्रूयते पद्मे पुंसामपि भवेदियम् ॥१५५॥—वही

३—रिरंसां सुष्ठु कुर्व्वन् यो विधिमार्गेण सेवते।
केवलेनैव स तदा महिषीत्वमियात् पुरे ॥१५७॥—वही

४—शुद्धसत्वविशेषात्मा प्रेमसूर्यांशुसाम्यभाक्।
रुचिभिश्चित्तमासृण्यकृदसौ भाव उच्यते ॥१॥—वही, तृतीय लहरी

सूर्य के उदय होने पर जिस प्रकार किरणों में अत्यल्प प्रकाश होता है, उसी प्रकार प्रेम के अत्यल्प प्रकाश को भाव कहते हैं, यह भाव ही क्रमशः प्रेमदशा को पहुँचता है।

इस भावभक्ति के आविर्भाव के कई कारण हो सकते हैं, किन्तु दो कारण प्रमुख हैं—साधन में अभिनिवेश तथा कृष्ण एवं कृष्णभक्त का अनुग्रह। इनमें से साधनाभिनिवेशज भाव प्रायः सभी में हुआ करता है और दूसरा अत्यन्त विरल है।

वैधी और रागानुगामार्ग भेद से साधनाभिनिवेशज भाव दो प्रकार का होता है। वैधी साधनाभिनिवेशज भाव साधक में रुचि एवं हरि में आसक्ति उत्पन्न कर के रति को आविर्भूत करता है।[१] साधनव्यतिरेक जो भाव उत्पन्न होता है उसे कृष्ण अथवा कृष्णभक्त-प्रसादजनित कहा जाता है।[२]

श्रीकृष्ण का प्रसाद ( अर्थात् उनकी प्रसन्नता या कृपा ) तीन प्रकार का होता है—वाचिक, आलोकदान व हार्द। कृष्ण का वचनों से अनुग्रह प्रदान करना वाचिक प्रसाद है, कृष्ण का दर्शन कर आर्द्रचित्त होना उनका आलोकदान प्रसाद है और कृष्ण के हृदयजनित भाव से उत्पन्न प्रसाद हार्द है।

भाव आविर्भाव के कई लक्षण हैं। जिनमें भाव का अङ्कुरमात्र जन्मा हैं उन सवका व्यक्तियों में मुख्यतया निम्नलिखित अनुभाव प्रकाशित होते हैं—

१—क्षान्ति
२—अव्यर्थकालता
३—विराग
४—मानशून्यता
५—आशाबन्ध
६—समुत्कण्ठा
७—नामगान में सर्वदा रुचि
८—भगवदनुकथन में आसक्ति
९—भगवान् के वासस्थान में प्रीति

क्षोभ का कारण उपस्थित होने पर भी चित्त के अक्षोभ को क्षान्ति कहते हैं, जैसे मृत्यु की बात सुनकर भी राजा परीक्षित का अचञ्चल रहना। अन्य विषयजन्य व्यापारों में प्रवृत्त न होकर केवल भगवत्सेवा में ही नियुक्त रहने को अव्यर्थकालत्व कहा गया है। इन्द्रियार्थं अर्थात् शब्दस्पर्शादि के प्रति जो स्वाभाविक अरोचकता है, उसका नाम मानशून्यता है। भगवान् की प्राप्ति की दृढ़तर सम्भावना को आशाबन्ध कहते हैं। 'मैं भगवान् को निश्चय ही प्राप्त करूंगा'—इस प्रकार की

---

१—साधनाभिनिवेशस्तु तत्र निष्पादयन् रुचिम्।
हरावासक्तिमुत्पाद्य रतिं सञ्जनयत्यसौ ॥५॥
—पूर्वविभाग, द्वितीय लहरी, भक्तिरसामृतसिन्धु

२—साधनेन विना यस्तु सहसैवाभिजायते।
स भावः कृष्णमद्भक्तप्रसादज इतीर्यते ॥८॥—वही

आशा, आशाबन्ध कहलाता है। अपने अभीष्ट लाभ के लिए जो गुरुतर लोभ है, उसका नाम समुत्कण्ठा है।

यह भाव रति में परिणत हो जाता है। अन्तःकरण की स्निग्धता रति का लक्षण है। मुमुक्षु, ज्ञानी तथा कर्मी में जो रति देखी जाती है उसे रत्याभास कहते हैं। रत्याभास दो प्रकार का होता है—छाया व प्रतिबिम्ब।

जो श्रमव्यतिरेक अभीष्ट प्राप्त करता है एवं जो भोग तथा मोक्ष की भावना से आक्रान्त रहता है, उस रत्याभास को प्रतिबिम्ब कहा जाता है। क्षुद्र, कौतूहलमयी, चञ्चल, दुःखहारिणी जो रति है, वह छाया-रत्याभास है।[१]

भगवद्भक्तों की कीर्तनादि क्रिया, जन्म-यात्रा इत्यादि भगवत्काल, वृन्दावन, मथुरा इत्यादि भगवद्धाम एवं स्वयं भगवद्भक्त—इनके आनुषङ्गिक या युगपत् मिलन से कभी-कभी अज्ञ व्यक्तियों में भी रति की छाया लक्षित होती है।

---

१—क्षुद्रकौतूहलमयी चञ्चला दुःखहारिणी।
रतेश्छाया भवेत् किञ्चित् तत्सादृश्यावलम्बिनी ॥२२॥

—पूर्वविभाग, तृतीय लहरी, भक्तिरसामृतसिन्धु

# भक्ति

# भक्ति

## प्रेमभक्ति

जिससे चित्त सर्वतोभावेन निर्मल होता है एवं जो अतिशय ममता सम्पन्न है—ऐसा जो भाव है, गाढ़ता प्राप्त होने पर वह प्रेम कहलाता है।[१] साधनभक्ति पालन करते-करते रति होती है और रति के गाढ़ होने पर उसे प्रेम कहा जाता है। पञ्चरात्र में कहा गया है कि दूसरों के प्रति ममता-परिहारपूर्वक भगवान् में जो ममता होती है, उसका नाम प्रेम है—

अनन्यममता विष्णौ ममता प्रेमसंगता।
भक्तिरित्युच्यते भीष्मप्रह्लादोद्धवनारदैः॥

यह प्रेम भावोत्थ व भगवान् के अतिप्रसादोत्थ भेद से दो प्रकार का होता है। भक्ति के अन्तरङ्ग अङ्गों का निरन्तर सेवन करने पर भाव जब परमोत्कर्ष प्राप्त करता है तब उसे भावोत्थ प्रेम कहते हैं। यह भावोत्थ प्रेम भी दो प्रकार का होता है—वैधी भक्ति सञ्जात एवं रागानुगीय।

भगवान् श्रीकृष्ण के स्वीय सङ्गदान आदि को अतिप्रसादोत्थ प्रेम कहते हैं।[२] भागवत में श्रीकृष्ण ने उद्धव से कहा है कि गोपियों ने उन्हें प्राप्त करने के लिये न वेदाध्ययन किया, न महत्तम व्यक्तियों का सत्सङ्ग, न व्रताचरण, न तपस्या। केवलमात्र श्रीकृष्ण के संसर्ग से ही गोपियों ने उन्हें प्राप्त कर लिया। भगवान् के साक्षात् सङ्ग से बढ़कर और कोई दूसरा साधन नहीं हो सकता। वे ही सारे शास्त्रों के प्रतिपाद्य, सन्तों के आधार, व्रतों के लक्ष्य तथा तप के फल हैं। अतएव भगवान् का सङ्ग उनकी अत्यन्त प्रबल कृपा तथा अति प्रसाद का फल है।

यह अतिप्रसादोत्थ प्रेम दो प्रकार का होता है—माहात्म्यज्ञान युक्त तथा 'केवल' अर्थात् माधुर्यमात्रसंवलित। माहात्म्यज्ञानयुक्त प्रेम में ऐश्वर्य भाव की प्रधानता न भी हो तब भी उसमें भगवान् की महत्ता से अभिभूत होने की प्रवृत्ति

---

१—सम्यगमसृणितस्वान्तो ममत्वातिशयाङ्कितः।
भावः स एव सान्द्रात्मा बुधैः प्रेमा निगद्यते॥१॥
—पूर्वविभाग, चतुर्थ लहरी, भक्तिरसामृतसिन्धु

२—हरेरतिप्रसादोत्थं सङ्गदानादिरात्मनः॥६॥—वही

रहती है। इस भाव से भक्त एवं भगवान् के बीच अधिक निकटवर्ती सम्बन्ध स्थापित होने में बाधा पड़ती है, दोनों के बीच एक प्रकार की दूरी बनी रहती है। माधुर्य संवलित प्रेम अन्य बातों की अपेक्षा नहीं रखता, वह स्वयं में पूर्ण है। श्रीकृष्ण में मन की जो परिलुप्त एवं अभिसन्धिशून्य निरवच्छिन्न गति है, उसे 'केवल' भक्ति कहते हैं और यह भक्ति भगवान् को वश में करने वाली है। ब्रजदेवियों में ही इस प्रकार की 'केवल' भक्ति देखी जाती है। यह भेद वल्लभाचार्य जी द्वारा प्रतिपादित भक्ति के विहिता-अविहिता भेद से साम्य रखता है।[१] भक्तिरसामृतसिन्धु में प्रेमोदय का एक क्रम भी वर्णित हुआ है। श्रद्धा, साधुसङ्ग, भजनक्रिया, अनर्थनिवृत्ति, निष्ठा, रुचि, आसक्ति, भाव, प्रेम—साधारणतः प्रेमोदय में यह क्रम देखा जाता है।[२]

**पुष्टि-भक्ति**—वल्लभाचार्य जी ने जीवकोटि के अनुरूप भक्ति के प्रकार निर्धारित किये हैं। जीव सृष्टि दैवी और आसुरी में विभक्त है। इनमें से आसुरी जीव दुर्ज्ञ और अज्ञ भेद से दो प्रकार के होते हैं। दुर्ज्ञ का कभी उद्धार नहीं होता, अज्ञ का ईश्वर द्वारा संहार होने पर उद्धार होता है। यदि उत्कट वैरभाव को भक्ति स्वीकार किया जाय तो अज्ञ जीव में यही भक्ति होती है।

वास्तविक भक्ति का निरूपण दैवी-जीव के प्रसङ्ग में किया गया है। दैवी-जीव दो प्रकार के होते हैं—पुष्टि-जीव एवं मर्यादा-जीव। इनमें से मर्यादा-जीव भक्ति के स्वतः अधिकारी नहीं हैं, वे कर्म-ज्ञान द्वारा स्वर्ग किंवा अक्षर-सायुज्य-मुक्ति प्राप्त करते हैं। यदि श्रीकृष्ण चाहें तो अपने कृपाबल से इन्हें सायुज्य-मुक्ति से निकालकर लीला में प्रवेश करा सकते हैं, तब ये पुष्टि जीव की कोटि में आ जाते हैं। वास्तव में पुष्टि जीव ही भक्ति के अधिकारी हैं। पुष्टि जीव चार प्रकार के कहे गये हैं—शुद्ध-पुष्ट, पुष्टि-पुष्ट, मर्यादा-पुष्ट, प्रवाह-पुष्ट। तदनुरूप भक्ति के चार प्रकार होते हैं—शुद्ध-पुष्टि, पुष्टि-पुष्टि, मर्यादा-पुष्टि तथा प्रवाह-पुष्टि।

**प्रवाह-पुष्टि**—प्रवाह-पुष्टि-भक्ति उन जीवों में होती है जो भ्रान्त हैं, संसार चक्र में प्रवाहित हो रहे हैं, किन्तु फिर भी श्रीकृष्ण की पुष्टि अर्थात् अनुग्रह की याचना करते रहते हैं। प्रवाही जीव को वल्लभाचार्य जी ने 'चर्षणी' कहा है।

---

१—भक्तिस्तु विहिता अविहिता च इति द्विविधः। माहात्म्यज्ञानयुत ईश्वरत्वेन प्रभौ निरुपधि स्नेहात्मिका विहिता। अन्यतो प्राप्तत्वात् कामादिउपाधिजा सा तु अविहिता।

—अणुभाष्य ३।३।२९

२—आदौ श्रद्धा ततः साधुसङ्गोऽथ भजनक्रिया। ततोऽनर्थनिवृत्तिः स्यात्ततो निष्ठा रुचिस्ततः॥
अथासक्तिस्ततो भावस्ततः प्रेमाभ्युदञ्चति। साधकानामयं प्रेम्णः प्रादुर्भावे भवेत् क्रमः॥११॥

—पूर्वविभाग, चतुर्थ लहरी, भक्तिरसामृतसिन्धु

चर्पणी का तात्पर्य भ्रान्त से है। प्रवाही-जीव सब मार्गों पर क्षणकाल के लिये चलता है किन्तु अस्थिर बुद्धि के कारण किसी मार्ग पर दृढ़ नहीं रह पाता।[१] अपनी चञ्चलता में भी ऐसा जीव भगवान् से उनकी कृपा की याचना करता है। यही मात्र उसका भक्तिभाव है।

**मर्यादा-पुष्टि**—मर्यादा-पुष्टि भक्ति उनकी है जो विधिमार्ग का अनुसरण करते हुए भगवान् की भक्ति में प्रविष्ट होते हैं। ये शास्त्र वेदोक्त नियमों का आचरण करते हुए तथा कर्मज्ञान का सहारा लेते हुए केवल भक्ति को ही लक्ष्य मानते हैं। साधन करते हुए भी अपने कर्तृत्व पर भरोसा न रखकर भगवान् के अनुग्रह की कामना मर्यादा-पुष्टि भक्ति का लक्षण है।

**पुष्टि-पुष्टि**—किन्तु भक्ति का निजी रूप पुष्टिपुष्टि भक्तों में प्रकट होता है। पुष्टिपुष्टि, भक्तों में शुद्धाभक्ति के बीच सन्निहित रहते हैं एवं भगवान् की कृपा से वे अचिरात् अङ्कुरित हो जाते हैं। अधिकतर ये भक्त विधिमर्यादा के किसी भी मार्ग का अवलम्बन नहीं लेते, मात्र श्रीकृष्ण के अनुग्रह एवं उनके स्वरूपवल से ही भक्ति सिद्ध कर लेते हैं। प्रभु के अतिरिक्त किसी भी साधन में उनकी रुचि या निष्ठा नहीं रह जाती। इनमें भक्ति के संस्कार इतने सञ्चित होते हैं कि किञ्चित् प्रयास या प्रयास के अभाव में भी, ये भक्त, कृष्ण के अनुग्रह से प्रेमलक्षणा भक्ति प्राप्त कर लेते हैं। पुष्टिपुष्टि भक्त 'उद्यत होकर साधनों का त्याग नहीं करता किन्तु स्वभावतः उसका मन साधनों के रहस्य को समझकर अकर्म हो जाता है। ज्वराभिभूत की रुचि अपने आप अन्न पर से हट जाती है।[२] पुष्टि अर्थात् भगवान् के अनुग्रह द्वारा ही ऐसे जीवों की भक्ति पुष्ट होती है।

**शुद्ध-पुष्टि**—अन्तिम हैं शुद्धपुष्टि भक्त जो भगवान् के साहचर्य में लीला का आनन्द ले रहे हैं। इन्हें साधक भक्तों की कोटि में न रखकर सिद्ध भक्तों की कोटि में रक्खा जाता है। मन की श्रीकृष्ण में सतत एवं अविच्छिन्न गति शुद्ध-पुष्टि भक्ति कहलाती है। इस भक्ति में भगवान् से प्रेम का व्यसन हो जाता है। जो भक्त अहर्निश भगवान् की लीलाओं का दर्शन एवं उपभोग करता है वह शुद्ध पुष्टिभक्त है। इस भक्ति में अनुग्राह्य एवं अनुग्राहक की पृथक् सत्ता नहीं रह जाती। जिस प्रकार

---

१—"सम्बन्धिनस्तु ये जीवाः प्रवाहस्थास्तथा परे ॥२१॥
चर्पणीशब्दवाच्यास्ते सर्वे सर्ववर्त्मसु।
क्षणात्सर्वत्वमायान्ति रुचिस्तेषां न कुत्रचित् ॥२२॥
—पुष्टिप्रवाह-मर्यादा (षोडश ग्रन्थ), पृ० ४४

२—भक्ति और प्रपत्ति का स्वरूपगत भेद—भट्ट रमानाथ शास्त्री, पृ० ४०

नदी समुद्र में मिलकर अपना पृथक् अस्तित्व खो देती है और उस समुद्र की ऊर्मि मात्र बनकर रहती है, उसी प्रकार शुद्ध पुष्टिभक्त अपनी समस्त चेतना को श्रीकृष्ण में डुबाकर उन्हीं का अंशरूप होकर उनकी क्रीड़ा का आस्वादन करता है। यह साधन भक्ति नहीं, सिद्धभक्ति है, इसे प्रेमलक्षणा भक्ति किंवा दशधा भक्ति की चरमपरिणति माना गया है। साधन, भाव, प्रेम भक्ति के भी ऊपर यह कदाचित् सिद्धभक्ति की नयी श्रेणी में रखी जा सकती है।

व्रज के अन्य कृष्णभक्ति सम्प्रदायों ने भक्ति को मूलतः दो श्रेणी में विभाजित किया है—वैधी, प्रेमलक्षणा। वैधी भक्ति में विधिनिषेध का शास्त्रीय विधान तो है ही, उसके अन्तर्गत मुख्यतः नवधाभक्ति को परिगणित किया गया है। प्रेमलक्षणा भक्ति में प्रेम-प्रवण भक्ति के सभी भावों को स्वीकार किया गया है। साधन, भाव, प्रेम आदि का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विश्लेषण व्रज के सम्प्रदायों ने नहीं किया।

## भक्ति के अनिवार्य साधन

भक्ति चाहे किसी भी प्रकार की हो, वह केवल अपने पुरुषार्थ से प्राप्त नहीं हो सकती। भक्तिमार्ग में कुछ ऐसे आवश्यक तत्त्व हैं जिनके बिना भक्ति नहीं प्राप्त होती; इनको बिना स्वीकार किये हुए भक्ति की कल्पना की जा सकती है, अनुभूति नहीं। साधना के लिये निम्नलिखित तत्व आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य हैं —

१—भगवत्कृपा किंवा 'अनुग्रह'—भक्ति अपने अध्यवसाय से उस प्रकार साध्य नहीं है, जिस प्रकार ज्ञान। भक्त अपने से महत्तर किसी शक्ति की कृपा, संरक्षण एवं सहायता पर निर्भर रहकर भक्तिभाव प्राप्त करता है। अतएव भक्तिमार्ग विशेषकर प्रेमलक्षणा-भक्तिमार्ग का मूलमन्त्र है, श्रीकृष्ण की कृपा या अनुग्रह। वल्लभाचार्य जी ने तो अपने सम्प्रदाय का नामकरण ही 'पुष्टि-मार्ग' अर्थात् अनुग्रह मार्ग किया है। पुष्टि का अर्थ है दुर्बल, षडैश्वर्यविहीन जीव का श्रीकृष्ण के अनुग्रह द्वारा पोषित होना। अनुग्रह का अर्थ है भगवान् के द्वारा भक्त का हाथ पकड़ा जाना, उसे ग्रहण किया जाना। अनुग्रह और कृपा समानार्थी हैं।

यह अनुग्रह हेतुरहित होता है, भगवान् की कृपा अहेतुकी होती है क्योंकि उनकी कृपा उनके प्रेम का ही रूप है, ऐसा निर्हेतु प्रेम जो प्राणिमात्र की ओर झुका हुआ है एवं उसको स्वनिकट खींचने में सतत उद्योगशील है। अज्ञानग्रस्त जीव के लिये यह उनका 'प्रसाद' है जो उनसे युक्त होने की प्रक्रिया—भक्ति का सर्वोपरि साधन है। श्रीकृष्ण परब्रह्म हैं, वे सर्वशक्तिमान् हैं। उनका अनुग्रह उनके सर्वसमर्थ प्रेम की शक्ति है अतएव भक्त की ओर से अन्य साधनों के अभाव में भी सर्वशक्ति-सम्पन्न है। श्रीकृष्ण सर्वसामर्थ्यवान् हैं, ईश्वर होने के कारण 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम्'

की शक्ति रखते हैं। असम्भव सम्भव सभी कुछ वह कर सकते हैं। इसे उनका स्वरूपबल कहा जाता है। इसलिये उनकी कृपा भक्तिपथ के सभी पाथेयों के अभाव में भी सर्वशक्तिमती होकर केवल अपने स्वरूपमात्र से ही जीव का उद्धार करने का सामर्थ्य रखती है, वही भक्ति के लिये उपयुक्त भूमि बनाती है और वही बीजा-रोपण करके उसे पल्लवित-पुष्पित करने के पश्चात् फलवती करती है। अतएव भक्त अपनी सीमित शक्ति के मन्दस्रोत से साधना को गति न देकर श्रीकृष्ण के अनुग्रह के वेगवान् प्रवाह का आवाहन करता है। श्रीकृष्ण की कृपा का महत्स्रोत जीव के क्षीण दुर्बल रूप को सशक्त बनाकर, उसकी मलिनता धोकर, उसे भगवत्प्रेम के योग्य बनाता है। वल्लभाचार्य जी ने कहा है कि कृष्ण की अनुग्रह-रूपिणी पुष्टि काल, कर्म एवं स्वभाव आदि की बाधिका है। अर्थात् इन सीमाओं से उत्पन्न मानव की तमाम असमर्थताओं को केवलमात्र भगवान् की अनुग्रहकारिणी पुष्टि ही निरस्त कर सकती है। बिना इन बाधाओं के ध्वंस हुए भक्ति नहीं हो सकती और इन बाधाओं का पूर्णरूपेण अतिक्रमण करना जीव की स्वशक्ति से साध्य नहीं है, कृष्ण के अनुग्रह से ही साध्य है। अतएव भगवान् का अनुग्रह भक्ति का सर्वसमर्थ, सशक्त एवं अपरिहार्य साधन है। अनुग्रह श्रीकृष्ण का पराक्रम है।[1]

भगवदनुग्रह में पात्र की योग्यता-अयोग्यता का कोई प्रश्न नहीं रह जाता। योग्यता-अयोग्यता के प्रतिदान में जैसा को तैसा देना तो व्यावसायिक बुद्धि का मानदण्ड है, प्रेम-प्रवणता का नहीं। अतः व्यक्ति यदि अयोग्य और निस्साधन भी है तब भी वह भगवान् की कृपा प्राप्त कर सकता है, क्योंकि भगवान् जीव के उद्धार के लिये उसकी योग्यता-अयोग्यता पर विचार नहीं करते। सूरदास जी के शब्दों में—

राम भक्त वत्सल निज बानौं।
जाति, गोत, कुल, नाम, गनत नहि रङ्क होइ कै रानौं।[2]

योग्यता के अभाव में भी यदि कोई उनका आश्रय ग्रहण करता है, तो उसका भी उत्तरदायित्व वे लेते हैं। भगवान् पूर्ण पुरुषोत्तम हैं, सर्वगुणों के आकर, समस्त योग्यताओं के चरमविकास, समस्त शक्तियों के स्वामी सर्वनियन्ता हैं; वे किसी व्यक्ति की शक्ति किंवा योग्यता पर क्या रीझ सकते हैं? केवल समर्पण या वदान्यता-

---

१—"यह पुष्टि भगवान् का धर्म है। अनुग्रह रूप इस भगवद्धर्म से काल कर्म और स्वभाव का भी बाध हो जाता है—अनुग्रह भगवान् श्रीकृष्ण का पराक्रम है, अतएव उनका ही धर्म है जैसे सूर्य का प्रकाश।"—अनुग्रह मार्ग (देवर्षि रमानाथ शास्त्री), पृ० ४–५

२—सूरसागर—'विनय', पद सं० ११

उनकी सहायता को मजबूर कर सकती है। अतः अपनी सीमाओं से भिन्न व्यक्ति की अभीप्सा ही उनकी कृपा का आवाहन कर सकती है और दैन्य ही उस महत् तत्व को सँभाल सकता है।

यों तो भगवत्प्राप्ति के अनेक मार्ग हैं, अनेक साधन हैं, किन्तु सर्वोत्तम साधन भगवत्कृपा ही है। कृपामार्ग की विशेषता पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि जिस सम्प्रदाय में साधन और फल भगवान् श्रीकृष्ण ही हों और जहाँ भगवान् की कृपा ही सब कुछ मानी गयी हो, उसे ही पुष्टिमार्ग कहते हैं। जहाँ भगवान् की कृपा ही भगवान् से मिलाने का एकमात्र साधन समझी गयी हो – इसे भी पुष्टिमार्ग कहते है। जहाँ भगवान् स्वयं जीव का वरण करने में उसकी योग्यता नहीं देखते प्रत्युत् अपने में सम्पूर्ण समर्पण भाव देखते हैं, जहाँ भगवान् जीव की शक्ति पर मुग्ध न होकर उसकी अनुरक्ति पर मोहित होते हैं, वही पुष्टिमार्ग है।[१]

अनुग्रह श्रीकृष्ण का स्वरूप-बल है, उनके प्रेम की स्वरूप शक्ति है। यह ज्ञान-तप आदि से श्रेष्ठ तो हैं ही वैधी-भक्ति से भी श्रेष्ठ हैं। किन्तु यह कृपा का मार्ग, राजमार्ग होते हुए भी अहं की प्रबलता के कारण सहज-साध्य नहीं हो पाता क्योंकि इसमें आत्मसमर्पण की अपेक्षा होती है और आत्मसमर्पण में अहंकार का समूलविसर्जन वाञ्छित ही नहीं अनिवार्य है। इसीलिये कहा गया है कि कृपा-कृपा कहना आसान है किन्तु उसका पात्र होना आसान नहीं है। जो भगवान् का आज्ञावर्ती है, अपनी इच्छाओं से तटस्थ होकर निष्काम बन सकता है, वही कृपा का पात्र हो सकता है।[२] यह समर्पण उस कोटि का होना चाहिये जिस कोटि का बिल्ली के प्रति बिल्ली के बच्चे का होता है। इस समर्पण के होने पर भगवान् स्वयं भक्त का योगक्षेम वहन करते हैं। बन्दर का बच्चा स्वयं अपनी ओर से बन्दरिया से चिपका रहता है, बन्दरिया उसे नहीं पकड़ती। उसी प्रकार अन्य मार्गों में व्यक्ति अपनी ओर से प्रयत्नशील रहता है, अपनी ओर से हाथ छूट जाने पर साधन से पतन की भी गुञ्जाइश रहती है। किन्तु भगवान् का अनुग्रह बिल्ली की भाँति है। उनकी कृपाशक्ति भक्त को इस प्रकार पकड़े रखती है जिस प्रकार बिल्ली अपने बच्चे को। भक्त, बिल्ली के बच्चे की भाँति निश्चिन्त होकर भगवान् से चिपका रहता है और भक्ति पथ पर उसे ले जाने की, उसके संरक्षण की सारी व्यवस्था स्वयं भगवान् करते हैं एवं उसकी ओर से

---

१—श्रीमद्वल्लभाचार्य और उनके सिद्धान्त—भट्ट श्री व्रजनाथ शर्मा, पृ० ६६-७०

२—कृपा कृपा सबहीं कहैं कृपा पात्र नहिं कोय।
कृपा पात्र सो जानियें जो आज्ञावर्ती होय ॥१॥—सुधर्मबोधिनी, पृ० ७८

हाथ छूट जाने पर भी उसे सँभाल लेते हैं, गिरने नहीं देते। एक मात्र श्रीकृष्ण की कृपा पर भरोसा रखने वाले भक्त एकान्तरूप से श्रीकृष्ण पर निर्भर रहते हुए उन्हें निःशेष आत्मसमर्पण कर देते हैं। अपनी ओर से प्रयास का अभाव तामसिक अकर्मण्यता का बहाना भी बन सकता है, इसलिये कृपा की ऐकान्तिक स्थिति को प्राप्त करने के पूर्व व्यक्ति के प्रयास की आवश्यकता बनी रहती है चाहे वह प्रयास आत्मसमर्पण का ही क्यों न हो। उसके लिये प्रयास का महत्व इतना है, बस। कृपा की महत्ता इस बात से भी है कि यह अत्यन्त व्यापक है। सांसारिक प्रवाही जीवों से लेकर प्रेमप्रवण जीव पर्यन्त इसके अधिकारी हैं। जो जहाँ, जिस अवस्था में, चेतना के जिस स्तर पर है, भगवान् की कृपा वहाँ उसी अवस्था में चेतना के उसी स्तर पर उसमें क्रियाशील हो सकती है। सब अपनी सामर्थ्य के अनुसार कृपा का अनुभव करते हैं। इस कृपा से जीव की कोई कोटि वञ्चित नहीं रहती। अनुग्रह की सीमा के अन्तर्गत प्रवाही जीव से लेकर मर्यादा जीव, पुष्टिपुष्टि जीव तथा शुद्ध पुष्टिजीव तक आ जाते हैं। मोह-माया, ईर्ष्या-द्वेष तथा कामक्रोध की प्रबल धारा में बहता हुआ भ्रान्त जीव भी करुणामय श्रीकृष्ण की कृपा प्राप्त कर सकता है एवं उस कृपा के सहारे संसार के दुर्धर प्रवाह से अलग होने में सक्षम होता है। इस प्रवाह से अपने को बचाने में अक्षम पाकर भगवान् के कृपा बल से वह परित्राण पा जाता है। दूसरा वर्ग मर्यादाचारियों का है, ये सात्विक जन धर्माचरण को अन्तिम मानकर उसे ही चरमप्राप्तव्य समझ बैठते हैं। ऐसे व्यक्ति मानसपरक सीमाओं में बँधे हुए आत्मा की स्वच्छन्दता की कल्पना में मग्न रहते हैं। इन मर्यादाबद्ध जीवों पर भी भगवान् की कृपा होती है। बन्धन, बन्धन है चाहे वह सात्विकता का ही क्यों न हो, माया त्रिगुण है चाहे वह गुण सात्विक ही क्यों न हो। भगवान् का अनुग्रह ऐसे जीवों के आत्म-तुष्ट विधान में हस्तक्षेप करके उन्हें अपनी कृपा से चेतना का वृहत्तर लोक दिखाता है, विधिनिषेध के कफ़स से निकाल कर आत्मा के उन्मुक्त आकाश में ले जाता है। पुष्टपुष्टि भक्तों में भक्ति के संस्कार तो निहित रहते हैं किन्तु उनमें सांसारिकता से नितान्त अविचलित रहने की दृढ़ता नहीं होती। श्रीकृष्ण उनकी उस प्रवाही प्रवृत्ति को रोक कर भक्ति को पूर्णतया उद्‌बुद्ध करते हैं और कृपा द्वारा उनका मार्ग प्रशस्त करते हैं। इस प्रकार कृपा का रूप, पात्र की योग्यता के अनुसार प्रकट होता है, किन्तु वह है एक ही वस्तु— श्रीकृष्ण का स्वरूप बल।

२—गुरु आश्रय—भगवत्-कृपा का अमूर्त्त रूप किसी सशरीरी महत् आत्मा में मूर्त्त होता है। केवल अन्तर्यामी को गुरु मानकर साधना-मार्ग की तमाम उलझनों तथा विपदों का निराकरण नहीं हो पाता, इसलिये भगवान् श्रीकृष्ण से तादात्म्य प्राप्त सिद्धभक्त का आश्रय लेना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य हो उठता है। गुरु के संश्रय से

अभाव में भक्ति नहीं सिद्ध हो सकती। गुरु, मानव-देहधारी होता हुआ भी मानवी चेतना में निवास नहीं करता, वह भगवत्मय होकर भगवद्रूप हुआ रहता है और इसीलिये वह भक्त को भगवान् तक ले जाने में समर्थ होता है। वह इष्टदेव का प्रतिनिधि किंवा दूत है, भक्त और भगवान् का भाव-सूत्र जोड़ने का अनिवार्य साधन है। मनुष्य की अन्तरतम आवश्यकता को गुरु ही पहिचान पाता है एवं वही उचित मार्ग को आलोकित करता है। धर्म, कर्म, वैराग्य आदि सभी साधनों में भटक कर भी सूर जब अशान्त रहे, सब साधकर भी जब कुछ न साध पाये, तब गुरु वल्लभाचार्य जी के आश्रय में उनके अन्तर का कमल स्वतः विकसित हो उठा। सूर की वास्तविक आवश्यकता को श्री वल्लभाचार्य जी ने पहिचाना, उनके अन्तरतम की माँग जैसे पूरी हो गई, कृष्ण के अनुराग की घाटियों में विचरण करते हुए उनका कवि, उनका सङ्गीतकार धन्य हो उठा। अपने प्रयास की मरुभूमि में सूर का भक्त कब तृप्त हो सका? चरम बुद्धिवादी निमाई पण्डित के गुरु-मन्त्र ने तर्कवादी युवक के तन-मन-प्राण को इतना आप्लावित किया कि उनका व्यक्तित्व ही बदल गया, तार्किक से वह प्रेमी हो गये। गुरु, भक्त के हृदय की वास्तविक माँग को समझता है एवं उसे प्रबुद्ध कर देता है। भगवान् की कृपा का सञ्चार उसके द्वारा ही होता है, इसलिये भक्तिमार्ग में गुरु के बिना साधना करना भ्रान्ति या भटकना है। बिना गुरु की कृपा के गोविन्द भी कृपा नहीं करते। हरिराम व्यास जी ने कहा है कि जैसे गुरु वैसे गोपाल, कृष्ण तभी मिलते हैं जब गुरु कृपा करते हैं।[१] अनन्य-प्रेम की प्रतीक मीराबाई की साधना में गुरु का कितना महत्व था, यह उनके गुरु को सम्बोधित करके लिखे गये पदों से व्यक्त है। सद्गुरु ने ही उनके हृदय की उस प्रेमशिखा को उकसाया जो 'जोगिया' की निष्ठुरता में भी सतत जलती रही एवं मीरा को दग्ध, भस्म करती हुई केवल इस कामना में पुञ्जीभूत कर दिया कि ज्योति से ज्योति एकाकार हो जाय। राधावल्लभीय साधना का मूलमन्त्र गुरु 'हरिवंश' का स्मरण, चिन्तन, तथा नाम-जप है। गुरु के नाम के इन चार अक्षरों में प्रेम के समस्त तत्व विद्यमान हैं तथा पराभक्ति की सारी साधना निहित है। हरिवंश नाम के जप से तथा उसके ध्यान से, मन में हरि, राधा, वृन्दाविपिन एवं सहचरी का स्वरूप उद्घाटित होता है।[२]

---

१—जैसे गुरु तैसे गोपाल।
हरि तौ तबही मिलिहैं, जब ही श्रीगुरु होंहि कृपाल ॥—व्यासवाणी-पूर्वार्द्ध, पद सं० ६३

२—(क) चार अच्छर वैभव अमित सम्पत्ति नित्य विहार।
ध्यान सकल इनतें प्रगट लीला धाम अपार ॥८॥—सुधर्मबोधिनी, पृ० १८

(ख) नेह रूप हरिवंश को धर्यौ सो उर आकाश।
हृदय सु सम्पुट में नर्यौ वृन्दाविपिन प्रकाश ॥७४॥

वस्तुतः नामरूपात्मक सृष्टि में भ्रान्त मन बुद्धि को सत्य से परिचित कराने के लिये किसी मूर्त्त आधार की आवश्यकता होती है। साधारण जीवन-यापन करता हुआ जीव भगवान् को भूला रहता है, इस भूलने के परिणामस्वरूप उसे कष्ट का भी अनुभव हुआ करता है और आत्मप्रकाश के अभाव में वह अज्ञान के तम में डूबा सुख-दुख पाता रहता है। जीव 'संसार' में रत होकर अपने स्वरूप को भूल जाता है, जीवन के उद्देश्य को विस्मृत कर बैठता है। भौतिकता के आवेश के कारण जीव अपने मूल-स्वरूप से, अपने और परमात्मा के नित्य-सम्बन्ध से, बिल्कुल अनभिज्ञ रहता है। शाश्वत सुख के केन्द्र से विच्युत होकर वह तमाम क्षणिक सुखों में आत्म परितृप्ति खोजता है, किन्तु कभी शान्ति का अनुभव नहीं कर पाता। व्यामोह के अन्धकार में उसकी आत्मचेतना भटकती रहती है। आत्मचेतन जीव के लिये अज्ञान कभी वरदान नहीं हो पाता तथा 'अज्ञान सुख है' (Ignorance is bliss) का सूत्र उस पर चरितार्थ नहीं हो पाता, इसलिये वह भ्रान्तियों में उलझा हुआ असन्तुष्ट रहता है। जीवन के मर्म में किसी वेदना का उसे आभास होता है, यह वेदना सत्य के अभाव की होती है। किन्तु असन्तोष के बावजूद भी वह अपने को संसार-चक्र से छुड़ा नहीं पाता, गुरु ही उसका उद्धार करता है। गुरु, आत्मा को अभ्रान्त दृष्टि देकर सत्य से उसके सम्बन्ध-सूत्र को जोड़ता है। गुरु, व्यक्ति का सम्बन्ध आनन्द, प्रेम, सौन्दर्य, शुभ एवं शक्ति के उस परमस्रोत से जोड़ देता है जिसके संसर्ग व सान्निध्य से अज्ञान की घुटती हुई खाइयाँ ज्योतिर्मय हो उठती हैं। व्यक्ति को सामान्य सांसारिक प्राणी से भगवान् का भक्त गुरु ही बना देता है, यह अद्भुत सामर्थ्य उसी में है।[1]

गुरु, व्यक्ति की आत्म-प्रेरणा को स्पष्टतर एवं प्रबलतर करता जाता है एवं अन्त में भगवान् से मिलन करवाता है। अज्ञान के संस्कारों के कारण जीव की आत्मप्रेरणा बहुत कुछ धुँधली तथा अस्फुट होती है। आत्मा की नीरव पुकार को गुरु वाणी देता है एवं प्रकाश की माँग को स्पष्ट करता है। वह न केवल ज्योति को उकसाता है वरन् साधना के नाना झञ्झावातों में उस लौ का संरक्षण करता है। शिष्य को बालक की भाँति संरक्षित रखकर वह उसे भगवान् से साक्षात्कार के लिये प्रौढ़ एवं पुष्ट करता है। अतः गुरु, साधना का अपरिहार्य अङ्ग है तथा भगवत्कृपा के

---

आचारज गुरु चरन गहि इतनौ बड़ौ सयान।
ज्ञेय ज्ञान गोचर कर्यौ ध्येय ध्यान उर आन ॥७५॥—सुधर्मबोधिनी पृ० ७

१—गुरु बिनु ऐसी कौन करै?
माला तिलक मनोहर बाना, लै सिर छत्र धरै।
भवसागर तैं बूड़त राखै, दीपक हाथ धरै।
सूरस्याम गुरु ऐसो समरथ, छिन मैं लै उधरै॥—सूरसागर, पदसं० ४१७

पोषण के लिये जल एवं प्रकाश के समान है। वह साधना के पिता का संरक्षण, माता का पोषण, मित्र का परामर्श, एवं हितैषी का शुभचिन्तन —सभी कुछ अपने दिव्य व्यक्तित्व से देता है। अज्ञानलिप्त व्यक्तित्व के सभी अङ्गों को ब्रह्म में समर्पित करवाता है और इस प्रकार अज्ञान का निदान करता है। अहंता ममता के शासन से मुक्त करके भगवान् के प्रति शरण का भाव गुरु ही 'ब्रह्म-सम्बन्ध' द्वारा सजीव करता है। व्यक्तित्व तथा जीवन के सभी स्रोतों को गुरु भगवान् की ओर उन्मुख कर देता है, पुष्टिमार्ग में इसे 'ब्रह्म-सम्बन्ध' कहा गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि चेतना के विकास में गुरु का महत्वपूर्ण हाथ है, अतः भक्तिमार्ग में भगवान् के साथ ही गुरु के प्रति समर्पण भी अपेक्षित है। यह समर्पण एक प्राणी का अन्य समचेतन प्राणी के प्रति नहीं होता, यह समर्पण मानव का अपनी ही दिव्यता के प्रति होता है। उसी का दिव्यरूप जैसे गुरु में साकार हुआ रहता है, इसलिए गुरु, साधना की प्रेरणा बनता है। यों तो अन्तर्यामी भगवान् सबके गुरु हैं किन्तु उनका आदेश या प्रेरणा व्यक्ति की बाह्यचेतना में निर्भ्रान्त नहीं रह पाती। अन्तर्यामी गुरु के प्रति भी आत्मसमर्पण होता है किन्तु वह पूर्ण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जहाँ आत्मा भगवान् से नित्ययुक्त है, वहाँ समर्पण कोई विशेष अर्थ नहीं रखता। समर्पण की वास्तविक आवश्यकता इस देह, मन, प्राण में आबद्ध चेतना में है, अहं की दुर्विनीत बाह्यचेतना का समर्पण ही प्रमुख समर्पण है। यह बाह्यचेतना अमूर्त्त अन्तर्यामी को ठीक-ठीक नहीं समझ पाती, अतः समर्पण भी नहीं कर पाती। अस्तु, गुरु के मूर्त्तरूप में व्यक्त दिव्य सत्ता को अपना समर्पण करती है। गुरु के प्रति समर्पण से व्यक्तित्व की सम्पूर्णता साधित होती है। यह समर्पण न केवल अन्तरात्मा को जागृत करता है, वरन् मनुष्य की बहिर्तम चेतना में जहाँ अहं का एकछत्र साम्राज्य है, वहाँ भी भागवत-चेतना को स्थापित करता है। इसीलिए गुरु के प्रति समर्पण को सारे समर्पणों से श्रेष्ठ कहा गया है। बौद्धिक युग में इसे अंधश्रद्धा की संज्ञा दी जाती है। अहंप्रधान व्यक्ति इसे व्यक्तित्व-विहीनता समझता है किन्तु भक्ति में अहं का सम्पूर्ण तिरस्कार है, अतएव वहाँ अभिमान के आहत होने का प्रश्न ही नहीं उठता। श्रद्धा में जिज्ञासा की कहीं भी मनाही नहीं है। सत्य का जिज्ञासु-प्राणी गुरु के दिव्य अंश के प्रति समर्पण करके अपना संस्कार करता है। यह सच है कि वास्तविक गुरु अत्यन्त विरल हैं और 'गुरु' बनने वाले ढोंगी साधु विवेकरहित व्यक्ति को नाना प्रकार से ठगते फिरते हैं; किन्तु वस्तु की विरलता उसकी असत्यता का प्रमाण नहीं है। गुरु एक प्रयोजन है, अन्तश्चेतना को बाह्यचेतना से एकाकार करने का व्यावहारिक [illegible] का आलोक-स्तम्भ। आत्मा के गुप्त अङ्गों को पढ़ने के लिए वह अनिवार्य माध्यम है, अतः गुरु बनना कोई खिलवाड़

नहीं है। शास्त्र में गुरु के अनेक लक्षण बताये गये हैं। गुरु का अनेक विरल गुणों से विभूषित होना आवश्यक है अन्यथा वह गुरु नहीं हो सकता। गुरु की मूर्ति इस प्रकार अङ्कित की गई है—

अवदातान्वयः शुद्धः स्वोचिताचारतत्परः।
आश्रमी क्रोधरहितो वेदवित् सर्वशास्त्रवित्॥
श्रद्धावाननसूयश्च प्रियवाक् प्रियदर्शनः।
शुचिः सुवेशस्तरुणः सर्वभूतहितेरतः॥
धीमाननुद्धतमतिः पूर्णोहहन्ता विमर्शकः।
सगुणोच्चर्सासु कृतधीः कृतज्ञः शिष्यवत्सलः॥३६॥
निग्रहानुग्रहे शक्तो होममन्त्रपरायणः।
ऊहापोहप्रकारज्ञः शुद्ध त्मा यः कृपालयः॥
...इत्यादि लक्षणैर्युक्तो गुरुः स्याद्गरिमानिधिः॥[१]

संक्षेप में, गरिमा की निधि गुरु को शुद्ध, श्रद्धावान्, शुचि, क्रोध रहित, धीमान् शिष्यवत्सल, निग्रही आदि होना चाहिये तथा उसमें शास्त्रज्ञान एवं विमर्श द्वारा ऊहापोह आदि को सुलझा सकने की योग्यता भी होनी चाहिए।

रसमार्गीय कृष्णभक्ति साधना में गुरु का राधाकृष्ण के चिदात्मक रस से पूर्णतया परिचित होना भी आवश्यक है। उपरोक्त गुणों के अतिरिक्त उसमें लीलारस के स्फुरण की क्षमता भी अपेक्षित है। चैतन्य महाप्रभु, वल्लभाचार्य, हरिदास स्वामी एवं हितहरिवंश जी भक्ति की शब्दावली में 'रसिक' भी कहे जाते हैं। उनमें सामान्य भक्ति को उद्‌बुद्ध कर देने की ही क्षमता नहीं थी, वे भक्त की चेतना में कृष्ण की लीला को, सगुण के रस को प्रवाहित कर सकने में सक्षम थे तथा भक्त एवं भगवान् के बीच की रसमाधुरी को प्रकट करने में समर्थ थे। इसलिये ये आचार्य ललिता आदि सखियों, कृष्ण की वंशी, या स्वयं राधा के अवतार माने जाते थे।

२. आत्मसमर्पण—प्रेम में दो तत्त्व समानरूप से विद्यमान रहते हैं—आकर्षण एवं समर्पण। भगवान् के प्रति आकर्षण विकारों के प्रक्षालन पर ही उत्पन्न हो पाता है, यह प्रक्षालन उनके प्रति समर्पण से साधित होता है। भक्त ज्ञानी किंवा तपी नहीं है जो अपने अध्यवसाय अथवा कृच्छ्र तपस्या से माया के बन्धनों एवं मन के विकारों से मुक्ति पा जाय। वह अपनी कमियों को दीनता से अनुभव करता है एवं उन्हें भगवान् के सम्मुख उद्‌घाटित कर रख देता है। यही उसकी ओर से भगवान् के प्रति आत्म-समर्पण किंवा शरणागति है जो प्रेमभक्ति की प्रधान भूमिका है।

---

१—ह.रेभक्ति विलास, प्रथम विभाग—प्रथम विलास वृत्ति ३२, ३३।

समर्पण का अर्थ है जो कुछ है, जैसा है, उसे भगवान् को निवेदित कर देना। भक्त अपने जीवन एवं व्यक्तित्व के सभी गतिविधियों को श्रीकृष्ण के चरणों में अर्पित कर देता है। उसमें जो भी भला-बुरा है, वह भगवान् को सौंप दिया जाता है। आत्मसमर्पण उत्कट आत्मनिवेदन है जिसमें भक्त अपनी समस्त त्रुटियों, समस्त उपलब्धियों सहित आराध्य के सम्मुख उपस्थित होता है, उनकी शरण ग्रहण करता है और उनका बन जाता है। इसमें कोई कामना, कोई शर्त, कोई अलगाव नहीं रखा जाता, अहङ्कारजन्य, कामनाजन्य सारी चित्तवृत्तियाँ आराध्य को समर्पित कर दी जाती हैं ताकि भक्त, भगवान् के सान्निध्य के योग्य बन सके। व्यक्तित्व के सभी अङ्गों सहित समर्पण होता है और उसमें देह, मन, प्राण की सारी मूलभ्रान्तियाँ आत्मा के अपरिछिन्न प्रकाश से प्रकाशान्वित की जाती हैं, अतः इनमें किसी प्रकार का दुराव, दुराग्रह किंवा हठ नहीं रखा जाता। मन की कल्पनायें, स्थूलबुद्धि पर आधारित उसकी धारणायें भगवत्प्रेम के सम्मुख आत्म विसर्जन करती हैं। भक्ति में इतना ही पर्याप्त नहीं है कि मानसिक गतियाँ समर्पित हों, अपितु प्राणगत एवं देहगत समर्पण प्रवृत्तिमार्गी रामानुगा-भक्ति में अनुपेक्षणीय है। सम्पूर्ण व्यक्तित्व का निःशेष आत्म-समर्पण कृष्णभक्त को काम्य है, उन्हें वह सामान्य मानव-चेतना से मुक्त करके पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण की परमचेतना से स्फूर्तिशील करना चाहता है, अतः आधार के प्रत्येक अङ्ग को वह परमाधार से जोड़ता है। इस संयोग में मानव के प्राण एवं देह अधिक बाधा उपस्थित करते हैं। प्राणजगत् के उच्चतर धरातल पर नाना प्रकार की जटिल आसक्तियों, अधिकार भावना, महत्वाकांक्षा आदि का दुर्ग होता है और इसका निम्न धरातल काम, क्रोध, मत्सर, ईर्ष्या, द्वेष आदि का अखाड़ा बना रहता है। ये सारी प्राणगतियाँ भक्ति की विरोधिनी हैं। भगवत्प्रेम, ईर्ष्या-द्वेष आदि क्षुद्रताओं से रहित आत्मपरितृप्त वस्तु है, अधिकार-मात्सर्य से रहित स्निग्धता, उज्ज्वलता ही भगवत्प्रेम का स्वभाव है। वह हृदय की अत्यन्त मसृण दशा है तथा प्राणगत वृत्तियों की कर्कशता उसे प्रकट नहीं होने देती। जो प्रेम मानस में विशुद्ध आनन्द एवं सम्पूर्ण निर्विकारता की प्रतिभा बनकर धृत होता है, वह प्राण के निस्पृह स्पन्दनों में ही गतिमान् होता है। अस्तु, पराभक्ति के सक्रिय होने के लिये यह अनिवार्य है कि प्राण जगत् की हलचल शान्त हो, बुद्धि की भाँति प्राण को भी श्रीकृष्ण में नियोजित होना अपेक्षित है। कृष्ण-भक्ति में मन एवं प्राण के साथ-साथ देहचेतना का परिष्कार भी आवश्यक समझा गया है, जैसाकि इस साधना के सूक्ष्म गोलोकोपयोगी देह की कल्पना से व्यक्त है। प्रेम का आधार शरीरधारी मानव है। देह स्वभावतः तमोमय है, तन्द्राग्रस्त है, वह दिव्यप्रेम के चैतन्य का आधार नहीं बन पाता। देहचेतना ही मनुष्य की तमाम आसक्तियों का मूल है। भक्तों ने कहा है

कि धन, गृह, दारा, सुत आदि के सम्बन्ध देह से ही हैं, इनका मोह इतना प्रबल है कि भगवान की भक्ति नहीं हो पाती।[१] अतः देह की वृत्तियों का समर्पण भाव-साधना के लिये आवश्यक है। कृष्णभक्ति का मूलमन्त्र मानवीय सम्बन्धों तथा मानवीय मनोरागों से कृष्ण को भजना है। अतः इन मनोरागों को उनके मानवी आलम्बनों से हटाना कृष्णभक्त के लिये अनिवार्य हो जाता है। इन्द्रियों के दोषों का परिहार उनके कृष्ण की सेवा में नियोजन से सम्भव है तथा भगवद्विग्रह की परिचर्या अर्थात् तनुजा सेवा से देह का समर्पण साधा जाता है। इन्द्रियों के कृष्ण में नियोजित होने पर उनकी चिदात्मकता प्रकट होती है। समर्पण व्यक्तित्व के सभी अङ्गों का होता है, इन्द्रियों का भी कृष्ण रति में उन्नयन होता है, उनका परिष्कार किया जाता है, बहिष्कार नहीं।

समर्पण में तामसिकता बड़ी बाधक होती है। यह सोचना कि भगवान् ही सब कुछ कर देंगे, उनकी शक्ति व्यक्तित्व के अङ्गों का समर्पण भी कर देगी, व्यक्ति का काम केवल चुप बैठकर सब कुछ देखना है, नितान्त भ्रमात्मक है। ये सब भावनायें समर्पण विरोधी हैं। समर्पण का अर्थ निश्चेष्टता या अकर्मण्यता नहीं है। समर्पण मनोवृत्तियों का दिशा-परिवर्तन है, निम्न से ऊर्ध्व में आरोहण है। अतएव भक्त में दैन्य के साथ ही समर्पण का सङ्कल्प भी अपेक्षित है। किन्तु भक्त के सङ्कल्प तथा ज्ञानी के सङ्कल्प में अन्तर है। भक्ति सन्दर्भ के कर्मार्पण-प्रकरण में दोनों का अन्तर स्पष्ट किया गया है। देहेन्द्रियाँ ही कर्म करती हैं एवं वे ही कर्म का फल भोगती हैं। मैं देहेन्द्रियों से पृथक् नित्यसिद्ध-शुद्ध-बुद्ध आत्मा हूँ, अणु चैतन्यस्वरूप हूँ—यह भावना ज्ञानेक्षु साधक के कर्मसमर्पण की होती है। मैं कुपथ में भटक गया हूँ, मेरी इस दुर्वासना को देखकर करुणामय कृष्ण मेरे प्रति करुणा करें, वे स्वयं यदि कृपा करके मेरे दुर्वासनाजनित दुःख को दूर न करें, तो मेरी अपनी शक्ति से इसकी निवृत्ति असम्भव ही है—इस प्रकार दैन्यविगलित विज्ञापन भक्त के आत्म-समर्पण का स्वरूप है।[२]

आत्मसमर्पण का प्रमुख अङ्ग शरणागति है। ज्ञान-वैराग्य तथा कर्म आदि सबका उपदेश पाकर भी हतप्रभ अर्जुन की विकल बुद्धि को कष्ट में देखकर भगवान्

१—बौरे मन रहन अटल करि जान्यौ।
धन दारा सुत बन्धु-कुटुम्ब-कुल, निरखि निरखि बौरान्यौ॥—सूरसागर, पद सं० ३१९

२—"....भक्तीच्छूनान्तु अनेन दुर्वासनदुःखदर्शनेन स करुणामयः करुणां करोत्विति वा, या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी। त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्नापसर्पतु॥"
—भक्ति संदर्भ, पृ० २८०

कृष्ण ने अन्त में यही कहा—'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज, अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि, मा शुचः।' साधन में असमर्थ व्यक्ति के लिये पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण की शरण एकमात्र वरदान है। अतः भगवान् ने सभी धर्मों के परित्याग-पूर्वक अपनी शरण में आने का आवाहन किया—यही भक्ति का प्रथम सोपान है। भगवान् अपने अभयदायक शरण में लेकर भक्त को समस्त पापों से मुक्त करने की घोषणा करते हैं। पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण के शरण ग्रहण करने के बाद भक्त को कोई भय नहीं रह जाता, वे ही उसके व्यक्तित्व का संस्कार करते हैं—मा शुचः।

शरणागति को प्रपत्ति भी कहा जाता है। भट्ट रमानाथ शास्त्री के शब्दों में "प्रपत्ति का रूढ़ अर्थ है स्वीकार और यौगिक अर्थ है आत्मनिक्षेप। प्र प्रकर्षेण एकदम, पत्तिः पदनं भगवान् में चले जाना, और आत्मनः अपने आपका भगवान् में निक्षेप, नितरां क्षेपः एकदम डाल देना दोनों बात एक ही है।[१]

प्रपत्ति तीन प्रकार की होती है—भगवत्कृत भक्त का स्वीकार, भक्तकृत भगवान् का स्वीकार एवं मिश्र। गोपियाँ प्रथम की उदाहरण हैं, प्रह्लाद द्वितीय के उदाहरण हैं एवं मिश्र प्रपत्ति के उदाहरण हैं अर्जुन। इनमें से भक्तकृत प्रपत्ति किंवा मिश्रप्रपत्ति अधिक देखने में आती है। भगवान् कृत भक्त का स्वीकार उनके अतिप्रसाद का उदाहरण हैं। किन्तु ऐसे भी उदाहरण मिल जायेंगे जहाँ भगवान् भक्त के पीछे दौड़ा करते हैं और उसकी इच्छा-अनिच्छा की परवाह न करके उसे अपने में केन्द्रित कर लेते हैं। अंग्रेजी कवि थाम्सन के काव्य (The Wound of Heaven) में इसी प्रकार की भावना अभिव्यक्त हुई है।

भक्त की ओर से प्रपत्ति में कुछ आवश्यक शर्तें हैं, जिनकी पूर्ति पर भगवान् की कृपा अनुभव में आती है। शरणागति के षट् अङ्ग हैं—अनुकूल-सङ्कल्प, प्रतिकूलता का वर्जन, रक्षा में विश्वास, गोप्तृत्ववरण, आत्मनिक्षेप तथा कार्पण्य। भगवान् की इच्छा के अनुरूप चलने का सङ्कल्प अनुकूलता का सङ्कल्प है, पूर्णसमर्पण की यह आवश्यक शर्त है। यदि सत्ता का कोई अंश समर्पण करे और कोई अपने ही रास्ते पर चलता चले, तब भगवत्कृपा कार्यान्वित नहीं होती। समर्पण के पीछे अपनी इच्छाओं, अभिलाषाओं एवं दुराग्रहों का पोषण करते हुये भगवत्कृपा का आवाहन करना व्यर्थ है। समर्पण में भगवान् की अनुकूलता देखी जाती है, अहं की नहीं। आत्मोत्थान के लिये भगवान् के अनुकूल चलने का सङ्कल्प आवश्यक है। इसी के पूरक रूप में प्रतिकूलता का वर्जन अपेक्षित है। व्यक्ति के भगवद्विरोधी अंशों—वस्तुओं, विचारों, भावनाओं का परित्याग होना चाहिये। सत्य और मिथ्या,

---

१—भक्ति और प्रपत्ति का स्वरूपगत भेद—पृ० २

प्रकाश और अन्धकार, समर्पण और स्वार्थ एक साथ नहीं रह सकते। अतः भक्त को इस मिथ्या धारणा को त्याग देना चाहिये कि चाहे वह भगवान् के द्वारा निर्दिष्ट-पथ पर चले या न चले, भगवान् की कृपा उसके लिये सब कुछ करती रहेगी। जीवन की विकृतियों एवं सत्य की अनुकृतियों का वर्जन सत्य के प्रकटीकरण के लिये आवश्यक है। जो कुछ भक्त एवं भगवान् के सम्बन्ध को स्थापित होने से रोकता है, उनके एकाकार होने में बाधक है, उसका परित्याग भक्त का कर्तव्य है। भगवद्विरोधी गतियों से समर्पण में व्याघात पहुंचता हैं, अतः उनका परिवर्जन अनिवार्य है।

गोप्तृत्ववरण का अर्थ है कि भगवान् में अनेक गुप्त शक्तियाँ हैं, वे सतत भक्त की रक्षा के लिये उद्योगशील रहती हैं। जो भकवान् की शरण में जाता है, भगवान् उसकी सहायता कई रूप से करते हैं। प्रगटरूप में उनकी कृपा जितनी अनुभवगम्य हो पाती है, उससे कहीं अधिक अप्रकट रूप में वह क्रियाशील रहती है—यही उनका गोप्तृत्ववरण है। भक्त की वाह्यचेतना के अन्तराल में भगवान् की कृपाशक्ति अविचल भाव से उसका उद्धार करने में गतिशील रहती है। जब उसको भगवान् की करुणा का भान होता है तब वह उपकृत होता है, आराध्य की असीम दयालुता के प्रति कृतज्ञता से भर जाता है।[1] रक्षा में विश्वास इसी से सम्बन्धित है। सर्वसमर्थ प्रभु की शरण में जाने पर भक्त की चिन्ता भगवान् करते हैं। किन्तु मानव का संशयग्रस्त मन उनकी कृपालुता के प्रति भी सन्दिग्ध हो जाता है। इसलिये उसे यह विश्वास दृढ़ करना पड़ता है कि भगवान् उसकी हर परिस्थिति में रक्षा करेंगे। इस विश्वास के उत्पन्न होते ही रक्षा का अनुभव होने लगता है। संशय से इस अनुभव में बाधा पहुँचती है, अतः भक्त के उत्कर्ष के लिये रक्षा में विश्वास वाञ्छनीय है।[2]

आत्मनिक्षेप एवं कार्पण्य परस्पर गुम्फित हैं। भक्त जैसा भी है, भला-बुरा, अपने को भगवान् के हाथों सौंप देता है—यही आत्मनिक्षेप है। सब कुछ छोड़कर एकमात्र भगवान् की शरण में जाना शरणागति का प्रायः अन्तिम सोपान है। भक्त का यह मनोभाव भगवान् की शरण में जाने का दृढ़ सङ्केत है—

> जो हम भले बुरे तौ तेरे।
> सब तजि तुध शरणागति आयो दृढ़ करि चरण गहे रे॥[3]

---

१—करनी करुणा सिन्धु की मुख कहत न आवै।
कपट हेतु परसे वकी जननी गति पावै ॥४॥—'विनय', सूरसागर

२—सरन गए को को न उबार्यौ।
जब जब भीर परी संतनि कौं, चक्र सुदरसन तहाँ संभार्यौ।
सूर स्याम बिनु और करै को, रंग-भूमि मै कंस पछार्यौ ॥१४॥—वही

३—सूरसागर—'विनय', पद १७१

इस आत्मनिक्षेप में कार्पण्य रहता है, अपनी दीन-हीन अवस्था का बोध रहता है। करुणामय भगवान् के सामने अपनी प्रणति प्रकाशित करने में भक्त में स्वभावतः कार्पण्य आ जाता है। अपने दोषों का बोध उसे दैन्य से भर देता है और उस दैन्य को लेकर भी भक्त, भगवान् की असीम करुणा का याचक बन पाता है। कार्पण्य, भक्त की अहंकार-रहितता का सूचक है। संक्षेप में शरणागति के ये मुख्य लक्षण हैं। भक्ति में शरणागति किंवा आत्मसमर्पण का सर्वाधिक महत्व है। रागमार्गीय भक्ति नवधा भक्ति के इस इति से आरम्भ होती है। कृष्ण-भक्त के लिये विधिमार्गीय भक्ति के अन्य भावनों को अपनाना उतना अपरिहार्य नहीं होता जितना आत्मनिवेदन। आत्मसमर्पण से भक्त में जो कुछ भी कुटिलता है, वह ऋजु होता है, जो कुछ विकृत है, वह सुकृत में परिणत होता है और उसमें जो कुछ मिथ्या है, वह सत्य में रूपान्तरित हो जाता है। यह समर्पण लौकिकता को अलौकिकता में परिवर्तित कर देने का प्रमुख साधन है। शरणागति से भक्त, भगवान् की तद्रूपता प्राप्त करता है।[१]

४. नाम—यों तो मध्ययुग के निर्गुण-सगुण सभी भक्ति-सम्प्रदायों में 'नाम' का महत्व है किन्तु इसे जैसी मधुरता कीर्तन के रूप में चैतन्य-सम्प्रदाय में प्रदान की गई उससे नाम-साधना में विशेष भाव प्रवणता का सञ्चार हुआ।

नाम-नामी का सम्बन्ध अविच्छेद्य है। कृष्ण-भक्ति के सगुण मतवाद में नाम से अधिक रूप को महत्व दिया गया। किन्तु राग की प्रारम्भिक स्थिति में रूप का साक्षात्कार आसान नहीं है, इसलिये नामी के प्रतिनिधि नाम का महत्व कृष्णभक्ति-सम्प्रदायों में रहा है। मध्ययुग के कृष्ण-भक्ति सम्प्रदायों में स्वरूपविग्रह के साथ ही नाम की उपासना का भी प्रचलन था। नाम दो प्रकार का होता है—स्वरूपनाम एवं लक्षणद्योतक। एक से इष्ट का स्वरूप प्रकाशित होता है, दूसरे से उनका स्वभाव। जैसे कृष्ण, राम भगवान् के स्वरूपगत नाम हैं किन्तु कंसारि, गोपीजन-वल्लभ, यशोदानन्दन आदि कृष्ण के लक्षणगत नाम हैं इनसे उनके स्वभाव का बोध होता है। स्वरूप नाम भगवान् के स्वरूप का उद्घाटित करता है और लक्षणगत नाम उनकी लीलाओं की स्फूर्ति में सहायक होते हैं। किन्तु पुरुषोत्तम की लीला का स्फुरण तब तक सम्भव नहीं हो पाता जब तक कि उनके स्वरूप की स्फूर्ति से चित्त

---

१—परम कृपाल उदार यह निज सुख सम्पत्ति देत।
शरणागत जन कौं जु कछु सौं अपनौं करि लेत ॥७॥—मु० बो०, पृ० ४१
धर्मी धर्म प्रवीन लीन सदा छित मधुर रस।
शरणागत आधीन ताकौं अपनी सम करत ॥३४॥—वही, पृ० ४३

की चञ्चलता नष्ट नहीं हो जाती। अतएव भगवान् के स्वरूपज्ञान के लिये उनके स्वरूपगत नाम का स्मरण लीलास्फूर्ति के पूर्व आवश्यक है। चैतन्य महाप्रभु ने भगवान् के कृष्ण एवं राम इन दो स्वरूपगत नामों से अपनी प्रसिद्ध कीर्तन-पंक्तियों—'हरे राम हरे राम, राम राम हरे हरे, हरे कृष्ण हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण हरे हरे' में मन्त्रशक्ति फूंक दी। भगवान् के नाम से सब प्रकार के क्लेश हरे जाने में भक्तों का दृढ़ विश्वास है।

भगवान् का नाम-स्मरण भगवत्कृपा-शक्ति का निरन्तर आवाहन है। यह सबसे सबल और सबसे सुलभ साधन है। इसमें न मन्त्र-जपविधि का ब्यौरा है, न स्थानास्थान एवं कालाकाल का झञ्झट। उठते-बैठते, चलते-फिरते, सोते-जागते, सभी अवस्थाओं में सब समय नाम लिया जा सकता है। भक्त का विश्वास है कि नाम से सारे पापों का क्षय होता है और नाम से कर्मों की यान्त्रिक शृङ्खला कटती है। मीराबाई के पद में नाम के इन्हीं प्रभावों पर विश्वास प्रकट हुआ है।[1] धर्म-मुक्तिएवं ज्ञान-भक्ति सब नाम से सधते हैं।[2] केवल यही नहीं, रस-मार्ग के सभी उपकरण नाम से प्रकट होते हैं, ऐसा विश्वास राधावल्लभ-सम्प्रदाय का है। हित (प्रेम), चित्त (साक्षी चेतना), आनन्द एवं भाव—ये रस के अनिवार्य अङ्ग हैं। ये सब

---

१—मेरो मन रामहि राम रटै रे।
राम नाम जप लीजे प्राणी, कोटिक पाप कटै रे।
जनम जनम के खतजु पुराने नामहिं लेत फटै रे॥—मीराबाई की पदावली, पद २००

× × ×

चार अच्छर हरिवंश के चार विचार स्वरूप।
हित चित आनन्द भाव मिलि रसनिधि परम अनूप॥५४॥—सु० बो०, पृ० ६

× × ×

चारौं प्रगटे नाम तें तिनतें प्रगट्यौ नाम॥
वृक्ष फूल फल बीज तें फलतें बीज सुधाम॥५८॥—सुधर्म बोधिनी, पृ० ६

२—अद्भुत राम नाम के अङ्क।
धर्म-अङ्कुर के पावन द्वै दल, मुक्ति-वधू-ताटङ्क।
मुनि-मन-हंस-पच्छ-जुग, जाकैं बल चढ़ि ऊरध जात।
जनम-मरन-काटन कौं कर्तरि तीछन बहु विख्यात।
अन्धकार-अज्ञान हरन कौं रवि-ससि जुगल-प्रकास।
बासर-निसि दोउ करैं प्रकासित महा कुमग अनयास।
दुहूँ लोक सुखकरन, हरनदुख, वेद पुराननि साखि।
भक्ति ज्ञान के पन्थ सूर ये, प्रेम निरन्तर भाखि॥९०॥—'विनय', सूरसागर

'हरिवंश' के नाम से उसी प्रकार प्रकट होते हैं जैसे बीज से वृक्ष एवं फूल-फल।[१] अवश्य ही यहाँ गुरु के नाम को दृष्टि में रखा गया है। किन्तु साधारणतया भक्त, भगवान् के नाम से भक्ति के सब अङ्गों के स्फुरित होने में आस्था रखता है। यही नहीं, नामी को वश में करने वाला एकमात्र साधन नाम ही है। इसीलिये उसे गुरु तक का स्थान दे डाला गया।[२] नाम का महत्व केवल विकार-मुक्त करने तथा नवधा-भक्ति आदि देने के कारण ही नहीं है, उसकी परम सार्थकता इस बात में है कि उससे चित्त में कृष्ण के प्रति आकर्षण उत्पन्न होता है। कृष्ण का नाम कृष्ण के लिये अनुराग उद्बुद्ध करता है।[३] मीराबाई नाम को ही प्रेम की चोट लगने का कारण बताती हैं।[४] इस नाम के प्रभाव से संसार के अन्य आकर्षण नष्ट हो जाते हैं, एकमात्र भगवत्प्रेम का ही नशा छाने लगता है।[५] श्रीकृष्ण का साक्षात्कार तो विलम्ब से हो पाता है और नाम भक्त के चित्त को द्रवीभूत कर उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व में ऐसी अनुभूतियों को जन्म देता है जो भक्त के लिये इसके पूर्व अज्ञात थीं। चण्डीदास के एक पद में राधा पर कृष्ण नाम का प्रभाव अत्यन्त सूक्ष्मता से अभिव्यञ्जित हुआ है।

सेइ केवा शुनाइल श्याम नाम।
कानेर भितरे दिया मरमे पशिल गो, आकुल करिल मोर प्राण ॥ध्रु०॥
ना जानि कतेक मधु श्याम नामे आछे गो, वदन छाड़िते नाहि पारे।
जपिते जपिते नामे अवश करिल गो, केमने पाइबो सेइ तारे॥
नाम-परतापे जार ऐछन करिल गो, अंगेर परशे किबा हय।
येखाने बसति तार नयाने देखिया गो, युवति धरम कैछे रय।
पासरिते करि मने पासरा ना जाय गो, कि करिब कि हबे उपाय।
कहे द्विज चण्डीदास कुलवती कूल नाशे आपनार यौवन जाचाय ॥[६]

---

१—सर्वोपरि हित नाम, सेवक बानी में कह्यौ।
जहं लौं धामी धाम, सब वैभव हित नाम कौ ॥३८॥—सुधर्मबोधिनी, पृ० ४

२—नाम परम गुरु सर्व पर नामी नाम अधीन।
सबके मस्तक पर लसत भरन गहत परवीन ॥७९॥—सुधर्मबोधिनी, पृ० ८

३—एके कृष्णनामे करे सर्व्वपापक्षय, नवविध भक्ति पूर्ण नाम हइते हय।
दीक्षा पुरश्चर्याविधि अपेक्षा ना करे। जिह्वास्पर्शे आचाण्डाल सबारे उद्धारे।
आनुषङ्ग फले करे संसारेर क्षय। चित्ते आकर्षये करे कृष्णप्रेमोदय।
—चैतन्यचरितामृत-मध्यलीला (१५वाँ परिच्छेद), पृ० १९९

४—गुरु मिलिया रैदास जी, दीन्हीं ग्यान की गुटकी।
चोट लगी निज नाम हरीकी, म्हांरे हिवड़े खटकी ॥—मीराबाई की पदावली, पद २५

५—पिया पियाला नाम का रे, और न रङ्ग सोहाय।
मीरा कहै प्रभु गिरधर नागर, कांचो रङ्ग उड़ि जाय ॥—वही, पद ४४

६—पदकल्पतरु, पद १४१

किसने आकर राधा को श्याम का नाम सुना दिया। श्रवण के मार्ग से वह मर्म में विध गया। उनका चित्त उस नामी के लिये आकुल हो उठा। जपते जपते राधा शिथिल हो गई किन्तु पाने की जो उत्कट अभिलाषा नाम से जग गई वह कम नहीं हो पा रही है। नाम के प्रताप से जब इतनी विवशता छा गई तो नामी के स्पर्श का क्या प्रभाव होगा ? राधा का लोक-परलोक सभी नष्ट हो गया, कुलवती का शील-सङ्कोच सभी घुल गया, किन्तु उनसे श्याम नाम नहीं छोड़ा जाता क्योंकि न जाने इस नाम में कितना मधु है ? पूर्वराग के उत्पन्न होने एवं उसकी कुछ दशाओं का अत्यन्त दार्मिक चित्रण इस पन में हुआ है। नाम से राधा के अन्तस्तल में प्रसुप्त कृष्णप्रेम जागरित हुआ एवं उस नाम के प्रभाव से प्रेरित होकर वह नामी से साक्षात्कार करने को तुल गई चाहे उसमें उन्हें मर्यादा की तिलाञ्जलि ही देनी पड़े। नाम का महत्व केवल यहीं तक नहीं है, वरन् विरह की प्रचण्ड ज्वाला में जब भक्त को सब कुछ विस्मृत हो जाता है, तब एक नाम के सहारे ही उसका सम्बन्ध भगवान् से जुड़ा रहता है। मरण-दशा के उपस्थित हो जाने पर सबसे नाता टूट जाता है, एक नाम से ही नाता नहीं छूटता, क्योंकि प्रियमिलन तक जीवित रहने का यही एकमात्र सहारा होता है। वेदना से व्याकुल विरहिणी मीरा का यही सम्वल हुआ।[१] विरह की निस्सहाय अवस्था में नाम का ही सहारा रहता है।

नाम-स्मरण के लिये भक्त का अमानी, विनम्र तथा सहिष्णु होना परमावश्यक है। चित्त की कोमल वृत्तियों में ही कृष्ण का आविर्भाव होता है, अतएव चैतन्य महाप्रभु ने कहा कि—

**तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना।**
**अमानिना मानदेन कीर्त्तनीयः सदा हरिः॥**[२]

५. सत्सङ्ग—भक्ति के फलीभूत होने के लिये जितना आवश्यक भगवत्कृपा है, उसके पल्लवित होने के लिये उतना ही आवश्यक सत्सङ्ग है। जिन व्यक्तियों ने भक्ति-मार्ग में प्रवेश पा लिया है और जो माया के बन्धनों से मुक्त हो चुके हैं, उन व्यक्तियों का सङ्ग नये साधक की साधना में सहायक होता है। सत्सङ्ग से उसमें महत्वृत्तियाँ संक्रमण करने लगती हैं तथा उसकी निम्नवृत्तियाँ नष्ट होने लगती हैं। जिस दिन सन्त

---

१—नातो नाम को मोसूं, तनक न तोड्यो जाइ। टेक।
पानां ज्यूं पीली पड़ी रे, लोग कहें पिंड रोग।
× × ×
म्हारे नातो नाव कोरे, और न नातो कोइ।
मीरा व्याकुल विरहणी रे, पिया दरसण दीजो मोइ॥—मीराबाई की पदावली, पद ७४

२—शिक्षाष्टकम्, श्लोक ३—(महाप्रभु-ग्रन्थावली)

से मिलन होता है, उस दिन सारे धर्माचरणों का फल प्राप्त-सा हो जाता है। मिथ्या वाद-विवाद से परे सन्त भगवान् के निर्मल चरित का गान करता है और करवाता है। यहाँ तक कि उसकी सङ्गति से कर्म के बन्धन भी कट जाते हैं। सत्सङ्ग भगवान् की स्मृति जागृत करता है, इसीलिए साधना में इसका अमूल्य महत्व है।[१] साधु की सङ्गति से कुमति नष्ट हो जाती है और भक्ति का आविर्भाव होने लगता है।[२]

रस-मार्ग के पथिकों के लिये 'रसिक' जन का सङ्ग आवश्यक है। युगल-प्रेम जिनका सहज स्वभाव बन गया है, ऐसे लोगों का सङ्ग रस के अभिलाषी भक्तों के लिये अनिवार्य है। रस-रीति इतनी गहन और रहस्यमय है कि साधन (नेम) करके भी उसे अवगत नहीं किया जा सकता। वह केवल प्रेम से ही गम्य है और यह प्रेम रसिकों के सङ्ग से प्राप्त होता है। रसिकों के सङ्ग से चञ्चल मन का खोटा लोहा प्रेम के स्वर्ण में परिवर्तित हो जाता है। रस के उद्भावन एवं पोषण का साधन रसिकों का सङ्ग ही है।[३]

---

१—जा दिन सन्त पाहुने आवत।
तीरथ कोटि सनान करैं फल जैसो दरसन पावत।
नयो नेह दिन-दिन प्रति उनकैं चरन-कमल चित लावत।
मन-बच कर्म और नहि जानत, सुमिरत औ सुमिरावत।
मिथ्यावाद-उपाधि-रहित ह्वै, विमल-बिमल जस गावत।
बन्धन कर्म कठिन जे पहिले, सोऊ काटि बहावत।
सङ्गति रहैं साधु की अनुदिन, भव-दुख दूरि नसावत।
सूरदास सङ्गति करि तिनकी, जे हरि-सुरति करावत ॥३६०॥—सूरसागर

२—गई कुमति लई साधु की सङ्गति, भगत रूप भई सांची।
गाय गाय हरि के गुन निसदिन, काल ब्याल सूं बांचो ॥२६॥—मीराबाई की पदावली

३—मन गति चञ्चल सबनितें, उपजत छिन छिन सतरङ्ग।
आवत तबहीं हाथ जो, रसिकनि को होइ सङ्ग ॥
भयो न रसिकनि सङ्ग जो, रंग्यो न मन रंग प्रेम।
पारस बिन परसे कहो, होत लोह तें हेम ॥
× × ×
रे मन रसिकनि सङ्ग बिनु, रञ्च न उपजै प्रेम।
या रस को साधन यहै, और करो जिनि नेम ॥
—भजन सतलीला (ब्यालीसलीला—ध्रुवदास), पृ० ७०

# भक्ति की साधना एवं विकास-क्रम

## द्वितीय खण्ड

# भक्ति-साधना एवं विकास-क्रम

भक्ति का सम्बन्ध हृदय से है, अन्तर्जगत् की नाना वृत्तियों का इष्ट के साथ भावात्मक सम्बन्ध से है, अतः उसके विकास की कोई सरणि नहीं बनायी जा सकती। हृदय को भक्तिभाव की ओर उत्प्रेरित करने में अनेक साधनों का सहारा लिया जाता है, उनमें से कुछ परम्परा से मान्य है—जैसे 'नवधा' भक्ति। कृष्ण की भक्ति अनुराग-प्रधान है, बहुधा उसमें नवधा-भक्ति का साङ्गोपाङ्ग विवरण नहीं मिलता किन्तु कृष्ण-भक्ति सम्प्रदायों में राग उत्पन्न होने के पूर्व उसका स्थान निश्चित रूप से स्वीकार किया गया है। राग-भक्ति चाहे जिस भाव की हो, वह चेतना के दिव्यीकृत स्थिति की सूचक है। कृष्ण-प्रेम का पारा अत्यन्त गुरु है, उसकी पात्रता के लिए नवधा-भक्ति का आचरण आवश्यक-सा है।[१]

भक्ति के शास्त्रीय रूप का नाम नवधा-भक्ति है। सामान्यतया यही भक्ति की जन्मदात्री समझी जाती है। इसी के साथ-साथ अथवा इसके अनन्तर कृष्ण-भक्ति-सम्प्रदायों में एक विशिष्ट पूजा-प्रणाली का विधान है, जिसे 'अष्टप्रहर-सेवा' कहा जाता है। नवधा-भक्ति के प्रारम्भिक अङ्गों के आचरण द्वारा जब मन से सांसारिकता का आवेश कुछ क्षीण होने लगता है, हृदय में प्रभु का माहात्म्यज्ञान प्रकाशित होने लगता है तब स्नेह अङ्कुरित किया जाता है। पुष्टिमार्गीय आचार्यों का यह मत है कि जब मन में स्नेह अङ्कुरित होने लगे तभी सेवा-प्रणाली में रत होना

---

१—(क) नवधा विधि ये सेइये सर्वकाल करि नेम।
विना पात्र ठहरै नहीं गरुवै पारौ प्रेम ॥१०॥—सुधर्मबोधिनी, पृ० ६८

(ख) साधनादि प्रकारेण नवधाभक्तिमार्गतः।
प्रेमपूर्त्या स्फुरद्धर्माः स्पन्दमानाः प्रकीर्तिताः ॥
—जलभेद, श्लोक १०, षोडशग्रन्थ (वल्लभाचार्य)

(ग) ब्रह्माण्ड भ्रमिते कोन भाग्यवान् जीव। गुरु-कृष्णप्रसादे पाय भक्तिलतावीज ॥
माली हञा करे सेइ वीज आरोपण। श्रवण-कीर्तन जले करये सेचन ॥
उपजिया बाढ़े लता ब्रह्माण्ड भेदि जाय। विरजा ब्रह्मलोक भेदि परव्योम पाय ॥
तबे जाय तदुपरि गोलोक वृन्दावन। कृष्णचरण-कल्पवृक्षे करे आरोहण ॥

चाहिए।[१] अतः नवधा-भक्ति का क्रम भक्ति के विकास में सर्वप्रथम है, तत्पश्चात् सेवा का। किसी-किसी व्यक्ति में स्वाभाविक अनुरक्ति सेवा में देखी जाती है, इसे उसका पूर्वार्जित संस्कार समझना चाहिए, जैसे मीराबाई में बाल्यकाल से गिरिधर-गोपाल की पूजा में अनुरक्ति सुनी जाती है। किन्तु ऐसा प्रायः कम ही होता है। श्रवण आदि के अभाव में केवल सेवा से माहात्म्य का बोध प्रायः नहीं हो पाता इसलिए नवधा-भक्ति विधेय है। स्नेहप्लुत मन से सेवा करते-करते भगवान् की लीलाओं का स्फुरण होता है और लीला-स्फुरण से भक्त में रागात्मिकता का प्रादुर्भाव होता है। इस रागात्मिकता का विकास किसी निश्चित प्रणाली में बँधकर नहीं होता, अतएव शुद्ध रागमार्गीय साधना को कृष्ण-भक्ति-साहित्य में ऐसे प्रतीकों के द्वारा अभिव्यक्त किया गया है, जिनका साङ्केतिक अर्थ समझने पर उसके अतिसाधारण भावों में भी आन्तरिक साधना की गहराइयाँ छिपी हुई मिलेंगी। राग, भक्ति की अत्यन्त विकसित चेतना है, भक्त में भगवान् के प्रति न केवल स्नेह वरन् दुर्निवार आकर्षण जन्म लेता है और वह आकर्षण समस्त विघ्नों को रौंदता हुआ श्रीकृष्ण के व्यसन के रूप में परिणत होता है।

इस प्रकार नवधा-भक्ति के द्वारा व्यक्ति की सामान्य मानव-चेतना में भक्ति का बीज बोया जाता है और सेवा द्वारा उसे अङ्कुरित एवं पल्लवित करने की चेष्टा की जाती है। मानसी सेवा के प्रतिफलित होने पर भक्त और भगवान् का जो सम्बन्ध जुड़ता है तथा भक्ति की जो अन्तर्दशाएं होती हैं, उसका कोई निर्दिष्ट साधन नहीं है और न उसके लिए भक्ति की कोई विधा सहायक हो पाती है। वह इष्ट एवं भक्त के निरन्तर आदान-प्रदान की आन्तरिक भाव-दशा है जिसे काव्य-रूपों के माध्यम से व्यक्त करने की चेष्टा की गई है। राग-भक्ति उन्मुक्त प्रेम का निस्सीम आकाश है जिसके प्रतिक्षण बदलते रूप रङ्ग का ग्रहण आत्मा के पट पर ही सम्भव है, किसी निर्धारित प्रणाली से नहीं।

---

ताहा विस्तारित हञा फले प्रेमफल। इहा माली सेचे श्रवणकीर्तनादि जल॥
—चै० च० मध्यलीला (१९वाँ परिच्छेद), पृ०२२५

२— "..... So these Sravana, Kirtan and Smaran are useful in withdrawing the mind from the worldly matters and fixing it in the almighty. The mind thus detached from the World and attached to God, causes love to be awakened within the heart and only when this love awakens, the man, becomes worthy of adopting the course of Seva" A Bird's-Eye-View of Pustimarga.—N. G. Shah. Page 51.

## नवधा-भक्ति

इसके नौ अङ्ग सुप्रसिद्ध हैं—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य, आत्म-निवेदन। इनमें से दास्य और सख्य को कृष्णभक्तिरस के भावों के अन्तर्गत ग्रहण कर लिया गया। वास्तव में कृष्ण के प्रति आत्म-निवेदन से ही भाव-भक्ति प्रारम्भ होती है। विधिमार्गीय श्रवण तथा कीर्तन आदि अङ्गों का सेवन, भक्त के हृदय में भक्ति की भूमिका निर्मित करता है।

श्रवण—भगवान् के नाम, गुण, रूप आदि के अलौकिक वर्णन के सुनने को श्रवण कहते हैं। यह श्रवण, नाम एवं लीला दोनों का होता है। चैतन्य-सम्प्रदाय में नाम-श्रवण का अधिक महत्व है और वल्लभ आदि व्रज-सम्प्रदायों में लीला का। अन्तःकरण की शुद्धि के लिए नाम-श्रवण सबसे बलवान् साधन समझा जाता है। भक्तिभाव से सुना गया भगवन्नाम चित्तशुद्धि करने में जिस प्रकार समर्थ होता है, उस प्रकार अन्य साधन नहीं। चित्तशुद्धि न होने से लीला-श्रवण द्वारा रूप एवं लीला की उद्योगता घटित नहीं हो पाती। भक्तिसन्दर्भ में कहा गया है कि जिस प्रकार निर्मल दर्पण में ही रूप उतरता है, उसी प्रकार निर्मल चित्त अर्थात् भगवद्भिन्न विषयान्तर तथा आवेशशून्य चित्त में भगवान् के रूप के उदय की योग्यता आ पाती है। रूप के उदय होने पर भगवान् के वात्सल्यादि गुणों की अनुभूति उत्पन्न होती है। नाम, रूप एवं गुण सहित भगवान् तथा उनके परिकर की स्फूर्ति होने पर हृदय में लीला-स्फुरण की सम्यक् योग्यता आती है।[१]

श्रवण के विषय में यह अपेक्षित है कि वह किसी महापुरुष द्वारा सुनाया गया हो। जैसे श्रोता का परीक्षित की भाँति मोहरहित तथा द्वन्दरहित होना अपेक्षित है, वैसे ही कथाकार का भी शुक की भाँति सिद्धात्मा होना अपेक्षित है। साधक किंवा सिद्ध की वाणी का प्रभाव ही भक्ति जगाने वाला होता है, कथावाचकों के प्रवचन का नहीं।

श्रवण से चित्त के विकार धुलते हैं। भागवत में कहा गया है कि जो व्यक्ति महापुरुषों के मुख से क्षरित श्रीहरि के कथामृत को कर्णपुटों में भर कर पीते हैं, वे अपने विषय-मलिन मन को पवित्र कर भगवान् के चरणारविंद के सुख को प्राप्त करते हैं।[२]

धर्मानुष्ठान आदि से चित्त को वश में करना अत्यन्त लम्बी प्रक्रिया होने के

---

१—भक्तिसन्दर्भ, पृ० ३२६।

२—पिबन्ति ये भगवत आत्मनः सतां, कथामृतं श्रवणपुटेपु सम्भृतम्।
पुनन्ति ते विषयविदूषिताशयं, व्रजन्ति तच्चरणसरोरुहान्तिकम्॥—भा० २।२।३७

साथ ही दुष्कर भी है। भक्ति-मार्ग का श्रवण उस क्लिष्ट कार्य को सहज बना देता है और जिनकी भगवत्कथा में प्रीति उत्पन्न हो जाती है, वे धर्म के साधनों के साथ ही ज्ञान ध्यान, धारणा आदि को भी छोड़कर केवल भगवान् के चरित्र का श्रवण करते हैं। भगवान् का सम्पर्क पापों को ध्वंस करने में सक्षम है, चाहे वह श्रवणेन्द्रिय द्वारा हो किंवा अन्य इन्द्रियों द्वारा। चूंकि संसार में चित्त रमाने के हेतु नाना प्रकार की विषय-वार्ताएँ होती हैं, इसलिए भक्ति में चित्त को उन वार्ताओं एवं चर्चाओं से हटाकर भगवद्वार्ता में रमाने का प्रयास किया जाता है। भगवान् के अलौकिक व्यक्तित्व की गाथा को सुनकर चित्त की जड़ासक्ति शिथिल होने लगती है।[१]

कृष्ण-कथा में मन का रमना सबसे आसान है क्योंकि उसके समान लीला की विविधता अन्य अवतारों की कथा में नहीं है। श्रीकृष्ण का अतिमानवीय सर्वाङ्गीण-व्यक्तित्व भिन्न-भिन्न रुचियों के लिए आकर्षक हो सकता है। चाहे उनकी उपासना यदुराज द्वारिकावासी के रूप में हो किंवा नन्दनन्दन ब्रजवासी के रूप में, किन्तु उनके महान् भक्तवत्सल तथा रुचिर व्यक्तित्व के इतने विभिन्न पहलू हैं कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी रुचि एवं संस्कार के अनुरूप उनमें से किसी एक या एक से अधिक के साथ अपना तादात्म्य पा लेता है। कृष्ण का रूप जितना आकर्षक है, उतनी ही आकर्षक उनकी लीलाएँ हैं और उनके अतिमानवीयता में भी एक मानवीय रस है। अतः वह मानव-सुलभ बन जाते हैं। ब्रह्म के नाम से ही जो एक अपार श्रद्धा का तथा महामहिम स्वरूप का आतङ्क छाने लगता है, वह कृष्ण के चरित में तिरोहित होने लगा। कृष्णावतार की लीलाओं में भक्त एवं भगवान् के बीच दूरी कम हो गई, कृष्णचरित प्रारम्भ से ही उस व्यवधान से दूर है। कृष्ण की कथा में एक विशेष रस है जो अनुरञ्जन के साथ-साथ मन का बन्धन भी तोड़ता जाता है और उसे अपार्थिव सौन्दर्य के आकर्षण में बाँधता जाता है। इसीलिए कृष्ण-कथा भारतीय जीवन में इतनी लोकप्रिय हुई।

श्रवण का मनोविज्ञान यह है कि श्रोता और श्रव्य का तादात्म्य हो जाता है। ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय एक ही हैं, वैसे ही श्रवण, श्रोता तथा श्रव्य के बीच तादात्म्य है। श्रवण से भगवान् के प्रति प्रेम उत्पन्न होता है, संशय छिन्न होता है, मस्तिष्क स्वच्छ होता है तथा सम्पूर्ण व्यक्तित्व भगवान् के माहात्म्य से वशीभूत

---

१—(क) गौर अरु श्याम चरितनि हर्यो जासु चित,
तिननि विषहनु कथा दूरि तें परिहरी ॥—वृन्दावन जस प्रकास, पृ० ७

(ख) सकल रास-मण्डल रस के जे भँवर भये हैं।
नीरस विषै-विलास छिया करि छाँड़ि दिये हैं ॥२७५॥

—सिद्धान्तपञ्चाध्यायी (नन्ददास), पृ० १९५

होता है। भगवान् के भक्तवत्सल, अशरण-शरण, पतितपावन आदि गुणों का श्रवण करके भक्त के मन की निराशा कटती है एवं उनके उद्धारक, सखा, सहायक आदि स्वरूप का अनुभव कर उनके प्रति तत्तत् भावों से भावित होने की आकांक्षा जागरित होती है। रागानुग-भक्तों में कृष्ण की व्रजलीला के श्रवण से उन भावों से तादात्म्य प्राप्त करने की प्रेरणा उत्पन्न होती है। साधारण जन के ऊपर श्रवण का प्रभाव अघनाशक होता है।[1]

२. कीर्तन—भगवान् के रूप, गुण एवं लीला का गायन कीर्तन कहलाता है। कीर्तन का सुख धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, जप-तप आदि सब सुखों का अतिक्रमण कर जाता है।[2] कृष्ण भक्ति-साधना में कीर्तन का गेयात्मक रूप प्रचलित है। चैतन्य-महाप्रभु ने जिस समारोह के साथ वाद्ययन्त्रों की झंकार में कृष्ण-प्रेम की पुकार को निनादित किया, वह दक्षिण-पथ से होता हुआ उत्तरापथ में फैलकर सम्पूर्ण भारतवर्ष पर छा गया। जन-पथ में विचरण करते हुए उत्कट प्रेम की धारा को प्रवाहित करते चलना तथा जन-जन को भक्ति का प्रसाद देना, उनके कीर्तन की विशेषता थी। कीर्तन का अन्य सम्प्रदायों में भी प्रचार था किन्तु उस आवेश एवं उच्छ्वास के साथ नहीं। ब्रज-मन्दिरों में अष्टप्रहर-सेवा के साथ कीर्तनियों की नियुक्ति वल्लभ-सम्प्रदाय में विशेष उल्लेखनीय है। राधावल्लभ-सम्प्रदाय में भी रागबद्ध पदों के गाये जाने की प्रथा थी और स्वामी हरिदास तो स्वयं पदकर्ता एवं सुविख्यात सङ्गीताचार्य थे। अतः भगवान् श्रीकृष्ण की लीलाओं का मधुर गान, कृष्णभक्ति सम्प्रदायों में समान रूप से प्रचलित था, कहीं पर नाम का अधिक महत्व था, कहीं पर लीलागान का। परन्तु सर्वत्र ही भगवान् के चरित ने गेय रूप में प्रवाहित होकर जनसाधारण की हृदयभूमि को स्निग्ध करके भक्ति के लिए उर्वर बनाया।

---

१—मिथ्या बाद-विवाद छाँड़ि दै, काम क्रोध मद लोभहिं परिहरि।
चरन-प्रताप आनि उर अन्तर, और सकल सुख या सुख तरहरि॥
बेदनि कह्यौ, सुमृतिहूँ भाष्यौ, पावन-पतित नाम निज नरहरि।
जाकौ सुजस सुनत अरु गावत, जैहै पाप-वृन्द भजि भरिहरि॥
—सूरसागर, पद सं० ३१२

२—जो सुख होत गुपालहिं गाऐँ।
सो सुख होत न जप-तप कीन्हैं, कोटिक तीरथ न्हाऐँ॥
दिऐँ लेत नहिं चारि पदारथ, चरन-कमल चित लाऐँ।
तीनि लोक तृन सम करि लेखत, नन्द-नन्दन उर आऐँ॥
बंसीबट, वृन्दावन, जमुना, तजि बैकुण्ठ न जावै।
सूरदास हरि को सुमिरन करि, बहुरि न भव-जल आवै॥ -सूरसागर, पद ३४९

कीर्तन के स्वरों के साथ भक्ति का भावात्मक आवेग फूट पड़ा। जो बात कथा के सहारे व्याख्या द्वारा मनोगत होने में कुछ बुद्धि की अपेक्षा रखती थी, वह कीर्तन के स्वर-प्रवाह में परिवृद्ध रागात्मक के साथ सीधे हृदय का पथ खोजने लगी। चित्तवृत्तियों के जिस निग्रह-निरोध को उत्पन्न करने के लिए निर्गुणमत में अनाहत-नाद का श्रवण आवश्यक बताया गया, वह अब आहत नाद के श्रवण से सहज ही साधित होने लगा। ज्ञान, कर्म के शुष्क साधनों द्वारा नहीं, सङ्गीत के सहज आकर्षण द्वारा वह 'निरोध' सम्पन्न हुआ जो कष्टसाध्य साधन से भी नहीं बन पाता। सङ्गीत से मनोनिग्रह जितना आसान है, उतना अन्य साधन से नहीं, अतएव कृष्णभक्ति साधना ने इसका अत्यन्त तीव्रतम रूप ग्रहण किया। कृष्ण-मिलन के लिए हृदय की विह्वलता से लेकर संयोग की सिद्धावस्था तक का निरूपण सङ्गीत के तरल स्वरों में हुआ। ब्रह्मानन्द से तो भजनानन्द श्रेष्ठ माना ही गया है, पर कृष्ण भक्तों ने उस भजनानन्द को एकदम मूर्तरूप दे डाला। उनका विश्वास था कि जो चैतन्य योगियों को अन्तर्मुखी साधना से प्राप्त होता है, जो ब्रह्मानन्द कृच्छ्र साधना से ज्ञानियों के अनुभव में आ पाता है, उससे श्रेष्ठतर चैतन्य, आनन्द (भजनानन्द), परमानन्द श्रीकृष्ण के लीलागान से स्वतः निःसृत होता है। श्रीकृष्ण के मधुर व्यक्तित्व ने मधुर स्वरों में अपनी प्रबलतम अभिव्यक्ति पायी। कीर्तन में अपार्थिव रस साकार हो उठा।

इस कीर्तन से एक लाभ और भी हुआ। कृष्ण-भक्ति की साधना व्यक्तिगत न रहकर सामूहिक बनने लगी। कीर्तन का सामूहिक आयोजन होता था। सामूहिकता में कृष्ण के चरित का कीर्तन करने से प्रत्येक का मन उसी कृष्णरस में निष्क्रमण करने लगा। भक्त-गायक को एक ओर जहाँ स्वरों की रागमयता से भावात्मक सम्बल मिलता था, वहाँ दूसरी ओर श्रोता को उस दिव्य प्रेम का आभास मिल जाता था, जो गोप्य से भी गोप्य, दुस्तर से भी दुस्तर, केवल कृपा से गम्य माना गया है। कीर्तन ने एक प्रकार से सामूहिक प्रार्थना का रूप धारण किया।

कीर्तन के आवेश में भक्त अपनी बाह्यचेतना से विगत हो अन्तश्चेतना से यहाँ तक वशीभूत हो जाता था कि उसके शरीर में अनेक सात्विक अनुभाव भी प्रकट होने लगते थे। चैतन्य महाप्रभु कीर्तन करते-करते कभी नृत्य करने लगते थे, कभी उच्च स्वर से रोदन, और कभी भूमि पर लुंठित होने लगते थे।[१] चैतन्य-

---

१—उद्दण्ड-नृत्ये प्रभुर अद्भुत विकार। अष्ट सात्विक भावोदय हय समकाल॥
मांस व्रण सह रोमवृन्द पुलकित। शिमुलीर वृक्ष येन कण्टके वेष्टित॥
× × ×
कभु स्तम्भ कभु प्रभु भूमिते पड़य। शुष्क काष्ठ सम हस्त-पद ना चलय॥
—चैतन्यचरितामृत, मध्यलीला, १३वाँ परि०, पृ० १८४

महाप्रभु में कीर्तन मानो साकार देह धारण कर आया था। उन्होंने प्रेमाभक्ति की साधना में इतर किसी साधन का आश्रय नहीं लिया। एकमात्र सङ्कीर्तन करते हुए भावभक्ति एवं प्रेमभक्ति की सारी भूमिकाओं का अतिक्रमण कर वह उस महाभाव-भूमि पर पहुँच जाते थे जिसकी साकारता श्रीराधा में पायी जाती है, इसीलिए उन्हें राधा का अवतार तक कहा गया है। सङ्कीर्तन ही उनके परम रागाविष्ट व्यक्तित्व का मूलमन्त्र था।

वङ्गला-कीर्तन में भावप्रधान कोई धुन होती थी और साथ ही उसमें शास्त्रीय सङ्गीत की धारा भी निरन्तर वहती रहती थी। विभिन्न राग-रागिनियों में वद्ध भक्तों के पद कीर्तन के आधार बनते थे। यही नहीं, कीर्तन की चमत्कारी प्रभविष्णुता नितान्त शृङ्गारिक काव्य, जैसे जयदेव के गीतगोविन्द—चण्डीदास एवं विद्यापति की पदावली को अलौकिक रस के क्षरण के योग्य वना डालती थी।

कृष्ण-भक्ति में रागात्मिकता को जन्म देने का प्रथम श्रेय इसी कीर्तन-प्रणाली को है। भक्ति का अप्राप्य भाव, कीर्तन के स्वरों में साकार होकर सम्पूर्ण भारतवर्ष पर छा गया। उपदेश आदि का तिरस्कार कर केवल स्वराघात से ही जनमानस में वह राग उपजाया गया जिसने मध्ययुग में भक्ति को एक नया मोड़ दिया, भाव प्रवण कृष्ण-भक्ति का रूप खड़ा किया।

**३. स्मरण**— जो कुछ सुना जाता है यदि उसे स्मरण न रखा जाय तो श्रव्य वस्तु का प्रभाव क्षीण होने लगता है। भाव किंवा ज्ञान को टिकाने के लिए उसकी पुनरावृत्ति आवश्यक है। भक्ति-सम्प्रदाय में स्मरण मुख्यतया हरि के नाम का ही होता है। इष्ट का नाम-जप इस स्मरण का एक रूप है। नाम के अतिरिक्त कृष्ण के गुण तथा चरित आदि के माहात्म्य का स्मरण भी किया जाता है। पशु-शरीर का अतिक्रमण कर जब जीव मानव-तन धारण करता है, तब कृष्ण-भजन करना उसका कर्त्तव्य हो जाता है, विषय का रस तो पशु भी भोगता है और भोग कर विनष्ट होता है। अविनश्वर से साक्षात्कार नश्वर वस्तु की लालसा के परित्याग से सम्भव है। कृष्ण-भजन से मनुष्य विषय-परित्याग करने में समर्थ हो पाता है।[१]

---

१—(क) मानुष कौ तन पाय भजौ वृजनाथ को। दर्वी लै कै मूढ़ जरावत हाथ को॥
हित हरिवंश प्रपंच विषय रस मोह के। विन कंचन क्यौं चलैं पचीसा लोह के॥
—हित हरिवंश, स्फुटवाणी, पद ६

(ख) राम नाम सुमिरन विनु, वादि जनम खोयौ।
रञ्चक सुख कारन तैं अन्त क्यों विगोयौ॥
× × ×
काम-क्रोध-लोभ-मोह-तृष्ना मन मोयौ। गोविन्द-गुन चित विसारि कौन नींद सोयौ॥
सूर कहै चित विचारि भूल्यौ भ्रम अन्धा। राम नाम भजि लै तजि और सकल धन्धा॥
—सूरसागर, पद ३३०

स्मरण का यह स्वभाव है कि जो जिसका चिन्तन या स्मरण करता है, वह उसी में परिणत होने लगता है, मन उसी की गतियों को अपनाने लगता है जैसे कीट भृङ्ग के ध्यान में रत हो, भृङ्ग ही बन जाता है। इसी प्रकार जीव भगवान् का स्मरण करते-करते तद्रूप बनने लगता है। अतः स्मरण का महत्व श्रवण से अधिक है।

भक्ति सन्दर्भ में स्मरण का क्रम इस प्रकार दिया गया है—नाम-स्मरण, रूप-स्मरण, गुण-स्मरण। स्मरण पाँच प्रकार का होता है—स्मरण, धारणा, ध्यान, ध्रुवानुस्मृति, समाधि। यथा कथञ्चित् हरि के नाम, रूपादि के अनुसन्धान का नाम स्मरण है। सारे विषयों से चित्त को खींच कर साधारण रूप से हरि के नामादि में चित्त को धारण कराने को धारणा कहते हैं। विशेषरूप से नाम, रूपादि के चिंतन का नाम ध्यान है। अमृतधार की भाँति अविच्छिन्न स्मरण का नाम ध्रुवास्मृति है एवं ध्यातृध्यान शून्य होकर ध्येय के आकार में चित्तवृत्ति के अवस्थान को समाधि की संज्ञा दी जाती है। स्मरण के ये पाँचों रूप उसकी उत्तरोत्तर गाढ़ता के परिचायक हैं।

श्रवण, कीर्तन एवं स्मरण का भक्ति में इसलिए महत्व है कि वे चिन्तन तथा विचार में आराधना का भाव जगाकर आराध्य के प्रति तीव्रनिष्ठा उत्पन्न कर देते हैं। यद्यपि स्मरण का कुछ साम्य ज्ञानमार्गी ध्यान से प्रतीत होता है, किन्तु भक्तिमार्गी स्मरण उससे भिन्न है। यह ध्यान शान्त, अचञ्चल न होकर लीलाओं का आनन्दमय ध्यान है। भक्ति का स्मरण भगवान् के स्वरूप को ही नहीं, उनकी उपस्थिति को सत्ता के अन्दर ले आता है और उस उपस्थिति से व्यक्तित्व में परिवर्तन होता है।

४. पाद-सेवन—पाद-सेवन का तात्पर्य केवल भगवान् के श्रीचरणों का सेवन ही नहीं है, वरन् दैन्य सहित भगवान् की सेवा मात्र को पाद-सेवन कहा गया है। सेवा द्वारा अहंकार की कुटिल गतियों का इष्ट के चरणों में दण्डवत् प्रणिपात कराना पादसेवन है। श्रीचरणों की सेवा से व्यक्ति में नम्रता तथा अहंकार से विरति उत्पन्न होती है। इसके अतिरिक्त, भगवान् का चरण-सेवन भक्तिप्रदायक कहा गया है। उनका स्पर्श शीतल एवं कोमल है तथा त्रितापमयी ज्वालाओं को उपशमित करने में समर्थ।[1] प्रभु के चरणकमल व्यक्ति की सारी असमर्थताओं को सामर्थ्य में बदल

---

१—मन रे परसि हरि के चरण।
सुभग, सीतल, कंवल, कोमल त्रिविध ज्वाला हरन॥—मीराबाई की पदावली, पद १

देते हैं, असम्भव को सम्भव बना देते हैं।[1] जो चरण जगत्पावनी गङ्गा के उत्स हैं, जिनके स्पर्श से अहिल्या की पाषाण-जड़ता चेतना पा गयी, जिनके पदनख की एक ही किरण मन के समस्त अन्धकार को हर सकती है, उनकी सम्पूर्ण सेवा क्या नहीं कर सकती ? कृष्ण के चरण-कमल सुख की राशि हैं, वहाँ अज्ञान का तम नहीं पहुँच पाता, नवधा-भक्ति किंजल्क के समान उनमें बसी रहती है और श्रेय-प्रेय एक हुए रहते हैं।[2]

५. अर्चन—पुष्प, दीप, धूप, नैवेद्य आदि से भगवान् का पूजन-अर्चन भक्ति कहलाता है। पूजा, भक्त में आराधना का भाव जगाती है। सामान्यतया मानव बाह्य मन में निवास करता है इसलिए पूजा किंवा अर्चन का बाह्यविधान स्थिर किया गया है। बहिर्मुखी मन बिना किसी बाह्य प्रतीक के यह समझ ही नहीं पाता कि अन्तर में क्या भाव उदित हो रहे हैं, बाह्य कर्मकाण्ड के अतिरिक्त भक्ति को महसूस ही नहीं कर पाता, इसीलिए अर्चन में बाह्य उपकरणों की सहायता लेनी पड़ती है। किन्तु यही अर्चना अन्तश्चेतना में प्रवेश कर आन्तरिक भावनाओं की अभिव्यक्ति बन जाती है। अर्चन भगवान् के प्रति भक्त की श्रद्धा, निकटता, समर्पण, विस्मय किंवा अभीप्सा का प्रतीक है, इसके द्वारा मन को दैनन्दिन-जीवन की साधारण चेतना से हटाकर भगवान् के लिए इन्हीं सब भावों को जगाने की चेष्टा की जाती है। भक्ति का अर्थ है भगवान् से युक्त होना, इसका प्रारम्भिक रूप भगवान् की खोज है, यह रूप उनके किसी प्रकार के संस्पर्श, समीपता, स्वीकृति किंवा समर्पण की आकांक्षा का होता है। अर्चन मन में इन्हीं भावनाओं को विकसित करता है।

भौतिक उपकरणों के अतिरिक्त अर्चन का मानसिक पक्ष भी है। भक्त अपने जीवन की सभी प्रिय वस्तुओं को जब भगवान् को समर्पित करने लगता है तब पूजा

---

१—चरण-कमल बन्दौं हरि राइ।
जाकी कृपा पंगु गिरि लंघे अन्धे कौं सब कछु दरसाइ।
बहिरौ सुनै, गूंग पुनि बोलै, रंक चले सिर छत्र धराइ।
सूरदास स्वामी करुनामय, बार बार बन्दौं तिहि पाइ॥—सूरसागर, विनय के पद, १

२—भृङ्गी री, भजि स्याम-कमल-पद, जहाँ न निसि कौ त्रास।
जहँ विधु-भानु समान एक रस, सौ वारिज सुख-रास॥
जहँ किंजल्क भक्ति नव लच्छन, काम-ज्ञान रस एक।
निगम, सनक, सुक, नारद, सारद, मुनि जन भृङ्ग अनेक॥—सूरसागर, पद ३३९

आन्तरिक रूप धारण करने लगती है। वास्तविक अर्चन वाह्यपूजा से हटकर जब सम्पूर्ण व्यक्तित्व एवं जीवन को अपना उपकरण बना लेता है, तब व्यक्ति ही भगवान् का मन्दिर बनने लगता है एवं उसके हृद्-गुहा में स्थित अन्तर्यामी उसकी आराध्य मूर्ति। उसके समस्त विचार, उसकी सारी भावनाएं, उसके सभी कर्म, एक निरन्तर अभीप्सा एवं अर्घ्य का रूप धारण करने लगते हैं तथा उसका जीवन भगवत्सेवा का क्षेत्र बन जाता है। दूसरे शब्दों में भक्त का सभी कुछ अर्चन बन जाता है, आन्तरिक आराधना का मूर्त्तरूप। जिस प्रकार स्मरण का विकास ध्रुवानुस्मृति तथा समाधि तक पहुँचता है, उसी प्रकार अर्चन भी वाह्य अर्चा से आरम्भ होकर सम्पूर्ण व्यक्तित्व की हवि एवं अञ्जलि बन जाता है।

६. वन्दन—वन्दन का साधारण अर्थ अपने से किसी महत्तर सत्ता का गुणगान करना होता है। आराध्य के प्रति नमन वन्दन-भक्ति है। वाह्य रूप में दण्डवत् करने की अपेक्षा वन्दन तभी चरितार्थ होता है जब अहंकार-त्याग, समर्पण, एवं आराधना की वृत्तियाँ जन्म लेती हैं। भगवान् के माहात्म्य-ज्ञान के लिए इन सब भावों की भूमिका आवश्यक समझी गयी है। इसीलिए वन्दन का अर्थ केवल मौखिक स्तुति नहीं, प्रभु की महिमा का अपने हृदय में उद्बोधन करना है। इष्टदेव की वन्दना से भक्त अपने हृदय में उनके रूप, गुण एवं कृतित्व का बोध उद्भावित करता है।[१]

७. दास्य—नम्रतापूर्वक प्रभु की सेवा को दास्य-भक्ति कहते हैं। जीव प्रभु का अंश होने के कारण स्वरूपतः उनका सेवक किंवा दास है। जब तक उसे अपने स्वरूप का बोध नहीं होता तब तक उसका भगवान् से सम्बन्ध नहीं जुड़ पाता। दास्य से स्वरूप का बोध होता है, दास्य से दैन्य उत्पन्न होता है, जो भक्ति का मूलाधार है। सेवा से अहं का प्रभुत्व नष्ट होता है तथा एकमात्र सेव्य का प्रभुत्व स्थापित होने लगता है इसीलिए दास्यभाव का अत्यधिक महत्व है। गोस्वामी तुलसीदास ने तो यहाँ तक

---

१—(क) जयति जयति श्री गोवर्द्धन उद्धरन-धीरे।

वृष्टि-टूटन करन भ्रज-कुल भै हरन, देवपति-गर्व, साँवल सरीरे॥
जयति वारिज वदन, रूप लावनि-सदन, सिर सिखंट, कटि पट्ट जु पीरे॥
मुरली कल गान, भ्रज जुवति मन आकरन, सघ वहत सुभग जमुना-तीरे॥
जयति रस रास सो विलास वृन्दाविपिन, कलिय सुख-पुञ्जमय मलय समीरे॥
'चतुर्भुजदास' गोपाल नट-भेष सोहै, राधिका कंठ सब गुन गम्भीरे॥

—चतुर्भुजदास [पदसंग्रह] पद १

(ख) जयति जयराधा रसिकमनि मुकुट मनहरनी प्रिये।

कहा कि बिना इस भाव के संसार से तारण नहीं हो सकता—'सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिय उरगारि।" प्रेम की आकांक्षिणी मीरा ने भी कृष्ण के चाकर होने की उत्फुल्ल प्रार्थना की है। उस चाकरी के द्वारा भाव-भक्ति की जागीर पाने की कामना प्रकट की गई है।[१]

८. सख्य—दास्य में भगवान् और भक्त के बीच जो एक सङ्कोच तथा दूरी रहती है, वह सख्य में तिरोहित होने लगती है।[२] सख्य में आत्मसङ्कोच नहीं, आत्म-विस्तार होता है। इसमें व्यक्तित्व का संयमन ही नहीं, विकास भी होता है। सख्य, भक्त के स्नेह एवं भगवान् के प्रत्युत्तर का सङ्गम है। माहात्म्यज्ञान के साथ ही इसमें स्नेह का भी आविर्भाव होता है और भगवान् केवल प्रभु किंवा सेव्य ही न रह कर भक्त के मार्ग-दर्शक बनते हैं। वे सारथी बन कर परिस्थिति-चक्र में सलाह देते हैं, विपद में रक्षा करते हैं, शत्रुओं से बचाते हैं एवं सङ्घर्ष में भक्त की ओर से युद्ध करते हैं।

कृष्णभक्तिधारा में दास्य एवं सख्य, भक्तिरस के 'प्रीति' तथा 'प्रेय' रस के स्थायीभाव के रूप में स्वीकृत हुए। नवधा-भक्ति में उनका उल्लेख स्थायीभाव की प्रौढ़दशा के रूप में नहीं, मात्र भाव की दृष्टि से भगवान् के प्रति भक्त के मनोभाव ( attitude ) के रूप में हुआ है।

---

परामक्तिप्रदायिनी करि कृपा करुणानिधि प्रिये।
जयति गौरी नवकिसोरी सकलसुख सीमा श्रिये।
जयति रतिरसवर्द्धनी अतिअद्भुता सदयाहिये।
जयति आनन्दकन्दिनी जगवन्दनी वरवदनिये।
जयति स्यामा अमितनामा वेदविधि निर्वाचिये॥—महावाणी-सेवासुख, पद ५२

१—मने चाकर, राखो जी, मने चाकर राखो जी। टेक॥
चाकर रहसूं बाग लगासूं नित उठ दरसण पासूं।
× × ×
चाकर में दरसण पाऊं, सुमिरण पाऊं खरची।
भाव भगति जागीरी पाऊं तीनों बांता सरसी॥—मीराबाई की पदावली, पद १५४

२—(क) हे हरि मोसौं न बिगारन को तोसौं न सम्हारन को, मोहि तोहि परी होड़।
कौन धौं जीतै कौन धौं हारै पर बदी न छोड़।
तुम्हारी माया बाजी पसारी विचित्र मोहे मुनि मुनि काके भूले कोड़॥
कह हरिदास हम जीते हारे तुम, तऊ न तोड़॥
—स्वामी हरिदास, अष्टादश सिद्धान्त के पद, पद ५

(ख) मोसौं बात, सकुच तजि कहियै।

९. आत्मनिवेदन—उपरोक्त आठ प्रकार के साधनों द्वारा जब चित्त में भगवान् का स्वरूप उदित होता है तब उनके प्रति समर्पण की प्रेरणा उत्पन्न होती है। इस समर्पण के भाव को आत्मनिवेदन कहा गया है। आत्मनिवेदन अनुरागमूलक भक्ति का प्रथम चरण है। भक्त का कुछ भी अपना नहीं रह जाता। वह जो कुछ भी है, उसके पास जो भी है, सब उसके आराध्य में समर्पित हो जाता है। उसके सारे मनोराग और सारे सम्बन्ध भगवान् को निवेदित हो जाते हैं। आत्म-निवेदन का उत्कट रूप मीराबाई में साकार हो गया, वे अपने श्रीकृष्ण पर इतनी न्योछावर हैं कि उनका समस्त क्रियाकलाप कृष्ण की ही इच्छा से परिचालित होता है। यदि कृष्ण उन्हें बेंच दें तो वह बिकने को भी तैयार हैं।[1]

ब्रजबुलि-पदावली में उत्कट आत्म-निवेदन का रूप परकीया राधा में चित्रित किया गया है। कृष्ण के प्रति अनुराग उत्पन्न होते ही वह लोक-लाज तथा यौवन-जीवन, सब कुछ को तिलांजलि देकर अपना समस्त व्यक्तित्व, अपना सारा मनोराग कृष्ण को सौंप देने को आतुर हैं एवं कृष्ण भी उन्हें स्वीकार करते हैं। किन्तु मीरा और राधा का समर्पण आकर्षणजन्य है, विधि मार्ग का नहीं। पुष्टिमार्गीय भक्ति, आत्मनिवेदन की भावना से आरम्भ होती है। वल्लभसम्प्रदाय का दीक्षामन्त्र ही आत्म-निवेदन की भावना से ओतप्रोत है। शिष्य, स्त्री-पुत्र, धन आदि देह-गेह के सारे सम्बन्धों को गुरु की साक्षी में श्रीकृष्ण को निवेदित करता है, एवं अपने को श्रीकृष्ण का दास मात्र जानता है। दीक्षामन्त्र इस प्रकार है—

"श्रीकृष्णः शरणं मम। सहस्त्र परिवत्सरमित कालजात कृष्णवियोगजनित ताप क्लेशानन्द तिरोभावोऽहं भगवते कृष्णाय देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणानि तद्धर्मांश्च दारागार पुत्रवित्तेहापराणि आत्मना सह समर्पयामि, दासोहं कृष्ण तवास्मि।[2]"

---

कत ओढ़त, कोउ और बतावौं, वाही के ह्वै रहिये।
कैंधौं तुम पावन प्रभु नाहीं, कै कछु मो मैं झालौं।
तौ हौं अपनी फेरि सुधारौं, वचन एक जौ बोलौं।
तीन्यौ पन मैं ओर निबाहे, इहै स्वांग कौ काछें।
सूरदास को यहै बड़ौ दुख, परत सबनि के पाछें॥—सूरसागर, 'विनय', पद १३६

१—जो पहिरावै सोई पहिरूं, जो दे सोई खाऊं।
मेरी उनकी प्रीत पुराणी उन बिनि पल न रहाऊं।
जहाँ बैठावैं तितहीं बैठूं, बेचै तौ बिक जाऊं।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर, बार बार बलि जाऊं॥—मीराबाई को पदावली, पद १७

२—प्रभुदयाल मीतल—अष्टछाप परिचय, पृ० ६०

वित्तजा सेवाओं के उपकरण जिन मनोदशाओं के प्रतीक हैं, वे आराध्य की कृपा से अनुग्रह प्राप्त भक्त में स्वतः प्रकट होने लगते हैं। धीरे-धीरे आराध्य-आराधक की यह दूरी भी मिटने लगती है और वे राधाकृष्ण की भाँति परस्पर ओत-प्रोत होने लगते हैं। किन्तु सभी को यह पूर्णकृपा साधना के आरम्भ में प्राप्त नहीं होती और न सब व्यक्तियों में इस कृपा की पात्रता होती है। अहंभाव की दुरूहता तथा ममता की जटिलता मानसी-सेवा में बहुत बाधक होती है और अहंभाव के साथ ही सुख-भोग की कामना भी। इसलिए मानसी-सेवा के पूर्व भक्ति के आकांक्षी व्यक्ति को क्रियाप्रधान तनुजा-वित्तजा सेवाओं का आश्रय लेना अपेक्षित है। इनसे संसार दुख की निवृत्ति तथा ब्रह्म का बोध जागृत होता है।[१] मानसी-सेवा सर्वसाध्य न होने से तनुजा-वित्तजा सेवाओं का रूप अधिक स्पष्ट किया गया। इन सेवाओं के द्वारा अहंता, ममता का नाश होता है तथा मन एवं इन्द्रियों का निग्रह साधित होता है। जब तक मन एवं इन्द्रियों का संयमन नहीं हो पाता तब तक मानसी-सेवा की भावदशाओं की कल्पना भी असाध्य है। इसलिए मन एवं इन्द्रियों (तथा इनके द्वारा धन के माध्यम से भोगलिप्सा) के निरोध के लिए दिवस-रात्रि चलने वाली अष्टप्रहर तनुजा-सेवा का रागपूर्ण वातावरण निर्मित किया गया। मन तथा इन्द्रियों के 'निरोध' पर, अहंता तथा ममता के नाश पर ही यशोदा, गोपी तथा राधा-कृष्ण की वह आनन्द क्रीड़ा आविर्भूत होती है जिसे मानसी-सेवा कहा गया है।

तनुजा-वित्तजा सेवाओं के द्वारा सौंदर्यबोध की तृप्ति के साथ-साथ बाह्यचेतना का उन्नयन होता है, व्यक्ति की बहिर्मुखता अन्तर्मुखी होने लगती है। वस्तुतः तन, मन और इन्द्रियाँ हरि के सेवक हैं। जब वे अहं के सेवक बन जाते हैं तब परमात्मा से उनका सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है।[२] इस सम्बन्ध की पुनर्जागृति तनुजा-वित्तजा सेवाओं का उद्देश्य है। कृष्ण में समर्पित होकर तन एवं वित्त से सम्पर्कित वस्तुओं से माया का सम्बन्ध, राजसिकता तथा तामसिकता का आवरण हट जाता है और वे ही वस्तुएँ चिदानन्द का आकार बन कर अनुभूत होने लगती हैं।[३] इन सेवाओं के द्वारा मनुष्य के दैनन्दिन चलने वाले अति सामान्य कार्यों को कृष्ण से सम्बद्ध कर दिव्यचेतना से सञ्चालित करने का प्रयास किया गया। प्रवृत्ति से निवृत्तिमार्गी वैराग्य को

---

१—चेतस्तत्प्रवणं सेवा तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा।
तत: संसारदुःखस्य निवृत्तिर्ब्रह्मबोधकम् ॥२॥—सिद्धान्तमुक्तावली—षोडश ग्रन्थ (वल्लभाचार्य)

२—स्वामी हरि परमात्मा तन मन इन्द्री दास।
अहं ओट दरसै नहीं रहै निरन्तर पास ॥३८॥—सुधर्मबोधिनी, पृ० २६

३—सर्व सेव द्विज युगल वर सेवक सब नर नारि।
ग्रह मन्दिर भण्डार धन रसानन्द आकारि ॥३२॥—वही, पृ० १३

प्रेरणा नहीं दी गई, अहंभाव से उपरामता दिला कर उसे निवृत्तिमय बनाया गया;[१] क्योंकि बिना इस निवृत्ति किंवा 'निरोध' के कृष्णरस के उपभोग की योग्यता नहीं आ पाती। जीवन के व्यसनों को कृष्ण की सेवा का व्यसन बना डालना, स्वयं में उच्च साधना है। यह कार्य पुष्टिमार्ग ने अत्यन्त चारु एवं सुलझे रूप में किया। प्रभुदयाल मीतल जी के शब्दों में "नित्य और वर्षोत्सव दोनों प्रकार की सेवाविधियों के तीन अङ्ग मुख्य हैं—शृङ्गार, भोग, राग। प्रत्येक व्यक्ति इन तीनों सांसारिक विषयों में फँसा हुआ है। इससे छुटकारा पाने के लिए श्री वल्लभाचार्य जी ने इनको भगवान् की सेवा में लगा दिया है। उनका मत है कि इनको भगवत्सेवा में लगाने से ये व्यसन भी भगवत्रूप हो जायेंगे।[२]"

राधावल्लभ-सम्प्रदाय में सेवा दो प्रकार की मानी गई है—प्रकट तथा अप्रकट। प्रकट सेवा तन-धन (तनुजा-वित्तजा) के समर्पण से की जाती है और अप्रकट सेवा अन्तरङ्ग प्रेम से। बिना प्रकट सेवा के अप्रकट सेवा नहीं हो सकती, क्योंकि वह प्रेम के सुदृढ़ होने पर ही सम्भव है और यह प्रेम प्रकट सेवा द्वारा पनपता तथा दृढ़ होता है।[३] अप्रकट किंवा मानसी सेवा अखण्ड अबाध रस में मग्न होने पर होती है। देशकाल में बद्ध-चित्त को इस अनन्त अप्रतिहत रस तक पहुँचाने के लिए अष्टप्रहर सेवा का विधान किया गया है। जब अन्तरङ्ग सच्चिदानन्द प्रकट हो जाता है तब इन बाह्य सेवाओं की अनिवार्यता जाती रहती है। इस आन्तरिक रस के लिये ही बाह्य पूजा-अर्चा का आयोजन होता है। अप्रकटलीला में मन के रसलीन होने पर देश और काल की बाधायें विनष्ट हो जाती हैं, तब रह जाता है शाश्वत अनादि रस।[४]

नैमित्तिक सेवा के अन्तर्गत वार्षिकोत्सव स्वीकृत हैं, किन्तु विभिन्न सम्प्रदायों

---

१—संसारावेशदुष्टानामिन्द्रियाणां हिताय वै।
कृष्णस्य सर्ववस्तूनि भूम्न ईशस्य योजयेत् ॥१२॥—निरोधलक्षण-षोडशग्रन्थ

२—अष्टछाप—परिचय, पृ० ५७

३—गौर स्याम सहचरि विपिन प्रगट अप्रगट विचार।
अन्तरङ्ग हित नित सुदृढ़ प्रगट सुतन धन द्वार ॥१०२॥
प्रगट भाव की नीम दृढ़ कीजै कृपा मनाइ।
तब निश्चल हित महल रस रंग चित्त ठहराइ ॥१०४॥
प्रगट भाव सेवा बिना चित्त न आवै प्रेम।
प्रेम बिना दरसै नहीं नित्य केलि घन नेम ॥१०८॥—सुधर्मबोधिनी, पृ० ५०

४—समय-समय सेवा प्रगट श्रीराधावल्लभ लाल।
अन्तरङ्ग रस मगन नित तहाँ नहीं गति काल ॥२५॥—वही, पृ० ३

के वार्षिकोत्सव विविध होने के कारण विस्तार भय से यहाँ उनका वर्णन नहीं किया जा रहा है। सब में समान रूप से प्रचलित, अष्टप्रहर नित्य सेवा का ही विवेचन किया जा रहा है।

ब्रज के सम्प्रदायों में अष्टप्रहर-सेवा प्रायः इस क्रम से चलती है—मङ्गला, शृङ्गार, राजभोग, उत्थापन, भोग, संध्या, आरती एवं शयन। वल्लभ-सम्प्रदाय में राजभोज के पूर्व ग्वाल की प्रथा है क्योंकि उसकी सेवा-प्रणाली कृष्ण के वात्सल्य एवं सख्य भाव को लेकर चली है। शेष दोनों सम्प्रदायों में प्रायः समानता है, हरिदास जी की निजी कोई सेवा प्रणाली नहीं मिलती।

इनमें से वल्लभ-सम्प्रदाय की भावना बाल एवं पौगण्ड की है, अतः उसमें अन्य सम्प्रदायों की सेवाभावना से पृथक् अपना वैशिष्ट्य है। चैतन्य-सम्प्रदाय, निम्बार्क एवं राधावल्लभी सम्प्रदायों में शृङ्गार रस ही मान्य है और उसी के अनुरूप सेवा का विधान किया गया है। विभिन्न सम्प्रदायों की अष्टप्रहर सेवाओं में सूक्ष्म अन्तर है, इसलिए प्रत्येक सम्प्रदाय की सेवाभावना का यहाँ पर पृथक्-पृथक् विवेचन किया गया है।

**राधावल्लभी सम्प्रदाय में अष्टयाम सेवा**—यद्यपि इस सम्प्रदाय में सेवा के अष्टयाम कहे गये हैं किन्तु विवरण सात प्रकार की सेवाओं का ही मिलता है। वे हैं—मङ्गला, शृङ्गार, राजभोग, उत्थापन, संध्या, शयन, शैया, समय।

१. मङ्गला—दो घड़ी रात्रि रहे और दो घड़ी दिन चढ़े तक मङ्गला का समय होता है। इस सेवा में भक्त, स्नानादि से निवृत्त होकर मन्दिर का परिमार्जन करता है। उसके पश्चात् राधिका जी को शयन से जगाया जाता है और उनका मुख-प्रक्षालन करवा कर उनके सम्मुख प्रातःकालीन कलेवा उपस्थित किया जाता है। जागरण में सुन्दर पदों के पाठ की प्रथा है।[१] कलेवा किंवा मङ्गला भोग के साथ आरती भी की जाती है।

इस कार्यक्रम के अनन्तर राधा को प्रातःकालीन भ्रमण के लिए सखियाँ ले जाती हैं। भ्रमण में राधा का आपादमस्तक शृङ्गार होता है और फूलों का चयन तथा कन्दुक-क्रीड़ा आदि लीलाएँ होती हैं।

---

१—जगाई री भई वेर बड़ी।
अलबेली खेली पिय के सङ्ग अलक लड़े के लाड़ लड़ी॥
तरनि किरन रन्ध्रन ह्वै आई लगी हैं निवाई जानि सुकर वर तहा छाँहूं ह्वै रही री छड़ी।
विहारिनदासि रति को कवि वरनै जो छवि मो मन मांझ जड़ी ॥२२॥—श्रीराधावल्लभजी की खिचड़ी-उत्सव के 'मङ्गला के पद', प्रकाशक (बाबा तुलसीदास) वि० २००६

२. शृङ्गार—मङ्गला के अन्त से और बारह घड़ी दिन के चढ़ने तक शृङ्गार का समय माना गया है। शृङ्गार समय के आरम्भ होने पर श्रीराधिका पुष्पवाटिका में वाटिका का सौन्दर्य देखने जाती हैं।

जैसा कि नाम से स्पष्ट है, शृङ्गार में राधा का शृङ्गार किया जाता है। स्नान-कुञ्ज में उनको उबटन आदि लगाकर स्नान करवाया जाता है। तदन्तर वस्त्रविन्यास, शृङ्गार, तिलक आदि से राधा के श्रीमङ्ग को सुशोभित किया जाता है।[1] शृङ्गार में राधा के मस्तक पर चन्द्रिका और कृष्ण के शीश पर शिखिपिच्छ, कलगी तथा सिरपेच धारण करवाना चाहिए। पूर्णिमा तथा एकादशी को ही मुकुट पहनाया जाता है, प्रातः राधा को, सायं कृष्ण को।

इस वेश-विन्यास के बाद धूप-आरती की जाती है। फिर भोग निवेदित किया जाता है जिसमें भाँति-भाँति के मिष्ठान्न आदि का विधान है। इस समय सखियाँ कुछ क्रीड़ा-कौतुक का आयोजन भी करती हैं, कोई नृत्य करती है, कोई गान, कोई राधा को उनकी सौन्दर्य मञ्जूषा का भान कराने के लिए दर्पण दिखाती है तो कोई सखी उन्हें कुछ उपहार देती है। इस रागोत्सव के उपरान्त फिर उनकी आरती की जाती है जिसे शृङ्गार-आरती कहते हैं।

मङ्गला एवं शृङ्गार के कार्यक्रम में पहिले वंशी, तत्पश्चात् श्रीराधिका, फिर श्रीकृष्ण की सेवा की जाती है। यह क्रम निभाना आवश्यक है। इससे सम्प्रदाय की भावना व्यक्त होती है अर्थात् वंशी के अवतार आचार्य हितहरिवंश (किंवा सखी स्वरूप) की वन्दना सर्वप्रथम होनी चाहिए, फिर उनके प्रसाद से आराध्या राधा एवं कृष्ण का स्वरूप समझना चाहिए।

३. राजभोग—दिन के बारह घड़ी बीत जाने पर तथा दिवस-अवसान की छः घड़ी शेष रहने तक राजभोग का समय निश्चित किया गया है। दोपहर का भोजन तथा उसके पश्चात् आराम राजभोग समय के अन्तर्गत आता है। राजभोग में भोजन की प्रधानता है जिसमें नाना प्रकार का व्यञ्जन राधाकृष्ण के सामने प्रस्तुत किया जाता है। चम्पकलता रुचिपूर्वक उन्हें जिमाती है एवं ललिता बातों से मनोरञ्जन करती है।[2] भोजन कराने के बाद चौपड़ आदि क्रीड़ाएँ होती हैं, तत्पश्चात्

---

१—काहू सखी तप्त जल आन्यो। काहू घोरि उबटनो वान्यो ॥१०५॥
एक फुलेल अरगजा ल्याई। टहल हेत सब फिरत हैं धाई ॥१०६॥
दम्पति सुख के रस में भीनी। छिन-छिन तिन की प्रीति नवीनी ॥१०७॥
—रसमुक्तावली लीला (ब्यालीसलीला-ध्रुवदास), पृ० १५३

२—मनिमय चौकी राखी आन। हेमथारि तापर धर्यो बानि ॥११६॥
झलकि रहे बहु कनक कचोरा। विंजन भरि भरि धरे चहुँ ओरा ॥१०७॥
× × ×

विश्राम के लिए शयन। इसके पूर्व राजभोग की आरती होती है जिसमें सखियों का भावात्मक रूप द्रष्टव्य है।[१]

४. उत्थापन—दिन के पिछले छः प्रहर से सायङ्काल तक संध्या का समय है। उत्थापन में राधाकृष्ण को विश्राम से उठाया जाता है। वाद्ययन्त्रों से उनकी तन्द्रा भङ्ग की जाती है और जग जाने पर मुख धुलवाकर कुछ हल्का-सा भोजन भी करवाया जाता है। उत्थापन में भी धूप आरती होती है।

इसके उपरान्त राधा-कृष्ण वनविहार के लिए सखियों सहित प्रस्थान करते हैं।[२] यमुना के तट पर वन की अमराइयों में विचरण करते हुए उनके पुष्प-चयन, नौका-विहार आदि लीलाओं की भावना की जाती है। सखियाँ अपने नृत्य गान से युगलप्रेमी को आमोदित करती हैं।[३] आरती के अनन्तर क्रमानुसार कुछ विशिष्ट पदों का गान होता है।

५. भोग—वनविहार से लौटने पर सायङ्काल का भोग अर्पित किया जाता है। कई प्रकार की मिठाइयों का यह स्वल्प भोजन 'भोग' कहा जाता है।[४] इस भोग के उपरान्त कुछ पदों का गान होता है, तत्पश्चात् संध्या आरती।

---

जो बिजन कर पल्लवनि, छुवत छबीली बाल।
तहाँ ते रुचिसों लेत हैं, नवल रङ्गीले लाल ॥१२७॥
चम्पक लता चाँप सों जेवावैं। ललिता बातनि रुचि उपजावैं ॥१२८॥
पीत भात सिखरन गाढ़ी। आस लेत अतिही रुचि बाढ़ी ॥१२९॥
—रसमुक्तावली लीला (ब्यालीस लीला-ध्रुवदास), पृ० २५४-५५

१—नैन दीप हिय थार भरि, पूरि प्रेम घृत ताहि।
लीने हित के करनि सौं, आरति करत उमाहि ॥१३८॥—वही, पृ० २५५

२—जबहिं घरी चार दिन रह्यौ, प्रीतम प्रान पियासौं कह्यौ ॥१४७॥
चलहु कुँवरि देखें वनराई, फूलन सोभा कही न जाई ॥१४८॥
फूली लता नहीं तरु छाहीं, झूमि रही जमुना जल माहीं ॥१४९॥
सिमटी आइ सखी हितकारी, एक नैन अतिही सुकुँवारी ॥१५०॥—वही, पृ० २५६

३—सखी सबै चहूँ ओर सुहाई, निरखत फूली अङ्गनि माई ॥१६३॥
एक सारङ्गी बीन सुनावैं, एक मृदङ्ग अनूप बजावैं ॥१६४॥
निरप लेत मलकन तन गेंमु, बहुत नङ्ग की गानिन जैंमु ॥१६५॥
राग रागिनी मूरति धारें, सखी रूप सेवन सुखवारें ॥१६६॥
—रसमुक्तावली लीला (ब्यालीस लीला), पृ० २५६

४—अद्भुत मीठे मधुर फल, ल्याई सखी बनाय।
खावत प्यारे लाल कौं, पहिले प्रिया चखाइ ॥१६८॥—वही, पृ० २५७

संध्या आरती के बाद रासलीला होती है जिसमें गायन, वादन, नृत्य तथा सङ्गीत के तीनों अङ्गों का होना आवश्यक है।[१]

६. शयन—छः घड़ी रात्रि बीतने से आठ घड़ी रात्रि तक शयन का समय है क्योंकि आठ घड़ी रात्रि से शैय्या का समय आरम्भ होता है।

'शयन' में रात्रि का भोजन प्रस्तुत किया जाता है जिसमें पक्का खाना ही होता है। तदनन्तर आरती होती है।[२] इसमें हास-परिहास, केलि-विनोद हुआ करता है। सखियाँ कुञ्जरन्ध्रों से उनकी इस क्रीड़ा का अवलोकन करती हैं।

७. शैया—आठ घड़ी रात्रि बीतने पर बीस घड़ी तक शैया का समय है। केलि से श्रान्त होकर राधाकृष्ण शैया भोग ग्रहण करते हैं। शैया भोग को अनसीथी भोग कहते हैं। इस भोग के बाद प्रभात तक राधाकृष्ण निद्रामग्न रहते हैं। प्रातःकाल उठने पर राधाकृष्ण की क्रीड़ा फिर आरम्भ होती है; किन्तु प्रतिदिन उन्हें ऐसा लगता है जैसे पहिली बार मिले हों। नित्य क्रीड़ा में रत रहते हुए प्रेमवैचित्य की विभ्रम दशा दिन के आरम्भ से ही छा जाती है।[३]

## निम्बार्क-सम्प्रदाय

निम्बार्क-सम्प्रदाय की सेवा-पद्धति राधावल्लभीय सेवा-पद्धति से बहुत कुछ मिलती-जुलती है। अन्तर केवल इतना है कि राधा का उत्कर्ष इतना अधिक नहीं

---

१—खेलत रास दुलहिनी दूलहु।
सुनहु न सखी सहित ललितादिक निरखि-निरखि नैननि किन फूलहु॥
अति कल मधुर महा मोहन धुनि उपजत हंस सुता के कूलहु।
थेईथेई वचन मिथुन मुख निसरत सुनि-सुनि देह दशा किन भूलहु॥
मृदु पदन्यास उठत कुमकुम रज अद्भुत बहत समीर दुकूलहू।
कबहुँ श्याम श्यामा दसनांचल कच कुच हार छुवत भुज मूलहु॥
अति लावण्य रूप अभिनय गुन नाहिन कोटि काम समतूलहु।
भृकुटि विलास हास रस बरषत हित हरिवंश प्रेम रस भूलहु॥
—हितचतुरासी, पद सं० ६२

२—सैन समय की विरियाँ जानी, भोजन सौंजत बहि कछु आनी॥१७१॥
दूध भात मधु अति रुचिकारी, जल सुगन्ध भरि आनी झारी॥१७२॥
खाइ प्याइ के बीरी दीनी, प्रेम प्यार सौं आरती कीनी॥१७३॥
—रसमुक्तावली लीला (ब्यालीस लीला ध्रुवदास), पृ० १५७

३—भोर भये साँझ ही को धोखो है दुहुनि मन, सुपनो सो जेत कहैं कस बात है भई।
ऐकि हम मिले नाहिं बैठे हैं अबहि आये, ऐकि निशा आज कछु बीच ही तें है गई॥
भूषन बसन छूटे देखे पुनि समुझत, कौन एक भ्रमदशा उपजी है सुखमई।
हित ध्रुव यहै जानैं मिल्यौ अनमिल्यौ मानैं, नैनन में रुचिही की प्रेम बेलि है बई॥
—भजन तृतीय शृंखला लीला (ब्यालीस लीला—ध्रुवदास), पृ० १०२

है जितना राधावल्लभ सम्प्रदाय में, फिर भी उनका स्थान इस सम्प्रदाय में भी कृष्ण से कुछ अधिक ही दृष्टिगत होता है। सखी के नाम में भी अन्तर है, उसमें ललिता प्रमुख हैं, इसमें रङ्गदेवी। निम्बार्क-सम्प्रदाय के हरिव्यास देव जी ने पाँच सुख माने हैं—सेवा, सुरत, उत्साह, सहज, सिद्धान्त। सिद्धान्त में सैद्धान्तिक निरूपण है, शेष चार में सुरत, उत्साह और सहज सुख रस की अखण्ड अबाध स्थिति से सम्बन्धित होने के कारण दैनिक परिचर्या के अन्तर्गत नहीं आते, ये नितान्त आभ्यन्तरिक है। सेवा-प्रणाली का निरूपण 'सेवासुख' के अन्तर्गत ही किया गया है।

इस सम्प्रदाय में अष्टप्रहर सेवा, सखियों की वन्दना के पश्चात् गुरुरूप सखी की कृपा का उद्‌बोधन कर सखी-भाव से आरम्भ की जाती है।[१]

१. मङ्गला—रात्रि के जिस सुख-रस में राधाकृष्ण निमग्न रहते हैं, वह काल बाधाहीन है। उस रस के प्रभाव से शिथिल उन्हें समय—घड़ी, पल का ध्यान नहीं रहता। सखियाँ उनकी इस पारस्परिक आसक्ति को कृतकृत्य भाव से निरखती हुई सेवा आरम्भ करती हैं। एक मीठी चुटकी के साथ उन्हें जगाया जाता है—

आरस तजिये जाउं बलि लगीं मुरहरी होन।
त्यों त्यों पौढ़त तानि पट बानि परी यह कौन ॥१३॥[२]

सहचरियों के प्रिय वचनों को सुनकर राधा उठती हैं। फिर मङ्गला की स्तुति गायी जाती है। स्तुति से राधा का रूप तो स्पष्ट होता ही है, उनकी महत्ता, उनके आनन्द की परावधि ( आह्लाद-विग्रह ) होने का बोध भी जगाया जाता है। फिर दोनों अलबेले आँगन में खड़े होते हैं और उन्हें उनके विचित्र अस्त-व्यस्त रूप का भान कराने के लिए दर्पण दिखाया जाता है।

इस प्रकार दिन का कार्यक्रम युगल-स्वरूप की प्रतिष्ठा के साथ आरम्भ होता है। मुखशोध करवाकर उन्हें मङ्गलभोग कराया जाता है। अनन्तर सिंहासन पर विराजमान युगलमूर्ति की मङ्गला आरती की जाती है। मङ्गलकुञ्ज में

---

१—जय जय श्रीहितु सहचरी भरी प्रेम-रस रङ्ग।
प्यारी-प्रीतम के सदा रहति जु अनुदिन सङ्ग ॥१॥
अष्टकाल वरनन करूँ तिनकी कृपा मनाय।
महावाणी सेवा जु सुख अनुक्रमते दरसाय ॥२॥
सखीनामरत्नावली स्तोत्र पाठ तहं कीन।
पुनि गुरुसखिन कृपा जु लहि जुगलसेव चित दीन ॥३॥
प्रातकाल ही उठि के धारि सखी को भाव।
जाय मिलैं निज रूपसों याकौ यहै उपाय ॥४॥—सेवासुख (महावाणी), पृ० २४

२—सेवा सुख, (महावाणी), पद १३

मङ्गलआरती के प्रकाश में सखियाँ राधाकृष्ण के मङ्गलमय मुखारविन्द का दर्शन कर उस अलौकिक छवि को हृदय में धारण करती हैं। इस आरती में भावात्मक उपकरणों का विधान है। सम्पूर्ण व्यक्तित्व से थाल को सजाकर सखियाँ यह आरती उतारती हैं। हाव-भाव के थाल में रति का घृत, ज्योति तथा तन-मन की मुक्ता चौक, युगलविहार की आरती के अमिट उपकरण हैं। सर्वस्व समर्पण ही इस आरती में ज्योति जगाता है।[१]

२. शृङ्गार—मङ्गला आरती के पश्चात् सखियाँ आराध्य को कुञ्ज में स्नान के लिए ले जाती हैं। मणिचौकी पर आसीन करके उन्हें सुगन्ध का परिवेष्टन कर सुरभित नीर से नहलाया जाता है। नहलाने के बाद मृदुल वस्त्र-धारण करवाया जाता है, तब उनका सुचारु शृङ्गार किया जाता है। प्रत्येक क्रियाकलाप का कुञ्ज पृथक्-पृथक् है, अतः शृङ्गार के लिए 'शृङ्गारकुञ्ज' स्नानकुञ्ज से पृथक् है। इस कुञ्ज में राधाकृष्ण एक दूसरे का नख-शिख शृङ्गार करते हैं और रङ्ग-विरङ्गे आभरण धारण करते हैं। शृङ्गार हो चुकने के बाद उन्हें शृङ्गार-भोग अर्पित किया जाता है। कृष्ण राधा का मनुहार करते हुए उन्हें भोग देते हैं।[२] भोग लगाकर सखियाँ दोनों को आचमन करवाती हैं तथा पान खिलाकर रोली का तिलक लगाती हैं। अन्त में अग्रवर्ती दीप सहित शृङ्गार-आरती की जाती है।

३. वनविहार—इस आरती के हो जाने पर राधाकृष्ण कुञ्जों में विहार करने निकलते हैं।[३]

यों वनविहार को राधावल्लभ-सम्प्रदाय के शृङ्गार के अन्तर्गत भी लिया गया है किन्तु शृङ्गार से इसकी भावना पृथक् होने के कारण उसे स्वतन्त्र सेवा समय में रखना अधिक समीचीन जान पड़ता है, क्योंकि वात्सल्यभाव की उपासना में जो समय 'ग्वाल' का होता है वही समय युगल-उपासना में वनविहार का होता है। शृङ्गार-आरती करवाकर हृदय में उमङ्ग भरे हुए श्यामा-श्याम, कुन्ज की छायादार

---

१—हिय में हाव-भाव लिये थारा। रति घृत जोति रु बाति बिहारा॥
तन मन मुक्ता चौक पुरावै। आरति श्रीभट अमिट प्रचावै॥३६॥—युगल-शतक (श्रीभट्ट)

२—मिलि भोजन स्यामा स्याम करत कर गरसा हसत रस बतियाँ करैं।
पीय कहत हितु हाथ जिमाऊँ इतनों हु फल पाउँ देह धरैं॥टेक॥
करत विनै नैननि सो मोहन आनन सुधाकर परस डरै।
श्रीभट नेह की घांटी अटपटी सैन बैननि सों पैयां परै॥४१॥—वही

३—यह सुख दै सब सखिन को सहज सुरत रसलीन।
कुंजन कुंजन विहरहीं निज इच्छा आधीन॥२१॥—सेवासुख (महावाणी), पद २१

वीथियाँ तकने लगते हैं और कुञ्ज-कुञ्ज में विचरण करते हुए प्रत्येक वस्तु में वे अमृत का सञ्चार करते हैं—

फुञ्ज विहारी फुञ्जविहारिन फुञ्जविहार विहारें री।
रङ्गदास दरहसि वसुदादिक रमत सुरुचि अनुसारें री॥
अमृत कुञ्ज को अमृत लै लै पी पी असु प्रतिपारें री।
फल फल चल दल त्रियलन में श्रीहरिप्रिया सञ्चारे री॥[1]

४. राजभोग—वनविहार करके राधाकृष्ण भोजनकुञ्ज में आते हैं जहाँ पर विधिपूर्वक आसन पर बिठाकर सखियाँ उन्हें मनभाये व्यञ्जन परोसती हैं और वे रुचिपूर्वक उन्हें खाते हैं। राजभोग में कृष्ण जब राधा को ममत्व से खिलाते हैं तब सखियों में विनोदपूर्ण आह्लाद का भाव सञ्चरित होता है। मध्याह्न के इस भोजन में लेह्य, चोष्य, भक्ष्य, भोज्य किसी प्रकार का व्यञ्जन नहीं छूटता। भक्त अपनी रसनेन्द्रिय की समस्त लिप्सा को राधाकृष्ण के 'भोग' के रूप में समर्पित करके उससे उपराम होने की चेष्टा करता है।[2] यह अन्नमय कोष को आनन्दमय कोष तक पहुँचाने का उपक्रम है।

राजभोग के पश्चात् आचमन करवाया जाता है और 'बीरी' प्रदान की है। फिर राजभोग की आरती होती है। राजभोग का समय दिन का मध्यकाल होता है। इस भोग के बाद राधाकृष्ण, सुमन के पर्यङ्क पर विश्राम करते हैं। इस विश्राम में कहीं-कहीं रतिकेलि भी वर्णित है।

५. उत्थान—विश्राम के अनन्तर उत्थापन का समय होता है। उत्थापन भोग में विविध प्रकार की मेवा-मिठाइयाँ अर्पित की जाती हैं। स्वर्णथाल में प्रत्येक ऋतु की सामग्री प्रस्तुत की जाती है। सखियाँ भाँति-भाँति से राधाकृष्ण की सेवा में लगी रहती हैं, कोई चँवर डुलाता है, कोई मोरछल, कोई झारी लिये खड़ा रहता है और कोई मुकुर।

उत्थापन-भोग करके राधाकृष्ण फुलवारी का आनन्द लेने जाते हैं। वहाँ सखियाँ उनकी आरती करती हैं एवं स्तुति गाती हैं। स्तुति में राधा का प्राधान्य रहता है यद्यपि कृष्ण की भी वन्दना साथ में रहती है।

पराभक्तिरतिवर्द्धनी स्यामा सबसुखदेनि।
रसिकमुकुटमनि राधिके जय नवनीरजनैनि॥५२॥

× × ×

---

१—महावाणी—सेवासुख पद ३२।

२—छपन छतीसों रस छहों, चतुरविधा बहु पुञ्ज।
नन्द नन्दन वृषभानुजा, भोजन करत निकुञ्ज॥४२॥—युगल-शतक (श्रीभट्ट)

शवयाह्लादिनि अतिप्रियवादिनि उर उनमादिनि श्रीराधे।
अङ्ग अङ्ग टोना रूपसलोना सुभगसुठोना श्रीकृष्ण ॥५३॥[1]

६. संध्या—सन्ध्या-वन्दना के समय सङ्गीत का समारोह जमता है। मधुरा सखी, मधुर मृदङ्ग बजाती है, अनुरागिनी नामा सखी रागरागिनी छेड़ती है, सप्तस्वरों में तान, मीड़, मूर्च्छना, ग्राम आदि सङ्गीत की बारीकियों का प्रदर्शन करती है। नृत्यक सखी उरपतिरप, लाग-डाट, हस्तकभेद आदि नृत्य सम्बन्धी खूबियाँ दिखलाती है। इस प्रकार सारी सखियाँ मिल कर राधाकृष्ण को हुलसित करती हैं।

इस समारोह के उपरान्त राधाकृष्ण निकुञ्ज में पधारते हैं और वहाँ केलि में रत होते हैं। कुञ्ज में एक सिंहासन पर युगलमूर्ति विराजमान होती है और सखियाँ युगल-छवि का पान करती हुई आत्मविभोर होती हैं।

चार घड़ी रात्रि बीतने पर वे सदन लौटते हैं और वहाँ उन्हें ब्यारू करवाया जाता है। फिर, शयन का समय जान कर उनकी आरती की जाती है।

७. शयन—शयन के समय सखियाँ शैया रच देती हैं और उस पर उनके आराध्य की प्रेमरसपगी पलकें लग जाती हैं। वे निद्रित राधाकृष्ण के चरण दबाती रहती हैं या चँवर डुलाती हैं। इस स्थल पर सखियों की कोमल भावना द्रष्टव्य है।[2] कुछ देर बाद उन्हें सोया देख, पट बन्द कर बाहर चली जाती हैं और रन्ध्रों से युगल की रूपमाधुरी का पान करती हुई धीमे स्वर में उनका गुणगान करती रहती हैं।

अर्द्धशवरी में जब छः सात घड़ी रह जाती है तब सहचरियाँ आकर राधा-कृष्ण को जगाती हैं और उन्हें रासस्थली ले जाया जाता है जहाँ पर रास का आयोजन होता है।[3] रास के पश्चात् राधाकृष्ण का ब्याह किया जाता है।

८. शैया—तत्पश्चात् वे शैय्या पर विराजते हैं और विविध विलास में निमज्जित होते हैं। सखियाँ उनका गुणगान करती हैं। अर्द्धनिशा होने पर कृष्ण

---

१—महावाणी—सेवासुख, पृ० ३९-४०

२—सोवत जुगल चँवर हौ ढारौं।
कबहुँक सेऊँ चरन नैननि में नवतम नेह सुधारस धारौं ॥टेक॥
कबहुँक पद-पल्लव राधे के अपने नैन-कनीन निसारौं।
कबहुँक श्रीभट नंदलाल के कोमल चरन कमल पुचकारौं ॥५०॥—युगलशतक (श्रीभट्ट)

३—नाचत नवल नागर रहसि रासरंगे।
सुभगवन पुलिनथल कल्पतरुतलविमल मंजुमंडलकमलदल अभंगे॥
रुनुनु नूपुर रमक झमक हंसक झुनुनु कुनुनु किंकिनिकलित कटि सुधंगे।
चरन की धरन उच्चरनसप्तकसुरन हरनमन न करन उर उमंगे ॥७२॥
—सेवासुख, महावाणी

राधा से सोने का अनुरोध करते हैं। इस समय से प्रातः मङ्गला तक दोनों युगनिद्रा में निमग्न हो जाते हैं।

वस्तुतः शैया 'शयन' का ही एक अङ्ग है किन्तु प्रहर-भेद से क्रमशः उसका अपना समय रखा गया है। इस प्रकार निम्बार्कीय अष्टप्रहर सेवा का निर्वाह होता है।

## गौड़ीय सम्प्रदाय

इस संप्रदाय की अष्टप्रहर सेवा प्रणाली में राधा के परकीया होने के कारण भावुकता तथा रोचकता है। अष्टकालीय नित्य लीला का विभाजन इस प्रकार से हुआ है—

१—निशान्त लीला, २—पूर्वाह्न लीला, ३—मध्याह्न लीला, ४—अपराह्न लीला, ५—प्रदोष लीला, ६—रात्रि लीला, ७—अलसनिद्रा लीला।

शास्त्र के अनुसार निशान्त, प्रातः, पूर्वाह्न, मध्याह्न, अपराह्न, सायं, प्रदोष एवं रात्रि—ये आठ काल हैं। पूर्वोक्त काल-विभाजन में प्रातः एवं सायं के दो पारिभाषिक कालभेद रहने पर भी लौकिक काल-विभाग में इन काल-विभाग के अनाहृत होने के कारण तथा प्रातःलीला के साथ पूर्वाह्न लीला, सायं के साथ प्रदोष लीला और अलस-निद्रा के साथ रात्रि-लीला के अभेद होने पर भी नित्यगत व रसगत यथेष्ट भेद के कारण, पदकल्पतरु के पद-संग्रहकर्ता ने काल के उक्त सात प्रभेदों को माना है।[1]

चैतन्य-सम्प्रदाय की सेवा प्रणाली में लीलाओं की विविधता द्रष्टव्य है। राधाकृष्ण के अनुरागमय मिलन में मित्रों, विशेषकर सखियों की चाटु लीलाएँ अपना रोचक महत्व रखती हैं।

उपर्युक्त काल-विभाजन के अन्तर्गत निम्नलिखित लीलाएँ मानी गयी हैं। इस सम्प्रदाय में सर्वत्र सूक्ष्म विश्लेषण की प्रवृत्ति दीखती है।

१. निशान्त लीला—राधा का स्वप्न, राधाकृष्ण का रसालस, राधाकृष्ण का निद्राभङ्ग, श्रीकृष्ण के प्रति ललिता का परिहास, श्रीकृष्ण का प्रत्युत्तर, पुनश्च सखी की उक्ति, ललिता का कौशल, श्रीकृष्णकर्तृक राधा की वेश-रचना, गृहागमन जनित विरह में श्री राधाकृष्ण की व्याकुलता तथा वृन्दा के कौशल से राधाकृष्ण का स्वगृह-गमन।

---

१—पदकल्पतरु—चतुर्थ खण्ड, पृ० १२८

२. पूर्व्वाह्न लीला—जागरण, श्रीराधा के प्रति भगवती पौर्णमासी की परिहासोक्ति, विशाखा का प्रत्युत्तर, दासियों का गृहकार्यसमापन, श्रीराधा का स्नान, रसोद्‌गार, श्रीराधा से रजनी-विलास के सम्वन्ध में सखियों की प्रश्नावली, श्रीराधा का रसोद्‌गार—अनुराग, श्रीराधा का अनुराग, सखियों द्वारा श्रीराधा की वेश-रचना, जागरण— यशोदा द्वारा श्रीकृष्ण का जागरण, व्रजवालकों का नन्दगृह में आगमन, श्रीकृष्ण का गोष्ठगमन, नन्दालय में खाना पकाने के लिए श्रीराधा का लाया जाना, श्रीराधा का रन्धन, सखाओं के साथ श्रीकृष्ण का गोष्ठ प्रत्यागमन व भोजनलीला, सखियों के साथ राधा का भोजन, यशोदा द्वारा श्रीराधा की वेशरचना, गोष्ठ—यशोदा द्वारा श्रीकृष्ण की गोष्ठ-सज्जा, सखाओं के साथ श्रीकृष्ण का गोष्ठ-गमन, यशोदा के आदेश पर कुन्दलता के साथ श्रीराधा का स्वगृह-गमन, श्रीराधा व सखी द्वारा जटिला की मनस्तुष्टि तथा जटिला के आदेश से सखियों के साथ श्रीराधा का सूर्य-पूजा के छल से अभिसार।

३. मध्याह्न लीला—मध्याह्न अभिसार—सखियों के साथ राधा का अभिसार, राधाकृष्ण का मिलन, राधा-कृष्ण की होली (दोल), राधाकृष्ण की झूलन लीला, वन-भ्रमण—श्रीकृष्णराधा का वन-भ्रमण व पुष्पचयन, श्रीराधा द्वारा कौतुक छल से मुरलीहरण, श्रीकृष्ण से राधा व सखियों का रहस्य-गोपन, कृष्ण का अनुनय व खेद, राधा द्वारा मुरली प्रदान, श्रीकृष्ण-श्रीराधा का प्रेमवैचित्र्य, मधुपान—राधाकृष्ण की मधुपान लीला, श्रीराधाकृष्ण की रतिक्रीड़ा, जलक्रीड़ा—सखियों सहित श्रीराधाकृष्ण की जलक्रीड़ा, मधुमङ्गल व सुवल के साथ श्रीकृष्ण का भोजन, श्रीराधाकृष्ण का विश्राम, शुकसारिका द्वारा राधाकृष्ण का रूप-गुण वर्णन, पाशक्रीड़ा – राधाकृष्ण की पाशक्रीड़ा व हास-परिहास, जटिला के आगमन पर सखियों सहित राधा का सूर्य-मन्दिर में जाना, विप्रवेश में श्रीकृष्ण का वहाँ आना व राधा द्वारा पौरोहित्य वरण, सूर्य-पूजा के अन्त में सखियों सहित श्रीराधा का गृह-गमन तथा श्रीकृष्ण के विच्छेद में श्रीराधा की व्याकुलता एवं सखियों द्वारा सान्त्वना।

४. अपराह्न लीला—उत्तरगोष्ठ, श्रीराधा का अपने गृह में श्रीकृष्ण के लिए पकवान वनाना व स्नानादि लीला, श्रीकृष्ण का गृह-प्रत्यागमन, श्रीकृष्ण का अपराह्न भोजन।

५. प्रदोष लीला—श्रीराधा व कृष्ण का प्रदोपोपरि आरोहण व दूर से परस्पर दर्शन, श्रीकृष्ण का नन्दसभा में गमन व नृत्यादि दर्शन, श्रीकृष्ण और वलराम का रात्रि-भोजन व शयन तथा श्रीराधा की स्वगृह में रात्रि भोजनादि लीला।

६. रात्रि लीला—अभिसार— सखियों के साथ राधा का अभिसार—श्रीकृष्ण का अभिसार, निकुञ्ज में श्रीराधाकृष्ण-मिलन, श्रीराधाकृष्ण का कानन-शोभा

दर्शन, रास-विलास—श्रीराधाकृष्ण का रासविलास, राधाकृष्ण की जलक्रीड़ा, राधाकृष्ण का विलास, स्वाधीन भर्तृका श्रीराधा, प्रगल्भ स्वाधीनभर्तृका श्रीराधा, नर्म सखियों द्वारा राधाकृष्ण का सेवन।

७. अलसनिद्रा लीला—श्रीराधाकृष्ण की अलस-निद्रा। अब इनका सविस्तर रूप प्रस्तुत किया जा रहा है—

१. निशान्त रसालस - रात्रि जागरण एवं रतिरङ्ग के अतिरेक से श्रीराधा-कृष्ण आलस्य से भरे सोये रहते हैं। कृष्ण यशोदा की सत्ता से बे-वाकिफ़ हैं और उनसे भी बढ़ कर परकीया नायिका श्रीमती राधिका हैं जो परमविकट सास जटिला के अस्तित्व से पूर्णतया अनभिज्ञ हैं। दोनों की अवस्था विचित्र है वेशविन्यास अस्तव्यस्त हैं, भोर हुआ चाहता है पर निद्रा और क्लान्ति से वे ध्वस्त हैं।

> मीटल चन्दन टूटल आभरण छूटल कुन्तल-बन्ध।
> अम्बर खलित गलित कुसुमावलि घूसर दुहुँ मुख-चन्द॥
> हरि हरि अब दुहुँ श्यामर गोरि॥[१]

दोनों की यह दशा देख कर रात्रि के अवशेष में सारी सखियाँ वृन्दादेवी का मुख निरख रही हैं और उनसे रसालस में सोये दोनों को जगाने की तरकीब पूछ रही हैं। वृन्दा ने कहा कि शारी, शुक आदि पक्षियों को जगा दो, अन्य सारे जन जटिला के आगमन की चर्चा चलायें जिससे राधिका की निद्रा भङ्ग हो। वृन्दा की आज्ञा से सारे पक्षी मधुर स्वर छेड़ने लगे, पक्षियों के कलरव से राधाकृष्ण की नींद खुली। आलस्य के कारण वे एक-दूसरे से विलग नहीं होना चाहते।

शृङ्गार रस में परकीया भाव की प्रमान्यता के कारण गौड़ीय सम्प्रदाय में शृङ्गारिक वर्णन अत्यन्त खुल कर किया गया है। कृष्ण को जगाने में वात्सल्य का अभाव है, जटिला आदि के प्रसङ्ग विषयानुकूल रस का सञ्चार करते हैं। जगाने के समय मङ्गला की भाँति ही राधाकृष्ण की स्तुति अत्यन्त भक्तिभाव से की जाती है और उनसे शैया छोड़ने की प्रार्थना की जाती है —

> गोकुलबन्धो, जय रससिन्धो, जागृति तल्पम्, त्यज शशिकल्पम्।
> प्रीत्यनुकूलम्, श्रित-पद-मूलाम्, बोधय कान्ताम्, रति-भर-तान्ताम्॥[२]

प्रातःकाल जान कर सखियाँ उनके मुखारविन्द का दर्शन करने चल पड़ती हैं। दोनों की सेवा वे बड़ी तत्परता से करती हैं। इधर पुत्र को खोजती हुई विकल

---

१—पदकल्पतरु—चतुर्थ खण्ड, पद सं० २४७७

२—वही, पद सं० २४८६

यशोदा कुञ्जकुटीर पहुँचती हैं। उनका विचक्षण भाषण सुनकर श्रीकृष्ण चौंककर उठ बैठते हैं। जटिला भी राधा के अन्वेषण में उधर ही जा पहुँचती हैं। जटिला के वचन सुनकर राधा को होश आता है। उनकी मनोदशा का एक सुन्दर पद बलरामदास का है—

> झूँकरु वन भरि मधुकर मधुकर, कूजइ कोकिल-वृन्द।
> शुनि तनु मोरि गोरि पुनि शूतलि, मूँदि नयन-अरविन्द ॥
> जागह प्राण-पियारि, रजनि पोहायल गुरुजन जागल।
> ननदिन देयब गारि ॥ध्रु०॥
> जटिला शाशु आसु भरि रोयइ, खोजई यामुन-तीर।
> शारिक वचने चमकि धनि उठइते, ढुलि-ढुलि पड़इ अधीर ॥
> छलहि चियाउल तुरतहि सखिगन, जागल आभरण-वोले।
> 'बलराम' हेरि जगाइ उठायल, दुहु तनु झाँपि निचोले ॥[१]

सहचरियों को सामने देखकर कमलमुखी राधिका लज्जा से आधा मुख ढाँक लेती हैं। कृष्ण, राधा को दोषी ठहराते हैं और राधा की सखियाँ विशेषकर ललिता, कृष्ण को। जग कर वे दोनों अपने-अपने गृह को प्रस्थान तो करते हैं किन्तु अत्यन्त कातर होकर। परोढ़ा-प्रेम के कारण दिन भर के सामाजिक बन्धनों को सोच कर वे वार-वार अधीर हो जाते हैं।[२]

२. पूर्व्वाह्न—रात्रि के अवसान पर सारी सखियाँ सतर्कतापूर्वक काम में लग जाती हैं। वेश के मन्दिर को स्वच्छ करके वहाँ वेशभूषा का साज-शृङ्गार रखती हैं। दशन-मार्जनी, रसना-शोधनी को थाल में, कर्पूर आदि से सुवासित जल गागर में, मुखप्रक्षालन एवं स्नान के निमित्त वेदी पर रख दिया जाता है। गमछा (अङ्गौछा), उवटन आदि भिन्न-भिन्न आवश्यक वस्तुएँ सखियाँ लाती हैं। विधि से भी अगोचर नाना प्रकार के उपहार स्नेहमयी सखियाँ अपनी आराध्या के दन्त-मार्जन व स्नान के लिए थाल में सजाकर ले आती हैं।

श्यामला, विमला, मङ्गला, अवला आदि को देखकर राधिका उनसे गले मिलती हैं और रात्रि की रसकथा कहते-कहते 'रसोद्गार' से उनका कंठ गद्गद् हो जाता है। अपने प्रति किये गये कृष्ण के मनुहार को राधा उच्छल हृदय से वखानती हैं। यह युगल रस ही सखियों का साध्य है। राधिका के मुख से अप्राकृत रस का वर्णन

---

१—पदकल्पतरु, चतुर्थ खण्ड, पद सं० २४८९

२—पद आध चलत खलत पुन फीरत कातरे नेहारइ मुख।
एकइ परान देह पुन भिन-भिन अतए से मानिये दुख—पदकल्पतरु, ॥२५०८॥

सुनकर सखियाँ उस रस का आस्वादन करती हैं। 'रसोद्गार' में प्रकारान्तर से राधा का महाभाव जग उठता है। वे 'अनुराग' से विवश हो जाती हैं और उस प्रीति को विचित्र कहती हैं जो उन्हें ही सताती है। आखिर, किस प्रकार विधाता ने उनका निर्माण किया है, प्रेम तो सभी करते हैं, किन्तु उनके ही प्रेम में यह असम्य ज्वाला क्यों ?

कौन विधि सिरजिल कुलवती वाला। केवा नाहि करे प्रेम कार एत ज्वाला॥
ज्ञानदास कहे मुइ कारे कि बलिब। बन्धुर लागिया हाम सागरे पशिब॥[1]

अपने अनुराग दशा का वर्णन करती हुई राधिका चित्त की क्लेशमयी अवस्था को सुनाती हैं। प्रेम के इस महाभाव से केवल वही भिज्ञ है, कोई दूसरी गोपी नहीं। अनुराग के अतिरेक में उनका मन अन्य सभी वस्तुओं से उचाट हो जाता है और गात्र में पुलक, नेत्रों में जल समाया रहता है। तिलार्द्ध न देखने पर प्राण विकल हो जाते हैं। क्या करें वे, कहाँ जाँय ? इस पर नन्द कु-वचन बोलती है और टोला-पड़ोसी दुःख देते हैं। हृदय में प्रेम का अङ्कुर प्रवेश करके दिनोदिन बढ़ता हुआ वृक्ष हो गया, फल-फूल के समय विपत्ति आ पड़ी। ऊबकर राधा कहती हैं कि वे वनवासिनी हो जायेंगी। उधर कृष्ण का स्नेह भी अत्यन्त गुरु है, वे उससे अनभिज्ञ नहीं हैं, राधा उसके प्रति कृतज्ञ हैं।[2] राधा के व्याकुल चित्त को सखियाँ किसी प्रकार स्थिर करती हैं और उन्हें स्नान करवा कर उनका षोडश शृङ्गार किया जाता है।

इधर कृष्ण के दास मुख धुलवाकर उनका शृङ्गार करते हैं। सखाओं के साथ नाना रस-रङ्ग करते हुए श्रीकृष्ण के गोष्ठ जाने पर यशोदा, राधा को कुन्दलता से खाना बनाने के लिए बुलवाती हैं। कुन्दलता, जटिला को आश्वस्त करके राधा को लिवा ले जाती हैं। विश्वासपात्री कुन्दलता रास्ते में राधा को, कृष्ण से मिलाती हुई यशोदा के घर पहुँचा जाती हैं। यशोदा के मन में राधा के लिये अत्यन्त ममत्व है। राधा देखते ही उन्हें गोद में लेकर चुम्बन करने लगती हैं तथा प्रेमाश्रु से सींच देती हैं। दास-दासियाँ सारी सामग्री जुटाते हैं और राधा अपने कर कमलों से भाँति-भाँति के व्यञ्जनों को पकाकर यशोदा को सन्तुष्ट करती हैं। गोष्ठ से सखाओं सहित श्रीकृष्ण जब घर आते हैं तब स्नान करके वही सुस्वादु-भोजन करते हैं। आचमन करके कृष्ण पर्यङ्क सेवन करते हैं और दासगण उनका पाद-संवाहन। फिर राधा आदि अन्य जन भी भोजन करते हैं। भोजन के उपरान्त यशोदा, राधिका के कुञ्चित केशों

१—पदकल्पतरु, पद सं० २५०६
२—यत यत पिरिति करये पिया मोरे।
आखरेते लिखा आछे हियार मामारे॥—पदकल्पतरु, पद सं० २५३३

को शृङ्गार करती हैं, सिन्दूर पूरित करती हैं, काजल लगाती हैं तथा रत्नाभूषणों से सुसज्जित करती हैं। अपना स्नेहातिरेक व्यक्त करती हुई यशोदा कहती हैं कि यह रूपगुण की निधि विधाता ने उन्हें नहीं सौंपा नहीं तो वे न जाने कितना दुलार करतीं ! अपने पुत्र के लिए उन्हें कोई रमणी ही नहीं जचती, ढूंढ़ने पर भी किसी देश में न मिल सकी। यशोदा की इस विषाद-कथा को सुनकर राधा मुख पर वसन ढँक कर हंसती हैं।

सखागण वेणु से और गौवें अपने स्वर से, कृष्ण का वन में आवाहन करने लगते हैं, इसलिए कुछ क्षण विश्राम करके कृष्ण वन चले जाते हैं। यशोदा इस विच्छेद को किसी प्रकार सहन करती हैं। उधर कृष्ण गोष्ठ जाते ही राधा का इन्तजार करने लगते हैं क्योंकि कुन्दलता राधा को उनके घर पहुँचाने अभी जायेंगी ही। कृष्ण से मिल कर राधिका घर पहुँचती हैं। यशोदा द्वारा अलंकृत अपनी वधू को देख कर जटिला किञ्चित् क्षुब्ध होती हैं किन्तु राधा के रूप यौवन के सम्भार पर न्योछावर हो जाती हैं। वह वधू से सूर्य-पूजा की तैयारी करवाती हैं और सखियों सहित वन के किसी सूर्य मन्दिर में उन्हें पूजा करने भेजती हैं।

३. मध्याह्न—पूजा के छल से राधा सखियों को लेकर दिवाभिसार करती हैं। कुसुमित कुञ्ज में कातर कृष्ण कामिनी राधा के विषय में न जाने क्या-क्या अनुमान लगाते हैं। कभी सुवल से पूछते हैं कि आखिर राधा ने इतनी देर क्यों लगा दी ? दारुण गुरुजनों ने बाधा डाली या कि उसने मान ठाना है ? अथवा स्वजनों के स्नेह में विभोर है ? सुवल उनकी कातरता देख कर समझाते हैं कि राधा से उनका मिलन शीघ्र ही होगा। इधर राधा को विरस-वदना देख कर वृन्दादेवी कृष्ण का पता-ठिकाना दे देती हैं। कुण्डतीर पर दोनों का मिलन होता है।

देवता-पूजन के मिस राधा कृष्ण से मिलती हैं और सारी आराधना का फल कदम्बतरु के नीचे श्यामल देवता से प्राप्त हो जाता है। अनुराग-विह्वल प्रेमी-युगल एक दूसरे को पहिचान नहीं पाते, एक-दूसरे को देखते-देखते उन्माद एवं विभ्रम दशा को पहुंच जाते हैं—

> दुहुँ मुख हेरइते दुहुँ भेल धन्द, राइ कहे तमाल माधव कहे चन्द।
> चीत-पुतलि जनु रहुँ दुहुँ देह, ना जानिये प्रेम के मन अछु नेह ॥[१]

दोनों प्रेम-गुरु के शिष्य-नट बन जाते हैं, जो उन्हें उज्जवल-रस के नाना भाव-भूषा से सुसज्जित करता है। हावभाव सात्विक अलङ्कार उन पर चढ़ने लगते हैं—

---

१—पदकल्पतरु, पद सं० २६०६

दुहुँ-प्रेम गुरु मेल शिष्य तनु मन। शिखाय दोहाँरे नृत्य अति मनोरम॥
चापल्य औत्सुक्य हर्ष भाव-अलङ्कार। दुहुँ मन शिष्या परे भूषणेर भार॥
मुजृम्भादि उद्भाव सुदीप्त सात्विक। एई सब भावभूषा राधार अधिक॥
अयत्नज शोभा आदि सप्त अलङ्कार। स्वभावज विलासादि दश परकार॥
भावादि अङ्गजा तिन मौग्ध्य चकित। द्वाविंशति अलङ्कारे राधाङ्ग भूषित॥
नाना भावे विभूषित कहने ना जाय। ए यदुनन्दन दास विस्तारिया गाय॥[१]

इस मिलन के बाद होली-लीला होती है और फिर आन्दोलन (झूल) लीला। तदनन्तर राधाकृष्ण सखियों सहित वन में भ्रमण करते हैं। अवसर तक कर राधिका, कृष्ण की वंशी चुरा लेती हैं और क्रमशः सारी सखियों के पास उसे पहुँचाती जाती हैं। ख्याल आने पर कृष्ण वंशी के लिए अनुनय-विनय करने लगते हैं। अन्त में सखियों द्वारा न्का लिये जाने पर राधा से उन्हें मुरली मिल जाती है। कानन की कुसुम-सुषमा तथा षट्ऋतुओं की शोभा का अवलोकन करते हुए राधाकृष्ण वन में विचरण करते हैं।

इस वन-विहार के उपरान्त किसी रत्न-मन्दिर में सखियों सहित बैठ कर नागरी-नागर मधुपान करते हैं। मधुपान करके उनकी अवस्था और भी विचित्र हो जाती है। एक तो मधुर प्रेम का सहज उन्माद, उस पर मधुपान। राधाकृष्ण शिथिल हो जाते हैं, सारी सखियाँ अपने-अपने कुञ्ज मन्दिर में शयन करने चली जाती हैं। यहाँ नागरी-नागर के केलि-विलास को देख कर मन्मथ भी कतरा जाता है।

तदनन्तर श्रम-परिहार के लिए जलक्रीड़ा का आयोजन होता है। स्नान के बाद, राधाकृष्ण को दासियाँ फलफूल का संस्कार करके थाल में अर्पण करती हैं। राधकृष्ण पर शारी-शुक का वार्तालाप चल पड़ता है। शुक, कृष्ण के रूप-गुण का वर्णन करता है और शारिका राधा के। शुक की गुरु हैं वृन्दा, शारिका की ललिता। इस स्थल पर प्रायः राधा के रूप-गुण की ही विजय होती है। कृष्ण के रूप की अनुपम व्यञ्जना जयदेव के शुक के शब्दों में इस प्रकार हुई है—

सौरभ-सेवित-पुष्प-विनिर्म्मित निर्म्मल-वन-माला-परिमण्डित॥
मन्दतर-स्मित-कान्ति-करम्वित वदनाम्वुज नव-विभ्रम-पण्डित॥
जय जय मरकत-कन्दल सुन्दर॥[२]

इसके बाद पाशक्रीड़ा होती है। पण में नाना प्रकार की केलियाँ लगायी जाती हैं। शुक इस रसमय प्रसङ्ग की भङ्गकारिणी जटिला के आगमन की घोषणा

१—पदकल्पतरु, पद सं० २६०६
२—वही, ६२२२

करता है। जटिला का आगमन सुन कर राधा सखियों सहित सूर्य-मन्दिर में प्रवेश करती हैं। कृष्ण गर्ग मुनि के शिष्य बन कर शास्त्रपरायण ब्रह्मचारी-ब्राह्मण के वेश में उस मन्दिर में पधारते हैं। कुन्दलता की सिफारिश से जटिला उन ब्रह्मचारी महाशय को बुला भेजती हैं। कृष्ण धीर-शान्त-कलेवरधारी साक्षात् विप्र का वेश धर कर आते हैं। जटिला धूर्त शिरोमणि की बनावटी गम्भीरता से प्रभावित होकर राधा को उन्हें सौंप देती हैं कि वे ही सूर्य-पूजा के पुरोहित बनें। विदा पाकर बटु सहित राधिका कानन की ओर प्रस्थान करती हैं और सूर्य-पूजा करके राधा घर वापस आती हैं।

४. अपराह्नलीला (उत्तरगोष्ठादि)—श्रीकृष्ण गोष्ठ से लौटते हैं और इधर राधा गृहकार्य समाप्त कर चुकती हैं। मुरली ध्वनि सुनकर व्रजाङ्गनाएं उत्कण्ठित हो अपनी-अपनी अट्टालिका पर चढ़ कर श्रीकृष्ण-दर्शन में नेत्र बिछाये रहती हैं। किन्तु राधा चातकी सखी की चतुराई से श्याम के साथ जा मिलती हैं और हर्षित मन से उनके रूप तथा प्रेम सुधा का पान करती हैं।

कृष्णागमन से प्रफुल्लित यशोदा आनन्दविह्वल दीप जलाकर उनकी आरती की तैयारी करती हैं। सखियों की भीड़ लग जाती है, कोई घण्टा बजाता है, कोई झाँझर तो, कोई घड़ियाल। कृष्ण की जयजयकार से प्राङ्गण गूंज उठता है। यशोदा विधिपूर्वक कृष्ण की आरती उतारती हैं, द्विजों को दान देती हैं। दासगण अपने-अपने कार्य में तत्परता से नियुक्त हो जाते हैं, कोई वेदी पर शीतल नीर रखता है, कोई पतला चीर ले आता है, कोई बलराम-कृष्ण को वेदी पर बिठालता है, कोई उबटन मलता है, कोई अङ्ग मर्दन करता है और कोई स्नान करवाता है आदि-आदि। माँ की प्रीति से प्रसन्न कृष्ण, राधा द्वारा बनाया हुआ भोजन करने बैठते हैं। जलपान करके कृष्ण, खरिक में गोदोहन के लिए जाते हैं। गोदोहन का दुग्धपात्र लेकर माँ के निकट बैठते हैं। उनके किसी इङ्गित से राधा की एक सखी यह समझ जाती है कि गोदोहन हो चुका, अब एकान्त में राधा से उनके मिलने की वेला आ रही है।

५. प्रदोष—अपराह्न के अन्त में कृष्ण, नन्द उपनन्द के साथ घर के बाहर किसी सुरम्य स्थली पर बैठते हैं और नट की तरह भाँति-भाँति का प्रदर्शन करते हैं। गायन, वाद्य तथा नृत्य का समारोह जब समाप्त होता है तब सेवकगण बलराम-कृष्ण के अस्त-व्यस्त वसन, अलङ्कार आदि उतार कर भोजन का वस्त्र धारण करवाते हैं। उनका चरण-प्रक्षालन करके उन्हें भोजन-भवन में ले जाया जाता है। राम कृष्ण माता-पिता के प्रेमरस से सिञ्चित भोजन के सब रसों का आनन्द लेते हैं। आचमन करवा कर सेवकगण उन्हें शयन-कक्ष में ले जाते हैं। अलसित तन नींद के कारण ढल-ढल पड़ता है, सेवक उनका पाद संवाहन करते हैं तथा नींद में अचेत देखकर वह अपने-अपने घर चले जाते है।

राधा भी भोजनोपरान्त अपने घर सखियों से परिसेवित होती हैं। वृन्दादेवी यमुना-पुलिन पर किसी चम्पक-कानन में फूलों का पर्यङ्क निर्मित करती हैं। सुकोमल कमलदलों की शैया बनाती हैं, उपधान भी फूलों का ही होता है। कानन की शोभा द्विगुण क्या सहस्रगुण बढ़ जाती है। उनकी श्री-सुषमा में जैसे अप्राकृत मदन ही फूल-शर लेकर विचरण कर रहा होता है। शीतल-मन्द-सुगन्धित समीर बहता है और पराग से वीथी परिपूरित हुई रहती है। ऐसे मादक वातावरण में एक सखी राधा को बुलाने जाती है।

६. रात्रिलीला—कृष्ण के द्वारा आवाहन किये जाने पर चम्पकवर्णी राधा कुटिल गति से अभिसार करती हैं। सारी सखियाँ प्रसन्न हैं कि रात्रि घोर अन्धकारमयी है, राधा को कोई पहिचान नहीं सकता। गुरुजन, दुर्जन, सभी नींद में अचेत हैं। राधा, कृष्ण को आनन्दित करने योग्य निरुपम वेश-रचना करके, नीला नीला-कमल लेकर अभिसार के लिए चल पड़ती हैं। पथ के सारे कण्टक दूर हो जाते हैं। केवल शूर मन्मथ जगा हुआ रहता है बाकी सब सोये रहते हैं। इसलिए राधा को अभिसार में और किसी बात का भय नहीं रहता। नवीना कामिनी, कनक-लतिका, त्रिभुवन-सुन्दरी श्रीराधिका स्वर्णचम्पा के निभृत-निकुञ्ज में उपस्थित होती हैं।

इधर कृष्ण ने जब देखा कि सारा घर सो रहा है तब शैया छोड़ कर युवतियों के मन को हरने वाला वेश धारण करके अँधेरी रात में चल पड़ते हैं। राधा की सखी उन्हें मार्ग में ही मिल जाती है और उन्हें राधा के पास लिवा जाती है। इस प्रकार राधा-माधव का अपरूप मिलन घटित होता है। वे एक-दूसरे को देखकर अत्यन्त उल्लसित होते हैं और पुलक से दोनों का तन परिपूर्ण हो उठता है। चतुर्दिक् सखियों का समाज, बीच में राधामाधव की युगलमूर्ति। दोनों की अमृत-सिंचित वाणी सुनकर सखियाँ तृप्त होती हैं और उनके मधुर गुण से हर्षित हो उनका फूलों से मण्डन करती हैं। सखियाँ उन्हें सुगन्ध, कपूर, चन्दन, माला इत्यादि अर्पण करती हैं। उनके हृदय पर माला के दोलन को देख कर सखियों की आँखें शीतल होती हैं।

तत्पश्चात् रास-विलास आरम्भ होता है। सखियों के सुख के निमित्त श्रीकृष्ण ललित त्रिभङ्गी मुद्रा धारण करके रास रचाते हैं। इसी समय वे त्रिभुवन-मोहक कामजयी वंशीनाद अपनी उङ्गलियों से रन्ध्र में पूरित करते हैं। उसके सुधा से परिकरों का हृदय अभिसिञ्चित होता है। तदनन्तर अनेक रसाल यन्त्रों की सङ्गति में राधाकृष्ण निरुपम नृत्य करते हैं। डम्फ़, रबाब तथा स्वरमण्डल के स्वरों के साथ दसों दिशाओं में प्रेम की हिल्लोल तरङ्गायित होती है।

रास के उपरान्त श्रम मिटाने के लिए जल-क्रीड़ा होती है। इसके बाद

राधाकृष्ण का एकान्त मिलन होता है। राधा स्वाधीनभर्तृका हैं, कृष्ण सम्पूर्णतः उनके अधीन हुए रहते हैं। कृष्ण, राधा का शृङ्गार करते हैं और प्रिय सखियाँ दोनों का पादसंवाहन करती हुई भाँति-भाँति की सेवाओं में लगी रहती हैं।

७. अलसनिद्रा—कुसुम शैया पर राधाकृष्ण एकमेक होकर शयन करते हैं। सखियाँ राधाकृष्ण की परमानन्द-लीन सुषुप्ति में मग्न हो जाती हैं।

वल्लभ-सम्प्रदाय

इस सम्प्रदाय में वात्सल्य एवं सख्य भावों की प्रधानता के कारण अन्य सम्प्रदायों के अष्टप्रहार सेवा विधान से भिन्नता है। इसमें भावों की विचित्रता के कारण अनुरञ्जकता का समावेश हो गया है। वल्लभ-सम्प्रदाय में सेवा का क्रम इस प्रकार है—१—मङ्गला, २—शृङ्गार, ३—ग्वाल, ४—राजभोग, ५—उत्थापन ६—भोग, ७—संध्या-आरती, ८—शयन।

१. मङ्गला—प्रातः के उदय होते ही मङ्गला का विधान है। इसमें श्रीकृष्ण के स्वरूप को जगाना, मङ्गलभोग करवाना और मङ्गला आरती, ये तीनों कार्य अन्य सम्प्रदायों के अनुरूप ही हैं किन्तु इन सभी कार्यों में वात्सल्य का उच्छलन है, सखियों की विदग्धता नहीं।

कुसुम माला गूँथकर व्रजवनिताएँ प्रातः होते ही कृष्ण-दर्शन की प्रतीक्षा में नन्द भवन आ जाती हैं। यशोदा, कृष्ण के मुख पर से जब वस्त्र हटाती हैं तब ऐसा प्रतीत होता है जैसे समुद्र-मन्थन के फेन के बीच से चन्द्र प्रकट हुआ हो। कृष्ण के जागरणोद्बोधन में कहीं-कहीं आध्यात्मिक सङ्केत स्पष्ट हो उठा है। आनन्द की निधि के जगते ही भव-विलास विगत हो जाता है, कृष्ण का जगना ज्ञान के सूर्य का उदय होना है जो आशा के त्रास-तिमिर को दग्ध कर सन्तोष विकीर्ण करता है। प्रातःकाल में खग का चहकना परब्रह्म की विरुदावली है। इसी प्रकार प्रत्येक क्रिया किसी न किसी सात्विक भाव को जागरित करती हैं, कृष्ण का जगना आन्तरिक जागरण बन जाता है—

> जागिये गोपाल लाल, आनन्द निधि नन्द-बाल,
> जसुमति कहै बार बार, भोर भयो प्यारे।
> नैन कमल-दल बिसाल, प्रीति-बापिका-मराल,
> मदन ललित बदन उपर कोटि वारि डारें।
> उगत अरुन बिगत सर्वरी, ससांक किरन-हीन,
> दीपक सु मलीन, छीन-दुति समूह तारे।

मनो ज्ञान-घन-प्रकास, बीते सब भव-बिलास,
आस-त्रास-तिमिर तोष, तरनि-तेज जारे।
बोलत खग-निकर मुखर, मधुर होइ प्रतीत सुनो,
परम प्रान-जीवन-धन, मेरे तुम बारे।
मनो वेद बन्दीजन, सूत-वृन्द मागध-गन,
बिरद बदत जै जै जै, जैति कैटभारे।
विकसत कमलावली, चले प्रपुञ्ज-चञ्चरीक,
गुञ्जत कल कोमल धुनि त्यागि कञ्ज न्यारे।
मानो वैराग पाइ, सकल सोक-गृह बिहाइ,
प्रेम-मत्त फिरत भृत्य, गुनत गुन तिहारे।
सुनत बचन प्रिय रसाल, जागे अतिसय दयाल,
भागे जञ्जाल-जाल, दुख कदम्ब टारे।
त्यागे भ्रम-फन्द-द्वन्द, निरखि कै मुखारविन्द,
सूरदास अति अनन्द मेटे मद मारे।[१]

इस सम्प्रदाय में कहीं-कहीं मङ्गला के अन्तर्गत खण्डिता भाव के पद भी हैं। ऐसे पद गोविन्दस्वामी के काव्य में अधिक हैं।

मङ्गलभोग में कृष्ण को मक्खन, मिश्री, दूध, मलाई आदि दिया जाता है। वे कुछ खाते हैं, कुछ गिराते हैं और कुछ मुख में लिपटाते हैं। यों उन्हें मक्खन-रोटी विशेष प्रिय है किन्तु यदि चोटी बढ़ जाय तो कच्चा दूध तक पी जाने को राजी हो जाते हैं। प्रातःकालीन इस कलेऊ के पश्चात् मङ्गला आरती की जाती है। आनन्द निधि कृष्ण की कृपा-दृष्टि की प्रार्थना की जाती है।

नैन भरि देखों गिरिधरन कों कमल मुख,
मङ्गल आरती करों प्रात ही परम सुख।
लोचन बिसाल छवि सञ्चि हृदे में धरी,
कृपा अवलोकनि चारु भृकुटीनु रुख।
'चत्रुभुज' प्रभु आनन्द निधि रूप निधि,
निरखि करों दूरि सब रैनि को दुःख॥[२]

२. शृङ्गार—श्रीकृष्ण को उष्णजल से नहलाकर भूषण-वस्त्र आदि से शृङ्गार करने को 'शृङ्गार' कहा गया है। कृष्ण सहज ही वश में नहीं आते। नहाने

१—सूरसागर, पद सं० ८२३
२—चतुर्भुजदास, पद सं० १४२

से वे आनाकानी करते हैं और अकारण रोते-रोते धरती पर लोट जाते हैं। माता यशोदा उन्हें तरह-तरह से फुसलाता हैं, किन्तु वे मानते नहीं –

जसुमति जबहिं कह्यौ अन्हवावन, रोइ गये हरि लोटत री।
तेल उबटनौ लै आगें धरि, लालहिं चोटत-पोटत री॥
मैं बलि जाऊँ न्हाउ जनि मोहन, कत रोवत बिनु काजैं री।
पाछैं धरि राख्यौ छपाइ कै, उबटन-तेल-समाजैं री॥
महरि बहुत बिनती करि राखति, मानत नहीं कन्हैया री।
सूर स्याम अतिहीं बिरुझाने, सुर-मुनि अन्त न पैया री॥[१]

किसी प्रकार नहला कर चित्र-विचित्र वसनों से उनका शृङ्गार किया जाता है। आँख में काजल तथा दिठौना लगाया जाता है। कृष्ण का रूप-ध्यान भक्ति का अनिवार्य अङ्ग है। इस रूप-ध्यान में शृङ्गार सहायक होता है।

३. ग्वाल—शृङ्गार भोग तथा ग्वाल भाव से धैया आरोगना 'ग्वाल' के अन्तर्गत आता है। ग्वाल के पदों में कृष्ण की बाल-क्रीड़ा भी वर्णित है। वे भौंरा चकडोरी क्या खेलते हैं गोपियों का मन नचाते हैं। कभी वह छत पर पतङ्ग उड़ाते हैं किन्तु वह डोर खींचते हैं या गोपियों का मन, इसका फैसला करना दुष्कर हो जाता है। कृष्ण का खिलौना खेलना भी रहस्यमय सङ्केतों से भरपूर है।

लाल आज खेलत सुरङ्ग खिलौना।
काम सबद उघटत है पपीहा बड़ो मधुर मिलौना॥
प्रेम घुमेड़े लेत हैं फिरकी झुन्झना मनहिं सलोना।
चहाबहा चौबत चकई हित जु सब ही करौना॥
झुमिरि झूमि झुकि बाट देखत हथबङ्गी मनु जौना।
'परमानन्द' ध्यान भगतन बस ब्रज केर तिरौना फिरौना॥[२]

ग्वाल में धैंया आरोगना महत्वपूर्ण है। प्रातःकाल यशोदा दही मथ कर कृष्ण-बलराम को धैंया पिलाती हैं। कृष्ण प्रसन्न होकर नाचते-कूदते धैंया पीते हैं।

नन्दरानी मथि प्यावत धैंया।
बल मोहन खेलत आंगन में सुनत अचानक धैंया॥
नाचत हँसत करत किलकारी उर आनन्द बढ़ैया।
फूंकि-फूंकि पय पीवत कमल मुख अरस परस दोऊ भैया॥

---

१—सूरसागर, पद सं० ८०४
२—परमानन्द सागर, पद सं० ६२६

बाल विनोद सुर नर मुनि मोहे जोग ध्यान बिसरैया।
'गोविन्द' प्रभु पिय वदन चन्द की जसुमति लेत बलैया ॥[१]

ग्वाल के बाद कृष्ण सखाओं सहित वन में गोचारण के लिए प्रस्थान करते हैं। वन में राजभोग का समय होता है।

४. राजभोग—वन में यशोदा किसी ग्वालिन से मध्याह्न का भोजन, जिसे 'छाक' कहते हैं, भेजती हैं। छाक को ही राजभोग कहा जाता है। इसमें भाँति-भाँति के व्यञ्जन होते हैं। छाक खाने में कृष्ण के मैत्रीभाव की प्रबलतम अभिव्यक्ति होती है। किसी पहाड़ी पर चढ़कर वह सब सखाओं को टेरते हैं और अर्जुन, भोज, सुबल, श्रीदाम, मधुमङ्गल आदि के जुटने पर वे सब को छाक बाँटते हैं। कभी किसी का जूठा कौर छीन कर खाने लगते हैं तो कभी किसी का। व्यञ्जन को सराहते हुए यज्ञ-पुरुष उसका सहज भाव से स्वाद लेते हैं, उनके इस मानवीय व्यवहार पर देवतागण आश्चर्यचकित होते हैं—

हँसत परस्पर करत कलोल।
बिञ्जन सबै सराए मोहन मीठे कमल वदन के बोल ॥
तोरे पलास पत्र बहुतेरे पनवारो जोयौं बिस्तार।
चहुँदिसि बैठी ग्वाल मंडली जेंवन लागे नन्द कुमार ॥
सुर विमान सब कौतुक भूले जग्य पुरुष हैं नीके रङ्ग।
सेस प्रसाद रह्यो सो पायो 'परमानन्ददास' हो सङ्ग ॥[२]

अष्टछाप के कुछ कवियों ने छाक के प्रसङ्ग में शृङ्गार-रस का पुट भी भर दिया है। ग्वालिन छाक लेकर कृष्ण को टेरती हुई किसी गह्वर वन में भटक जाती है, कृष्ण उसे खोजते हुए सघन वन में आ पहुँचते हैं अथवा कभी मेघ बरसने लगता है और छाक लाने वाली ग्वालिन के वस्त्र भीग जाते हैं, उसे अपना पीताम्बर देकर कृष्ण उससे प्रीति जोड़ते हैं। इसी प्रकार के कई प्रसङ्गों की उद्भावना की गई है।

५. उत्थापन—भोजन करने के उपरान्त कृष्ण दोपहर को शयन करते हैं। इस विश्राम-शयन से उन्हें जगाना उत्थापन कहलाता है। उत्थापन में भोग भी लगता है जिसमें उन्हें फल-फूल भेंट किया जाता है।

उत्थापन के शेष में सन्ध्या होने पर कृष्ण गायें बटोरने लगते हैं और व्रज लौटने की तैयारी करते हैं। सखाओं से गौवें घेरे नहीं घिरतीं किन्तु कृष्ण की एक

---

१—गोविन्द स्वामी, पदसंख्या २८१
२—परमानन्द सागर, पदसंख्या ६५१

'चतुर्भुज' प्रभु गिरिधरन लाल, आरती बनी रसाल।
तन मन धन वारति हैं सब जसोमति नन्दराई ॥[१]

८. शयन— सन्ध्या-आरती करके कृष्ण को रात्रि का भोजन करवाया जाता है जिसे व्यारू कहते हैं। व्यारू करवाकर उन्हें पर्यङ्क पर सुला दिया जाता है। शयन के समय यशोदा का कहानी कहना और कृष्ण का हुँकारी भरते हुए निद्रा-मग्न हो जाना, वात्सल्य का विशेष भाव-स्थल है। तद्विल कृष्ण राम की कथा में लक्ष्मण से 'चाप-चाप' कहते हुए जगकर यशोदा को चकित कर देते हैं किन्तु अवतारी कृष्ण को वालक का चौंकना जान यशोदा उन्हें थपकी देकर शान्त कर देती हैं। कृष्ण के सो जाने पर उनके दिन भर के कष्ट थकान पर अफसोस करती हुई यशोदा उन्हें प्रेम-विभोर होकर सहलाती ही जाती हैं। 'शयन' में राधाकृष्ण-लीला का वर्णन भी प्रायः कवियों ने किया है।

## रागमूलक साधना

नवधा भक्ति एवं सेवा-प्रणाली सामान्य सरणियाँ हैं जिनका अनुसरण करता हुआ व्यक्ति भक्ति के पथ पर दृढ़ होता है। इनके अतिरिक्त एक पथ और भी है— भगवान् से अत्यधिक समीपता का, जिसका आरम्भ ही प्रेम से होता है और केवल अपनी उत्कट अभीप्सा की तीव्रता से पोषित होकर अन्य प्रणालियों के अभाव में भी अपनी चरम परिणति पा लेता है। श्रवण, कीर्तन, आराधन आदि इस प्रेम के प्रतिफलन में स्वतः नैसर्गिक रूप से आ जाते हैं, भक्ति के साधन वनकर उसे विकसित करने नहीं वरन् प्रेम की स्वाभाविक अभिव्यक्ति वनकर। यह मार्ग केवल उन आत्माओं का है जो सामान्य जीवन में व्यस्त रहते हुए कृष्ण के अप्रत्याशित सौन्दर्य की झलक से किंवा उनके अलौकिक मुरलीनाद से खिंचकर उनके पीछे दौड़ पड़ती हैं और जब तक उनका सान्निध्य नहीं मिल जाता तब तक विकल रहती हैं। कृष्ण की खोज में ये साधक अपना सर्वस्व गँवा देते हैं। ऐसी साधना कृष्ण की अतिकृपा से अङ्कुरित होकर फलीभूत होती है। यह अदम्य प्रेम ह्लादिनी नामा स्वरूपशक्ति का सार है जो व्यक्ति को सांसारिक पदार्थों के आकर्षण से विमुख कर हृदय को शाश्वत सौन्दर्य और प्रेम के आधार की ओर प्रेरित करता है। हृदय ही इस निगूढ़ अन्तश्चेतना का रङ्गस्थल होता है किन्तु सामान्य मनोरागों में उलझा प्राकृत हृदय नहीं, वरन् वह हृदय जिसके अन्तर में आध्यात्मिकता का दिव्य कमल प्रस्फुटित हो रहा हो।

यह प्रेम-मार्ग आपाततः मानवीय प्रेम की विभिन्न मनोदशाओं का आकार धारण करता हुआ श्रीकृष्ण से तादात्म्य पा लेता है। यद्यपि यह दिव्य प्रेम, सगुण-

१—चतुर्भुजदास, पद सं० २८४

साकार की मानव से यह लीला, 'मन वाणी से अगम अगोचर' नहीं है, तथापि है यह दिव्य ही, है त्रिगुणातीत के ही प्रति प्रेम। इस प्रेम-मार्ग का निरूपण अवश्य ही मानवीय ढङ्ग से किया गया है क्योंकि इन मानवीय प्रतीकों के अतिरिक्त उस सत्य को और किसी भाँति अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता। अनुरागमूलक साधना कृष्ण से मानवीय सम्बन्धों को स्वीकार करती है क्योंकि भगवान् भक्त के लिए अनिर्वचनीय निराकार नहीं रह पाते, वे दिव्य पुरुषोत्तम के रूप में जीव के साथ नाना सम्बन्ध-सूत्र जोड़ते हैं। पिता-पुत्र, मित्र-सखा, शिशु-माता, प्रेयसी-प्रियतम आदि—सभी प्रकार के मानवीय सम्बन्धों का सहारा लेकर यह भक्ति सिद्ध होती है। ये सम्बन्ध आरोपित नहीं किये जाते वरन् उसी निकटता से अनुभूत किये जाते हैं जिस निकटता से मानव मानव का सम्बन्ध अनुभव किया जाता है। मानव के प्रति कृपा-प्रकाश के लिए ही श्रीकृष्ण की नरलीला है। उनकी सारी लीलाओं में नर-लीला सर्वोत्तम है, एवं नर-वपु उन्हीं का 'स्वरूप' है, किसी प्राकृत मानव पर अवतार का अध्यारोप नहीं।

परब्रह्म-नराकृति ही इस साधना के उपजीव्य हैं। विधिविधान का उल्लंघन करती हुई इस पराभक्ति में प्रेम की सारी अन्तर्दशाएँ निरूपित हुई हैं। प्रेम का उदय, प्रियतम का अनुचिन्तन, मिलन, विरह, मान, पुनर्मिलन —सभी अवस्थाओं का साङ्गोपाङ्ग वर्णन हुआ है। यह भावात्मक साधना कृष्ण के प्रति कान्त भाव को लेकर चली है, अन्य भाव केवल वल्लभ-सम्प्रदाय में सङ्कुलता से और चैतन्य-सम्प्रदाय में अत्यन्त विरलता से उपलब्ध होते हैं। राधावल्लभ एवं निम्बार्क-सम्प्रदायों में प्रेम की साधनावस्था की कोई चर्चा नहीं है, सिद्धावस्था का ही कथन है। भागवत-प्रेम की तमाम मनःस्थितियों का विस्तारपूर्वक क्रमाङ्कन चैतन्य एवं वल्लभ सम्प्रदायों में हुआ है। यों वल्लभ-सम्प्रदाय में बालभाव की उपासना ही इष्ट है, किन्तु इस सम्प्रदाय के साहित्य में मधुरभाव की जितनी विपुल चर्चा है उतनी सूर के अतिरिक्त किसी कवि में बालभाव की भी नहीं है। मधुरभाव की साधना ही रागभक्ति का प्राण है। चैतन्य-सम्प्रदाय में यह काव्यरूप की अनुगामिनी बनकर चली है और वल्लभ-सम्प्रदाय में विशिष्ट लीलाओं की। शृङ्गारपरक साधना की प्रतीकात्मक व्याख्या का यहाँ यत्किञ्चित् प्रयास किया जा रहा है।

### चैतन्य सम्प्रदाय में मधुर-भक्ति

इस सम्प्रदाय में मधुरभाव की साधना शृङ्गार-रस के काव्यशास्त्रीय रूप पर आधारित है। पूर्वराग, मान, प्रवास, सम्भोग आदि शृङ्गार रस के सभी पक्ष लिये गये हैं। किन्तु उज्ज्वल रस के अन्तर्गत इन अवस्थाओं का विवेचन करते समय कवि एवं विद्वान् उनके आध्यात्मिक सङ्केत की ओर जागरूक रहे हैं। मान्य लेखक

श्री दिनेशचन्द्र सेन ने स्पष्ट घोषित किया है कि "पदावली साहित्य के गीति-तत्व का उत्कर्ष उसकी आध्यात्मिक व्यञ्जना के कारण है।"[१] अतः हम यहाँ उन रस-तत्वों की प्रतीकात्मकता पर विचार करने की चेष्टा कर रहे हैं।

## पूर्वराग

पूर्वराग श्रीकृष्ण की ओर से आवाहन का प्रथम प्रत्युत्तर है। प्रेमोदय का ही दूसरा नाम पूर्वराग है। सामान्य मानवी चेतना में विन्यस्त मन दिव्यपुरुष का प्रथम संस्पर्श पाकर उसके नित्य-नवीन चिर-आकर्षण की ओर आकर्षित होता है, उस अदृश्य किंवा किंचित् दृष्टसत्ता के प्रति आत्मा में एक नवीन राग जन्म लेता है। यह राग कई प्रकार से उत्पन्न हुआ करता है—दर्शन—रूपदर्शन, स्वप्न में रूप-दर्शन, चित्र-दर्शन; श्रवण-वंशी या वर्णन से। पूर्वराग के जन्म में इनमें से कोई एक या एक साथ ही कई कारण हो सकते हैं। स्वप्नदर्शन से मीरा में ऐसा राग उदय हुआ जिसमें उन्हें लोक-परलोक सब विस्मृत हो गया।

आध्यात्मिक प्रेम के यमुना तट पर श्रीकृष्ण को देखकर राधा कहती हैं, "यह श्यामवर्ण का मनुष्य-आकार कौन है? इसके नेत्र पर मैं बिक गई। नित्य-नित्य मैं इस पथ से आती-जाती रही हूँ किन्तु ऐसा कभी नहीं हुआ था, न जाने किस अभागे क्षण में मैंने घर से बाहर पैर बढ़ाया। अब तो मुझे काला ही काला दीखने लगा। उस रूप ने ऐसी आकुलता उत्पन्न कर दी कि गुरु गर्व, कुल आदि नष्ट हुए जा रहे हैं। मन वश में नहीं रह पाता।"[२]

इस प्रेमोदय में स्थानास्थान, कालाकाल नहीं है। इस पूर्वराग में मनुष्य घर

---

१—"These songs have a quite unique place in world's lyrical literature, fed as they are by the great spiritual culture of the Hindus and by Vedantic Philosophy, which give to apparent sensuous descriptions a *great mystic* import"—D. C. Sen—Chaitanya and His Age. P. 313.

२—कि पेखलूं जमुनार तीरे।

कालिया-बरण एक मानुष-आकार गो बिकाइलूं तार आँखि-ठारे।
निति-निति आसि जाइ एमन कभु देखि नाई कि खेने बाड़ाइलाम पा घरे।
गुरुया गरब कुल नाशाइल कुलवती कलंक चलिया आगे फिरे।
कामेर कामान जिनि भुरुर भङ्गिमा गो हिंगुले वेढ़िया दुटि आँखि।
कालियार नयान बाण मरमें हानिलगो धरने न जाय मोर हिया।
कत चाँद निगाड़िया मुखानि माजिल गो यदु कहे कत सुधा दिया।

—पदकल्पतरु, पद सं० १४७

से बाहर होकर सीमा से असीम के पथ पर आ खड़ा होता है। जीवन के परिचित पथ पर तो राधा नित ही आती-जाती रही हैं किन्तु ऐसा अनुभव अभूतपूर्व ही था। कृष्ण का संस्पर्श उनके मर्यादित मानव-जीवन में अप्रत्याशित है। किन्तु जिस दिन से कृष्ण के साथ आत्मा का संसर्ग जुड़ जाता है उस दिन से जीवन की सारी मान्यताएँ परिवर्तित होने लगती हैं। श्रीकृष्ण का आकर्षण रागप्रवण आत्मा को सारी भौतिक मान्यताओं, लौकिक मूल्यों के प्रति उदासीन बना देता है; उदासीन ही नहीं जीवन जिस मानदण्ड पर टिका होता है वही ढहने लगता है। यह मानवीय चेतना का अतिमानवीय चेतना में निष्क्रमण है।

यही नहीं, जीवन में जो आसक्तियाँ जड़बद्ध होती हैं उनका स्थान भी कृष्ण के प्रति नाना प्रकार की आसक्तियाँ ग्रहण करने लगती हैं। श्रीकृष्ण का दर्शन, उनके व्यक्तित्व किंवा मुरली का श्रवण स्वभावतः मन एवं इन्द्रियों की गति को निरुद्ध कर लेता है। नैतिकता की हद छोड़कर आत्मा आध्यात्मिकता में पदार्पण करती है, इसलिए कुलशील की मर्यादाओं का भी उल्लंघन होने लगता है। राधा की मनोवृत्ति में आमूल परिवर्तन घटित होने लगता है। अब वे पति के शब्द सुनकर चौंक उठती हैं, किन्तु कृष्ण के मञ्जीर रव को सुनकर उन्मत्त की भाँति दौड़ पड़ती हैं। पति के इतने लम्बे साहचर्य पर भी वे यह नहीं पहिचानती कि वह काला है अथवा गोरा, किन्तु श्रीकृष्ण को अभी तक न देखने पर भी श्यामल-वर्ण बादलों को देखकर उनके नेत्रों से अश्रुधारा प्रवाहित होने लगती है। पति का स्पर्श वह जञ्जाल समझती हैं और तरुण तमाल का एकान्त में आलिङ्गन करती हैं। गुरुजन के वचनों को सुनकर वह अनसुनी कर देती हैं, कृष्ण की मुरली ध्वनि का पान श्रवण भर कर करती हैं। इस प्रकार राधा की सारी इन्द्रिय-चेष्टाएँ कृष्णाभिमुखी हो जाती हैं।[१] साधक की दर्शन, स्पर्श, श्रवण की सारी इन्द्रियाँ पूर्वराग के उदय होने पर कृष्ण में आकर्षण अनुभव करने लगती हैं। कृष्ण के अनिर्वचनीय रूप और यौवन से आकृष्ट जीव जाति, कुल, शील, मर्यादा सभी भूल बैठता है—

---

१—शुनइते चमकइ गृहपति—राव। तुया मञ्जीर-रवे उनमति धाव॥
नाह न चिन्हइ काल कि गोर। जलद नेहारि नयने झरु लोर॥
काहां तुहुँ गौरि आराधलि कान। जानलुं राई तोहे मन मान॥
स्वागिक शयन-मन्दिरे नाहि उठइ। एकलि गहन कुञ्ज माझा लुठइ॥
पतिकर परशे मानये जञ्जाल। विजने आलिङ्गइ तरुण तमाल॥
मुरलि निसान श्रवण भरि पिवइ। गुरुजन-वचन शुनइ नाहि शुनइ॥
ऐछन जतहु मरम अभिलाप। कतहुं निवेदिय गोविन्ददास॥
—पदकल्पतरु, पद सं० ३६

जाति कुल शील सब हेन बुझि गेल। भुवन भरिया मोर घोषणा रहिल॥
कुलवती सती हइया दु कुले दिलूं दुख। ज्ञानदास कहे दढ़ करि थाक बुक॥[१]

सारे सांसारिक संबलों को छोड़कर हृदय कुछ-कुछ भयभीत होता है, किन्तु वह अपने में दृढ़ता प्राप्त किये रहता है—'ज्ञानदास कहे दढ़ करि थाक बुक।' यह दृढ़ता प्रेमोदय के साथ ही आ जाती है, क्योंकि जिसने एक बार भी कृष्ण का दर्शन पा लिया वह उनकी सुधा को त्याग नहीं पाता। जीते जी यह रस उससे कोई छीन नहीं सकता, और न ही वह छोड़ सकता है। कृष्ण के रूप को देखकर कौन नहीं अपना सर्वस्व गँवा बैठता? राधा अपनी सखी से कहती हैं—

कि पेखलूं कदम्ब-तलाते।
बिनि परिचय मोर परान केमन करे जिते कि पारिये पासरिते॥
जे देखाये एकबार से कि पासरये आर शुधुइ सुधार तनुखानि।
दास अनन्त बले रूप हेरि के न भूले जगते नाहिक हेन प्राणी॥[२]

कभी कभी ऐसा भी होता है कि कृष्ण आत्मा की ओर आकर्षित होते हैं और पूर्णरूप से, उनका प्रेम अन्तिम सीमा तक पहुँचा हुआ होता है—

बसि मोर पद तले गाये हात देइ छले आमा लिन विकाइलूं बोले॥[३]

किन्तु आत्मा जैसे सोती रहती है, उस पर निश्चेतना का, जड़ता का आवरण पड़ा रहता है। कृष्ण की ओर से प्रेम पूर्णतया प्रकाशित है किन्तु राधा को उसका भान तक नहीं, कोई अनुभूति ही नहीं है उस प्रेम की उन्हें!

सुन्दरि तुहुँ बड़ि हृदय पाषाण।
कानुक नवमि दशा हेरि सहचरि धरइ न पार पराण॥[४]

किन्तु भागवत-प्रेम इतना सशक्त होता है कि देर से सही, आत्मा उस प्रेम का प्रत्युत्तर देने को बाध्य हो जाती है। यह सत्य है कि आत्मा की ओर से परमात्मा के प्रति प्रेम किंवा परमात्मा की ओर से आत्मा के प्रति प्रेम एकाङ्गी नहीं रह पाता, वह बिना प्रत्युत्तर उत्पन्न किये नहीं रह सकता। दोनों में एक-दूसरे से मिलने की तीव्र उत्कण्ठा होती है। हो सकता है कि आरम्भ में आत्मा के प्रेम को दृढ़ एवं सुदीप्त करने के लिए परमात्मा छिपा रहे, कुछ काल तक विरह तीव्र करने के लिए सम्भव है कृष्ण, मीरा बाई के प्रति बाह्यतः अवज्ञा प्रकट करें; किन्तु अन्त तक ऐसा

१—पदकल्पतरु, पद सं० १२३
२—वही—पद सं० १२५
३—वही—पद सं० १४४
४—वही—पद सं० ६७

नहीं रह पाता। प्रेम की शिखा प्रोज्वल होकर जब सारी सांसारिक एषणाओं को भस्म कर देती है तब कृष्ण का प्रतिदान सम्भव ही नहीं, अवश्यम्भावी है। बङ्गला-पदावली में आत्मा-परमात्मा दोनों ओर से प्रेम की प्रबलता व्यञ्जित हुई है। राधा को कृष्ण से मिलने की जितनी तीव्र उत्कण्ठा है, कृष्ण को भी राधा से मिलने की उतनी ही तीव्र उत्कण्ठा है—

ए सखि विहि कि पुरायब साधा। हेरब पुन किये रूपनिधि राधा॥
यदि मोहे न मिलब सो वर रामा। तबे जिउ छार धरब कोन कामा॥[१]

श्रीकृष्ण भी भक्त के अन्तराल-निकुञ्ज में कातर भाव से उसके वहाँ आने का पन्थ निहारते हैं।[२] व्यक्ति की बाह्यचेतना जब तक अन्तर्मुखी हो आत्मगत नहीं होती, तब तक कृष्ण-मिलन असम्भव है।

## अभिसार

नवराग से स्फूर्तिशील आत्मा सारी बाधाओं को पैर के नीचे कुचलती, रौंदती, पथ विपथ के भय से मुक्त होकर, कृष्ण से मिलने अकेले चल पड़ती है। प्रेम-साधना के विघ्न-संकुल पथ को प्रेम के आयुध से काटती हुई राधा, कृष्ण के निकट अभिसार करती है—

नव अनुरागिनी राधा। कछु नाहि मानये बाधा॥
एकलि कयलि पयान। पन्थ विपथ नाहि मान॥
विघिन विथारित बाट। प्रेमक आयुध काट॥[३]

प्रेम-मार्ग की साधना के विघ्न-बाधाओं का वर्णन साङ्केतिक रूप में किया गया है। भगवान् से मिलने का मार्ग आसान नहीं है। मार्ग अन्तर-बाह्य के अज्ञान-अन्धकार से परिपूरित है और भयानक शक्तियाँ उस ओर के प्रयाण को अवरुद्ध करना चाहती हैं। इन शक्तियों का प्रतीक सर्प है जो साधक के पैरों को जकड़ना चाहता है। इतना ही नहीं, निरन्तर वर्षा होने के कारण पथ में फिसलने का भय है। आधिदैविक शक्तियाँ भी आधिभौतिक सर्पों की भाँति साधक को विचलित करना चाहती हैं। मार्ग में फिसलन की आशङ्का तो है ही, साथ ही वह कण्टकाकीर्ण भी है—अन्य कष्टों से मन को जर्जर कर देने वाला भी। किन्तु कृष्ण के दर्शन की आशा में मार्ग के दु:ख, दुःख नहीं लगते। पथ की सारी बाधाएं चित्त पर नहीं टिक

---

१—पदकल्पतरु, पद सं० ९९७

२—पेख्न कुञ्जे एकलि बनमालि।
अन्तर जर जर पंथ नेहारि—वही, पद सं० ९९१

३—वही, पद सं० ९९७

पातीं। कृष्ण का आवाहन सुनकर राधा गृह के सीमित सुखों को तिलाञ्जलि दे दुरन्त पथ पर अभिसार के लिए आरुढ़ हो जाती हैं—

माधव कि कहब दैव-विपाक।
पथ-आगमन कथा कत ना कहिब हे यदि हम मुख लाखे लाख॥
मन्दिर तेजि जब पद चारि आवलुं निशि हेरि कम्पित अङ्ग।
तिमिर दुरन्त पथ हेरइ न पारिये पद-युगे वेड़ल भुजङ्ग॥
एके कुल कामिनी ताहे कुहु यामिनि घोर गहन अति दूर।
आर ताहे जलधर वरिखये झर झर हाम जाउब कोन पूर॥
एके पद-पंकज पंके विभूषित कंटके जरजर भेल।
तुया दरशन-आशे कछु नाहि जानलूं चिर दुःख अब दूर गेल॥
तोहारि मुरलि जब श्रवणे प्रवेशल छोड़लुं गृह-सुख आस।
पन्थक दुख तृण-हुं करि न गनलुं कहतहि गोविन्दास॥[१]

कभी-कभी अभिसार का पथ शान्त एवं स्वच्छ भी होता है, जैसे शुक्लाभिसार में। किन्तु पथ चाहे अनुकूल हो या प्रतिकूल, अभिसार के लिए तो राधा जाती ही हैं। कटकाकीर्ण मार्ग उन्हें विचलित नहीं कर पाता। एक बार जब घर का प्राङ्गण छोड़कर वह बाहर निकलीं, सीमा से असीमता के पथ पर आ खड़ी हुई, तब उन्हें पथ-विपथ का विचार नहीं रह जाता। एकाकिनी आत्मा कृष्ण-मिलन के मनोरथ पर चढ़कर सभी दुस्तर मार्गों को पार कर लेती है।[२] क्योंकि कृष्ण से मिलकर पथ-जनित सारा क्लेश मिट जाता है।

हेरि राधा मोहन सोइ सुशोभन मोटब पुरवक दुख।[३]

इस अभिसार के फल में पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण से साक्षात्कार होता है। उनके अनुपम रूप एवं अमाप प्रेम को पाकर राधा अभिसारकालीन सारे कष्टों को भूल जाती हैं। रह जाता है केवल अगाध, अपरिसीम आनन्द।

### मान

परन्तु प्रथम मिलन में आनन्द की प्राप्ति होने पर भी दुःख की निःशेष निवृत्ति नहीं हो पाती। कारण आत्मा के उज्ज्वल प्रेम में कुछ मलिनता अवशिष्ट रहती है, उसमें अहं का आवरण रहता है। इसलिये भगवत्प्रेम में भी राधा के 'मान' की

---

१—पदकल्पतरु, पद सं० ६७९
२—विषधर भरल दुतर पथ पांतर पकलि चललि तजि गेह।
चढलि मनोरथे दोसरे मनमथ पन्थ बिपथ नाहि मान॥—वही, पद सं० १००८
३—वही—पद सं० १०४२

अवतारणा हुई। राधा, कृष्ण के बहुनायकत्व पर अकारण या सकारण रूठ जाती हैं, रूठ ही नहीं उन्हें कृष्ण से प्रेम करने का पश्चात्ताप तक होता है; किन्तु उनकी यह आत्मकेन्द्रिता अज्ञानजन्य है, सीमित बुद्धि का परिणाम है। वस्तुतः एक ही पराशक्ति विभिन्न जीवों में अपना प्रकाशन करती है, और इस विविध पराशक्ति के साथ ही श्रीकृष्ण आत्मक्रीड़ा करते हैं। अपने ही बिम्ब होने के कारण कृष्ण सभी जीवों में अपना प्रतिबिम्ब खोजते हैं, यह प्रतिबिम्ब खोजना या देखना ही भगवान् का जीव के प्रति अनुग्रहपूर्ण प्रेम है। सभी कृष्ण के अंश हैं, सब पर उनका समान प्रेम रहता है। इस सत्य को भूल जाने पर जीव में 'मम' से प्रेरित 'मान' का दुःख उत्पन्न होता है। मान में गर्व भी निहित रहता है। यह गर्व कृष्णप्रेम में बाधक होता हैं। मान, कोप, गर्व, अधिकार भावना के द्योतक हैं और भगवत्प्रेम में आत्म-समर्पण प्रमुख हैं, अधिकार भाव तो अहं का एक संकुचित और तुच्छ रूप है। यह अहं-जन्य अज्ञान असीम को केवल अपने में ही बाँध रखना चाहता है, इसलिये राधा मानवती हो उठती हैं। जीव के इस अज्ञान को कृष्ण दूर करने का प्रयास करते हैं, तत्वज्ञान से नहीं वरन् अपने प्रेमातिशय्य से। राधा का दोष अपने ऊपर आरोपित कर स्वयं अपने को कृष्ण अपराधी मान लेते हैं, तब कहीं राधा का अभिमान विगलित होता है, तब कहीं उनका मान भङ्ग हो पाता है। कृष्ण कहते हैं कि राधा उन्हें छोड़कर सुखी रह सकती हैं क्योंकि अज्ञानी जीव स्वरूप-विस्मृति में भी सुख मानता है, परन्तु कृष्ण उन्हें उस परिस्थिति में नही रहने देना चाहते। वह सदैव जीव की ओर उन्मुख रहते हैं—

> सुन्दरि दूर कर बिपरित रोष।
> तुहुँ जब मोहे छोड़ सुख पाउबि हाम नाहि छोड़ब तोय।
> तुया पद-नख-मणि-हार हृदय धरि दिशि दिशि फीरब रोय॥
> एत शुनि मानिनि ऐछे कातर बानी आकुल थेह ना पाय।
> अभिमान परिहरि बैठलि सुन्दरि आध नयाने मुख चाय॥
> नाह रसिकवर कोरे आगोरल दुहुँक नयने झरु वारि।
> दुहुँ करे दुहुँक नयन-लोर मोछइ उद्धवदास बलिहारि॥[१]

श्रीकृष्ण जानबूझ कर एक के सम्भोग चिह्नों से रञ्जित होकर अन्य के पास जाते हैं। उनके इस व्यवहार से गोपियाँ खिन्न होती हैं किन्तु कृष्ण का प्रबलतम आकर्षण उन्हें अधिकार भावना से ऊपर उठाता है। इसीलिये जब कृष्ण मथुरा चले जाते हैं तब सब विरह दुःख में स्पर्द्धाशून्य हो, समानरूप से कातर हो जाती

---

१—पदकल्पतरु, पद सं० ५६७

हैं। उनका प्रेम विवशता को पहुँच जाता है और इसलिये उसमें अहं स्वभावतः विलीन हो जाता है।

माथुर—माथुर विरह आत्मा की उस अवस्था की वेदना है जिसमें वह कृष्ण का साक्षात्कार नहीं कर पाती। यह माथुर गीत उन अँधेरी गहराइयों के गीत हैं जहाँ कृष्ण का प्रकाश अनुभूत नहीं हो पाता। इस विरहातिरेक में राधा का अहं पूर्णरूप से नष्ट होजाता है, उन्हें एकमात्र श्रीकृष्ण की ही स्मृति रहती है, अपनी नहीं। कृष्ण के अभाव में सारा जगत् शून्य प्रभासित होता है। देह-मन-प्राण की प्राकृत गतिविधियाँ निश्चल होकर केवल कृष्ण के संयोग की ही उत्कण्ठा में स्पन्दित रहती हैं अन्यथा उनका प्राकृत रूप 'मरण' दशा को पहुँच जाता है। केवल कृष्ण-मिलन की आशा से ही राधा का अस्तित्व रहता है, संसार के लिये वे त्रियमाण हो जाती हैं। उनका आत्मसमर्पण निःशेषरूप से सम्पादित होता है।

पुनर्मिलन—भक्त के इस निःशेष आत्मसमर्पण के प्रत्युत्तर में, उसकी सर्वाङ्गीण अहं-शून्यता में श्रीकृष्ण पुनः प्रकट होते हैं और राधा से उनका मिलन चिरन्तन हो जाता है। जो सम्बन्ध केवल आत्मा में चिर था वह रुपान्तरित देह, मन, प्राण मे भी चिर-प्रकट हुआ रहता है। यही श्रीकृष्ण के गोपन का रहस्य है, यही साधना की चरम परिणति है। राधा के व्यक्तित्व के समस्त अवयवों में कृष्ण समा जाते हैं। उनकी स्थिति उस कीट की भाँति हो जाती है जो भृङ्गकाचिन्तन करते-करते तद्रूप भृङ्ग ही बन जाता है। आत्मा-परमात्मा का भेद में अभेद सम्बन्ध पूर्णरुपेण स्थापित हो जाता है। राधा-कृष्ण, तन मन प्राण सबसे एकाकार हैं। इस चिर मिलन को समृद्धिमान् सम्भोग कहा गया है। उनका मिलन शाश्वत हो जाता है, जीव का भगवान् से फिर कभी वियोग नहीं हो सकता। अब आनन्द निरन्तर समृद्ध होता जाता है। राधा कृष्ण से कहती हैं :

शुन शुन हे परान पिया।
चिर दिन परे पाइयाछि लागि आर ना दिब छाड़िया॥
तोमाय आमाये एकइ पराण भाले से जानिये आमि।
हियाय हइते बाहिर हइया कि रुपे आछिले तुमि॥
जे छिल आमार करमेर दुख सकल करिलूं भोग।
आर न करिब आंखिर आड़ रहिब एकइ जोग॥[१]

वल्लभ-सम्प्रदाय में गोपीभाव

गोपीभाव में जिन लीलाओं का वर्णन है, वे कविकल्पना की उद्भावनायें

---

१—पदकल्पतरु, पद सं० २००६

सं ते गावस्तम आवर्तयन्ति ज्योतिर यच्छन्ति ।[१]

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि गोलोक ज्योतिर्मय चेतना का लोक है तथा गोप-गोपी उस चेतना को धारण करने वाले व्यक्ति हैं। गोपीभाव की साधना उस दिव्यप्रकाशमयी चेतना से मन, प्राण तथा इन्द्रियों के रूपान्तर की साधना है। रुपान्तर तो मनस से आरम्भ होता है, फिर वह प्राणजगत् (संवेग, मनोराग, आवेग) पर उतरता है, अन्तिम दशा में इन्द्रियों को भी वह अपनाता है।

माखनचोरी—गोपी-कृष्ण लीला माखनचोरी से आरम्भ होती है। घृत, जो मक्खन का ही अधिक परिष्कृत रूप है, वेद में विचार किंवा परिष्कृत बुद्धि के सन्दर्भ में प्रयुक्त किया गया है। एक मन्त्र में अत्यन्त स्पष्ट करते हुए बुद्धि (धीषणा) को घृतरूप कहा गया है—वैश्वानराय धीषणामृतावृधे घृत न पूतमग्नेयजनामसि।[२] दूध, दही, इसी मानसिक चेतना के प्रकाश में आरोहण करती हुई दशाओं के प्रतीक माने जा सकते हैं। दधिमन्थन, बुद्धि किंवा विचारशक्ति का मन्थन है जिसके फलस्वरूप मक्खनरूपी शुद्ध मानसिक चेतना प्राप्त होती है। कृष्ण के प्रति आकर्षण शुद्ध विचारों के कारण जन्म लेता है। कृष्ण कहते हैं कि उन्हें मेवा-पकवान उतना रुचिकर नहीं है जितना मक्खन। इतना सुनते ही ग्वालिन मन में यह अभिलाषा करती है कि कब कृष्ण उसका मक्खन खाने आवे। वह अपने विचारों को श्रीकृष्ण में समर्पित करने को उत्सुक हैं। अन्तर्यामी प्रभु साधक के मन की अभीप्सा जान लेते हैं—सूरदास प्रभु अन्तरजामी ग्वालिन मन की जानी' और उसे पूर्ण करते हैं—गए स्याम तिहिं ग्वालिनि कैं घर।'[३] मानसिक विचार जब परिष्कृत होकर कृष्ण के आस्वादन के योग्य तथा उनके द्वारा रस लिए जाने के योग्य हो जाते हैं तब उनमें प्रेम भी उत्पन्न होने लगता है। मानसी प्रेम, हृदयजन्य प्रेम में परिणत होने लगता है। कृष्ण को मक्खन खाता देखकर, अपने विचारों को कृष्ण द्वारा अपनाया जाता देखकर, भक्त का हृदय उल्लसित हो उठता है और उसके हृदय का भावबन्ध भी टूट जाता है—'उमङ्गि अङ्ग अङ्गिया उर दरकी, सुध बिसरी तन की तिहिं औसर।' अङ्गिया का दरकना भावचेतना का लौकिक बन्धनों से मुक्त होना है। आध्यात्मिक काव्य में वस्त्र सदैव आवरण किंवा बन्धन के प्रतीक माने गये हैं। जो वस्त्र जहाँ धारण किया जाता है वह वहाँ की चेतना का रूपक बना लिया गया है, जैसे अङ्गिया का स्थान कण्ठ से हृदय तक के प्रदेश में है, यौगिक दृष्टि से देह का इतना हिस्सा

---

१—ऋग्वेद ७।७६।२ औंध (जि० सतारा) के स्वाध्याय मण्डल द्वारा प्रकाशित, वि० सं० १९९९
२—ऋग्वेद ३।२।१ औंध (जि० सतारा) के स्वाध्याय मण्डल द्वारा प्रकाशित, वि० सं० १९९६
३—सूरसागर, पद सं० ८८३

वाह्यमनस् तथा उच्चतर प्राणचेतना (जिसके अन्तर्गत संवेग आते हैं) का अधिष्ठान है। मानसिक प्रेम जब इस संवेगात्मक प्रेम को जागृत करता है तब एक क्षण के लिए देह चेतना विस्मृत हो सकती है—'सुधि बिसरी तन की तिहि औसर', किन्तु दैहिक वासनाओं का रूपान्तर एक ही दिन में नहीं हो जाता, साधना की अपरिपक्वावस्था में मन भले ही भगवान् से आकर्षित हो, देह अपनी प्राकृत गतियों में भूला रहता है। इसी की ओर इङ्गित करते हुए कृष्ण भोले भाव से कहते हैं कि ग्वालिन ने दही में पड़ी चींटी को मुफ्त में ही उनसे बिनवा लिया, कृष्ण तो उसकी सेवा में लगे थे और वह अपने पति के सङ्ग सो रही थी।[१] पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण व्यक्ति की चेतना को दोषमुक्त करने में लगे रहते हैं और व्यक्ति उस महत्सेवा से बेखबर वासनाओं में लिप्त रहता है।

चीरहरण—मन का कृष्ण में समर्पित होना ही यथेष्ट नहीं है। मन के साथ ही सत्ता के अन्य वाह्यांगों—प्राण, देह—का समर्पण भी अपेक्षित है। सम्पूर्ण व्यक्तित्व का संस्कार करके ही कृष्ण उसे अपने योग्य, चिद्रूप बना लेते हैं। माखन-चोरी के पश्चात् गोपियाँ यह संकल्प करती हैं कि कृष्ण उन्हें सर्वात्मभाव से, पतिरूप में प्राप्त हों। वे एक वर्ष तक तन-मन से इसी संकल्प का अनुष्ठान करती हैं, व्रत-पारायण में लग जाती हैं। इस तपश्चर्या के द्वारा कृष्ण प्राप्ति के लिए वे कृत-संकल्प, दृढ़-मति होती हैं।[२]

यमुना आध्यात्मिक चैतन्य का प्रवाह है, वह आध्यात्मिक प्रेम किंवा आनन्द की प्रतीक हैं।[३] नीलारङ्ग मनसोपरि चेतना तथा आध्यात्मिक आनन्द का प्रतीक होता है। हितहरिवंश जी ने यमुना को भगवत्कृपास्वरूपिणी विशुद्ध भक्ति तथा परात्पर रस कहकर सम्बोधित किया है।[४] कृष्ण की छेड़छाड़ अधिकतर यमुनातट पर ही होती है, आध्यात्मिक चेतना के प्रदेश में ही कृष्ण-प्रेम उद्बुद्ध होता है। गोपियाँ यमुनारूपी आध्यात्मिक-चेतना-प्रवाह में नित्य स्नान करने आती हैं।

---

१—दधि में पड़ी सेंत की मोपै चींटी सबै कढ़ाई।
टहल करत मैं याके घर की यह पति सङ्ग मिलि सोई॥—सूरसागर, पद सं० ९४०

२—वृथा जनम जग मैं जिनि खोवहु, ह्यां अपनौ नहि कोइ।
तब प्रतीत सबहिनि कौं आई, कीन्हौ दृढ़ विस्वास।
सूर स्याम सुन्दरि पति पावैं यही हमारी आस॥—वही, पद सं० १३८३

३—रविजा आनन्दरूपिणी विधि रुचि लै ढरनी॥—वृन्दावन जसप्रकास, पृ० १४

४—वहन्तिकां श्रियां हरेर्मुदा कृपा-स्वरूपिणीं,
विशुद्धभक्तिमुज्वलां परे रसात्मिकां विदुः।—यमुनाष्टक, श्लोक ५ (हितहरिवंश)

गेह-नेह को भूलकर वे षट् ऋतुओं में तप करती रहीं—'छहों रितु तप करति नीकें, गेह नेह बिसारि।' जब वे यमुना जल में निमग्न थीं, अतिमन में प्रविष्ट थीं, तब श्रीकृष्ण उनकी अभीप्सा के प्रत्युत्तर में प्रकट हो गये और उनकी पीठ का मर्दन करने लगे।[१] पीठ-मर्दन का तात्पर्य बाह्य-चेतना पर कृष्ण चेतना का दबाव है क्योंकि पृष्ठभाग में अत्यन्त बहिरङ्ग-चेतना का अधिष्ठान होता है। बाह्य-चेतना जब कृष्ण-संस्पर्श प्राप्त करती है तब कृष्ण-प्रेम मनसपरक ही न रहकर हृदयगत-भाव भी हो जाता है—'कछु दिन करि दधि-माखन चोरी, अब चोरत मन मोर।'[२] मन के अपहरण से गोपियों का मन संसार तथा गृह-व्यवहार से उचट जाता है। कृष्ण में जब मन के भाव लग जाते हैं तब वे किसी की बात नहीं सुनतीं, प्रातः उठते ही यमुना तट की ओर चल देती हैं।[३]

नित्य तप करते-करते जब गोपियों की साधना काफी सुदृढ़ हो चली तब उनकी तपस्या से प्रसन्न होकर कृष्ण ने एक दिन उनके सारे वस्त्र कदम्ब पर चढ़ा दिये। वस्त्र विभिन्न प्रकार की वाह्य-चेतना के प्रतीक हैं जिन्हें कृष्ण अधिमानस के कदम्ब पर चढ़ा देते हैं। वस्त्र ही नहीं, अङ्ग-आभूषण सभी कृष्ण कदम्ब पर अटका देते हैं।[४] कञ्चुकी उच्चतर प्राण अर्थात् भाव तथा संवेग का प्रतीक है, लहङ्गा निम्न प्राण तथा देह चेतना का क्योंकि वह कटि से नीचे के अङ्ग में धारण किया जाता है और इस अङ्ग में निम्न प्राण, जिसमें नाना प्रकार के ऐन्द्रिय आवेग होते हैं, तथा दैहिक चेतना एवं अवचेतन का आवास है। योग की पारिभाषिक शब्दावली में मणिपुर-चक्र (नीबी-बन्द) निम्न प्राण का अधिष्ठान है, मूलाधार स्थूल दैहिक चेष्टाओं का तथा स्वाधिष्ठान प्राण एवं देह के मिश्रण से उत्पन्न नाना वासनाओं का। आभूषण भी, इसी प्रकार, जिस अङ्ग में धारण किये जाते हैं उस अङ्ग की चेतना का प्रतिनिधित्व करते हैं। जैसे हार, कण्ठ देश से हृदय तक की चेतना का प्रतीक है, कण्ठ, वाह्य-मन का केन्द्र है और वक्ष प्रदेश, प्राणमय आवेगों का। कृष्ण ने जब गोपियों को अन्तर्मन में डूबा देखा तब उनकी वाह्य-चेतना के समस्त अङ्गों का,

---

१—प्रकट भये प्रभु जलहीं भीतर, देखि सबनि की प्रेम।
  मींजत पीठ सबनि के पाछैं, पूरन कीन्हीं नेम॥—सूरसागर, पद सं० १३८६

२—वही, पद सं० १३६४

३—नैकहुँ कहुँ मन न लागत, काम धाम बिसारि।
  मातु पितु कौ डर न मानतिं, सुनतिं नाहिं न गारि।
  प्रातहीं उठि चलीं सब मिलि, जमुन तट सुकुमारि॥—वही, पद सं० १३६५

४—बसन हरे सब कदम्ब चढ़ाये।
  सोरह सहस गोप-कन्यनि के, अङ्ग-आभूषन सहित चुराये॥—वही, पद सं० १४०२

आत्मा पर पड़े हुए वहिर्मुखी चेतना के सारे आवरणों-अभ्यासों का हरण करके उन्हें अपनी आनन्द चेतना (कदम्ब) पर चढ़ा दिया[1] और कृष्ण उस ऊर्ध्वमन मे स्थित होकर गोपियों का निरीक्षण करने लगे। जव गोपियाँ यमुनाजल से, आध्यात्मिक चेतना से, निकलकर तटरूपी वाह्य-चेतना में आती हैं तो अपने वस्त्र वहाँ नहीं पातीं। कृष्ण उनका आवाहन करके कहते हैं कि वस्त्र तट पर नहीं ऊपर हैं, वाह्यचेतना में नहीं, ऊर्ध्व चेतना में अटके हैं। देहवद्ध चेतना के अभ्यासों से मुक्ति के लिए जो व्रत गोपियों ने लिया था, वह कदम्व पर फल रहा है, अतिचेतन में श्रीकृष्ण ने उसे पहुँचा दिया। श्रीकृष्ण कहते हैं कि ऊर्ध्व वाहु करके सब प्रकार के आच्छादन से रहित होकर गोपियाँ उनकी वन्दना करें तव वस्त्र पुनः मिलेगा। हाथ को ऊपर उठाकर प्रार्थना करना देहवद्ध चेतना (embodied Consciousness) की उर्ध्व अभीप्सा का प्रतीक है। पहिले गोपियाँ ऐसा नहीं करतीं, वे आच्छादनों को छोड़ने से हिचकती हैं, कहती हैं कि अधिक वद्ध करनेवाली चेतना को हम तुम्हें दे देते हैं, जो आवरण कुछ कम वद्ध करता है उसे हमें दे दो—'चोली हार तुमहि कौं दीन्हौं, चीर हमहि द्यौ डारी।' किन्तु कृष्ण स्वीकार नहीं करते, वह कहते हैं कि सब प्रकार का ओट दूर करो, जो मैं कहता हूँ वह करो। अन्तर्मन में ही नहीं, वाह्य-चेतना में भी मुझे प्राप्त करो, तट पर आकर मेरी वन्दना करो, तव मैं तुम्हारी समस्त चेतना को दिव्य वनाकर वापस कर दूँगा और तुम उन्हें मेरे आनन्द के लिए धारण करना।[2] साधना के क्रम में प्रायः ऐसा देखा जाता है कि जव तक भक्त अन्तश्चेतना में निमज्जित रहता है तव तक वह वाह्य-व्यक्तित्व को भूला रहता है, किन्तु वाह्य-चेतना में आते ही वह पुनः उन जड़ संस्कारों को धारण कर लेता है। श्रीकृष्ण गोपियों को ऐसी अधूरी भक्ति नहीं करने देना चाहते, वे उनके अन्तर्वाह्य की समग्रता को अतिचेतन से आप्लावित करना चाहते हैं। जव तक वाह्य-चेतना का रूपान्तर नहीं हो जाता तव तक अन्तर्वाह्य चेतना का सामञ्जस्य नही स्थापित हो पाता। इसलिए कृष्ण

---

१—आपु कदम चढ़ि देखत स्याम।
वसन अभूपन सव हरि लीन्हे, बिना वसन जल भीतर वाम॥—सूरसागर, पद सं० १४०३

२—लाज ओट यह दूरि करौ।
जोइ मैं कहौं करौ तुम सोइ, सकुच वापुरिहिं कहा करौ॥
जल तैं तीर आइ कर जोरहु, मैं देखौं तुम विनय करौ।
पूरन व्रत अव भयौ तुम्हारौ, गुरुजन-सङ्का दूरि करौ।
सूर स्याम कहँ चीर देत हौं, मो आगें सिङ्गार करौ॥—वही, पद सं० १४०८

एक बार गोपियों की आत्मा पर पड़े हुए सारे आवरणों का उच्छेदन कर देते हैं, इस उच्छेदन के पश्चात् ही वाह्य-व्यक्तित्व को अपने दिव्य संस्पर्श से पूत करके उसे पुनः धारण करने को देते हैं। यदि वे देह, मन, प्राण के वस्त्रों को दिव्य करके न दें तो उनकी लीला का उद्देश्य पूरा नहीं होता, क्योंकि शेष व्यक्तित्व को छोड़कर केवल आत्मा से ही ब्रह्म में मिल जाना अद्वैत अनुभूति को जन्म देगा, लीला की द्वैताद्वैत अनुभूति को नहीं। इस अन्तर्वाह्य के एकाकार होने पर साधना सार्थक एवं कृतार्थ होती है, वाह्य-चेतना में दृढ़ता आ जाने पर ही कृष्ण प्रकट होते हैं, फिर वे जीव से दूर नही रहते।[१]

पनघट लीला—चीर-हरण के पश्चात् पनघट का प्रसङ्ग आता है।[२] जमुना-जल से घट भर लेना आध्यात्मिक आनन्द से शरीर वद्ध चेतना (Embodied Consciousness) को भर लेना है। घट सन्तों की पारिभाषिक भाषा में सदैव देहधारी चेतना का प्रतीक रहा है—'फूटा घट जल जलहि समाना।' श्रीकृष्ण का कङ्कड़ से गगरी तोड़ डालना, इसी देह वद्ध चेतना को तोड़ देना है, देह की सीमा का टूटना है। किसी-किसी की वे गगरी ढरका देते हैं, तोड़ते नहीं कदाचित् इसलिए कि उस गोपी की देहवद्ध चेतना इस योग्य नहीं होगी कि वह दिव्य आनन्द को अपङ्किल रखकर अपने व्यक्तित्व में समा सके। हो सकता है कि उसका व्यक्तित्व आध्यात्मिक प्रेम को धारण करने योग्य न हो। पनघट प्रङ्गस में चोलीवन्द तोड़ने का प्रसङ्ग भी आता है। चोलीवन्द अनाहृत चक्र की भाव चेतना का वन्धन है, जो यौगिक शब्दावली में विष्णु-ग्रन्थि कहलाती है, जिसे कृष्ण तोड़ देते हैं या खोल देते हैं। उसी प्रकार नीवी-वन्धन तोड़ना भी निम्न चेतना की रुद्रग्रन्थि को काट देने का प्रतीक है। हरिव्यास देवाचार्य ने होली के प्रसङ्ग में कहा है—

चांचरि माची मैन की, हो हो हो मुख वोल।
सब गुन रूप अचागरे, तन मन ग्रन्थिन खोल।[३]

× × ×

मन की ग्रंथि चोलीवन्द है, तन की नीवीवन्ध।

---

१—अब मत करि तुम तनुहिं न गारौ। मैं तुमतैं कहुँ होत न न्यारौ॥
मोहि कारन तुम अति तप साध्यौ। तन मन करि मोकौं आराध्यौ॥
सूरस्याम जन के सुखदाई। दृढ़ताई में प्रगट कन्हाई॥—सूरसागर, पद सं० १४१७

२—वसन हरे गोपिन सुख दीन्हौ। सुख दै सबकौ मन हरि लीन्हौं॥
जुवतिनि कैं यह ध्यान सदाई। नैकु न अन्तर होहिं कन्हाई॥
घाट बाट जमुना तट रोकैं। मारग चलत जहाँ तहँ टोकैं॥—वही, पद सं० २७०८

३—महावाणी—उत्साहसुख, पद सं० ३३, पृ० ६८

दानलीला—वाह्य-व्यक्तित्व के सामान्य समर्पण के पश्चात् भी सूक्ष्माति-सूक्ष्म कुछ अवयव समर्पण के लिए बच रहते हैं। देह व्यक्तित्व का सबसे निश्चेतन, जड़ तथा स्थूल अंश है। वह सबसे अन्त में समर्पण करता है। दानलीला के मिस श्रीकृष्ण इस देह चेतना का समर्पण करवाते हैं। वह कहते हैं कि मैं सामान्य रूप से भौतिक चेतना का समर्पण पाकर सन्तुष्ट नहीं हो गया, स्थूल देहचेतना के समस्त अधिष्ठानों का दान लूंगा—"लै हौं दान सब अंगनिकौं," यौवन का दान लूंगा—"जोवन दान लेऊँगी तुम सौं।" शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग की चेतना का समर्पण श्रीकृष्ण माँगते हैं।[१] अभी तक गोपियों ने अत्यन्त स्थूल चेतना का समर्पण नहीं किया था, यह अन्तिम व्यवधान उनके और श्रीकृष्ण के बीच बना हुआ था। कृष्ण कहते हैं कि मैं केवल दूध, दही, घृत (मानसिक चेतना) का समर्पण लेकर क्या करूंगा, जिस यौवन रूप को छुपा रक्खा है उसका समर्पण क्यों नहीं करती, हे मूढ़ (अयानी) ग्वालिन, मुझ से यह अन्तर क्यों रखती हो।[२] कृष्ण स्पष्ट व्यङ्ग करते हैं कि मैं मक्खन दही लेकर क्या करूं, तुम यौवन का लौकिक-व्यापार करती हो, यह नहीं जानती कि मैं इसका अधिकारी हूं? मैं नित्य यह सोचता हूं कि अब तुम मुझसे इस यौवन को ले लेने के लिए कहोगी, किन्तु तुमने ऐसा अभी तक नहीं किया। अब तक तो तुम अन्य लौकिक व्यक्ति से इसका व्यापार करती रही हो, आज मैं सबका लेखा करूंगा।[३]

---

१—लैहौं दान सब अङ्ग अङ्ग कौ।
गोरे भाल लाल सेन्दुर छवि, मुक्ता वर सिर सुभग मङ्ग कौ॥
नकवेसरि खुटिला तरिवनि कौ, गर हमेल, कुच जुग उतङ्ग कौ।
कण्ठसिरी दुलरी, तिलरी—उर मानिक—मोती—हार रङ्ग कौ॥
वहु नग जरे जराऊ अङ्गिया, भुजा वहूँटनि, वलय सङ्ग कौ।
कटि किंकिनि कौ दान जु लैहौं, जिनही रीझत मन अनङ्ग कौ॥
जे हरि पग जकर्‌यौ गाढ़ैं मनु, मन्द मन्द गति इहिं मतङ्ग कौ।
जोवन रूप अङ्ग पाटंवर, सुनहु सूर सब इहि प्रसङ्ग कौ॥—सूरसागर, पद सं० २०९३

२—कहा करौं दधि-दूध तिहारौ, मोसौं नाहिन काम।
जोवनरूप दुराइ धर्‌यौ है, ताकौ लेति न नाम॥
सूर सुनहु री ग्वारि अयानी, अन्तर हमसौं राखति॥—वही, पद सं० २०९९

३—माखन दधि कह करौं तुम्हारौ।
या वन मैं तुम वनिज करति हौ, नहिं जानत मोकौं घटवारौ॥
मैं मन में अनुमान करौं नित, मोसौं कैहैं वनिज-पसारौ।
काहे को तुम मोहिं कहति हौ, जोवनधन ताकौ करि गारौ॥
अब कैसैं घर जान पाइहौ, मोकौं यह समझाइ सिधारौ।
सूर वनिज तुम करति सदाई, लेखौ करिहौं आज तिहारौ॥—वही, पद सं० २१४२

मुझसे प्रीति क्यों नहीं करती, ब्रज के गाँव में व्यापार करने से क्या लाभ, यदि तुम रूप-यौवन को मुझे समर्पित कर दोगी तो सर्वतोभावेन निश्चिन्त हो जाओगी, फिर तुम्हें किसी बात का डर नहीं रह जायगा, आशङ्कारहित, निर्भय हो जाओगी।[1] नाना वाद-विवाद के पश्चात् गोपियों को श्रीकृष्ण वशीभूत कर लेते हैं। वे अपनी देह चेतना को समर्पित करने को प्रस्तुत हो जाती हैं।[2] इस समर्पण के पश्चात् गोपियाँ देह से विगत हो जाती हैं। उनकी लौकिक वासनाएँ देह समर्पण में बाधक तो थी हीं, सङ्कोच भी इस समर्पण में बाधक था, वे कहती हैं—'जोबन रूप नहीं तुम लायक, तुमकों देति लजाति'।[3] जिस प्रकार वारिधि के सम्मुख जल सीकर होता है, अमृत-सरोवर के सम्मुख मधु की एक बूँद होती है उसी प्रकार कृष्ण के अगाध सौन्दर्य और शोभा के सम्मुख गोपियाँ अपने यौवन और रूप को समझती हैं। किन्तु कृष्ण भक्त के इस आत्म-सङ्कोच को मिटाकर यत्किञ्चित्-रूप यौवन को ही स्वीकार कर लेते हैं। दानलीला के बाद भक्त के मन, प्राण, देह का सर्वात्म समर्पण साधित हो जाता है, सभी कुछ कृष्ण का हो चुकता है। गोपियाँ कहती हैं—

दधि माखन को दान और जो, जानौ सर्व तुम्हारो।
सूर स्याम तुमकों सब दीन्हों, जोवन प्राण हमारो॥[?]

इस समर्पण के अनन्तर गोपियों की संसार से अन्तिम आसक्ति भी छूट जाती है। उनका मन, प्राण, इन्द्रिय, सारा व्यक्तित्व श्रीकृष्ण के प्रेम में रङ्ग जाता है। कृष्णविरहित सारे कार्य-व्यापारों, सारे भाव-सम्बन्धों को वे खुलकर धिक्कारती हैं; उनके लिए कृष्ण के बिना संसार का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता।[5] दानलीला के पश्चात् गोपियाँ श्यामरस से मतवाली हो जाती हैं, उनका व्यक्तित्व अन्य सभी

---

१—प्रीति करौ मोसौं तुम काहे न, बनिज करति ब्रज-गाउं।
आवहु जाहु सबै यहिं मारग लेत हमारौ नाउं॥—सूरसागर, पद सं० २१८४

२—लागी काम-नृपति की साँटी, जोबन रूपहिं आनि भर्‌यौ॥—वही, पद सं० २२०७

३—वही, पद सं० २२०८

४—वही, पद सं० २२३०

५—तुमहिं बिना मन धिक अरु धिक घर।
तुमहिं बिना धिक-धिक माता पितु, धिक कुल कानि, लाज डर॥
धिक सुत पति, धिक जीवन जग कौ, धिक तुम बिनु संसार।
धिक सो दिवस पहर, घटिका, पल जो बिनु नन्द कुमार॥
धिक धिक श्रवन कथा बिनु हरि कै, धिक लोचन बिनु रूप।
सूरदास प्रभु तुम बिनु घर ज्यौं, बन-भीतर के कूप॥—वही, पद सं० २२३५

रसों से रिक्त हो जाता है, एकमात्र चिदानन्द का महारस उसे आपूरित किये रहता है।[१] कृष्ण एक पल के लिए भी अलग नहीं होते—'पलक ओट नहिं होत कन्हाई।' सूरदास व्यञ्जना से ही नहीं, स्पष्ट कह देते हैं—

गेह-नेह, सुधि-देह बिसारे, जीव पर्‌यौ हरि ख्यालहिं सौं।
स्याम धाम निज वास रच्यौ, रचि, रहित भई जञ्जालहिं सौं॥[२]

अब गोपियों को किसी का भय नहीं रह जाता, वे कृष्ण के प्रति अपनी अनन्यमति को दृढ़ शब्दों में घोषित कर देती हैं, उन्हें स्पष्टरूप से अपना पति कहने में नहीं हिचकतीं—'हौं अपनैं पतिव्रतहिं न टरिहौं, जग उपहास करौ बहुतेरो।' कृष्ण-तन्मय गोपियों को जग की निन्दास्तुति की परवाह नहीं रह जाती, हरि से अपना मन जोड़कर वे अन्य सभी से तोड़ लेती हैं—'मैं अपनौं मन हरि सों जोर्‌यौं हरि सौं जोर सबनि सौं तोर्‌यौं।'

रासलीला—प्रेम के पूर्णतया परिपक्व हो जाने पर गोपियाँ श्रीकृष्ण के साथ रमण करती हैं। नन्ददास की उक्ति है कि श्रीकृष्ण जीव को अपने समान बनाकर उसके साथ रास-रस में रमना चाहते हैं।[३] अंशी-अंश का यह परस्पर रसास्वादन परमानन्द की लीला का प्रयोजन है, पुष्टिभक्ति का उद्देश्य है। मुरली-ध्वनि कृष्ण के उस तीव्र आवाहन का प्रतीक है, जो जीव की सांसारिक आसक्तियों को छुड़ा देता है, उस ध्वनि को सुनकर गोपियाँ श्रीकृष्ण के निकट पहुँच जाती हैं।[४] किन्तु

---

१—तरुनी स्याम-रस मतवारि।
प्रथम जोवनरस चढ़ायौ, अतिहि भई खुमारि॥
दूध नहिं, दधि नहीं, माखन नहीं, रीतौ माट।
महारस अङ्ग अङ्ग पूरन, कहाँ घर कहँ बाट॥
मातु-पितु गुरुजन कहाँ के, कौन पति कौ नारि।
सूर प्रभु कै प्रेम पूरन, छकि रहीं ब्रजनारि॥—सूरसागर, पद स० २२४२

२—वही, पद स० २२५६

३—कमल नैन करुनामय सुन्दर नन्द सुवन हरि।
रम्यौ चहत रस रास, इनहिं अपनी समसरि करि॥१३५॥
—सिद्धान्त पञ्चाध्यायी—नन्ददास, दूसरा भाग, पृ० १८९
तथा, तैसेंई ब्रज की बाम, काम-रस उत्कट करिकै।
सुद्ध प्रेममय भई, लई गिरिधर उर धरिकै॥२३०॥—वही, पृ० १९३

४—गई सोरह सहस हरि पै, छाँड़ि सुत पति नेह।
एक राखी रोकि कै पति, सो गई तजि देह॥
दियौ तिहिं निर्वान पद हरि, चितै लोचन कोर।
सूर भजि गोविन्द यौं, जग मोह बन्धन तोर॥—सूरसागर, पद सं० १६२५

उनके साथ रमण करने के पूर्व कृष्ण गोपियों की अच्छी तरह परीक्षा लेते हैं। वे इस तथ्य को पुष्ट कर लेते हैं कि गोपियों को सिवा श्रीकृष्ण के और किसी से कोई आसक्ति नहीं रही और वे पाप और पुण्य की लौकिक मान्यताओं से परे जा चुकी हैं। गोपियाँ कहती हैं कि वे एकमात्र कृष्ण को ही जानती हैं, धर्म-कर्म को नहीं। श्याम के बिना उनकी कोई गति नहीं है, यदि श्रीकृष्ण उन्हें स्वीकार नहीं करेंगे तो वे प्राण त्याग देंगी किन्तु घर वापस नहीं जायेंगी। जब कृष्ण को यह विश्वास हो गया कि गोपियाँ कहीं से भी कच्ची नहीं हैं, उनका प्रेम तथा समर्पण आत्यन्तिक है, तब वे उनपर पूर्ण कृपा करते हैं। प्रभुता छोड़कर श्रीकृष्ण गोपियों की प्रशंसा करते हैं—

> मोकौं भजी एक चित ह्वै के, निदरि लोक कुल कानि।
> सुत पति नेह तोरि तिनुका सौं, मोहीं निज करि जानि॥
> ताकैं हाथ पेड़ फल ताजो, सो फल लेहु कुमारि।
> सूर कृपा पूरन सौं बोले, गिरि-गोवरधन-धारि॥[१]

फिर, रास-मण्डली जुटती है। राधा-मण्डली की केन्द्र हैं और राधा सम गोपियाँ उस मण्डली की व्यूह।[२] किन्तु रमण करने पर गोपियों को अपने श्रेष्ठ होने का आध्यात्मिक अहङ्कार हो जाता है जिससे कृष्ण अन्तर्ध्यान हो जाते हैं। किन्तु विरह से जब वह गर्व विगलित हो जाता है तब कृष्ण पुनः प्रकट होकर गोपियों के साथ रास में मग्न होते हैं। रास के द्वारा श्रीकृष्ण अपने आत्मप्रसार का रसास्वादन करते हैं, ऐक्यानुभूति का वैचित्र्य अनुभव कर आनन्दी होते हैं।

जलक्रीड़ा, हिंडोल, फाग आदि लीलाएँ आनन्द की उच्छल, स्वच्छन्द, उन्मुक्त क्रीड़ाएँ हैं। होली, आनन्द की परिपूर्णतम अवस्था है जिसमें भक्त और भगवान् एक दूसरे के रङ्ग में रञ्जित होने लगते हैं।

कृष्ण के मथुरागमन से उत्पन्न विरह में गोपियों को पूर्ण निरोधदशा प्राप्त हो जाती है तथा निरुद्ध चित्त में श्रीकृष्ण का मिलन 'नित्य' हो जाता है—राधा-कृष्ण ओतप्रोत ही नहीं, तद्रूप हो जाते हैं।

## निकुञ्ज लीला

सखी-भाव—राधाकृष्ण की निकुञ्ज-लीला साधना की सिद्धावस्था है। इसमें वे

---

१—सूरसागर, पद संख्या १६५१.

२—राधा-सम सब गोपकुमारी क्रीड़ति रास-विहार।
पट्दस सहस गोपकुमारी, पट्दस सहस गुपाल॥
काहू सौं कछु अन्तर नाहीं, करत परस्पर ख्याल॥—वही, पद सं० १६६५

तन, मन, प्राण से एक हुए परममधुर भाव में निमग्न रस का विस्तार करते हैं। मान विरह रहित यह शाश्वत लीला 'निकुञ्ज-लीला' या 'नित्य-विहार' कहलाती है।

पुरुषोत्तम एवं पराशक्ति के घनीभूत चिदानन्द का आस्वादन जीवात्मा के लिए एकमात्र एक भाव से सम्भव है, वह है तत्सुख-सुखी भाव किंवा सखी भाव। यह भाव गोपी भाव से श्रेष्ठतर कहा गया है। गोपीभाव अपने में चाहे कितना भी उदात्त, परिष्कृत एवं अकुण्ठ क्यों न हो, उसमें आत्म-सुख का लेश रहता है। 'स्वसुख' भूलकर राधाकृष्ण के सुख में सुखी होना अर्थात् तत्सुख-सुखी भाव से भावित होना अवश्य ही निःशेष आत्मनिक्षेप का परिचायक है। सखियों की विशेषता ही यह है कि उनमें स्वसुख की वाञ्छा नहीं होती, कृष्ण यदि उन्हें अपना प्रीतिदान करना भी चाहें तो उन्हें स्वीकार्य नहीं होता, वे राधाकृष्ण के सुख में ही सुखी रहती हैं। प्रिय के सुख में सुखी होना प्रेम का परम विकास है।[1] सखी का तात्पर्य भक्त की उस भावदशा से है जब वह शक्ति और शक्तिमान् के आत्मलीन परात्पर रस का आस्वादन सत्ता की तुरीय अवस्था में करता है। यह रस जो गोपनीय से भी गोपनीय हैं केवल मात्र सखी भाव से गम्य है। इस परात्पर लीला में सखी भाव के अतिरिक्त किसी भाव की भी गति नहीं है। सखी भाव से इस रस का विस्तार होता है और उसी भाव से इसका आस्वादन; 'नित्य-विहार' या 'निकुञ्जलीला' का रस एकमात्र सखी भाव से ही प्राप्य है।[2] निकुञ्ज रस को पाने के लिए गोपी भाव तक को भूलना पड़ता है। भगवतरसिक जी ने स्पष्ट कहा है कि रास की भावना भूलकर ही स्वामी हरिदास जी की रस-रीति समझी जा सकती है।[3] वस्तुतः रास की भावना से संवलित गोपीभाव सत्ता का वैश्वरूप है—जीवात्माओं के साथ कृष्ण की क्रीड़ा उनकी सत्ता का विश्वव्यापी रूप है। किन्तु ऊर्ध्वतम स्थिति परात्पर स्थिति है जो वैश्व भावना का भी अतिक्रमण कर जाती है। सखी जीवात्मा की

---

१—जाको जो मन भावतौ मिलै सुखी सब कोय।
 बिबि मिलाप तत्सुख सुखी नेह कहावै सोय ॥२२॥—सुधर्मबोधिनी, पृ० १२

२—राधा कृष्णेर लीला एइ अति गूढ़तर। दास्य वात्सल्यादि भावेर हय गोचर॥
 सबे एक सखी गनेर इहा अधिकार। सखी हैते हय इए लीलार विस्तार॥
 सखी बिनु एइ लीला पुष्टि नाहि हय। सखीलीला बिस्तारिया सखी आस्वादय॥
 सखी बिना एइ लीलाय नाहिं अन्येर गति। सखी भावे ताहा जेइ करे अनुगति॥
 राधाकृष्ण कुञ्जसेवासाध्य सेइ पाय। सेइ साध्य पाइते आर नाहिक उपाय॥
 —चै० च० मध्यलीला, (८वाँ परिच्छेद) पृ० १४४

३—पाँचै भूलै देह निज छठें भावना रास की। सातैं पावै रीति रस श्री स्वामी हरिदास की॥
 —भगवतरसिक, पद सं० ४६ (निम्बार्क माधुरी) पृ० ३६७

तुरीयावस्था है, नित्यविहार परात्पर है।[१] विश्व में अभिव्यक्त चिदानन्द से तुरीयातीत चिदानन्द महत्तर है, परात्पर स्थिति ही पूर्णतम है। अतएव जीवात्मा गोपी भाव से आनन्द लेना छोड़कर सखी भाव से पूर्णतम रस का आस्वादन करना चाहती है। सखी को राधाकृष्ण की केलि में ही पूर्ण परितृप्ति मिलती है। राधा कृष्णप्रेम की कल्पलता हैं सखियाँ उनकी पल्लव, पुष्प आदि कायव्यूह। पल्लवादि को अपने सिञ्चन से अधिक सुख लता के सिञ्चन से प्राप्त होता है।[२] काया व्यूहों की समग्रता है, उनका निचोड़ है।

---

१—त्रिगुण देह तैं पृथक हैं तुरीय अपनौ रूप। तुरीयातीत परा सुरस नित्य विहार अनूप ॥४६॥
—सुधर्मबोधिनी, पृ० ६६

२—सखीर स्वभाव एक अकथ्य कथन। कृष्ण सह निज लीलाय नाहि सखीर मन ॥
कृष्ण सह राधिकाय लीला जे कराय। निज केलि हइते ताते कोटि सुख पाय ॥
राधार स्वरूप कृष्ण प्रेमकल्पलता। सखीगण हय तार पल्लव पुष्प पाता ॥
कृष्णलीलामृते यदि लता के सिञ्चय। निज सुख हइते पल्लवाद्येर कोटि सुख हय ॥
—चै० च०, मध्यलीला (८वाँ परिच्छेद), पृ० १४८-४५

# रस

## रस के आधार

जीवन-जगत् की अनुभूति में एक विशेष प्रकार का सुख, अप्रतिहत रुचिरता पाने की लालसा प्राणिमात्र में होती है। यह लालसा संवेदना में परिणत हो जाती है। 'भुक्ति' की यह संवेदना 'रस' कहलाती है। रस का स्वभाव है अखण्ड अबाध सुखात्मक होना—व्यक्ति में भी अखण्ड सुखोपभोग की कामना होती है। किन्तु लोक में 'रस' की अखण्ड किंवा निर्बाध स्थिति दृष्टिगत नहीं होती। इसका कारण क्या है? रसोपभोग शाश्वत और पूर्णतृप्त क्यों नहीं हो पाता? कृष्ण-भक्ति के आचार्यों ने इस पर अत्यन्त गम्भीरता से विचार किया है। उनका कथन है कि पहिले हमें इस बात का ज्ञान होना चाहिए कि 'रस' है क्या? साधारणतः व्यक्ति जिसे रस समझता है, वह रस न होकर रस की विकृति मात्र होता है। किसी भावना का सुखद होना रस नहीं है, कल्पना के मनोराज्य में इन्द्रजाल निर्माण करना रस नहीं है, रूपासक्ति के उपभोग की मादकता रस नहीं है। यहाँ तक कि काव्य में क्षरित रस भी वास्तविक रस नहीं है। यदि ये सब रस नहीं है तो रस है क्या? प्रत्युत्तर में कहा गया है कि रस आत्मा की वह निरपेक्ष अनुभूति है जिसमें प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक अनुभव आनन्द-निमज्जित लगते हैं। रस, आत्म वस्तु होने के कारण स्वयं प्रकाश, चिन्मय तथा एक तान है—स्वय-प्रकाश है इसलिए किसी वाह्यवस्तु या वाह्य-सत्ता पर आश्रित नहीं है, चिन्मय है इसलिए दुःखरहित है, एकतान है इसलिए प्राप्ति-अप्राप्ति (मिलन-विरह) के द्वैत से मुक्त है। लोक में प्राप्त रस में इनमें से कोई भी विशेषता नहीं रहती। नश्वरता में, वाह्य रूप में रस लेने की जो प्रवृत्ति होती है वह चेतना की दिग्भ्रान्ति है। परिवर्तनशील सत्ता का उपभोग निर्बाध तथा एक रस नहीं हो सकता, उसमें घात-प्रतिघात होना अवश्यम्भावी है अतः रसचर्वण अक्षोभ्य किंवा निरपेक्ष नहीं हो पाता। अखण्ड सुख-स्वरूप रसोद्बोध का आधार कोई निरपेक्ष, स्वयंप्रकाश, शाश्वत वस्तु हो तभी उसके भोग का स्वभाव अखड, निरपेक्ष एवं शाश्वत होगा। ऐसी वस्तु केवल एक ही है—स्वतन्त्र, स्वयंप्रकाश, चिद्विलास-विलसित ब्रह्म अर्थात् पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण। श्रीकृष्ण ही वास्तविक रस के आधार हैं।

श्रुतियों ने जिस परमतत्व को 'रसो वै सः' कह कर रस रूप निर्घोषित किया है, वही श्रीकृष्ण का विग्रह धारण कर भूमंडल पर अवतरित हुआ। राधावल्लभ-

सम्प्रदाय ने 'रसो वै सः' की साकारता श्रीराधा में देखी। सामान्यतया श्रीकृष्ण को ही रस का आधार माना गया है। श्रीकृष्ण अखिल रसामृतमूर्ति हैं और सृष्टि में प्रवहमान समस्त रसों के आगर। वे समस्त रसों के मूलाधार हैं, उनमें सारे रस अपनी चरमसार्थकता एवं पूर्ण-परितृप्ति पाते हैं। कृष्ण अन्य अवतारों की भाँति केवल त्राता रूप में वीरमूर्ति ही नहीं हैं, वरन् अपने बहुमुखी व्यक्तित्व से सभी रूप रसों के आलम्बन बनते हैं। 'भागवत' की टीका में श्रीधरस्वामी ने इसका निर्देश करते हुए कहा है कि अग्रज बलराम सहित मञ्च पर प्रवेश करते हुए श्रीकृष्ण मल्लों को वज्र सदृश, दर्शकों को नरश्रेष्ठ, स्त्रियों को मूर्तिमान् कामदेव, गोपों को स्वजन, दुष्ट राजाओं को दुष्टदलनकारी, पिता को शिशु, कंस को मृत्यु, मूर्खों को राक्षस, योगियों को परमतत्व तथा वृष्णियों को परमदेव प्रतीत हुए। काम, क्रोध, भय, स्नेह, किसी भी भाव के श्रीकृष्ण आलम्बन बन सकते हैं, उनमें नियोजित होकर सारे भाव उन्हीं के समान अर्थात् अखंड आनन्द-स्वरूप हो जाते हैं।[१]

## भक्ति-रस का स्वरूप

श्रीकृष्ण की भक्ति का रस ब्रह्मानन्द से श्रेष्ठतर है, क्योंकि निर्गुण ब्रह्म की आनन्दानुभूति में भोक्ता-भोग्य की पृथक् सत्ता नहीं रह पाती, वैचित्र्य एवं कल्लोल विरहित एक निर्विकार, प्रशान्त आनन्दसागर व्याप्त रहता है। जब यह समरसता वैचित्र्य धारण करती है तब उसके क्रोड़ में भगवान् एवं उनकी स्वरूप-शक्ति की क्रीड़ा तरङ्गायित होती है। क्रीड़ा का यह उच्छलन भजनानन्द किंवा लीला कहलाता है। पुरुषोत्तम शक्ति का यह विलास अक्षर-ब्रह्म की निश्चल पृष्ठभूमि पर मुखरित होता है। इस लीला के उपभोग की क्षमता ही रस है, इतर कोई अहन्निष्ठ सुखाकांक्षा नहीं।

रस के अनिवार्य उपकरण हैं–चित्, आनन्द, प्रेम (हित) अर्थात् भोक्ता, भोग्य तथा साक्षी। चित् आस्वादक है, भोक्ता है, आनन्द भोग या आस्वाद्य, तथा प्रेम (हित) तत्व दोनों की सन्धि है, यह रसोपभोग में साक्षी जैसा है। ये तीनों वस्तुएँ एक ही हैं—रसानुभूति के अनिवार्य अविच्छिन्न अङ्ग।[२]

---

१—काम, क्रोध, भय, नेह, सुहृदता, काहू विधि करि कोइ।
धरै ध्यान हरि को जौ दृढ़ करि सूर सो हरि सम होइ॥—सूरसागर, पद सं० १६२६

२—चित स्वरूप सो भोक्ता आनन्द तासु को भोग।
हित स्वरूप सों साखी होत न कबहुँ वियोग॥१५॥
भोग भोक्ता साखी त्रिविध वस्तु गुरु एक।
परा अवर या बिनु न कछु अद्वयतत्व विवेक॥१६॥—सुधर्मबोधिनी, पृ० २७

सामान्यतः सभी सम्प्रदायों में श्रीकृष्ण को आनन्द तथा श्री राधा को
ारान्तर से पराप्रकृति के सभी अंशों अर्थात् भक्त जीव को) चित् स्वरूप माना
है। हित हरिवंश जी के सम्प्रदाय में इस क्रम का विपर्यय देखा जाता है। वहाँ
आनन्दस्वरूप हैं, कृष्ण चित्स्वरूप।[1]

जब रस के वास्तविक आलम्बन चिदानन्दघन विग्रह श्रीकृष्ण हैं तब यह अत्यन्त
: है कि यह रस किसी भी प्राकृत उपकरण की पहुँच से परे है। विश्व सत्ता का
य नित्य है, शाश्वत आनन्दस्वरूप है, अतः वह नश्वर उपकरणों की पकड़ में नहीं
ा। व्रजरत्नदास जी की उक्ति है, "सत्ता ही जब ज्ञान है तब वह नित्य ज्ञान है,
जब ज्ञान आनन्द है, तब वह नित्य संवेद्यमान आनन्द है। यही नित्य संवेद्यमान
द ही रस है। यह रसास्वादन अखण्ड तथा पूर्ण अनुभूति का स्वरूप है, वृत्ति न
र रस-स्फूर्ति है।"[2] जिसे हम आनन्द या रस कहते हैं, वह एक वृत्ति होती है, चाहे
ना हो, चाहे प्राणावेग, चाहे इन्द्रियलिप्सा। काव्यशास्त्र में जिस अलौकिक रस
निष्पत्ति होती बतलायी गयी है, वह भी वास्तव में विशुद्ध रस नहीं है, चिन्मय
अलौकिक नहीं, गुणबद्ध ही है।[3] काव्य में रसानुभूति सत्व गुण के आधार पर
जाती है, सत्व भी अन्ततः चित्त की एक वृत्ति है, चाहे मनस् धरातल पर सबसे
मार्जित वृत्ति क्यों न हो। किन्तु 'चिदानन्द' स्वाभाविक रूप से अलौकिक है, वृत्ति
ोकर रस-स्फूर्ति है। तम में चित्त के निष्क्रिय रहने से तथा रज में उद्वेजित रहने
सानुभूति सम्भव नहीं है। सत्व द्वारा इन दोनों के अभिभूत होने पर काव्य-रस
जो अनुभूति होती है, कृष्ण-भक्तों की दृष्टि में वह अपूर्ण एवं भ्रमयुक्त है क्योंकि
ति के तीनों गुण सदैव एक-दूसरे में ओतप्रोत रहते हैं, वे एक-दूसरे में संचरण
ते हैं, जहाँ सत्व है वहाँ रज और तम भी अवश्य होंगे, सत्व की प्रबलता के
रण वे 'दब—से जाते हैं' किन्तु आत्मविसर्जन नहीं करते, कर भी नहीं सकते
ंकि प्रकृति जहाँ भी विराजमान रहती है वहाँ त्रिधा ही, यह उसका स्वभाव है।
*: सत्व की एकान्त तथा निरपेक्ष स्थिति सम्भव नहीं है। सत्वप्रधान काव्य-रस*

---

[1] चित् समुद्र साँवल बरन गौर सिन्धु आनन्द।
दोऊ मिलि रससिन्धु के सार युगल वर चन्द ॥३५॥—सुधर्मबोधिनी, पृ० २४

[2] मीरामाधुरी, पृ० १०४

[3] "रसास्वादन इसी प्रकार मनुष्य की त्रिगुणात्मिका प्रकृति से सम्बन्ध रखता है—रजस् और तमस् पर जब सत्व का प्रभाव जम जाता है, तब अन्तःकरण में ज्ञान का उन्मेष होता है, सत्य का परिचय होने लगता है और चित्तवृत्ति शान्त हो जाती है। उस समय यह न समझना चाहिए कि शरीर में रजस् और तमस् का बिल्कुल अभाव हो गया है, बल्कि सत्वगुण की प्रधानता के कारण वे दब से जाते हैं।" का य में अभिव्यञ्जनावाद, लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु', पृ० ५

अन्ततोगत्वा प्राकृत होता है, वृत्ति पर अवलम्बित होने के कारण नश्वर तथा अपूर्ण होता है। वृत्ति का यह स्वभाव है कि वह निरपेक्ष नहीं रह सकती। अप्राकृत रस में निरपेक्षता एक विशेष गुण है, उसमें भोक्ता एवं भोग्य के अतिरिक्त एक और तत्त्व अनिवार्य है—साक्षीतत्त्व, चित्त का प्रकृति के गुणों से उपराम होकर निश्चल तथा अचञ्चल होना। इसे काव्य की भाषा में 'सखी' या 'सहचरी' तत्त्व कहा गया है। सहचरी, जीवात्मा का विशुद्ध स्वरूप है, त्रिगुणातीत रूप है।[1]

भक्ति की साधना का सिद्धिस्वरूप यह रस त्रिगुणातीत है, अप्राकृत है। इस रस के उपभोग की क्षमता का अनिवार्य उपकरण है 'शुद्ध सत्त्व'। शुद्ध सत्त्व, तम और रज से परे तो है ही, सत्त्व की सीमा का भी अतिक्रमण कर जाता है।[2] शुद्ध सत्त्व सच्चिदानन्द का स्वाभाविक आधार है, स्वरूपशक्ति की वृत्ति-विशेष है। सत् जिस चेतना के द्वारा अपना अनुभव आनन्द रूप में करता है वह शुद्धसत्त्वमय होती है। शुद्ध सत्त्व अव्यय है, अविकृत है, निर्गुण होकर भी समस्त गुणों का आकार है।[3] जब चित्त नित्य अखण्ड-सुख में निवेशित हो जाता है, तब मन की सारी वृत्तियाँ उस चिन्मय भावरूप में लीन हो जाती हैं, तभी पूर्ण रस की निष्पत्ति होती है।[4]

इस रस के लिए साधना की जाती है। भक्ति द्वारा, विशेषकर रागभक्ति द्वारा यह रस प्राप्त होता है। चल वृत्तियों के आत्मनिष्ठ होने की साधना कठिन होती है। निकुञ्जरस की साधना में इन्द्रियासक्त जीव, सच्चिदानन्दमयी श्रीराधा के प्रति निःशेष आत्मदान करके अपना संस्कार करता है, तब कहीं उसे रस का अधिकार मिल पाता है। अन्य रसों की साधना में व्यक्ति सच्चिदानन्द श्रीकृष्ण के प्रति निःशेष आत्मोद्घाटन करके, परमानन्द को देह, मन, प्राण की आहुति देकर ज्योतिस्वरूप होकर लीलोपयोगी व्यक्तित्व प्राप्त करता है, तभी कृष्ण का लीलारस अनुभवगम्य हो पाता है। कृष्णरस-साधना की अपनी विशिष्ट प्रणाली है। स्थूल व्यक्तित्व के

---

१—त्रिगुण देह तें प्रथक है सखी आपनों रूप।
ताम स्थिति ह्वै के निरखि नित्य विहार अनूप ॥४७॥—सुधर्मबोधिनी, पृ० ६६

२—तामस तें राजस भलो राजस तें सत नीक।
सत तें ज्ञान प्रकास भल तापर भक्ति सुटीक ॥१॥
भक्तिभाव बहु भेदरस वर्शनि कहे विस्तार ॥२॥—वही, पृ० १८

३—शुद्ध सत्व अव्यय अविकृत कृत अगुन गुनालय ईश अनूप।
—महावाणी सिद्धान्तसुख, पद सं० १४

४—भाव रूप में अचल भये चित नित अखण्ड सुख मान।
सखी सबै मन वृत्त हमारी लीन भईं तहाँ आन ॥४॥—सुधर्मबोधिनी, पृ० ८६

पूर्ण संस्कार के उपरान्त ही अलौकिक रस के अनुभव करने की क्षमता आ पाती है। भक्त, कृष्ण के 'नाम' किंवा 'रूप' अथवा दोनों के सान्निध्य से, उनके निरन्तर सम्पर्क एवं संस्पर्श से पूर्वार्जित कर्म-संस्कारों, भाव-संस्कारों तथा विचार-संस्कारों को दग्ध कर देता है। प्रेमभक्ति का मार्ग अत्यन्त रहस्यमय है, ज्ञात सभी मार्गों से न्यारा है। इसलिए मीराबाई 'योगी' से यह प्रार्थना करती हैं कि वे उन्हें प्रेमाभक्ति की गली बताते जायें। नाम के अगरु और रूप के चन्दन की पवित्र चिता में पड़ कर जब प्राकृत वासनाएँ जल-बल कर भस्म की ढेरी बन जाती हैं तब कृष्णप्रेमी के एक नूतन व्यक्तित्व का आविर्भाव होता है जिसे भाव-देह या शुद्धसत्वमय सूक्ष्मदेह कहते हैं। यह देह अप्राकृत तथा ज्योतिस्वरूपा चिन्मय होती है, इसी के प्राप्त होने पर 'जोत से जोत' मिलायी जा सकती है। भौतिक शरीर के धर्म—भूख-प्यास, ईर्ष्या-द्वेष, काम-क्रोध आदि से यह भावदेह असंपृक्त रहती है। इसी भावदेह की प्राप्ति से रस-साधना आरम्भ होती है। इस अवस्था में प्रवेश करने पर भावभक्ति का आविर्भाव होता है। भाव या तो नवधाभक्ति आदि वैधी भक्ति-सञ्जात होता है या मात्र ह्लादिनी राधा तथा कृष्ण अथवा कृष्ण-भक्त के अनुग्रह से प्रस्फुटित हो जाता है। साधनभक्ति के अनन्तर भावभक्ति का जन्म होता है। भगवत्कृपा भावसम्प्राप्ति का प्रमुख कारण है, साधनभक्ति से भाव के उपयुक्त भूमिका का निर्माण अवश्य हो सकता है, साक्षात् भावोदय नहीं। यही भाव जब परिपक्व हो जाता है तब प्रेम रूप होकर रस दशा को पहुँच जाता है।[1]

## काव्यरस एवं भक्तिरस

सच्चिदानन्द का रस ही एकमात्र स्वयंसिद्ध तथा अलौकिक रस है। यह रस भक्ति द्वारा ग्राह्य है, किसी बुद्धिकौशल या सामान्य रसिकता द्वारा नहीं। काव्य-

---

१—"विना योग्य आधार के आधेय की सत्ता नहीं हो सकती। विना विशुद्ध देह के भाव का उदय नहीं हो सकता। यह प्राकृत देह अशुद्धियों का आगार होने से नितान्त मलिन, दोषपूर्ण तथा अशुद्ध होता है। इसमें भाव जैसे विशुद्ध पदार्थ को धारण करने का सामर्थ्य ही नहीं रहता, इसीलिए भावदेह की आवश्यकता होती है। प्राकृत मालिन्य आदि दोषों से विरहित शुद्ध देह ही 'भावदेह' के नाम से अभिहित किया जाता है। भावदेह आन्तर विशुद्ध देह होता है और बाह्यदेह बाहरी अशुद्ध देह। इन देहों में प्रथमतः योग या परस्पर सामञ्जस्य नहीं होता।...... भावदेह के सिद्ध होने पर ही साधक के हृदय में 'भाव' का उदय होता है और यही भाव नाना साधनों से विकसित होकर 'प्रेम' के रूप में परिणत हो जाता है। विना प्रेम के उदय हुए भगवान् के अपरोक्ष ज्ञान का उदय नहीं होता है। भाव तथा रस में यही अन्तर है कि भाव होता है अपक्व दशा तथा रस होता है पक्व दशा।"

—बलदेव उपाध्याय, भागवत-सम्प्रदाय, पृ० ६४३-४४

शास्त्रकारों ने भक्ति को भाव कह कर छोड़ दिया था किन्तु भक्ति के काव्यशास्त्रियों ने भक्ति को ही वास्तविक रस घोषित किया, अन्य सब रसों को रसाभास। उन्होंने काव्यरसों को भी रसाभास की श्रेणी में परिगणित किया। उनका कहना है कि काव्य में प्रस्फुटित रस केवल कवि-प्रतिभा का चमत्कार है, स्वयंसिद्ध, स्वप्रकाश नहीं। रस की स्थिति एकमात्र पूर्ण पुरुषोत्तम राधा-कृष्ण में ही सम्भव है, किसी खण्ड-सत्ता में नहीं। जो अल्प है, अपूर्ण है, वह आनन्द किंवा रस उत्पन्न कर सकने में सर्वथा अक्षम है, रस का भ्रम अवश्य उत्पन्न कर सकता है—'भूमा वै सुखं, नाल्पे सुखमस्ति।' काव्य में वर्णित नायक-नायिका लौकिक व्यक्ति होते हैं, ससीम एवं प्राकृत, अतः उनके आधार से उत्पन्न रस रस नहीं, रसाभास है। रस इसलिए नहीं क्योंकि रस अखण्डस्वरूपात्मक है, भूमामय है। जीवगोस्वामी ने प्रीति सन्दर्भ में विस्तार से इसकी आलोचना की है। उनके मत से लौकिक रति आदि की सुखरूपता यत्सामान्य है। वस्तु-विचार की दृष्टि से लौकिक रत्यादि दुःख में ही पर्यवसित होते हैं। विषय सम्पर्कित सुख-दुःख के ध्वंस को ही आनन्द कहा गया है। विषयसुख की खोज करने पर दुख उपस्थित होता है।[१]

केवल स्वरूप-योग्यता का अभाव ही लौकिक रत्यादि के रस निष्पत्ति की अयोग्यता का कारण नहीं है, आलम्बन विभाव को भी भक्तों ने जीवभ्रम कहा है। रुक्मिणी देवी के कथन को सामान्य रूप देते हुए कहा गया है कि जो व्यक्ति आनन्दघन श्रीकृष्ण को छोड़कर कृमि, विष्टा, क्लेदपूर्ण देहधारी का वरण करता है, उससे बढ़ कर संसार में कोई मतिहीन नहीं है। यह बात केवल शृङ्गार रस के विषय में रुक्मिणी देवी ने कही है, तथापि भक्तों का कथन है कि यह बात सभी नर-नारी के विषय में सत्य है, सभी प्राणी देहधारी हैं। देहधारियों में शुद्ध सत्व की पूर्ण अभिव्यक्ति तो क्या, उसका छुआव तक नहीं रहता। ऐसी तमोमय देह के विषय में सामाजिक के मन में जुगुप्सा के अतिरिक्त अन्य वृत्ति का उदय सम्भव नहीं। इसलिए लौकिक प्रीति के विभावादि की रस-योग्यता में विश्वास नहीं किया जा सकता।

इस प्रकार, लौकिक अनुकार्य नायक-नायिका में लौकिकता, परिमितता एवं अन्तराय के कारण भक्त उनमें रसोद्बोधन नहीं स्वीकार करते। तब भी जो उनका चरित्र रसावह होता है, उसके उत्तर में उन्होंने कहा है कि यह केवल काव्य में। जिसे काव्य कहते हैं, वह कवि की लेखनी-चातुर्य की विशेषता है। काव्य में कवि रति आदि रसोपकरणों को असीम सौन्दर्य प्रदान कर देता है, इसलिए सहृदय नट

१—"किञ्च लौकिकस्य रत्यादेः सुखरूपत्वं यथाकथञ्चिदेव। वस्तुविचारे दुःखपर्यवसायित्वात्। तदुक्तं स्वयं भगवता-सुखं दुःखसुखात्ययः। दुःखं कामसुखापेक्षति।"—प्रीतिसन्दर्भ, वृत्ति ११०

व सामाजिक उसमें रसास्वादन का अनुभव करते हैं। किन्तु भगवत्प्रीति तथा भगवद्रस केवल कवि प्रतिभा नहीं है, वह सत्य है। उसके समस्त उपकरण स्वभावतः रसरूप हैं, आनन्दरूप हैं, अतः नैसर्गिक रूप से रसयोग्य हैं।

भक्तिरस के आचार्य काव्यरस को अनित्य तथा कृत्रिम मानते हैं—अनित्य इसलिए कि उसकी स्थिति मात्र संवेदनकाल तक रहती है, कृत्रिम इसलिए कि उसकी निष्पत्ति कतिपय कृत्रिम व्यापारों के कारण होती है। जो रति, लोक में नितान्त वैयक्तिक एवं लौकिक होती है उसे कवि सार्वजनिक किस प्रकार बना देता है? भाव में यह सर्वसंवेद्यता 'साधारणीकरण' या 'विभावन' नामक प्रक्रिया से आती है, जो कवि की लोकोत्तर-प्रतिभा का चमत्कार है। अनुकार्य (नायक-नायिका) में रस का अलौकिक आस्वाद नहीं होता, उसमें सारे उपकरण लौकिक होते हैं, अतः वह काव्यरस के समकक्ष भी नहीं ठहरता। एक मात्र भगवद्रस ही अकृत्रिम, नित्य तथा अलौकिक है, क्योंकि वह अपने विभावन के लिए कवि-प्रतिभा पर आश्रित नहीं है, न ही उसके अनुकार्य लौकिक हैं।

काव्य-रस को अलौकिक सिद्ध करने की चेष्टा कदाचित् पण्डितराज जगन्नाथ से प्रारम्भ हुई। श्री ललिताचरण जी गोस्वामी का मत है कि पण्डितराज जगन्नाथ से पूर्व आलङ्कारिकों ने रस को 'रसो वै सः' श्रुति से प्रमाणित करने की चेष्टा नहीं की है। उनकी दृष्टि में इन दोनों रसों का भेद स्पष्ट था और उन्होंने काव्य-रस के लिए केवल सहृदय को प्रमाण माना है। सर्वप्रथम पण्डितराज जगन्नाथ ने काव्यरस को उपर्युक्त श्रुति से प्रमाणित करना चाहा है। उनके पूर्व गौड़ीय गोस्वामी गण भगवत्-प्रेमरस की व्याख्या काव्यरस की परिपाटी से कर चुके थे और स्पष्ट है कि उनसे प्रभावित होकर पण्डितराज ने दोनों रसों को एक करने का प्रयास किया था। उनके बाद के काव्यरसज्ञों ने जहाँ-तहाँ उनका पदानुकरण किया है किन्तु इस सम्बन्ध में प्राचीनों का मत ही ठीक है।[१]

किन्तु समस्त काव्य-रस को कृत्रिम एवं कविप्रतिभाजन्य नहीं कहा जा सकता। मन्त्रद्रष्टा कवि-ऋषियों के काव्य ने भावों के अलौकिक स्रोत का सन्धान किया। वेद और उपनिषद् की वाणी सत्य-दृष्टि से दीप्त होते हुए भी सौन्दर्य का भार लिए हुए है, उदात्त होते हुए भी रसमय है। इन तपःपूत वाणी को कौन नहीं काव्य कहेगा? ऐसा अलौकिक काव्यरस केवल कवि-मनीषी ही दे सकता है, मात्र कल्पना-सम्पन्न कवि नहीं, इसलिए भक्तशास्त्रज्ञों ने सामान्यतः काव्यरस को कृत्रिम एवं अनित्य कहा है।

---

१—श्रीहितहरिवंश गोस्वामी—सम्प्रदाय और साहित्य, लेखक ललिताचरण गोस्वामी, पृ० १००

बहुधा यह विवाद उठाया जाता है कि कृष्णकाव्य में रस जिस रूप में वर्णित है वह देखने में सभी प्रकार से लौकिक लगता है, उसमें लोकसुलभ सारी वृत्तियों का निरूपण हुआ है। भक्तकवि यह कहते हैं कि ऐसा कहना केवल बाह्य-दृष्टि की सीमा है। यद्यपि भगवद्-रति का वर्णन लौकिक ढङ्ग से किया गया है तथापि है वह अपने में अलौकिक ही। लौकिक ढङ्ग से इसलिए उसका निरूपण किया गया है जिससे वह मानव-मन की पकड़ में कुछ-कुछ आ जाय। जिन अभिव्यक्तियों से मानव-मन सर्वथा अपरिचित है, उन्हें वह कैसे ग्रहण कर सकता है ? परमकारुणिक श्रीकृष्ण ने अपने दिव्यव्यक्तित्व को सर्वसुलभ बनाने के लिए ऐसी लीला सम्पादित किया जो बाह्यत: मानवीय होते हुए भी प्रभाव में अतिमानवीय एवं अलौकिक ही थी।[1] यही अवतार का उद्देश्य है। अग्नि से जाने-अनजाने छू जाने पर प्रत्येक वस्तु दग्ध होकर निखर उठती है। वैसे ही कृष्ण के अलौकिक व्यक्तित्व से सम्बन्ध जुटने पर भावनाएँ एवं वस्तुएँ मानवीय नहीं रह जातीं, उनके रूपान्तरकारी संस्पर्श से बाह्यत: मानवीय दिखने पर भी वे सारभूत रूप में अलौकिक हुई रहती हैं।

### भक्तिरस की स्थापना

मध्ययुग के पूर्व भक्ति की स्वतन्त्र रूप में साङ्गोपाङ्ग प्रतिष्ठा नहीं हुई थी। वैदिकयुग से लेकर बौद्धकाल तक भक्ति, ज्ञान की सहगामिनी और सम्पोषिका बन कर रही। उपनिषत्काल तक ज्ञान, कर्म और भक्ति की समान प्रतिष्ठा थी, किन्तु बाद के युग में ज्ञान एवं कर्म का ऐसा उत्कर्ष हुआ कि भक्ति की एक क्षीण अन्तर्धारा मात्र प्रवाहित होती रही। अत: उसमें भक्ति का रूप न मिलकर उसके मोटे-मोटे प्रारम्भिक तथ्यों की ही विहङ्गम दृष्टि मिलती है, जैसे श्रद्धा, निष्ठा, समर्पण आदि। ये तत्त्व हृदय से सम्बन्ध रखते हुए भी विशुद्ध रागतत्व से सम्बन्धित नहीं हैं, इसलिए भगवद्रति को काव्यशास्त्रियों ने मात्र भाव कह कर छोड़ दिया। 'रस' स्थापना में रागात्मिका वृत्ति का पूर्ण परिपाक वाञ्छित ही नहीं, अनिवार्य है, जो उस समय तक की ज्ञान-प्रधान भक्ति में पूर्ण प्रस्फुटित नहीं हो सका था। मध्ययुग में आकर जन-मानस, कर्म तथा ज्ञान को शुष्क और नीरस साधन-मार्ग समझने लगा, उसे किसी ऐसे सरस मार्ग की खोज थी, जो व्यक्तिगत सीमाओं को

---

१—अवधिभूत गुन-रूप-नाद तरजन जहँ होई। सब रस कौ निरतास, रास-रस कहियै सोई ॥
नतु बिपरीत धरम यह, अति सुन्दर दरसन करि। कौन धरम-रखवारो अनुसरै जीउ-सदृस हरि ॥
बहे जात संसार-धार, जिय फन्दे-फन्दन। परम तरुन करुना करि प्रकटे श्रीनन्द-नन्दन ॥
सघन सच्चिदानन्द नन्द-नन्दन ईस्वर जस। तैसेई तिनके भगत, जगत में भये भरे रस ॥
—सिद्धान्त पञ्चाध्यायी, नन्ददास, द्वितीय भाग, पृ० १८४

तोड़कर भी मन की रागात्मकता को आकर्षित कर सके, राग की समस्त प्रेरणा को अपने में समाहित कर सके। इस युग में भक्ति को ज्ञान के अङ्कुश से मुक्त करने की तीव्रतम आस्पृहा देखी जाती है। बौद्धयुग तक ज्ञान को सर्वोत्तम लक्ष्य माना जाता था; किन्तु मध्ययुग में भावप्रवण भक्ति को ही चरमपुरुषार्थ सिद्ध किया गया। नारद एवं शाण्डिल्य के भक्तिसूत्रों तथा भागवत के आधार पर भक्ति की ऐकान्तिक प्रतिष्ठा सम्भव हो सकी। उसे अपने आप में पूर्ण, ज्ञान से भी अधिक श्रेयस्कर समझा गया क्योंकि ज्ञान जिस संवित् को प्राप्त कर कृतकार्य हो जाता है भक्ति उस संवित् को अपने आह्लाद में ठीक उसी प्रकार सँजोये रहती है जैसे सीप में मोती। भक्ति का प्रमुख स्वरूप ह्लादक ठहराया गया और 'आनन्द' किंवा 'आह्लाद' का ही दूसरा नाम रस है। अब भक्ति की परिभाषा परम प्रेमस्वरूपा, ईश्वर से परानुरक्ति तथा अमृतस्वरूपा के रूप में दी जाने लगी। प्रभु के माहात्म्य एवं ऐश्वर्यबोध का स्थान —जिससे अभिभूत एवं विस्मित होकर श्रद्धानत तथा प्रणत होने की भावना मात्र हो सकती है—अनुरक्ति एवं माधुर्यबोध ने ले लिया। भगवान् के माधुर्यमण्डित रूप ने हृदय की रागात्मकता का आवाहन किया। यह रागात्मकता ऐसी उमड़ी कि उसमें श्रद्धा, विस्मय, नमन आदि भाव वह चले, परात्पर सौन्दर्य के अकूल-सागर में डूब कर सारे भाव रञ्जित हो उठे। भक्ति में केवल एक ही स्वर की धुन गूँज रही थी—रागतत्व, अन्य सारे मनोभाव इसी की झङ्कार बन कर बजने लगे। जब चित्त की सभी वृत्तियाँ असीम सौन्दर्य के अमृतरस में मग्न होकर आत्मविस्मृत होने लगीं तब भगवत्भक्ति की रसरूपता के विषय में सन्देह ही कहाँ रह सका ? भगवत्भक्ति अब भावमात्र नहीं रही, उसमें रस के सारे उपकरण उत्कीर्ण थे। निर्गुण-निराकार ब्रह्म के अवतार रूप में साकार होते ही भगवद्रस का आलम्बन विभाव स्पष्ट हो उठा, उनके मिलन के आह्लाद और विरह की टीस को उद्दीप्त करने वाले तत्वों में उद्दीपन विभाव की क्षमता देखी गई, केवल अतिमन या अन्तर्मन में ही निवास न करके व्यक्त सत्ता के सारे अङ्ग-उपाङ्गों में भक्ति के अभिव्यक्त होने से अनुभावों को पहचानना सहज हो गया और भक्ति-भाव के लिए जब यह स्वीकार कर लिया गया कि व्यक्ति किसी भी भाव से भगवान् को भज सकता है, तब, मानव-मन में संचरण करने वाले छोटे एवं क्षणभङ्गुर भाव भी आलम्बन से रति जोड़कर सञ्चारीभाव बने। इस प्रकार विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी सभी का संयोग जब उपस्थित था तब भक्तिभाव से रस की निष्पत्ति क्यों न होती। जो भक्ति अगम-अगोचर बनकर अतिचेतन का रहस्य बनी हुई थी, वह प्रकट होकर चेतना की समस्त गतिविधियों को प्रेरित एवं परिचालित करने लगी। व्यक्ति की सारी चेतना श्रीकृष्ण के आकर्षण से बिंध कर

गोपी-सी ऐसी निमग्न हुई कि उसे सिवा रसदशा के और कोई संज्ञा ही नहीं दी जा सकती। किसी गहनतर रागात्मकता में आत्मविलयन ही रस है और यह अवस्था मध्ययुग की भक्ति में उत्कट रूप में उपस्थित हो चुकी थी। चैतन्यदेव, मीराबाई आदि रागाप्लावित भक्तों से अलौकिक रस की विभिन्न अन्तर्दशाएँ ऐसी विकीर्ण होने लगीं कि भक्ति की रसरूपता को अब इनकार करना सम्भव नहीं हो सका। भक्ति की रसरूपता को साक्षात् देखकर उसे केवल दार्शनिक सत्य ही नहीं, मनोवैज्ञानिक सत्य भी माना जाने लगा।

आलङ्कारिकों ने भगवद्रति की रसयोग्यता को अस्वीकार कर दिया था। किन्तु मध्ययुगीन कृष्ण-भक्ति के आचार्यों ने, विशेषकर चैतन्य सम्प्रदाय के विद्वान् गोस्वामियों ने भगवद्रति की रस दशा मनोनीत करवायी। उनका कथन है कि भगवद्रस, साधारणतया जिन्हें 'सहृदय' किंवा 'रसिक' कहा जाता है उन्हें संवेद्य न हो सकने के कारण, रस होने से वञ्चित नहीं किया जा सकता। केवलमात्र 'सहृदयता' रस निर्णय की कोई कसौटी नहीं है। जो रस अप्राकृतिक है, दिव्य है, वह साधारण जन की परिचित 'रसिकता' की पकड़ में कैसे आ सकता है? यह रस, चेतना की गहराइयों के कुण्ड में, या ऊर्ध्वमन के यमुना-प्रवाह में निवास करता है, जो रसिक इनमें प्रवेश करता है वही इसका आस्वादन कर सकता है 'सहृदय' कहलाने वाले सभी 'सामाजिक' नहीं। यह रस साधारण रसिक को संवेद्य नहीं हो सकता, उसके सामने मात्र ध्वनित हो सकता है, पूर्ण प्रस्फुटित नहीं। इसलिए आस्वादक की अपरिपक्वता के कारण भक्ति को 'भावध्वनि' या 'रसध्वनि' नहीं कहा जा सकता, ऐसा कहना हास्यास्पद है। भक्तों ने भगवद्रति को भावध्वनि या रसध्वनि की संकीर्ण गली से निकाल कर रस के प्रशस्त राजमार्ग पर प्रस्थापित किया, उसकी स्वतन्त्र रसरूपता घोषित की।

यद्यपि भक्ति के लिए यह आवश्यक नहीं था कि उसकी रस दशा उन्हीं अवयवों से निष्पन्न हो जिनसे काव्यरस की निष्पत्ति होती है, क्योंकि वह स्वयं में पूर्ण एक ऐसी अनुभूति है जो अमृतस्वरूपा है, अतः स्वयंसिद्ध रस है, किन्तु काव्य में भगवद्रति को भाव, भावध्वनि या रसध्वनि मात्र का जो तुच्छ स्थान दिया गया था, उससे क्षुब्ध होकर भक्ति के आचार्यों ने भक्ति की रसरूपता भरत के सूत्रवाक्य के आधार पर ही उपस्थापित कर पण्डितवर्ग में उसको मान्यता दिलवाई।

भगवत्प्रीति की रसयोग्यता रसशास्त्र के अनुसार जीवगोस्वामी ने अपने ग्रन्थ 'प्रीतिसन्दर्भ' में प्रस्थापित की है। रसशास्त्र के अनुसार स्थायीभाव, विभावादि के संयोग से रसरूप में परिणत होता है। अतएव भगवत्प्रीति को भी इन्हीं कसौटियों पर कसा गया है।

## स्थायीभावत्व

सबसे प्रथम भगवत्प्रीति का स्थायीभावत्व प्रतिपादित किया गया है। स्थायीभाव में स्थायित्व व भावत्व का रहना आवश्यक है। प्रीतिमात्र भाव है, भगवत्प्रीति भी भाव-विशेष है, इसलिए उसमें भावत्व है तथा स्थायीभाव के सारे लक्षण भगवत्प्रीति में हैं। विरुद्ध एवं अविरुद्ध भावसमूह द्वारा जो विचलित नहीं होता, प्रत्युत् अन्य विरुद्ध एवं अविरुद्ध भावों को आत्मभाव प्राप्त कराता है उसे स्थायीभाव कहते हैं। रसशास्त्रोक्त यह स्थायीभाव-लक्षण भगवत्प्रीति में वर्तमान है। उदाहरण के लिए यशोदा के वात्सल्य-भाव को कृष्ण की अनुकूल चेष्टाएँ जैसे गोदोहन, क्रीड़ादि तथा प्रतिकूल चेष्टाएँ जैसे माखनचोरी इत्यादि वात्सल्यविरोधी लीलाएं, सभी पुष्ट करती हैं। प्रतिकूल भावों से यशोदा के वात्सल्य की किञ्चित् भी हानि नहीं हो पाती। अस्तु, भगवत्प्रीति का स्थायित्व निश्चित हुआ। कारणादि की स्फूर्ति द्वारा स्फूर्तिप्राप्त भगवत्प्रीति भगवत्-प्रीतिरस कही जाती है। यह भक्तिमय रस है इसलिए इसे भक्तिरस कहते हैं। जीवगोस्वामी के शब्दों में—

"तत्र तस्या भावत्वं प्रीतिरूपत्वादेव। स्थायित्वञ्च विरुद्धैरविरुद्धैर्वा-भावैर्विच्छिद्यते न यः। आत्मभावं नयत्यन्यान् स स्थायी लवणाकर इति रस-शास्त्रीय लक्षणव्याप्तेः। अन्येषां विभावत्वादिकञ्च तद्विभावनादिगुणेन दर्शयिष्यमाणत्वात्। ततः कारणादिस्फूर्तिविशेषव्यक्तस्फूर्तिविशेषो तन्मिलिता भगवत्प्रीतिस्तदीयप्रीतिरसमय उच्यते। भक्तिमयो रसे भक्तिरसं इति च।"[१]

## योग्यता-त्रय

रसत्व-प्राप्ति की सामग्री तीन प्रकार की होती है—स्वरूपयोग्यता, परिकर-योग्यता, पुरुष-योग्यता। स्थायीभावत्व तथा सुखतादात्म्य हेतु रति इत्यादि की स्वरूपयोग्यता प्रतिपन्न होती है। भगवत्प्रीति में स्थायीभावत्व तो प्रमाणित किया जा चुका है। अशेष सुखतरङ्ग के सागरस्वरूप ब्रह्मसुख से भी उसकी अधिकता कथित हुई है। श्रीकृष्ण का रस परम तथा असमोद्‌र्ध्व है अर्थात् उससे ऊर्ध्व और कोई रस नहीं है।[२] यही सुख की परावधि है, अतः भगवत्प्रीति की सुखरूपिता प्रतिपादित हुई।

इसके अतिरिक्त इसमें परिकरयोग्यता भी प्रचुर है। भगवत्प्रीति में कारण आदि परिकर स्वभावतः अलौकिक होते हैं। प्रह्लाद आदि की प्रबलप्रीतिवासना भगवत्प्रीति की पुरुषयोग्यता का परिचायक है।

---

१—प्रीति सन्दर्भ, वृत्ति ११०

२—वही—'परमत्वं चासमोर्द्धत्वम्', वृत्ति ९७

इस प्रकार भगवत्प्रीति की रसरूपता निर्धारित होती है। यह रस अलौकिक है। भगवत्प्रीति-रस में भगवान् के अंश होने के कारण सारे उपकरण अलौकिक हैं, अतः रस भी अलौकिक है। आलम्बन श्रीकृष्ण की अलौकिकता उनके असमोर्द्ध्वातिशयी भगवत्ता द्वारा सिद्ध है। उनके परिकरगण उन्हीं की तुल्यता प्राप्त कर उनके आस्वादन के योग्य बनते हैं। उद्दीपन विभाव उनसे सम्पर्क हेतु अलौकिक हैं।[१]

जीवगोस्वामी ने इस प्रकार सूक्ष्म विश्लेषण एवं विवेचन के साथ भक्तिरस की प्रस्थापना की है। रूपगोस्वामी ने भक्तिरस का इतना तर्कपूर्ण विवेचन तो नहीं किया किन्तु भगवत्प्रीति की रसरूपता का निरूपण उन्होंने भी किया है। जिस परिपाटी से काव्यशास्त्र में रस-निरूपण हुआ करता है, उसी परिपाटी से रूपगोस्वामी ने भक्तिरस की सुनिपुण प्रतिष्ठा की है। भक्तिरसामृतसिन्धु में कृष्णरति को विभावादि के संयोग से रस रूप में परिणत होता दर्शाया गया है। इस ग्रन्थ मे स्थायीभाव, विभाव, अनुभाव, सात्विक आदि रस के सभी अङ्गों का भक्तिरस के सन्दर्भ में सम्यक् निरूपण हुआ है।

### कृष्ण-भक्तिरस

रूपगोस्वामी के मत से विभाव, अनुभाव, सात्विक तथा व्यभिचारी भाव द्वारा श्रवणादि से भक्तजन के हृदय में आस्वादनीय होने पर कृष्णरति नामक स्थायीभाव भक्तिरस कहलाता है।[२] रूपगोस्वामी ने स्पष्ट कहा है कि यह कृष्णरति केवलमात्र भक्तों को आस्वादनीय होती है, इतर जनों को नहीं। भक्तिरस सबको प्रेषणीय नहीं हो सकता क्योंकि सब में उसे अनुभव करने की योग्यता नहीं होती। जिनमें जन्मान्तरीय अथवा इहजन्म सम्बन्धी भगवद्भक्ति की सद्वासना विद्यमान है, उन्हीं के चित्त में भक्तिरस का आस्वादन होता है, सभी 'सहृदय' जन के चित्त में नहीं।

रसनिष्पत्ति की पूर्ण प्रक्रिया से कृष्णादि विभाव द्वारा कृष्णरति परमानन्द की पराकाष्ठा को पहुँचती है, किन्तु अल्प विभावादि से भी यह सद्यः आस्वादनीय होती है, जैसे स्वप्न में श्रीकृष्ण का दर्शन कर मीराबाई का मधुर (शृङ्गार) रसापन्न होना। रूपगोस्वामी ने कृष्णभक्तिरस के उपकरणों का साङ्गोपाङ्ग विवेचन किया है।

---

१—प्रीति सन्दर्भ, वृत्ति १११

२—विभावैरनुभावैश्च सात्विकैर्व्यभिचारिभिः।
स्वाद्यत्वं हृदि भक्तानामानीता श्रवणादिभिः॥
एषा कृष्णरतिः स्थायीभावो भक्तिरसो भवेत्॥
—भ० र० सि०, दक्षिण विभाग, प्रथमलहरी, श्लोक २

स्थायीभाव

अविरुद्ध-विरुद्ध भावों को वशीभूत करके जो भाव महाराज की भाँति विराजमान रहता है, उसे स्थायीभाव कहते हैं।[1]

कृष्णभक्तिरस में एक ही स्थायीभाव है जो कई प्रकार से भासमान् होता है, वह है कृष्णरति। यह कृष्णविषयक रति मुख्य एवं गौण भेद से दो प्रकार की होती है।

शुद्धसत्वविशेषरूपा जो रति होती है उसे मुख्य रति कहते हैं। यह स्वार्था-परार्था भेद से दो प्रकार की होती है।[2] स्वार्थामुख्यरति वह है जो अविरुद्ध भावों द्वारा स्पष्ट रूप से अपना पोषण करती है तथा जिसमें विरुद्ध भावों द्वारा ग्लानि उत्पन्न होती है। परार्थामुख्यरति वह है जो स्वयं सङ्कुचित होकर विरुद्ध-अविरुद्ध भावों को ग्रहण करती है।

मुख्यरति स्वार्थ एवं परार्थ रूप में शुद्धा, प्रीति, सख्य, वात्सल्य, प्रियता भेद से पाँच प्रकार की होती है तथा गौणीरति हास्य, अद्‌भुत, वीभत्स, भयानक, रौद्र, वीर, करुण, शान्त भेद से आठ प्रकार की होती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि काव्य-परम्परा के मान्य भाव कृष्णरति के हेतु अपना मुख्य आसन छोड़ देते हैं एवं जिन्हें भोजादि ने केवल भाव या रस ध्वनि कह कर छोड़ दिया था, वे कृष्णरति में मुख्य आसन ग्रहण करते हैं। भक्ति के लिए कृष्णरति ही प्रधान् है एवं उससे साक्षात् सम्बन्धित भाव ही रसोत्पन्न करने में सफल होते हैं, अन्य भाव इन भावों का पोषणमात्र करते हैं। अधिक से अधिक वे मुख्य भाव के सहायक बन सकते हैं, स्वतन्त्र नहीं। लोकमानस के संस्कार में अर्जित आदि भावों का संक्रमण कर भक्त जिस सच्चिदानन्द की भावभूमि में निवास करने लगता है उसमें एकमात्र कृष्णप्रेम की ही सत्ता है, चराचर तथा उसके भाव कृष्ण के अनुचर बन कर कृतकार्य होते हैं। कृष्णभक्तों के निकट भाव की सत्ता एकमात्र कृष्णपरक है, कृष्ण के लिए सौहार्द्रमय-स्नेह ही चिरन्तन भाव है, लोकमानस का शासन करने वाले भाव उस आधारभाव को अनुरञ्जित कर सकते हैं इससे अधिक और कुछ नहीं। वृन्दावन में एक ही सर्वोपरि भाव है—कृष्णरति, जो पाँच प्रकार से प्रकट हुई रहती

---

१—अविरुद्धान् विरुद्धांश्च भावान् यो वशतां नयन्।
सुराजेव विराजेत स स्थायीभाव उच्यते ॥१॥
—दक्षिण विभाग, पञ्चमलहरी, भ० र० सि०

२—शुद्धासत्वविशेषात्मा रतिर्मुख्येति कीर्तिता।
मुख्याऽपि द्विविधा स्वार्था परार्था चेति कीर्त्यते ॥३॥—वही

है। मथुरा एवं द्वारिका में इन्हीं पाँचों प्रकार के भावों का क्षीणतर तथा क्षीणतम प्रकाशन हुआ रहता है।

मुख्यारति के पाँच प्रकार ये हैं—शुद्धारति, प्रीतिरति, सख्यरति, वात्सल्यरति व प्रियतारति किंवा मधुरारति।

शुद्धारति—सामान्या, स्वच्छा व शान्ति भेद से शुद्धारति तीन प्रकार की होती है।

साधारण जन में एवं बालकादि में श्रीकृष्ण विषयक स्वच्छा या शान्तिरूप अर्थात् कोई विशेषण न प्राप्त करके जो रति उत्पन्न होती है, उसे सामान्या रति कहते हैं।

स्वच्छारति वह है जो नाना प्रकार के भक्तों के सङ्ग से, साधनों की विविधता से विविध-भावक साधकों को जन्म देती है। साधक की भाव-विविधता का कारण यह है कि जब जिस प्रकार की रति में भक्त की आसक्ति होती है तब उसी प्रकार का भाव स्फटिकमणि की भाँति उसमें स्वच्छरूप से प्रतिबिम्बित होता है, इसलिए इसे स्वच्छारति कहते हैं। भाव कभी प्रभु रूप में, कभी बन्धु रूप में और कभी तनय रूप में प्रकाशित होता है।

मन की निर्विकल्पता, संशयरहितता को शान्ति कहते हैं। विषय का परित्याग करने पर मन में उत्पन्न आनन्द का नाम शम है। प्रायः शम-प्रधान व्यक्तियों में परमात्म ज्ञान से श्रीकृष्ण के प्रति ममतागन्धशून्य शान्तरति उत्पन्न हुई रहती है। प्रीति आदि के आश्रित स्वाद से विहीन होने के कारण इसे शुद्धा कहते हैं।

प्रीति इत्यादि तीन भावों द्वारा रति के हृदयङ्गम करने के तीन प्रकार हैं और ये तीनों गाढ़ अनुकूलता से उत्पन्न होते हैं तथा सदैव स्नेह के आश्रित रहते हैं। कृष्ण-भक्त के अनुग्रह-पात्र, सखा एवं गुरुजन होने के क्रम से भगवद्रति प्रीति, सख्य एवं वत्सल रति हुआ करती है। यह रतित्रयी केवला एवं सङ्कुलाभेद से दो प्रकार की होती है।

अन्य रति के गन्ध से शून्य होने को केवलारति कहते हैं। यह व्रजानुग रसाल आदि भृत्यवर्ग, श्रीदाम इत्यादि सखावर्ग तथा नन्द आदि गुरुजन में स्फूर्ति पाती है। दो या तीन भावों के एक साथ मिलने पर रति को स लारति कहते हैं। यह उद्धव-भीम आदि में प्रकाशित हुई रहती है। किन्तु जिसमें जिस भाव का प्राधान्य रहता है, वह उसी भाव से भावित कहा जाता है जैसे उद्धव में सख्य भाव रहने पर भी दास्य की प्रधानता के कारण उन्हें अनुग्राह्य ही कहा जाता है।

प्रीति-रति—जो व्यक्ति कृष्ण से न्यून है उसे उनका अनुग्रह-पात्र कहा जाता

है। ऐसे व्यक्ति की रति, श्रीकृष्ण के प्रति आराध्य बुद्धि से युक्त ज्ञानस्वरूपा होती है एवं आराध्य में आसक्ति उत्पन्न करती है, इसलिए अन्यत्र प्रीति विनष्ट कर देती है। अतः इस रति को प्रीति-रति कहते हैं। इसकी परिभाषा इस प्रकार दी गयी है—

स्वस्माद्भवन्ति ये न्यूनास्तेऽनुग्राह्या हरेर्मताः।
आराध्यत्वात्मिका तेषां रतिः प्रीतिरितीरता।
तत्रासक्तिकृदन्यत्र प्रीतिसंहारिणी ह्यसौ।[१]

सख्य रति—जो श्रीकृष्ण के तुल्य हैं वे उनके सखा हैं। सखाओं की रति विश्वासरूपा होती है, इसलिए इस रति को सख्य रति कहा गया है। यह परिहास एवं प्रहासकारिणी है, इसलिए इसे अयन्त्रणा रति भी कहते हैं।[२]

वात्सल्यरति—हरि के प्रति गुरुत्वाभिमानमय जिन्हें रति है, उन्हें पूज्य कहते हैं एवं उनकी अनुकम्पामयी भक्ति का नाम वात्सल्य है। लालन, मंगलक्रिया आदि इसके मुख्य अनुभाव हैं।[३]

प्रियतारति—हरि एवं मृगाक्षी रमणी के परस्पर संभोग का नाम प्रियता है। इस प्रियता का एक और नाम है—मधुरा।[४]

इसके अतिरिक्त प्रीतिसन्दर्भ में दो और भावों का कथन है—आश्रय एवं प्रश्रय। इनमें से आश्रयभक्ति को प्रीतिरति के अन्तर्गत लिया जा सकता है, क्योंकि उसमें श्रीकृष्ण के विभुत्व रूप से पालक होने का भाव होता है। प्रश्रय भक्तिरस श्रीकृष्ण की वत्सलता पर आधारित वात्सल्यभाव है। प्रश्रय भक्ति रस का कृष्णकाव्य में वर्णन प्रायः नहीं के बराबर है। इस प्रकार मुख्य भाव पांच ही ठहरते हैं। रस के अगले प्रकरण में इनका साङ्गोपाङ्ग विवेचन होगा।

## विभाव

रति के आस्वादन के हेतु को विभाव कहते हैं। यह दो प्रकार का होता

---

१—भक्तिरसामृतसिन्धु, दक्षिण विभाग, पञ्चम लहरी, श्लोक १५

२—ये स्युस्तुल्या मुकुन्दस्य ते सखायः सतां मताः।
साम्याद्विश्रम्भरूपैषां रतिः सख्यमिहोच्यते।
परिहासप्रहासादिकारिणीयमयन्त्रणा ॥१६॥—वही

३—गुरवो ये हरेरस्य ते पूज्या इति विश्रुताः।
अनुग्रहमयी तेषां रतिर्वात्सल्यमुच्यते।
इदं लालनभव्याशीश्चिबुकस्पर्शनादिकृत् ॥१६॥—वही

४—मिथोर्हरेर्मृगाक्ष्याश्च सम्भोगस्यादिकारणम्।
मधुरापरपर्याया प्रियताख्योदिता रतिः ॥२०॥—वही

है—आलम्बन तथा उद्दीपन। सगुण भक्ति में रस का आस्वादन भगवान् तथा भक्त की पृथक् सत्ता के ऊपर अवलम्बित होता है। यदि ये दोनों अद्वैत की भाँति परस्पर लीन रहें तब रसानुभूति का मर्म विकसित नहीं हो पाता, इसलिए लीलारस के लिए ये अंशी-अंश, आस्वादक-आस्वाद्य, भगवान्-भक्त, आलम्बन (विषय आश्रय) विभाव बनते हैं।

आलम्बन—कृष्णभक्तिरस के आलम्बन-विभाव अमूर्त नहीं हैं, मर्मी सन्तों की भाँति किसी अनिर्देश्य दिशा से कोई अरूप आत्मारूपिणी प्रेमिका का आवाहन नहीं करता, किसी निर्गुण 'सत्ता' का आकर्षण सगुणभक्तिरस को उत्प्रेरित नहीं करता, वरन् सच्चिदानन्द का विग्रहधारी व्यक्तित्व, श्रीकृष्ण के मूर्त्त रूप में मानव-भक्त के आह्लाद को जागृत करता है। अस्तु, रति के विषय एवं आधार रूप में कृष्ण इस भक्तिरस के आलम्बन-विभाव हैं। श्रीकृष्ण इस रति के विषय रूप आलम्बन हैं, तथा उनके भक्तगण आश्रय रूप आलम्बन।

नायकों के शिरोरत्न, स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण, जिनमें नित्य महद् गुण विराजमान् हैं, इस रति के 'स्वरूप' एवं 'अन्यरूप' इन दो प्रकारों से आलम्बन बनते हैं।[१] अन्य रूप से तात्पर्य है श्रीकृष्ण का अपने निजस्वरूप से भिन्न कोई दूसरा रूप धारण करना, जैसे ब्रह्मा-विमोहन में गोपबालकों का। स्वरूप दो प्रकार का होता है—आवृत अथवा प्रकट। अन्य वेश द्वारा आच्छादित स्वरूप को आवृत कहते हैं जैसे श्रीकृष्ण का गोपी बनकर राधा के पास जाना और प्रकट स्वरूप है उनका तरुण-तमाल-श्यामल कलेवर।

आलम्बन की श्रेष्ठता उसके गुणों के कारण मानी जाती है। श्रीकृष्ण यों तो अनन्तगुणशाली हैं किन्तु उनमें पचास मुख्य गुण हैं जिनका अवगाहन करना उतना ही दुःसाध्य है जितना सागर का। श्रीकृष्ण सुरम्याङ्ग, सर्वसंल्लक्षणसमन्वित, रुचिर, तेजस्वी, बलीयान्, वयमसन्वित, विविध अद्भुत भापज्ञ, सत्यवाक्, प्रियम्वद्, वावदूक, सुपण्डित, बुद्धिमान्, प्रतिभान्वित, विदग्ध, चतुर, दक्ष, कृतज्ञ, सुदृढ़व्रत, देशकालसुपात्रज्ञ, शास्त्रचक्षुः, शुचि, वशी, स्थिर, दान्त, क्षमाशील, गम्भीर, धृतिमान्, सम, वदान्य, धार्मिक, शूर, करुण, मान्यमानकृत, दक्षिण, विनयी, ह्रीमान्, शरणागत-पालक, सुखी, भक्त-सुहृत्, प्रेमवश्य, सर्वशुभङ्कर, प्रतापी,

---

१—नायकानां शिरोरत्नं कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।
यत्र नित्यतया सर्व्वे विराजन्ते महागुणाः॥
सोऽन्यरूपस्वरूपाभ्यामस्मिन्नालम्बनो मतः॥
—भ० र० सि०, द० वि०, प्रथमलहरी, श्लोक २

कीर्तिमान्, रक्तलोक, साधुसमाश्रय, नारीगणमनोहारी, सर्वाराध्य, समृद्धिमान्, वरीयान तथा ईश्वर हैं। इनमें से कुछ गुणों की व्याख्या यहाँ पर प्रस्तुत की जा रही है—

सुरम्याङ्ग—श्लाघ्याङ्गसन्निवेश को सुरम्याङ्ग कहते हैं।

रुचिर—सौन्दर्य द्वारा नेत्रों की जो आनन्दकारिता है, उसे रुचिर कहते हैं।

प्रियम्वद—अपराधीजन के प्रति भी जो सान्त्वना के वाक्य प्रयुक्त करते हैं उन्हें प्रियम्वद कहा जाता है जैसे, इन्द्र के प्रति श्रीकृष्ण के वचन।

वावदूक—श्रवणप्रिय तथा अर्थपरिपाटीयुक्त वक्ता को वावदूक कहते हैं।

विदग्ध—शिल्पविलास आदि में युक्तचित्त का नाम विदग्ध है। श्रीकृष्ण गीत रचना, ताण्डव रचना, प्रहेलीरचना, वेणुवादन, मालाग्रन्थन, चित्रकला, इन्द्रजाल निर्माण तथा उन्मत्त जनों को द्यूतक्रीड़ा में पराजित करने में निपुण हैं।

दक्ष—दुःसाध्यकार्य को शीघ्र सम्पादित करने वाले को दक्ष कहते हैं।

वशी—इन्द्रिय जयकारी को वशी कहते हैं।

दान्त—उपयुक्त क्लेश के दुःसह होने पर भी सहन करने वाले को दान्त कहा जाता है।

स्थिर—फलोदय पर्यन्त कर्म करने को स्थिर कहते हैं।

धृतिमान्—जो व्यक्ति पूर्णस्पृह है अर्थात् निराकांक्ष है एवं क्षोभ के कारणों के बावजूद भी शान्त है, उसे धृतिमान् कहते हैं।

वदान्य—दानवीर को वदान्य कहा जाता है।

भक्तसुहृद्—भक्तों के सुहृद् दो प्रकार से होते हैं—सुसेव्य एवं दासबन्धु। सुसेव्य है एकदल तुलसी से ही विष्णु का प्रसन्न हो जाना। शस्त्र न ग्रहण करने की प्रतिज्ञा पर रथचक्र द्वारा पाण्डवों का पक्ष ग्रहण करना कृष्ण का दासबन्धुत्व है।

रक्तलोक—समस्त लोकों का अनुरागभाजन रक्तलोक कहलाता है।

समृद्धिमान्—महासम्पत्तिशाली को समृद्धिमान् कहते हैं।

वरीयान—सबके मध्य अतिशय मुख्य व्यक्ति वरीयान कहलाता है।

इन समस्त गुणों का जीव में होना सम्भव है किन्तु भगवान् के द्वारा अनुग्रहीत जीवों में भी यह बिन्दु रूप में ही होता है। पुरुषोत्तम में ये गुण सम्पूर्ण रूप से विराजमान हैं। इन पचास गुणों के अतिरिक्त श्रीकृष्ण में अन्य पाँच गुण हैं जो आंशिक रूप से सदाशिव एवं ब्रह्मादि में भी है। वे हैं—सदास्वरूपसम्प्राप्त, सर्वज्ञ, नित्य नूतन, सच्चिदानन्दसान्द्राङ्ग एवं सर्वसिद्धिनिषेवित। नारायण के अनुवर्ती

पाँच गुण भी श्रीकृष्ण में हैं—अविचिन्त्य महाशक्ति, कोटिब्रह्माण्ड-विग्रह अवतारावली बीज, हतारिगतिदायक, आत्मारामगणाकर्षी।[१]

इन सब गुणों के ऊपर विराजमान हैं उनका कृष्ण नाम सार्थक करने वाले गुण। लीला, प्रेम के वशीभूत प्रियाओं का मण्डल, वेणुमाधुर्य, तथा रूपमाधुर्य—कृष्ण में ये चार असाधारण गुण हैं जो सर्वोपरि विराजमान हैं।[२]

श्रीकृष्ण का यह लीलामय रूप ही भक्तों को सबसे अधिक प्रिय है। वेणु-माधुरी, रूपमाधुरी, प्रेमवैचित्र्य-मयी लीला कृष्णावतार का केन्द्रिय चित्र है तथा कृष्ण-भक्तिधारा में जिन रसों का प्रमुख विस्तार हुआ है, उनके उद्दीपन में ये चार गुण ही प्रमुख हैं।

यद्यपि श्रीकृष्ण अनन्त गुणशाली हैं किन्तु भक्तापेक्षिक उनके तीन गुण अधिक प्रमुख हैं, वे हैं—पूर्णतम, पूर्णतर तथा पूर्ण। यह वर्गीकरण नाट्यशास्त्र के ज्येष्ठ, मध्य, कनिष्ठ के आधार पर किया गया है। गोकुल में श्रीकृष्ण पूर्णतम हैं, मथुरा में पूर्णतर तथा द्वारिका में पूर्ण। गोकुल में उनमें सारे गुण व्यक्त रहते हैं, मथुरा में गोकुल से कम गुणों का प्रकाशन हो पाता है और द्वारिका में सबसे कम। वृन्दावन या गोकुल के कृष्ण एकमात्र रूप और रस के अवतार हैं, प्रेम के अधिनायक हैं; वहाँ उनके ऐश्वर्यपक्ष-संवलित नारायण गुण का पूर्ण तिरस्कार है। ऐश्वर्यभावना के तिरोहित हो जाने से सच्चिदानन्द में विशेष चमत्कार उद्भासित होता है क्योंकि तब बिना किसी अन्य प्रयोजन के उनके प्रति जो उद्गार होता है वह प्रेम की निराकांक्ष, अहेतुक एवं अकुण्ठ अभिव्यक्ति होती है। माधुर्य का हेतुरहित ऋजु आकर्षण हृदय को पूर्णतम रूप में आकर्षित करता है, इसलिए 'वृन्दावन में रस की परिपूर्ण अभिव्यक्ति होती है। मथुरा में कृष्ण का कर्मवीर रूप भी विकसित हुआ, इसलिए वहाँ उनके माधुर्य में ऐश्वर्य की मात्रा का मिश्रण हो जाता

---

१—अविचिन्त्य महाशक्तिः कोटिब्रह्माण्डविग्रहः।
अवतारावलीबीजं हतारिगतिदायकः।
आत्मारामगणाकर्षीत्यमी कृष्णे किलाद्भुताः ॥१६॥
—भक्तिरसामृत सिन्धु, दक्षिण विभाग, प्रथम लहरी

२—सर्व्वाद्भुतचमत्कारलीलाकल्लोलवारिधिः।
अतुल्यमधुरप्रेममण्डितप्रियमण्डलः ॥३३॥
त्रिजगन्मानसाकर्षी मुरलीकलकूजितैः।
असमानोर्ध्वरूपश्रीर्विस्मापितचराचरः ॥३४॥—वही

है। माधुर्य में ऐश्वर्य के गुरु पारा के मिश्रण से रस की तरलता कुछ बोझिल होने लगती है, वहाँ रस का आह्लाद कुछ भारवाही होकर उतना सूक्ष्म नहीं रह पाता जितना वृन्दावन में। अतः मथुरा में रस की पूर्णतम स्थिति, जो निरपेक्ष एवं अकारण होती है, न रह कर पूर्णतर स्थिति रह जाती है। और जब यही आनन्द कुरुक्षेत्र के भीषण संग्राम में सक्रिय होता है, जब विश्व की कौरव परिस्थितियों का घटाटोप उसकी मधुरता को आच्छादित कर लेता है, तब मधुरता गौण हो जाती है, सङ्घर्ष प्रमुख। वहाँ वेणुधारी किशोरवपु श्रीकृष्ण का नहीं, चक्र-सुदर्शनधारी श्रीकृष्ण की विराट्मूर्ति का ऐश्वर्य पूर्णरूप से उद्घाटित हो जाता है। इस प्रकार द्वारिका में श्रीकृष्ण के ललित आनन्द की नितान्त सापेक्ष्य गति हो जाती है, अतएव वहाँ उन्हें पूर्ण कहा जा सकता है पूर्णतम नहीं, पूर्णतर भी नहीं, पूर्ण इसलिए कि पूर्ण-ब्रह्म होने के नाते वे प्रत्येक अवस्था में पूर्ण हैं।

इस भक्तिरस में पूर्णतम, पूर्णतर, पूर्ण का निर्धारण विशुद्धरूप से प्रेम के भावावेग के आधार पर किया गया है। कर्मठ जीवन की नितान्त सरल अवस्था जहाँ है वहाँ वे पूर्णतम कहे गये। किन्तु आनन्द जब सत्ता के विरल कुञ्ज अन्तरालों में ही विचरण न करके जीवन के युद्धक्षेत्र में भी रथारूढ़ होता है तब तो उसकी अभिव्यक्ति की पूर्णतम स्थिति समझनी चाहिए। सच्चिदानन्द की सत्ता भावजगत् तक ही क्यों सीमित की जाय, कर्मजगत् में उतरने पर वह क्षीणतर क्यों अनुभूत हो? श्रीकृष्ण से युक्त होकर सत्ता सभी परिस्थितियों में उनका वही आनन्द क्यों न अनुभव करे? योग-बुद्धिपरिचालित निष्काम कर्म किस प्रकार निर्हेतुक आनन्द को बाधित कर सकता है? आनन्द की वही स्थिति पूर्णतम क्यों समझी जाय जिसमें अपरिवर्तित स्थूल जीवन की जड़ता से दृष्टि मूंद ली गयी हो? वस्तुतः आनन्द को सत्ता के समस्त अङ्गों—प्रेम, प्रज्ञा, कर्म—को अधिकृत करके प्रकट होना चाहिए। प्रेम में तो वह किन्हीं विरल क्षणों में प्रकट भी हो जाता है, कर्म एवं बुद्धि में न प्रकट होना ही जीवन की बड़ी भारी विडम्बना है।

जहाँ पर कृष्ण की शक्ति और प्रज्ञा उनके प्रेमाक्रान्त भक्तों को दृष्टिगत नहीं होती, वह वृन्दावन है। मथुरा में कृष्ण के सौन्दर्य के साथ शील और शक्ति का योग भी होता है और द्वारिका में उनके कर्म, भाव एवं विचार की दिव्यता पूर्णरूपेण अभिव्यक्त होती है। द्वारिका में श्रीकृष्ण के पुरुषोत्तम-व्यक्तित्व में कर्म, ज्ञान एवं भाव का सुचारु सामञ्जस्य होने से उनका व्यक्तित्व वहाँ पूर्णतम माना जा सकता है। गीता के प्रणेता, कुरुक्षेत्र के सारथी तथा राजमहिषियों के भर्ता श्रीकृष्ण के गम्भीर व्यक्तित्व से मध्ययुगीन कृष्णभक्ति अप्रभावित रही है। 'कानु' या 'कान्हा' के चिर-किशोर, चञ्चल, छैल-छबीले, निर्द्वन्द स्वरूप को वह आराधना

के योग्य पूर्णतम रूप मानती हैं। किन्तु यह पूर्णतमता आभ्यन्तरिक पूर्णता है, अन्तर्जगत् की एकाङ्गी निश्चिन्त सिद्धि है, सम्पूर्ण जीवन की सङ्कुल साधना की सिद्धि नहीं, व्यक्तित्व के सूक्ष्म वायवीय वायुमण्डल की सिद्धि है, स्थूलपार्थिवता की नहीं। जैसा कि पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है कि कृष्ण-भक्ति आनन्द की सिद्धावस्था को लेकर चली है, साधनावस्था को नहीं।[१] किन्तु आनन्द केवल सिद्धि में ही नहीं, साधना में भी अनुभूत होना चाहिए। साधना की प्रक्रिया को हटाकर एकदम सिद्धि पर नहीं पहुँचा जा सकता। सत्ता के सबसे नमनीय अंश में ही आनन्द अनुभव करना आनन्द की पूर्णता नहीं हो सकती, उस वज्र से भी कठोर अथच कुसुम से भी सुकुमार सच्चिदानन्द ब्रह्म को उसकी समग्रता में ग्रहण करने की दक्षता रसानुभूति की पूर्णतम स्थिति कही जायगी।

नायक की दृष्टि से श्रीकृष्ण चतुर्विध रूप में वर्णित हुए हैं—धीरोदात्त, धीरप्रशान्त, धीरललित एवं धीरोद्धत्त। सामान्यतः एक ही व्यक्ति में इन चारों प्रकार का नायकत्व होना सम्भव नहीं है किन्तु श्रीकृष्ण समस्त गुणों एवं क्रियाओं के आधार हैं, उनके लीलावश यह चतुर्विधता परस्पर-विरोधी नहीं हो पाती। श्रीकृष्ण को विरुद्ध धर्मों का आश्रय कहा गया है, उनमें मानव-व्यक्तित्व के सारे विरोध एक विचित्र सामञ्जस्य में स्थित रहते हैं। अतएव एक ओर वे धीरोदात्त हैं तो दूसरी ओर धीरोद्धत्त। धीरोदात्त के समस्त लक्षण उनमें हैं, वे विनयान्वित, क्षमागुणशाली, करुण, दृढ़व्रत, आत्मश्लाघाशून्य, गूढ़गर्व, वीर एवं सुन्दर देहधारी, हैं—उदाहरणस्वरूप इन्द्र के द्वारा वर्षा किये जाने पर उनका गोवर्द्धनधारी रूप। धीरललित कृष्ण मध्ययुगीन कृष्णभक्ति आन्दोलन के नायक हैं। उनमें रसिकता, नवयौवन, परिहास-पटुता, व निश्चिन्तता है, वे प्रेयसियों के वशीभूत रहते हैं, राधा के तो किङ्कर बने रहने में ही अपना सौभाग्य सराहते हैं। शान्तप्रकृति, क्लेश सहनकारी विवेकी तथा विनय आदि गुणों से समन्वित नायक धीरप्रशान्त कहा गया है; कृष्ण का धीरप्रशान्त रूप पाण्डवों के बीच प्रकाशित होता है, वृन्दावनलीला में इस रूप का प्रस्फुटन अधिक नहीं हुआ है। धीरोद्धत्त मात्सर्ययुक्त, अहंकारी, क्रोधपरवश, चञ्चल एवं आत्मश्लाघी होता है, श्रीकृष्ण के धीरोद्धत्व का उदाहरण कालयवन के प्रसङ्ग में दिया जाता है, यथा—"अरे पापरूपी यवनेन्द्र दादुर। अब निवृत्त होकर अन्धकूप के गर्त में अपना निवास-स्थान बना, यहाँ कृष्ण नामक भुजङ्गस्वरूप मैं तुझे खा जाने को जागरूक हूँ। मेरा पराक्रम जानता नहीं? मेरे अवहेलनापूर्वक ऊर्ध्व में दृष्टिनिक्षेप

---

१—चिन्तामणि, पहला भाग—ले० रामचन्द्र शुक्ल, ('काव्य में लोकमङ्गल की साधनावस्था') पृ० २१५, प्रकाशक—इण्डियन प्रेस पब्लिकेशन्स प्राइवेट लिमिटेड, प्रयाग १६५८

करते ही ब्रह्माण्ड भस्म हो जाता है।"[1] यद्यपि मात्सर्य इत्यादि दोषरूप प्रतीत होते हैं तथापि लीला में सहायक होने के कारण श्रीकृष्ण की गुणातीत निर्दोष पात्रता में वे गुण रूप में परिणत हो जाते हैं।

श्रीकृष्ण में पुरुष-सम्बन्धी सारे सत्त्वगुण विद्यमान हैं। शोभा, विलास, माधुर्य माङ्गल्य, स्थैर्य, तेजस्विता, ललित, औदार्य —इन्हें पुरुष का सत्वगुण कहा गया है।[2]

नीच में दया, अधिक में स्पर्द्धा, शौर्य, उत्साह, सत्य एवं दक्षता को शोभा कहते हैं, जैसे श्रीकृष्ण का इन्द्र के प्रति दया, दानव-बध इत्यादि में शूरता, उत्साह आदि। जिससे वृषभ की भाँति गम्भीर गति, स्थिर निरीक्षण एवं सहास्य वाक्य प्रकट होता है, उसे विलास कहते हैं, यथा मल्लश्रेणी में श्रीकृष्ण का विनयशून्य स्थिर दृष्टि निक्षेपपूर्वक हाथी की भाँति भूकम्प उठाते हुए सहास्यवदन मञ्च पर गमन। चेष्टादि की स्पृहणीयता को माधुर्य कहते हैं। श्रीकृष्ण की सारी चेष्टाएँ मधुर हैं जैसा कि वल्लभाचार्य जी के मधुराष्टक में व्यक्त हैं। जिस गुण से व्यक्ति जगत् का विश्वास-स्थल बनता है उसे माङ्गल्य कहते हैं। परमेश्वर होने के कारण श्रीकृष्ण, जगत के विश्वासस्थल हैं, ब्रजवासियों के तो वे सर्वस्व हैं। कार्य के विघ्नाकुल होने पर भी अविचलित रहना स्थैर्य है। इन्द्र द्वारा अतिवृष्टि के कारण ब्रजवासी आकुल होने लगे किन्तु श्रीकृष्ण ने धैर्यपूर्वक स्थिरता से सात दिनों तक गोवर्द्धनपर्वत को धारण किया। अन्य के चित्त के भाव का अवगाहन करना तेज है। अवज्ञा की असहिष्णुता को भी तेज कहा गया है, जैसे ब्रह्मा द्वारा गोप-गोवत्स के हरण किये जाने पर श्रीकृष्ण का स्वरूप।

प्रचुर शृङ्गार चेष्टा को ललित कहते हैं। कृष्ण वृन्दावन के अप्राकृत मदन हैं, वे ललित गुणों के रत्नाकर हैं। आत्मसमर्पणकारिता को औदार्य कहते हैं। श्रीकृष्ण के उत्कट औदार्य का अवगाहन हितहरिवंश जी ने इन शब्दों में किया है—

> प्रीति की रीति रङ्गीलोइ जानै।
> जद्यपि सकल लोक चूणामणि दीन अपुनपौ मानै॥[3]

श्रीकृष्ण के अन्य गुण भी किञ्चित वर्णित हैं जैसे—सहाय, धर्मविषय में गर्गमुनि आदि, युद्ध विषय में सात्यकि, मन्त्रणा में उद्धवादि श्रीकृष्ण के सहाय कहे गये हैं।

---

१—भक्तिरसामृत सिन्धु, दक्षिणविभाग, प्रथम लहरी (अच्युत ग्रन्थमाला प्रकाशन), पृ० १७४

२—शोभाविलासो माधुर्यं मांगल्यं स्थैर्यतेजसी।
ललितौदार्यमित्येते सत्वभेदास्तु पौरुषाः॥१३३॥—वही

३—हितचौरासी, पद सं० ४१

कृष्णभक्त

कृष्णभक्ति से भावित अन्तःकरण वाले व्यक्ति को कृष्णभक्त कहा गया है—'तद्भावभावित स्वान्ताः कृष्णभक्ता इतीरितः'।[१] कृष्णभक्त दो प्रकार के होते हैं—साधक एवं स्वयंसिद्ध।

साधक भक्त वे हैं जिनमें कृष्णविषयक रति उत्पन्न हुई है। यद्यपि इनमें सम्यक् रूप से विघ्न निवृत्त नहीं हुए रहते, तथापि ये कृष्ण-साक्षात्कार के योग्य होते हैं। सिद्धभक्त वे हैं जिन्हें कुछ भी क्लेश अनुभव नहीं होता, सर्वदा कृष्ण सम्बन्धी कर्म करते हैं तथा सर्वतोभावेन प्रेमसौख्यादि के आस्वादन में परायण रहते हैं।[२]

सिद्धभक्त दो प्रकार के होते हैं—सम्प्राप्तसिद्धिरूप तथा नित्य। जो भक्त साधन द्वारा किंवा भगवत्कृपावश सिद्ध होते हैं उन्हें सम्प्राप्तसिद्धिरूप कहते हैं। ये दो प्रकार के होते हैं—साधनसिद्ध यथा रुक्मिणी आदि, कृपासिद्ध यथा यज्ञपत्नी, शुकदेव इत्यादि। नित्यसिद्ध भक्त वे हैं जिनके गुण श्रीकृष्ण की भाँति नित्य एवं आनन्दस्वरूप हैं, जो अपनी अपेक्षा श्रीकृष्ण के प्रति कोटिगुण अधिक प्रेमवान हैं, जैसे—नन्दगोप, श्रीदामा सखा आदि।

शान्त, दास पुत्र आदि, सखा, गुरुवर्ग व प्रेयसीगण—ये पाँच प्रकार के कृष्णभक्त कहे गये हैं।

उद्दीपन—जो भाव उत्तेजित करते हैं, उन्हें उद्दीपन कहते हैं। कृष्णभक्ति-रस के उद्दीपन हैं—श्रीकृष्ण के गुण, चेष्टा व प्रसाधन, हास्य, अङ्गगन्ध, वंशी, शृङ्ग, नूपुर, शङ्ख, पदचिह्न, क्षेत्र, तुलसी, भक्त, तद्वासर अर्थात् एकादशी इत्यादि।

गुण—गुण कायिक, वाचिक, मानसिक भेद से तीन प्रकार के होते हैं। वयस्, सौन्दर्य, रूप एवं मृदुता इत्यादि को कायिक गुण कहते हैं। यद्यपि ये कायिक गुण उनका स्वरूप ही है अर्थात् श्रीकृष्ण के स्वरूप से वे अभिन्न हैं, स्वभावबद्ध हैं, तथापि भेद स्वीकार करके उन्हें उद्दीपन विभाव में कहा गया है।

१. वयस्—कृष्ण की वयस् तीन प्रकार की है—कौमार, पौगण्ड तथा कैशोर।

---

१—भक्तिरसामृत सिन्धु, दक्षिणविभाग, प्रथमलहरी, श्लोक १४२

२—उत्पन्नरतयः सम्यक् नैर्विघ्न्यमनुपागताः ॥१०४॥
कृष्णसाक्षात्कृतौ योग्याः साधकाः इतिकीर्त्तिताः ॥१०५॥
अविज्ञाताखिलक्लेशाः सदा कृष्णाश्रितक्रियाः ॥
सिद्धास्तुः सततप्रेमसौख्यास्वादपरायणाः ॥१०६॥

—वही, अच्युत ग्रन्थमाला प्रकाशन, १९८८ वि०

पाँच वर्ष तक कौमार, दश वर्ष तक पौगण्ड, तथा पञ्चादश वर्ष तक कैशोर, तदनन्तर षोडश वर्ष से यौवन का आरम्भ माना जाता है। क्रीड़ाभेद से वत्सलरस में कौमार सख्य में पौगण्ड वयस् उपयुक्त होती है, किन्तु मधुर रस के लिए कैशोर ही श्रेष्ठ है। श्रीकृष्ण प्रायः सर्वरसाश्रय हैं अतएव उनमें सब वयसों के कायिक उद्दीपन मौजूद हैं। इनमें से मुख्यतः कैशोरावस्था को ही परम मधुर मान कर कृष्णकाव्य लिखा गया है, इसलिए इस अवस्था का विस्तृत विवेचन हुआ है।

कैशोर तीन प्रकार का होता है— आदि, मध्य, शेष या अन्त। आदि कैशोर में वर्ण में अनिर्वचनीय उज्ज्वलता, नेत्रान्त में अरुण वर्ण कान्ति, तथा लोमावली प्रकाशित होती है। वैजयन्ती मयूर पुच्छ, नटवरवेश, वस्त्र-शोभा एवं परिच्छद आदि कैशोर के उद्दीपन हैं। तीक्ष्ण नखाग्र, चञ्चल भ्रूधनु व चूर्णखदिर द्वारा रञ्जित दन्त इत्यादि भी उद्दीपन हैं। मध्यकैशोर में उरुद्वय, बाहुद्वय, एवं वक्षःस्थल में कोई अनिर्वचनीय शोभा, एवं मूर्ति में मधुरिमा प्रकाशित हुई रहती है। मन्दहास्ययुक्त मुख, विलासान्वित चञ्चल लोचन तथा त्रैलोक-मोहक गीत इत्यादि मध्यकैशोर की माधुरी है। रसिकता का सार विस्तार, कुञ्जक्रीड़ा-महोत्सव, रासलीला आदि का प्रारम्भ इस वयस् की चेष्टाएँ हैं। शेषकैशोर किंवा चरमकैशोर के प्रवृत्त होने पर सारे अङ्ग पूर्वापेक्षा अतिशय उत्कर्ष धारण करते हैं एवं उनमें स्पष्ट रूप से त्रिवली रेखा व्यक्त होती है। अन्तकैशोर को ही नवयौवन कह कर भी उल्लिखित किया जाता है। इस वयस् में व्रज देवियों के साथ अपूर्व कन्दर्प क्रीड़ा रूप लीलानन्द के भावसमुदाय विकसित हुए रहते हैं। इस कैशोर में श्रीकृष्ण के मोहक रूप का एक अति सुन्दर उदाहरण भक्तिरसामृतसिंधु में प्रस्तुत किया गया है—

> कर्णाकर्णि सखीजनेन विजने दूतीस्तुति प्रक्रिया,
> पत्युर्वञ्चनचातुरी गुणनिका कुञ्जप्रयाणे निशि।
> बाधिर्यं गुरुवाचि वेणुविरुताबुत्कर्णतेतिव्रतान्,
> कैशोरेण तवाद्य कृष्णगुरुणा गोरीगणः पाठ्यते ॥[१]

अर्थात—'हे कृष्ण ! अब तुम्हारा कैशोर वयस् गोपियों के गुरुपदवी पर आरोहण करके उनको सखियों के साथ कानाफूसी, निर्जन में दूतियों के स्तवन की रीति-पतिवञ्चना में चातुर्य, रजनीयोग में कुञ्जगमन का अभ्यास, गुरुवाक्य के प्रति बधिरता, तथा वेणुध्वनि में उत्कीर्णता इत्यादि व्रतों का पाठ करा रहा है।

२. सौन्दर्य—अङ्गों के यथायोग सन्निवेश को सौन्दर्य कहते हैं।

---

१—भक्तिरसामृत सिन्धु—दक्षिण विभाग, प्रथम लहरी, श्लोक १६८

३. रूप—जिसके द्वारा अलङ्कारों की शोभा समधिक रूप में प्रकाश पाती है, उसे रूप कहते हैं।

४. मृदुता—कोमल वस्तु के स्पर्श-असहिष्णुता को मृदुता कहते हैं। नवघनश्याम सुकुमार श्रीकृष्ण का अङ्ग इतना कोमल है कि नवपल्लव के सस्पर्श-मात्र से विवर्ण हो जाता है।

५. चेष्टा—रासलीला आदि तथा दुष्टवध आदि लीलाओं को चेष्टा कहते हैं।

६. प्रसाधन—वसन, शृङ्गार तथा भूषणादि को प्रसाधन कहते हैं। अरुण, कुम्कुम, व हरिताल वर्ण के युग, चतुष्क व भूयिष्ठ भेद से श्रीकृष्ण के वसन तीन प्रकार के होते हैं—युगवसन्, परिधान व उत्तरीय।

चतुष्क के अन्तर्गत चञ्चुक (जामा), उष्णीष (पाग), तन्दुवन्ध (उदरवन्ध), एवं अन्तरीयक अर्थात् परिधेय आता है।

नटवेश के उपयुक्त खण्ड एवं अखण्ड नाना वर्ण के वसन को भूयिष्ठ कहते हैं।

७. आकल्प—केशवन्धन, आलेप, माला, चित्र, तिलक, ताम्बूल तथा क्रीड़ापद्म को आकल्प कहते हैं।

जूट (ग्रीवा के पीछे केशवन्धन), कवरी (पुष्पादि द्वारा केशवन्धन), चूड़ा (अर्द्धवद्ध केश), वेणी (पृष्ठभाग में लम्बित केशशिल्प) इन सबको केशवन्धन कहते हैं।

श्वेत, चित्रवर्ण तथा पीत—इन तीन रङ्गों का आलेप होता है।

माला तीन प्रकार की होती है—वैजयन्ती, अर्थात् पञ्चवर्ण के पुष्पों से निर्मित जानुपर्यन्त लम्बित माला, रत्नमाला एवं वनमाला अर्थात् पादपर्यन्त लम्बी पत्रपुष्पमयी माला। कुछ विशेष मालाएँ भी हैं जैसे वैकलक्षक अर्थात् वक्षस्थल में वक्रभाव से निक्षिप्त माला, आपीड़ अर्थात् चूड़ावेष्टन माला, प्रालम्ब अर्थात् कण्ठदेश से सरलभाव से लम्बित माला।

श्वेत, पीत व अरुणवर्ण मकरी पत्र निर्माण तथा तिलक रचना को चित्र कहते हैं।

८. मण्डन—किरीट, कुण्डल, हार, चतुष्की, वलय, अङ्गुरीयक, केयूर व नूपुर इत्यादि को रत्नभूषण कहते हैं।

पुष्प आदि द्वारा किये गये भूषण को वन्यभूषण कहते हैं। गैरिक आदि धातुनिर्मित तिलक को पत्रभङ्ग इत्यादि कहा जाता है।

९. स्मित—स्पष्ट ही है।[1]

१०. अङ्गसौरभ भी स्पष्ट है। कृष्ण के अङ्ग की दिव्यगन्ध भक्तों को उन्मादित करती है।

११. वंश—वेणु, मुरली तथा वंशिका भेद से वंश तीन प्रकार का होता है। वेणु वह है जो बारह अंगुल लम्बी तथा अँगूठे के बराबर मोटी होती है और छः छिद्रों से युक्त होती है, इसे पाविकाख्य वेणु कहते हैं।[2] मुरली दो हाथ लम्बी, मुख में रन्ध्र तथा चार स्वरों के छिद्रों से समन्वित होती है।[3] वंशी में एक अंगुल के अन्तर पर आठ छिद्र होते हैं, सार्द्ध अंगुल के अन्तर पर मुखछिद्र, ऊपर चार अंगुल, पीछे तीन अंगुल, एवं ग्रन्थि का परभाग अर्द्धअंगुल होता है। इसमें नौ छिद्र होते हैं तथा यह सप्तदश अंगुल लम्बी होती है।[4] यदि उस वंशी का मुख-छिद्र व स्वरछिद्र दश अंगुल के व्यवधान पर हो तो उसे महानन्द व सम्मोहिनी, द्वादश अंगुल के अन्तर पर हो तो आकर्षिणी, चतुर्दश अंगुल पर हो तो आनन्दिनी कहते हैं। यह आनन्दिनी गोपों को प्रिय है एवं वंशुली नाम से अभिहित की जाती है।

वंशी मणिमयी, हैमी व वैणवी होती है। मणिमयी का नाम सम्मोहिनी, स्वर्णनिर्मिता का नाम आकर्षिणी तथा बांसनिर्मिता का नाम आनन्दिनी है।

१२. शृङ्ग—आगे पीछे स्वर्ण द्वारा बद्ध तथा मध्यभाग में छिद्रयुक्त रत्नभूषित, मन्द्रगा ध्वनिकारी, वनमहिष के सींग को शृङ्ग कहते हैं।[5]

१३. नूपुर—स्पष्ट है।

---

१—रसखान—कानन दै अँगुरी रहिबो जबहीं मुरली धुनि मन्द बजैहै।
मोहनी तानन सों रसखानि अटा चढ़ि गोधन गैहै तो गैहै॥
टेरि कहौं सिगरे ब्रज लोगनि काल्हि कोऊ कितनौं समुझैहै।
माइ री वा मुख की मुसकानि सम्हारी न जैहै न जैहै न जैहै॥
—रसखान और घनानन्द, रसखान, पद सं० ५६

२—पाविकाख्यो भवेद्वेणुर्द्वादशांगुलदैर्घ्यभाक्।
स्थौल्येऽङ्गुष्ठमितः षड्भिरेष रन्ध्रैः समन्वितः॥१८८॥
—भक्तिरसामृत सिन्धु, दक्षिण विभाग, प्रथम लहरी

३—हस्तद्वयमितायामा मुखरन्ध्रसमन्विता। चतुःस्वरच्छिद्रयुक्ता मुरली चारुनादिनी॥१८८॥—वही

४—अर्द्धांगुलान्तरोन्मानं ताराद्यविवराष्टकम्। ततः सार्द्धांगुलाद्यत्र मुखरन्ध्रतथांगुलम्॥
शिरो वेदांगुलं पुच्छं त्र्यङ्गुलं सा तु वंशिका। नवरन्ध्रा स्मृता सप्तदशाङ्गुलमिता बुधैः॥१८६॥
—वही

५—शृङ्गन्तु गवलं हेम निबद्धाग्रिमपश्चिमम्। रत्नजालस्फुरन्मध्यं मन्द्रघोषाभिधं स्मृतम्॥१६१॥
—वही

१४. शङ्ख—कम्बु कई प्रकार का होता है। दक्षिणावर्त शङ्ख को पाञ्चजन्य कहते हैं।

१५. पदाङ्क—चरणचिह्न देखकर भक्त पुलकायमान होते हैं।

१६. क्षेत्र—धाम।

१७. तुलसी—स्पष्ट है।

१८. भक्त—स्पष्ट है।

१९. तद्वासर—कृष्ण से सम्बन्धित पुण्यदिवस, जैसे भाद्रकृष्णाष्टमी इत्यादि।

## अनुभाव

जो भाव उद्भास्वरगत चित्त के भावसमूह को प्रकाशित करके उन्हें बाह्य विकार की भाँति दर्शाते हैं, वे अनुभाव कहलाते हैं। यों कृष्णरति में वे ही अनुभाव कथित हैं जो काव्य में रस के प्रसङ्ग में वर्णित होते हैं, किन्तु इसके कुछ विशेष अनुभाव भी हैं, जो साधारणतया प्रचलित अनुभावों से भिन्न हैं। वे हैं—नृत्य, गीत, क्रोशन, तनुमोटन, हुङ्कार, जृम्भण, दीर्घनिःश्वास, लोकानपेक्षिता लालास्रव, अट्टहास, घूर्णा व हिक्का।[१] इन अनुभावों का प्रकाशन स्वयं चैतन्य महाप्रभु की देह में हुआ करता था।

इन अनुभावों की समष्टि का नाम शीत तथा क्षेपण है और जृम्भा इत्यादि को शीत तथा नृत्यादि को क्षेपण कहते हैं।

भक्ति के सन्दर्भ में ये अनुभाव अपना विशेष अर्थ रखते हैं। आनन्द के अतिरेक से भगवत्प्रीति का प्रभाव जब देह में सञ्चरित होने लगता है तब भक्त एक विशेष प्रकार के पद एवं अङ्ग-सञ्चालन में प्रवृत्त होता है जिसे नृत्य कहा जा सकता है। यद्यपि नृत्य की शास्त्रीयता इसमें नहीं होती तथापि अन्तर के भाव-विशेष को व्यक्त करने में यह अपनी भङ्गिमाओं में पूर्ण सक्षम होता है। जगन्नाथ का आवाहन करते हुए दोनों बाहुओं का ऊर्ध्वोत्तोलन प्रभु-मिलन की अभीप्सा को अभिव्यक्त करने में समर्थ हैं। अङ्गों को समलय में दाहिने-बाँये दोलित करते रहने की क्रिया कीर्तन के नृत्य में देखी जाती है। शरीर में जिस भावलहरी का सञ्चार होता है वह इस दोलन में प्रकट होती है अथवा देह की ऐसी गति भक्त को सामान्य देह चेतना से मुक्त करने में सहायक होती है और उस विशेष छन्द को उतार लाती है जो भगवद्रति की भावमञ्जूषा को वहन करने में समर्थ होता है।

भावावेग को प्राप्त करने किंवा अभिव्यक्त करने में गीत सबसे अधिक

---

१—नृत्यं विलुण्ठितं गीतं क्रोशनं तनुमोटनम्। हुङ्कारो जृम्भणं श्वासभूमा लोकानपेक्षिता।
लालास्रावोऽट्टहासश्च घूर्णाहिक्कादयोऽपि च ॥२॥—भ० र० सि०, दक्षिण विभाग, द्वितीय लहरी

स्वाभाविक उपकरण है। अन्तश्चेतना का आवेग जब अहं के अवरोधों को काटता हुआ प्रवाहित होता है तब गीत के भावुक शब्दों तथा स्वरों में ही काकलित हुआ करता है। गीत प्रीति-निवेशित हृदय की सहजतम भाषा है, भावावेग की यह प्रथम एवं अनिवार्य अभिव्यक्ति है।

क्रोशन एक विशेष प्रकार का उच्च रव है जो कदाचित् भगवान् की महिमा के स्मरण से उत्पन्न होता है, अथवा प्रीति की किसी प्रबल वासना या अनुभूति को व्यक्त करता है।

भाव के विकार से जब देह आक्रान्त होता है तब साधक का शरीर अनेक भङ्गिमाओं में स्वतः मुड़ता रहता है। वस्तुतः अतिचेतन का भार जब देहचेतना पर पड़ता है तब उसकी तमस-तन्द्रा को काटनेवाली उसमें अनेक क्रियाएं होती हैं जिसके फलस्वरूप वह विचित्र रूप से मुड़ता है। इसे तनुमोटन कहा गया है। स्नायुओं में चिद्रस के सञ्चार से चैतन्याविष्ट साधक में तनुमोटन की क्रिया देखी जाती है।

प्रायः साधक किसी भावान्वेषण या भावानुभूति में खोकर आत्मविस्मृत चेतना में पहुँच जाता है। उसका चित्त निमीलित हो जाता है और जब वह सुषुप्ति-चेतना में किन्हीं गहनतर अनुभूतियों को प्राप्त करता है तब जृम्भा अनुभाव प्रकट होता है। सुषुप्ति की स्वप्निल-दशा में ही यह अनुभाव प्रायः व्यक्त हुआ रहता है।

हुङ्कार एवं अट्टहास, भाव के अति क्षोभ में प्रकाशित होते हैं।

दीर्घनिःश्वास विरह में अधिक प्रकाशित होता है, मानसिक मिलन की अनुभूति में भी यह विद्यमान रहता है। प्राणवायु की गति जब वाह्य-चेतना से हटकर नितान्त अन्तःप्रदेश में पहुँचने का प्रयास करती है तब भक्त की निःश्वास अत्यन्त गहरी एवं दीर्घ हो जाती है। हठयोग में चित्त को समेटने के लिए प्राणायाम का आश्रय लिया जाता है, भक्तियोग में यह भाव के दबाव से स्वतः साधित होता है।

मन के एकदम अन्तराल में डूब जाने पर जब वाह्य-चेतना पर नियन्त्रण समाप्त होने लगता है तब लालास्रव का चिह्न देखा जाता है।

किसी अलौकिक वस्तु के संस्पर्श से मन की जो चकित अथच सम्मोहित दशा उत्पन्न होती है, उससे उद्घूर्ण प्रकाशित होता है। भावक का आत्महारा चित्त सम्मोहन में बद्ध होकर विजड़ित तथा घूर्णित होने लगता है, यही भक्ति की उद्घूर्णा अवस्था है।

आत्मा की महत्तर पुकार के लिए लोक की सीमित मान्यताओं, कृत्रिम मर्यादाओं का त्याग लोकापेक्षा-परित्याग (लोकानपेक्षिता) है। भक्त जिस ऊर्ध्वमन का आवाहन सुनता है उसकी दिव्य पूर्णता के आगे जीवन-जगत् की मानव-निर्मित

मान्यताएँ अपूर्ण, संकुचित तथा बालकोचित लगने लगती हैं। उसे लोक की अपेक्षा नहीं रह जाती। उसका मन जिस चेतना में निष्क्रमण करने लगता है, उसमें सांसारिक मूल्यों का स्थान नगण्य होने लगता है। 'हद' को छोड़कर 'बेहद' में प्रवेश करने के लिए इनका तोड़ना आवश्यक भी है, अन्यथा असीम में प्रवेशाधिकार नहीं मिल पाता।

हिक्का की अनुभाव दशा अत्यन्त दुर्लभ है। देह की प्रफुल्लता एवं रक्तोद्गम इत्यादि जो और अनुभाव हैं, वे और भी विरल हैं। इसलिए भक्तिग्रन्थों में उनका उल्लेखमात्र है, वर्णन नहीं। अवश्य ही चैतन्य महाप्रभु के देह में इन विरल अनुभावों का भी प्रकट होना वर्णित है।

सात्विक

साक्षात् कृष्ण सम्बन्धी अथवा किञ्चित् व्यवधान के कारण भावसमूह द्वारा चित्त के आक्रान्त होने को सत्व कहते हैं।[१] सत्व से उत्पन्न भावों को सात्विक कहते हैं। सात्विक तीन प्रकार के होते हैं—स्निग्ध, दिग्ध तथा रुक्ष।

स्निग्ध—स्निग्ध सात्विक, मुख्य और गौण भेद से दो प्रकार का होता है। मुख्यभाव द्वारा आक्रान्त सात्विक का नाम मुख्य है, इस मुख्यभाव के साथ श्रीकृष्ण का साक्षात् सम्बन्ध है। गौण रति द्वारा आक्रान्त भावों को गौण कहते हैं, इस गौण सात्विक में किञ्चित् व्यवधान से कृष्ण के साथ सम्बन्ध हुआ रहता है।

दिग्ध—मुख्य व गौण-रति व्यतिरेक जातरति जन का मन यदि भाव द्वारा आक्रान्त हो और वह भाव रति का अनुगामी हो, तो उसे दिग्ध सात्विक कहा जाता है। जैसे, निशान्त में स्वप्नावेश के कारण प्राङ्गण में लुण्ठित पूतना को देख कर यशोदा कम्पित होने लगीं तथा व्याकुल चित्त होकर पुत्र का अन्वेषण करने लगीं। यहाँ पर रति की अनुगामिता के कारण इस कम्प को दिग्ध सात्विक कहा गया है।

रुक्ष—यदि कभी मधुर एवं आश्चर्यमयी भगवत्कथा से रति शून्य जन के हृदय में आनन्द विस्मय आदि द्वारा भावों का उदय हो तो उसे रुक्ष कहते हैं।

कृष्ण रति के सात्विक भाव वे ही परम्परागत आठ हैं—स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, स्वरभेद, कम्प, वैवर्ण्य, अश्रु व प्रलय।

प्राण जब भूमिस्थ होता है तब स्तम्भ, जब जलाश्रित होता है तब अश्रु, जब तेजस्थ होता है तब स्वेद, एवं जब आकाशाश्रित होता है तब प्रलय विस्तार करता है

---

१—कृष्णसम्बन्धिभिः साक्षात् किञ्चिद्वा व्यवधानतः। भावैश्चित्तमिहाक्रान्तं सत्वमित्युच्यते बुधैः ॥१॥
—भक्तिरसामृतसिन्धु, दक्षिण विभाग, तृतीय लहरी

और जब वायु में ही स्थित रहता है, तब क्रमश: मन्द, मध्य, तीव्र भेद के अनुसार रोमाञ्च, कम्प व स्वरभेद इन तीन सात्विकों का विस्तार करता है। इनका विस्तृत वर्णन भी प्रस्तुत किया गया है—

१. स्तम्भ—हर्ष, भय, आश्चर्य, विषाद एवं अमर्ष से स्तम्भ उत्पन्न होता है। इसमें वाक्य-रहितता, निश्चलता, शून्यता आदि प्रकाशित होते हैं।

२. स्वेद—हर्ष, क्रोध, भयादि जनित शरीर की आर्द्रता को स्वेद कहते हैं।

३. रोमाञ्च—आश्चर्यदर्शन, हर्ष, उत्साह व भय के कारण रोमाञ्च का उदय होता है।

४. स्वरभेद—विषाद, विस्मय, क्रोध, आनन्द व भयादि से स्वरभेद उत्पन्न होता है। गद्‌गद वाक्य को स्वरभेद कहते हैं।

५. वेपथु—वित्रास, क्रोध व हर्षादि द्वारा गात्र का चाञ्चल्य वेपथु अथवा कम्प कहलाता है।

६. वैवर्ण्य—विषाद, क्रोध व भयादि से उत्पन्न वर्णविकार का नाम वैवर्ण्य है। इसमें मलिनता व कृशता भी आ जाती है।

७. अश्रु—हर्ष, क्रोध, विषाद आदि के द्वारा बिना प्रयत्न के नेत्रों में जो जलोद्‌गम होता है, उसका नाम अश्रु है। हर्षजनित अश्रु में शीतलता तथा क्रोधादि-जनित अश्रु में उष्णता होती है।

८. प्रलय—सुख-दु:ख रहित चेष्टा एवं ज्ञानशून्यता का नाम प्रलय है, इसमें भूमिनिपतन आदि अनुभाव प्रकाशित होते हैं।

ये सात्विक उत्तरोत्तर वृद्धि प्राप्त कर धूमायित, ज्वलित, दीप्त व उद्दीप्त अवस्थाएँ धारण करते हैं। उक्त वृद्धि बहुकाल व्यापित्व, बहुअङ्गव्यापित्व तथा स्वरूपोत्कर्ष के अनुसार तीन प्रकार की होती हैं। अश्रु व स्वरभेद के अतिरिक्त स्तम्भादि भावों का सर्वाङ्ग व्यापित्व है।

## सात्विक की अवस्थाएँ

धूमायित—जो भाव स्वयं या द्वितीय भाव के साथ युक्त होकर अत्यल्प प्रकाशित होता है एवं जिसे गोपन नहीं किया जा सकता, उसका नाम धूमायित है।[१]

ज्वलित—दो-तीन सात्विक भाव यदि एक ही समय में उदित हों और

---

१—अद्वितीया अमीभावा अथवा साद्वितीयका:। ईषद्व्यक्ता अपह्नोतुं शक्या धूमायिता मता: ॥४४॥
—भक्तिरसामृतसिन्धु, दक्षिण विभाग, तृतीय लहरी

उन्हें कष्टपूर्वक गोपन किया जा सके, तब उसे ज्वलित कहते हैं।[१] यथा किसी वयस्क गोप ने श्रीकृष्ण से कहा, हे सखे! वन में तुम्हारी वंशीध्वनि के कर्णों में शेषसीमा तक प्रवेश करने पर मेरा हाथ कम्पित होकर शीघ्र गुञ्जा ग्रहण नहीं कर पाया, दोनों नेत्र अश्रुपूर्ण होकर मयूरपुच्छ नहीं पहिचान सके, एवं उरुद्वयं स्तम्भयुक्त होकर एक पल भी नहीं चल सके। हे बन्धु! तुम्हारी वंशी की कैसी आश्चर्यमयी महीयसी शक्ति है।[२]

दीप्त—वृद्धिप्राप्त तीन-चार अथवा पाँच सात्विक भाव यदि एक ही साथ उदित हों और उन्हें संवरण न कर पाया जाय, तो उन्हें दीप्त कहते हैं।[३] यथा, राधा की कोई सखी राधा से कहती है, हे सखि! आँखों में अश्रु आ जाने पर वृथा क्यों पुष्परज को गञ्जित कर रही हो, गात्र रोमाञ्चित होने पर शीतल वायु के प्रति क्यों आक्रोश प्रकट कर रही हो, उरुस्तम्भ के कारण वन-विहार के प्रति क्यों क्षुब्ध हो रही हो, राधे! स्वरभेद तुम्हारी मदनवेदना प्रकाशित किये दे रहा है।[४]

उद्दीप्त—एक ही समय यदि पाँच, छः अथवा सारे सात्विक भाव उदय होकर परमोत्कर्ष प्राप्त करें, तब उन्हें उद्दीप्त कहा जाता है।[५] उदाहरणस्वरूप, हे पीताम्बर! आज तुम्हारे विरह में गोकुलवासी घर्मयुक्त होकर कम्पित व पुलकित अङ्ग द्वारा स्तम्भ धारण कर रहे हैं, आकुल होकर चाटुवाक्य द्वारा विलाप कर रहे हैं, अत्यधिक ऊष्मा द्वारा म्लान, एवं नेत्राम्बु द्वारा आर्द्र होकर अतिशय मोहित हो रहे हैं।[६]

सात्विक भाव, महाभाव में परम उत्कर्ष धारण करते हैं, इसलिए सारे भाव महाभाव में सुद्दीप्त होते हैं।

सात्विकाभास—सात्विक में चार प्रकार के आभास सम्भव हैं—रत्याभास,

---

१—ते द्वौ त्रयो वा युगपद्यान्तः सुप्रकटां दशाम्।
शक्याः कृच्छ्रेण निह्नोतुं ज्वलिता इति कीर्तिताः ॥४४॥
—भक्तिरसामृतसिन्धु, दक्षिण विभाग, तृतीय लहरी

२—वही, श्लोक ४४

३—प्रौढ़ां त्रिचतुरा व्यक्तिं पञ्च वा युगपद्गताः।
संवरीतुमशक्यास्ते दीप्ता धीरैरुदाहृताः ॥४५॥—वही

४—वही, श्लोक ४५

५—एकदा व्यक्तिमापन्नाः पञ्चषाः सर्व्व एव वा।
आरूढ़ा परमोत्कर्षमुद्दीप्ता इति कीर्तिताः ॥४६॥—वही

६—वही, श्लोक ४६

सत्वाभास, निःसत्व एवं प्रतीप। ये सब भाव पूर्व-पूर्व श्रेष्ठ हैं। रति के प्रतिबिम्ब हेतु रत्याभास, हर्ष-विस्मय आदि के द्वारा चित्त के आक्रान्त होने पर सत्वाभास, हर्षविस्मयादि के आभास से भी वाह्य, अन्तर स्पर्श न करने को निःसत्व कहते हैं, तथा विरोधीभावजनित प्रतीप द्वेष का विषय बनता है।

मुमुक्षु में रत्याभास हुआ रहता है जैसे किसी वाराणसीवासी का संन्यासी सभा में हरिचरित्र का गान करते-करते पुलकाकुल होकर अश्रु द्वारा गण्डों का सिञ्चन करना।

जाति से श्लथहृदय में उदित हर्ष, विस्मय आदि के आभास को सत्वाभास के कारण सत्वाभासभव कहते हैं। जैसे कृष्णलीला श्रवण करते-करते प्राचीन मीमांसक का आनन्दित होकर पुलकान्वित होना।

स्वभावशतः या अभ्यासवशतः ऊपर से कोमल अन्तर से कठिन हृदय में सत्वाभास व्यतिरेक कहीं अश्रु पुलक आदि नहीं देखा जाता, ऐसे को निःसत्व कहते हैं।

श्रीकृष्ण के शत्रुओं में क्रोध, भय आदि द्वारा जो सात्विकाभास हुआ रहता है, उसे प्रतीप कहते हैं।

व्यभिचारी—वाक्य भ्रूनेत्रादि अङ्ग एवं सत्वोत्पन्न भाव द्वारा जो सब भाव प्रकाशित होते हैं, उन्हें व्यभिचारी कहा जाता है। व्यभिचारी भाव में गति सञ्चार करते हैं, इसलिए उन्हें सञ्चारी भी कहा जाता है।[१] कृष्णरति अन्तःसत्ता का स्थायीभाव है, देह, मन, प्राण के भाव जब उसके अवरोधक न बनकर उसे पुष्ट करते हैं तब वे भक्तिरस के सञ्चारी की संज्ञा पाते हैं।

व्यभिचारीभाव स्थायीभाव में मग्न होकर तरङ्ग की भाँति स्थायीभाव को वर्द्धित करते हैं, इसलिए ये स्थायीभाव का स्वरूप प्राप्त किये रहते हैं।

कृष्णरति में वे ही सञ्चारी कथित हुए हैं जो काव्यपरम्परा में अन्तर्भुक्त हैं। अवश्य ही इनका आध्यात्मिक पक्ष भी उद्‌घाटित किया गया है।

ये सञ्चारी हैं—निर्वेद, विषाद, दैन्य, ग्लानि, श्रम, मद, गर्व, शङ्का, त्रास, आवेग, उन्माद, अपस्मृति, व्याधि, मोह, मृत्यु, आलस्य, जाड्य, व्रीड़ा, अवहित्था, स्मृति, वितर्क, चिंता, मति, धृति, हर्ष, उत्सुकता, उग्रता, अमर्ष, असूया, चपलता, निद्रा, सुप्ति, बोध।

---

१—वागाङ्गसत्वसूच्या ये ज्ञेयास्ते व्याभिचारिणः।
सञ्चारयन्ति भावस्य गतिं सञ्चारिणोऽपि ते ॥२॥
—भक्तिरसामृतसिन्धु, दक्षिण विभाग, चतुर्थ लहरी

इनमें से कुछ का विवरण दिया जा रहा है—

१. निर्वेद—महादुःख, विच्छेद, ईर्ष्या, सद्विवेकादिकल्पित अर्थात् अकर्तव्य के करण तथा कर्तव्य के अकरण निमित्त चिन्ता तथा अपने अपमान—इन सबसे निर्वेद जन्म लेता है। इसमें चिन्ता, अश्रु, वैवर्ण्य दैन्य एवं दीर्घ निःश्वास आदि अनुभाव प्रकट होते हैं।

२. विषाद—इष्ट वस्तु की अप्राप्ति, प्रारब्ध कार्य की असिद्धि, विपत्ति एवं अपराध आदि जनित जो अनुताप होता है, उसका नाम विषाद है।

विषाद में उपाय व सहायता का अनुसन्धान, चिन्ता, रुदन, विलाप, श्वास, वैवर्ण्य व मुखशोष आदि अनुभाव प्रकट हुए रहते हैं।

३. दैन्य—दुःख, त्रास, व अपराधादि से जो दौर्बल्य होता है, उसका नाम दैन्य है। चाटु, हृदय में क्षुण्णता, मलिनता, चिन्ता एवं अङ्ग की जड़ता इसमें प्रकाशित होती है।

४. श्रम—पथ, नृत्य तथा रमणादिजनित खेद को श्रम कहते हैं। निद्रा, घर्म, अङ्गग्रह, जृम्भा, दीर्घनिःश्वास आदि इससे उत्पन्न होते हैं।

५. मद— ज्ञाननाशक आह्लाद का नाम मद है। यह दो प्रकार का होता है—मधुपानजनित तथा कन्दर्पविकारातिशय जनित। गति, अङ्ग, वाक्यस्खलन, नेत्रघूर्णा आदि इसके विकार होते हैं। उत्तम व्यक्ति मद उत्पन्न होने पर सोता है, मध्यम व्यक्ति हास्य व गायन करता है, एवं कनिष्ठ व्यक्ति स्वेच्छानुसार निष्ठुर वाक्य प्रयोग तथा रोदन करता है।

६. आवेग—चित्त सम्भ्रमकारी सञ्चारी को आवेग कहते हैं। यह आवेग प्रिय, अप्रिय, अग्नि, वायु, वर्षा, उत्पात, गज एवं शत्रु से उत्पन्न होकर आठ प्रकार का होता है।

७. उन्माद—अतिशय आनन्द, आपद एवं विरह आदि जनित हृद्भ्रम को उन्माद कहते हैं। अट्टहास, नटन, सङ्गीत, व्यर्थचेष्टा, प्रलाप, धावन, चीत्कार इत्यादि क्रियाएँ उन्माद में प्रकट होती हैं।

८. मोह—हर्ष, विच्छेद, भय एवं विषादादि से उत्पन्न मन की मूढ़ता अर्थात् बोधशून्यता मोह है। भूमिपतन, अवशेन्द्रियता, भ्रमण एवं निश्चेष्टता आदि विकार इसमें प्रकाश पाते हैं।

९. मृति—विषाद, व्याधि, त्रास, प्रहार एवं ग्लानि इत्यादि द्वारा जो प्राण

त्याग होता है, उसका नाम मृति है। इसमें अस्पष्ट वाक्य, देहवैवर्ण्य, अल्पश्वास एवं हिक्कादि हुआ करते हैं।

१०. जाड्य—इष्ट एवं अनिष्ट के श्रवण, दर्शन एवं विरहादिजनित विचारशून्यता का नाम जाड्य है। यह मोह की पूर्व तथा पर अवस्था है। इसमें अनिमिष नयन, तुष्णीभाव तथा विस्मरण प्रकाशित हुए रहते हैं।

११. धृति—ज्ञान, दुःखाभाव व उत्तम वस्तु की प्राप्ति, अर्थात् भगवत्सम्बन्धी प्रेम के द्वारा मन की जो पूर्णता, अचञ्चलता है, उसका नाम धृति है। इसमें अप्राप्त व अतीतनष्ट के कारण सोच नहीं होता। धृति ज्ञान से भी उत्पन्न हो सकती है।

१२. निद्रा—चिन्ता, आलस्य, श्रम आदि के निमीलन अर्थात् वाह्यवृत्ति के अभाव को निद्रा कहते हैं। भक्त के हृदय में किसी प्रकार की कृष्ण-स्फूर्ति होने से हृन्मीलन की पूर्वावस्था को निद्रा कहते हैं।

१३. सुप्ति—नाना प्रकार की चिन्ता व नाना विषय के अनुभव स्वरूप निद्रा का नाम सुप्ति है। इसमें इन्द्रियों की अवसन्नता, निःश्वास एवं चक्षु-निमीलन हुआ रहता है।

१४. बोध—अविद्या, मोह, निद्रा आदि के ध्वंस द्वारा प्रबुद्धता अर्थात् ज्ञानाविर्भाव का नाम बोध है। मोह विनष्ट होने पर शब्द, स्पर्श, गन्ध व रस द्वारा भगवद्-विषयक ज्ञान होता है। इसे ही बोध कहा गया है।

इसी प्रकार अन्य सञ्चारियों का भी विस्तृत वर्णन है। जैसे, उन्माद साधारण चित्तविक्षेप न होकर एक अतीन्द्रिय अनुभव है जिसमें भक्त पर सम्पूर्ण आत्म-विस्मृति छा जाती है। मृत्यु कोई लौकिक दशा नहीं है, यह भक्त की समग्र वाह्यचेतना का लोप है, भक्ति की अन्तश्चेतना इतना आच्छादित कर लेती है कि भक्त की सारी चेष्टाएँ अवसन्न हो जाती हैं और वह वाह्यतः मृत्यु की निश्चलता प्राप्त कर अन्तरतम में भगवत्सान्निध्य में निमग्न रहता है। वस्तुतः मृत्यु भक्ति की सर्वोच्च अवस्था है। ज्ञानमार्ग में इसे निर्विकल्प समाधि कहा गया है और भक्तिमार्ग में सविकल्प समाधि। इसी प्रकार निद्रा भगवच्चिन्ता में शून्यचित्तता एवं भगवान् के सम्मिलन से उत्पन्न आनन्द की व्याप्ति से उत्पन्न होती है। चिन्मय भक्ति में तमोगुणमयी निद्रा का सञ्चार नहीं होता। भगवद्भक्ति की निद्रा प्राकृत न होकर भावसमाधि-मात्र होती है। परमानन्दमय श्रीकृष्ण के निमित्त आयास-तादात्म्यापत्ति में श्रम होता है। कृष्णाभिन्न अन्य-सम्पर्कित क्रिया में आलस्य उत्पन्न होता है। भगवद्दर्शन आदि की वासना उद्बुद्ध होती है, इसलिए बोध उत्पन्न होता है।

भगवत्प्रीति में अधिष्ठान के कारण निर्वेद आदि व्यभिचारी भावसमूह लौकिक गुणमय भाव की भाँति प्रतीत होने पर भी वास्तविक पक्ष में गुणातीत हैं।[१]

सञ्चारीभाव दो प्रकार के होते हैं—परतन्त्र एवं स्वतन्त्र।

**परतन्त्र**—ज्येष्ठ एवं कनिष्ठ भेद से परतन्त्र दो प्रकार का होता है। वर या ज्येष्ठ परतन्त्र साक्षात् एवं व्यवधान भेद से दो प्रकार का होता है। जो ज्येष्ठ किंवा वरपरतन्त्र साक्षात् अर्थात् मुख्य रति को पुष्ट करता है, उसे साक्षात् कहते हैं और जो भाव गौणी रति को पुष्ट करता है, उसे व्यवहित वरपरतन्त्र कहते हैं।

जो भाव दो रसों का अङ्गत्व प्राप्त करता है उसे अवर किंवा कनिष्ठ कहते हैं, जैसे विश्वरूप दर्शन के पश्चात् अर्जुन की अवस्था भय के आधीन मोह की थी।

**स्वतन्त्र**—सञ्चारी सर्वदा पराधीन होने पर भी कभी-कभी स्वतन्त्र होते हैं। अर्थात् स्थायीभाव के आधीन रहते हुए भी ये सञ्चारी कभी-कभी स्वतन्त्र हो जाते हैं।

भावज्ञ में रतिगन्धि, रत्यानुस्पर्श व रतिशून्य भेद से स्वतन्त्र सञ्चारी तीन प्रकार का होता है।

**आभास**—सञ्चारी भावों के अस्थान- प्रयोग का नाम आभास है। सञ्चारी का आभास प्रातिकूल्य तथा अनौचित्य भेद से दो प्रकार का होता है।

**प्रातिकूल्य**—विपक्ष में वृत्ति को प्रातिकूल्य कहते हैं, जैसे कंस ने अक्रूर का तिरस्कार करते हुए कहा, अरे मूर्ख ! जिस व्यक्ति ने एक जलचर साँप कालियनाग का दमन किया और लोष्ठखण्ड सदृश गोवर्द्धन उठाया, उसमें तूने ईश्वरत्व अर्पण कर रखा है, इससे अद्भुत और क्या हो सकता है ? यहाँ असूया प्रतिकूल भाव है।

**अनौचित्य**—असत्यता एवं अयोग्यतारूप से अनौचित्य दो प्रकार का होता है। अप्राणी में असत्यता तथा पशुपक्षी में अयोग्यता का आरोपण होता है। जैसे कदम्ब का रोमाञ्चित होना असत्यतारूप अनौचित्य है।

सञ्चारी का सूक्ष्म विश्लेषण भक्तिरस शास्त्र में हुआ है। किन्तु भक्ति के

---

१—एषु त्रासः वत्सलादिषु भयानकादिदर्शनात् तदर्थं तत्सङ्गतिहानितर्केणरमकश्च भवति। निद्रा तच्चिन्तया शून्यचित्तत्वेन तत्सङ्गस्यानन्दव्याप्ता च भवति। श्रमः परमानन्दमयतदर्थायासवा- दात्म्यापत्तौ भवति। आलस्य तादृशश्रमहेतुकं कृष्णेतरसम्बन्धिक्रियाविषयकं भवति। बोधस्त्व तद्दर्शनादिवासनायाःस्वयमुद्बोधनं भवतीत्यादिकं ज्ञेयम्। किन्त्व निर्वेदादीनाञ्चामीषां लौकिक गुणमयभावायमानानामपि वस्तुतो गुणातीतत्वमेव, तादृशभगवत्प्रीत्यधिष्ठानात्।

प्रीति सन्दर्भ, वृत्ति १५८

असीम सागर में उठती हुई असंख्य भाव-लहरियों को क्या सञ्चारी की परिचित संख्या में बाँधा जा सकता है ? लौकिक-भावों से उद्भावित होने पर जो लघु-लघु भाव चित में सञ्चरित होते हैं, वे ही सारे भाव भक्ति जैसे दिव्य एवं गहन मनोभाव में भी सञ्चरण करें, यह संदिग्ध है। भक्ति, सामान्य मन की अनुभूति नहीं है, अत: सामान्य-मन की गतियों में उसके मनोराज्य को किस प्रकार बाँधा जा सकता है ? मानव-मन से अपरिचित न जाने कितने नूतन भाव, भक्त के मन में जन्म लेते रहते हैं, न जाने कैसी-कैसी रहस्यमयी भाव-वृत्तियाँ उसमें उठती गिरती हैं। इनकी संख्या गिनना तो दूर, नामकरण तक नहीं किया जा सकता। ऐसे भावों की व्याख्या भक्ति रस के सञ्चारी भाव के अन्तर्गत करना अपेक्षित था। केवल काव्यशास्त्र के अन्तर्गत आने वाले तैंतीस सञ्चारियों की भक्तिपरक व्याख्या करने से भक्तिरस पूर्णतया प्रमाणित नहीं हो जाता है। अन्य रसों से पृथक् उसकी विशेषता क्या है, किस रूप में है ?

भाव की चार दशाएँ भी कथित हैं—भावोदय, भावसन्धि, भावशावल्य व भावशान्ति जो परम्परानुगत है।

तैंतीस व्यभिचारी, हास्य, क्रोध इत्यादि तथा एक मुख्य भाव जो स्थायी भाव में वर्णित होता है, इन सब को मिलाकर कुल ४१ भाव होते हैं। इन सबको मुख्य भाव कहा जाता है। ये शरीर व इन्द्रियों को विक्षुब्ध करते हैं एवं भाव के आविर्भाव पर उत्पन्न होते हैं अतएव इन्हें चित्तवृत्ति कहा जाता है। कोई भाव किसी स्थान में स्वाभाविक तथा किसी स्थान में आगन्तुक होता है। उनमें से जो भाव स्वाभाविक हैं, वे अन्तर्बाह्य में व्याप्त रहते हैं और आगन्तुक भाव विभावादि द्वारा उद्दीपित होते हैं।

चित्त के गरिष्ठ अथवा गम्भीर किंवा महत् या कर्कश होने पर ये सब भाव सम्यक् रूप से उन्मीलित हुए रहते हैं किन्तु लोगों को दृष्टिगत नहीं होते। चित्त के लघु या तरल किंवा क्षुद्र या कोमल होने से ये भाव बहुत कम उन्मीलित होते हैं पर लोग उन्हें स्पष्ट जान जाते हैं। गम्भीर चित्त समुद्र की भाँति है, उसकी गहन प्रशान्तता में उद्वेलन की ऊर्मि पहिचानना कठिन है, किन्तु लघुचित्त गड्ढे के समान है जिसमें तनिक भी उच्छ्वास तरङ्गित हो उठता है।

कर्कशचित्त तीन प्रकार का बतलाया गया है—वज्र, स्वर्ण, लाक्षा। वज्र नितान्त कठिन होता है, वह कभी मृदुल नहीं होता, जैसे तपस्वी का चित्त। स्वर्ण स्वभाव अग्नि के अतिशय उत्ताप से द्रवीभूत हो जाता है। लाक्षा अग्नि के अत्यल्प उत्ताप से ही सर्वतोभावेन द्रवित हो जाता है और उसी प्रकार लाक्षा-चित्त भाव की अल्पता से ही आर्द्र हो उठता है।

कोमल चित्त भी तीन प्रकार का होता है—मधु, नवनीत और अमृत। मधु और नवनीत चित्त भाव के यथाविध आतप से गल जाते हैं, किन्तु कृष्ण के प्रियतम भक्तों का चित्त स्वभावतः अमृत सदृश सर्वदा द्रवीभूत रहा करता है।

---

# कृष्णभक्ति-रस के विविध रूप

कृष्णभक्ति की भावभूमि में पाँच रूप प्रकट हुए हैं—निर्वेद, दास्य, वात्सल्य सख्य एवं मधुर। निर्वेद पृथक् रस का आधार होता हुआ भी वस्तुतः समस्त रसों का आधार है। चित्त की लौकिक-वृत्तियों के उपशमन के उपरान्त ही चमत्कारी एवं आह्लादकारी भक्ति के अन्य भावों का प्रादुर्भाव होता है। निर्वेद के अभाव में कृष्णभक्ति का कोई भी भाव स्फुरित नहीं हो सकता, क्योंकि विकारग्रस्त चित्त में शुद्धसत्व का स्फुरण नहीं हो पाता। समता की नींव पर आनन्द का भवन खड़ा होता है, अतएव वात्सल्य आदि आनन्दप्रधान भाव शान्त की आधारशिला पर ही प्रतिष्ठित हो पाते हैं। शान्त भाव में सम्बन्ध स्थापन के हेतु दास्य का जन्म होता है, दास्य में सौहार्द के समावेश से सख्य जन्म लेता है और इनमें ममत्व के मिल जाने से वात्सल्य तथा इन समस्त रागों को आत्मसात् करता हुआ तादात्म्यभावापन्न मधुर भाव सर्वोपरि विराजमान है। ये भाव उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं, अतएव इन पर आधारित रसों का विवेचन क्रमोन्नत रूप में किया जा रहा है।

## शान्तरस

शान्तरस की परिभाषा देते हुए भक्तिरसामृतसिन्धु में कहा गया है कि वक्ष्यमान विभावादि द्वारा समतासम्पन्न ऋषियों द्वारा जो स्थायी शान्तिरति आस्वादनीय होती है, पण्डितगण उसका वर्णन शान्तभक्तिरस कह कर करते हैं।[१]

कृष्णाश्रित शान्तरस एवं निराकाराश्रित शान्त निर्वाण में भेद है। योगीगण प्रायः ब्रह्मानन्द रूप सुखस्फूर्ति या शान्तभाव उपलब्ध करते हैं, किन्तु उनका यह शान्तभाव उस शान्तभाव की तुलना में अति अल्प है जो श्रीकृष्ण के सच्चिदानन्द विग्रह के ईशभावापन्न सुख में है। इस ईशमय सुख का कारण श्रीविग्रह का साक्षात्-कार है, यद्यपि इस रस के भक्तों को उस विग्रह के क्रीड़ाकौतुक में कोई रुचि नहीं होती। लीलाओं से तटस्थ आत्मारामनिगण केवलमात्र भगवत्साक्षात्कार से ही सन्तुष्ट हो जाते हैं।

## स्थायीभाव

शान्तरस में शान्तिरति स्थायीभाव है, केवल निर्वेद नहीं। निर्वेद पर

---

१—वक्ष्यमाणैर्विभावाद्यैः शमिनां स्वाद्यतां गतः। स्थायी शान्तिरतिर्धीरैः शान्तभक्तिरसः स्मृतः ॥२॥
—भ० र० सि०, पश्चिम विभाग, प्रथम लहरी

आधारित रस नकारात्मक भाव पर आश्रित होता है। भक्ति में रस का अनिवार्य सम्बन्ध श्रीकृष्ण के दिव्यस्वरूप से होता है, किसी नकारात्मक स्थिति से नहीं। इस भगवत्प्रीतिमय रस में 'कृष्णरति' अपेक्षित है चाहे वह रति सुशान्त ही क्यों न हो, भावों की ऊर्मियों से रहित। शान्तिरति समा और सान्द्रा भेद से दो प्रकार की होती है।

शान्तरस परोक्ष और साक्षात्कार भेद से द्विविध होता है। यदि सब प्रकार से अहङ्कार-विहीनता हो तो धर्मवीर, दानवीर और दयावीर को शान्तरस के अन्तर्गत परिगणित किया जाता है; अन्यथा वे लौकिक-रस के पात्र होते हैं।

आलम्बन—श्रीकृष्ण का चतुर्भुजरूप तथा शान्तगण। श्रीकृष्ण का चतुर्भुज रूप इसलिए इस रति का आलम्बन बनता है कि उससे उनके ब्रह्मत्व का सतत् बोध होता है। द्विभुजनराकार रूप में अप्रबुद्ध मन को लौकिकता की भ्रान्ति हो सकती है। इस रस में श्रीकृष्ण सच्चिदानन्दघनमूर्ति, आत्मारामशिरोमणि, परमात्मा, परब्रह्म, शान्त, दान्त, शुचि, वशी, सदास्वरूप-सम्प्राप्त, हतारिगतिदायक व विभु इत्यादि रूप में गृहीत होते हैं।[१]

श्रद्धावान् तपस्वी तथा आत्माराम इस रस के आश्रय हैं। कृष्ण एवं कृष्ण-भक्तों के करुणावश जिसने ऐसी रति प्राप्त की है, वे आत्माराम तथा भगवन्मार्ग में बद्धश्रद्धातापसगण शान्त कहलाते हैं। सनक, सनन्दन आदि आत्माराम इसी कोटि में आते हैं। भक्ति द्वारा मुक्ति निर्विघ्न होती है, इसलिए जो युक्तवैराग्य स्वीकार करते हैं एवं जिनकी अभिलाषा मुक्तिविषयक होती है, उन्हें तापस कहते हैं।

उद्दीपन—शान्तरस में तत्वचिन्तन तथा मनन के द्वारा मन की वृत्तियों को निरुद्ध करके परमात्मा में नियोजित कर मुक्तिलाभ की आकांक्षा होती है। अतएव शान्तिरति को उद्दीप्त करने के लिए ज्ञानप्रधान साधनों का सहारा लिया जाता है। महत् उपनिषद् का श्रवण, निर्जन स्थान का सेवन, शुद्धसत्वमय चित्त में श्रीकृष्ण की स्फूर्ति, तत्वविचार, ज्ञानशक्ति की प्रधानता, विश्वरूप दर्शन, ज्ञानी-भक्तों का संसर्ग एवं ब्रह्मसम अर्थात् समविद्य व्यक्तियों का परस्पर विचार—ये समस्त शान्तरस के असाधारण उद्दीपन हैं।

---

१—सच्चिदानन्दसान्द्राङ्ग आत्मारामशिरोमणिः। परमात्मा परब्रह्म शमो दान्तः शुचिर्वशी॥
सदा स्वरूपसम्प्राप्तो हतारिगतिदायकः। विभुरित्यादिगुणवानस्मिन्नालम्बनो हरिः॥५॥
—भ० र० सि०, प० वि०, प्रथम लहरी

पादपद्म का तुलसी-सौरभ, शङ्ख की ध्वनि, पुण्यपर्व, सिद्धक्षेत्र, गङ्गा, विषयों पर विजय, काल का सर्वहारित्व—ये सब साधारण उद्दीपन कहे जाते हैं। तुलसी-सौरभ से गङ्गा पर्यन्त उद्दीपन शान्त भाव के उपयुक्त निष्ठा एवं श्रद्धा उत्पन्न करते हैं विषयों पर विजय शान्तरति के लिए अपरिहार्य है, अतः विषयों की क्षणभंगुरता का विचार करके उनसे अनासक्ति उत्पन्न करके शान्तिरति के लिए उपयुक्त भावभूमि का निर्माण किया जाता है; काल द्वारा उपस्थित सांसारिक वस्तुओं की क्षणभंगुरता तथा परिवर्तनशीलता भी शान्तभाव को जन्म देने का एक प्रमुख कारण है।

सूरसागर में कपिल-देवहूति-संवाद में शान्तरस के प्रायः समस्त उद्दीपन आ गए हैं। आत्मज्ञान, मुक्त पुरुषों के लक्षण, ज्ञानी के संसर्ग से मुक्ति का उपाय इत्यादि तत्त्व कथित हुए हैं। प्रसङ्ग लम्बा है किन्तु उसे, उसकी पूर्णता में उद्धृत न करने से, शान्तरस का स्वरूप अस्पष्ट रह जायेगा।

इहां कपिल सौं माता कह्यौ। प्रभु मेरौ अज्ञान तुम दह्यौ।
आतमज्ञान देहु समुझाइ। जातैं जनम-मरन-दुख जाइ।
कह्यौ कपिल, कहौं तुमसौं ज्ञान। मुक्त होइ नर ताकौं जान।
मुक्त नरनि के लच्छन कहौं। तेरें सब सन्देहै दहौं।
मम सरूप जो सब घट जान। मगन रहै तजि उद्यम आन।
अरु सुख दुख कछु मन नहिं ल्यावै। माता सो नर मुक्त कहावै।
और जो मेरौ रूप न जानै। कुटुंब हेत नित उद्यम ठानै।
जाकौ इहिं विधि जन्म सिराइ। सो नर मरिकै नरकहिं जाइ।
ज्ञानी-संगति उपजै ज्ञान। अज्ञानी-संग होइ अज्ञान।
तातैं साधु-संग नित करना। जातैं मिटै जन्म अरु मरना।
थावर-जंगम मैं मोहिं जानै। दयासील, सब सौं हित मानै।
सत-संतोष दृढ़ करै समाधि। माता ताकौं कहियै साध।
काम, क्रोध, लोभहिं परिहरै। द्वन्द-रहित, उद्यम नहिं करै।
ऐसे लच्छन हैं जिन माहिं। माता तिनसौं साधु कहाहिं।
जाकौं काम-क्रोध नित व्यापै। अरु पुनि लोभ सदा संतापै।
ताहि असाधु कहत सब लोइ। साधु-भेष धरि साधु न होइ।
संत सदा हरि के गुण गावैं। सुनि सुनि लोग भक्ति कौं पावैं।
भक्ति पाइ पावैं हरि-लोक। तिन्हैं न व्यापै हर्ष अरु शोक॥[१]

तत्वज्ञान से उत्पन्न वैराग्य के आधार पर ही शान्तरस खड़ा होता है। संसार

१—सूरसागर, 'कपिल-देवहूति संवाद' तृतीय स्कन्ध, पृ० १३२-१३३

के अनुभव से विकल चित्त उस स्थिति की कामना करता है जहाँ सुख-दुख का अनित्य लोक नहीं है और जहाँ भक्त चिरन्तन शान्ति में विश्राम करता है। वह सच्चिदानन्द का प्रशान्त सागर है। वहाँ के सरोवर में भक्तिरूपी मुक्ताफल होता है, उस अमृतसमुद्र में पहुँच कर विषयरस की तृष्णा नष्ट हो जाती है। एकरस, सनातन, दिव्य प्रकाश में मन के सारे अन्धकार मिट जाते हैं, इसलिए शान्तरस के अभिलाषी भक्तगण अपने भृङ्गरूपी चञ्चल मन को वहीं चलने के लिए उत्प्रेरित करते हैं—

> भृंगी री, भजि स्याम कमल-पद, जहाँ न निसि को त्रास।
> जहाँ विधु-भानु समान, एक रस, सो वारिज सुख-रास।
> जहँ किंजल्क भक्ति नव-लच्छन, काम-ज्ञान रस एक।
> निगम, सनक, सुक, नारद, सारद, मुनि जन भृंग अनेक।
> सिव-विरंचि खंजन मनरंजन, छिन छिन करत प्रवेस।
> अखिल कोष तहँ भर्यौ सुकृत-जल, प्रगटित स्याम-दिनेस।
> सुनि मधुकरि, भ्रम तजि कुमुदनि को, राजिववर की आस।
> 'सूरज' प्रेमसिंधु में प्रफुलित, तहँ तलि करै निवास॥[१]

अनुभाव—नासाग्र में दृष्टिनिक्षेप, अवधूत की भाँति चेष्टा, युगमात्र निरीक्षण अर्थात् चार हाथ परिमित स्थान का अवलोकन करके पीछे पाद-निक्षेप, ज्ञानमुद्रा-प्रदर्शन अर्थात् तर्जनी एवं अंगुष्ठ से योगरूपी मुद्रा का धारण, हरिद्वेषी के प्रति द्वेषरहित, भगवत्प्रियभक्त के प्रति भक्ति की न्यूनता, संसार-ध्वंस एवं जीवन्मुक्ति के प्रति आदर, निरपेक्षता, निर्ममता, निरहङ्कारिता तथा मौन—ये सब शान्तरति के असाधारण अनुभाव हैं।

नासाग्र में दृष्टि-निक्षेप से विचार स्थिर होते हैं, राजयोग में चित्तवृत्ति-निरोध के लिये नासाग्र में दृष्टि-निबद्ध की जाती है। रागद्वेष शून्य चित्त ही भक्ति के उपयुक्त होता है, अतः शान्तभक्त ममता, द्वेष से मुक्त होता है। सांसारिकता का नाश निर्वेद की आधारशिला है। विराग इसकी नकारात्मक प्रेरणा है, मुक्ति की आकांक्षा भावात्मक। अनासक्ति (निर्ममता, निरपेक्षता) तथा अहङ्कार पर विजय प्राप्त किए बिना किसी भी प्रकार की भक्तिरति नहीं हो सकती। मौन से बहिर्मुखी मन की क्रियाओं का नियन्त्रण और संयमन होता है तथा आध्यात्मिक तपस् सञ्चित किया जाता है। इसलिए शान्तरति में ये अनुभाव अनिवार्य हैं।

---

१—सूरसागर, प्रथम स्कन्ध, पद सं० ३३६

संसार-ध्वंस तथा जीवन्मुक्ति के प्रति आदर

चलि सखि, तिहि सरोवर जाहिं।
जिहिं सरोवर कमल कमला, रवि बिना बिकसाहिं।
हंस उज्ज्वल पंख निर्मल, अङ्ग मलि-मलि न्हाहिं।
मुक्ति-मुक्ता अनगिने फल, तहाँ चुनि-चुनि खाहिं।
अतिहिं मगन महा मधुर रस, रसन मध्य समाहिं।
पदुम-बास सुगन्ध-शीतल, लेत पाप नसाहिं।
सदा प्रफुल्लित रहैं, जल बिनु, निमिष नहिं कुम्हिलाहिं।
सघन कुंजन बैठि उन पर, भौंरहू बिरमाहिं।
देखि नीर जु छिलछिलौ जग, समुझि कछु मन माहिं।
सूर क्यों नहि चलै उड़ि तहँ, बहुरि उड़िबौ नाहिं॥[१]

जृम्भा, अङ्गमोटन, भक्ति का उपदेश, हरि के प्रति नति एवं हरि का स्तवन शान्तरस के साधारण अनुभाव हैं।

भक्ति का उपदेश

दिन द्वै लेहु गोविंद गाइ।
मोह-माया-लोभ लागे, काल घेरै आइ।
वारि में ज्यों उठत बुद्बुद्, लागि बाइ बिलाइ।
यहै तन-गति जनम-झूठौ, स्वान-काग न खाइ।
कर्म-कागद बाँचि देखौ, जौ न मन पतियाइ।
अखिल लोकनि भटकि आयौ, लिख्यौ मेटि न जाइ।
सुरति के दस द्वार रूँधे, जरा घेर्यौ आइ।
सूर हरि की भक्ति कीन्हैं, जन्म-पातक जाइ॥[२]

जृम्भा, अङ्गमोटन जैसे कायिक अनुभाव के उदाहरण इस रस के काव्य में कहीं भी दृष्टिगत नहीं होते। भक्ति का उपदेश आदि अन्य साधारण अनुभाव प्रायः प्रमुख कृष्णभक्त कवियों की रचनाओं में मिल जाते हैं। एकमात्र मधुरभाव के उपासक भक्तों में भी आराध्य से अनुरक्ति तथा विषयों से वितृष्णा उत्पन्न करने के उद्यम में शान्तरस का उदाहरण मिल जाता है। यथा—

तू बालक नहिं, भर्यो सयानप, काहे कृष्ण भजत नहिं नीके।
अतिव सुमिष्ट तजिव सुरभिन पय, मन बंधत तंदुल जल फीके।

१—सूरसागर, प्रथम स्कन्ध, पद सं० ३३८
२—वही, पद सं० ३१६

हितहरिवंश नर्कगति दुरभर, यम द्वारे कटियत नक छीके ।
भव अज कठिन मुनीजन दुर्लभ, पावत क्यों जु मनुज तन भीके ॥[१]

सात्विक—प्रलय के अतिरिक्त अन्य समस्त सात्विक भाव शान्तरस में कथित हुए हैं, किन्तु कृष्णकाव्य में इस रस के प्रसङ्ग में सात्विक भावों का प्रकाशन दृष्टिगोचर नहीं होता । ईश्वर में स्थित होने की साधना श्रमयुक्त होती है, देह-चेतना में अन्तश्चेतना या अतिचेतना के अतिरिक्त दबाव के कारण कदाचित् स्वेद सात्विक प्रकट होता है । प्रभु की गुणावली के स्मरण से कम्प, रोमाञ्च, वेपथु, स्तम्भ आदि सात्विकों का उदय होता है तथा उनकी महिमा आदि के गद्‌गद् गान से स्वरभङ्ग आदि भी सम्भव है । किन्तु यह आश्चर्य का विषय लगता है कि प्रलय शान्तरति में क्यों नहीं होता । प्रलय तो समाधि की अवस्था है; क्या परमात्मा में डूब जाने पर सायुज्य प्राप्त करने पर प्रलय की स्थिति समुपस्थित नहीं होती ?

निर्वेद, धैर्य, हर्ष, मति, स्मृति, औत्सुक्य, आवेग तथा वितर्क इत्यादि शान्तरस के संचारी कहे जाते हैं ।[२] निर्व्वेद, धैर्य, मति, शान्तभाव की प्राप्ति में सहायक होते हैं, मनन (स्मृति) एवं साध्य की प्राप्ति में उत्साह (आवेग, औत्सुक्य) साधनाप्रक्रिया में अपेक्षित है, वितर्क से सद्-असद् का ज्ञान होता है जो शान्तरति को पुष्ट करता है ।

निर्वेद

जनम सिरानौ अटकें-अटकें ।
राज-काज सुत-वित की डोरी, विनु विवेक फिर्‌यो भटकें ।
कठिन जो गाँठि परी माया की, तोरी जाति न झटकें ।
ना हरि-भक्ति, न साधु-समागम, रह्यौ बीच ही लटकें ।
ज्यौं बहु कला काछि दिखरावे, लोभ न छूटत नट कैं ।
सूरदास सोभा क्यों पावै, पिय-विहीन धनि मटकें ॥[३]

वितर्क तथा आवेग

झूठेहीं लगि जनम गँवायो ।
भूल्यौ कहा स्वप्न के सुख मैं हरि सौं चित न लगायो ।[४]

---

१—हितहरिवंश—स्फुटवाणी, पद सं० ४
२—सञ्चारिणोऽत्र निर्वेदो धृतिर्हर्षो मतिः स्मृतिः । विषादोत्सुकतावेगवितर्काद्याःप्रकीर्तिताः ॥१३॥
—भक्तिरसामृतसिन्धु, पश्चिम विभाग, प्रथम लहरी
३—सूरसागर, प्रथम स्कन्ध, पद सं० २९२
४—वही, पद सं० ३०१

प्रीतिभक्तिरस (दास्यभक्तिरस)—दास्यभाव की भक्ति पर आधारित रस को प्रीतिभक्तिरस कहा गया है। अनुग्रहपात्र के साथ सेव्य भगवान् की प्रीति, प्रीति-भक्तिरस के नाम से अभिहित होती है, इसीलिए इसे प्रीतिभक्तिरस कहते हैं।

अनुग्रहपात्र के सम्बन्ध में यह प्रीतिरस दासत्व एवं लालनीयत्व के कारण दो प्रकार की होती है जिन्हें क्रमशः सम्भ्रमप्रीति व गौरवप्रीति की संज्ञा प्राप्त होती है।[१]

अ—संभ्रमप्रीतिरस

दासाभिमानी व्यक्तियों में श्रीकृष्ण के प्रति संभ्रममयी प्रीति होती है। यह संभ्रमप्रीति विभाव-अनुभाव आदि द्वारा पुष्ट होकर संभ्रमप्रीतिरस कहलाती है।

स्थायीभाव—संभ्रमप्रीतिरस का स्थायीभाव संभ्रमप्रीति है। प्रभुता-ज्ञान के कारण सम्भ्रम, कम्प व चित्त में आदर की समष्टि को संभ्रमप्रीति कहते हैं।[२]

यह प्रीति उत्तरोत्तर बढ़ती हुई प्रेम, स्नेह व राग अवस्थाओं को पहुँचती है। प्रीति जब ह्रासशंकाशून्य होती है तब इसे प्रेम कहते हैं। प्रेम में दुःखादि अनुभाव प्रकाशित होते हैं। यह प्रेम जब गाढ़ होकर चित्त को द्रवीभूत करता है तब उसे स्नेह कहते हैं, स्नेह में क्षणकाल भी विच्छेद सहन नहीं होता। जिस स्नेह में दुःख भी सुख प्रतीत होता है उसे राग कहते हैं, इसमें भक्त प्राणत्याग करके भी भगवान के प्रीति-संपादन में प्रवृत्त होता है। चूँकि दास्यभाव मात्र निर्वेदयुक्त शान्त स्थिति नहीं है, उसमें भावमयी रति का बीज अंकुरित हो जाता है, इसलिए यह निर्विकार चित्तमात्र नहीं रह पाता। इसमें स्पष्ट रूप से भगवान से प्रीति सम्बन्ध जुड़ जाता है, इसलिए भगवान के प्रति भक्त का भाव साधारण जन की पूज्य बुद्धि तक सीमित नहीं होता, सकाम भक्ति से प्रेरित स्तुति और नमन का नहीं होता, वरन् उन विशेषताओं को ग्रहण करता चलता है जिनसे भाव 'रति' की श्रेणी में आता है, प्रेमलक्षणा-भक्ति की संज्ञा प्राप्त करता है। अतएव इस दास्यभाव में सम्भ्रम के साथ ही चित्त द्रवीभूत, समर्पित और स्नेहिल होता है। प्रीत्यास्पद की अप्राप्ति में भक्त, क्लेश का भी अनुभव करता है और अनुरक्ति की गाढ़ता से भगवान के लिए दुःख उठाना भी उसे सुखकर प्रतीत होता है। रति की ये प्रारम्भिक अवस्थाएँ हैं। बिना इनके भाव 'रति' की संज्ञा नहीं प्राप्त कर सकता।

आलम्बन—हरि एवं हरिदास।

हरि—इस सम्भ्रमप्रीति के आलम्बनस्वरूप श्रीकृष्ण कई रूपों में वन्दित होते

---

१—अनुग्राह्यस्य दासत्वाल्लाल्यत्वादप्ययं द्विधा। भिद्यते सम्भ्रमप्रीतो गौरवप्रीत इत्यपि ॥१॥
—भक्तिरसामृतसिन्धु, पश्चिम विभाग, द्वितीय लहरी

२—सम्भ्रमः प्रभुताज्ञानात् कम्पश्चेतसि सादरः। अनेनैक्यं गता प्रीतिः सम्भ्रमप्रीतिरुच्यते ॥
एषा रसेऽत्र कथिता स्थायिभावतया बुधैः ॥२६॥—वही

हैं। गोकुलवासियों के आलम्बन श्रीकृष्ण द्विभुजनराकार हैं, अन्यत्र अर्थात् द्वारिका, मथुरा आदि में कहीं द्विभुज कहीं चतुर्भुज रूप हैं।

इस रस में हरि का स्वरूप है—एक रोमकूप में कोटि-कोटि ब्रह्माण्डों का अवस्थान, कृपासमुद्र, अविचिन्त्य महाशक्ति, सर्वसिद्धिनिषेवित, अवतारावली बीज, आत्मारामगणाकर्षी, ईश्वर, परमाराध्य, सर्वज्ञ, सुदृढ़व्रत, समृद्धिमान्, क्षमाशील, शरणागतपालक, दाक्षिण, सत्यवचन, दक्ष, सर्व्वशुभङ्कर, प्रतापी, धार्मिक, शास्त्रचक्षु, भक्तसुहृद्, वदान्य, तेजीयान्, कृतज्ञ, कीर्तिमान्, वरीयान्, बलवान् एवं प्रेमवश्य।

हरि का यह स्वरूप सब प्रकार के दास भक्तों के लिए समान रूप से आलम्बन हुआ करता है। इस रस के आलम्बनस्वरूप श्रीकृष्ण की कृपासमुद्रता, क्षमाशीलता, शरणागतपालकता, कृतज्ञता एवं प्रेमवश्यता का गुणगान भक्तों ने अधिक किया है। हरि सदैव एक सा स्वभाव रखते हैं। वे ज्ञानियों के शिरोमणि एवं अत्यन्त गम्भीर हैं। गरिमामय हरि इतने अधिक कृतज्ञ एवं वदान्य हैं कि भक्तों के तिनकातुल्य गुण को मेरु समान मानते हैं और अपराध के सागर को बूंद तुल्य। वे सदैव अनुकूल रहते हैं, भक्त से यदि कोई अपराध हो भी जाता है तो वे उसके कारण क्षुब्ध नहीं होते, उनका स्नेह पूर्ववत् बना रहता है। ऐसे श्रीकृष्ण मानवमात्र के सेव्य हैं। जो व्यक्ति ऐसे कृतज्ञ महीयान् स्वामी की सेवा नहीं करता वह अत्यन्त अभागा है[१]।

दास—अश्रित, आज्ञावर्नी, विश्वस्त एवं प्रभुज्ञान में नम्रबुद्धि—इन चारों प्रकार से दास चतुर्विध होते हैं जिन्हें क्रमशः अधिकृत, आश्रित, पारिषद तथा अनुग कहते हैं।

अधिकृत—ब्रह्मा, शिव, इन्द्र इत्यादि देवताओं को अधिकृत दास कहा गया है[२]।

---

१—प्रभु कौ देखौ एक सुभाई।
अति-गम्भीर-उदार-उदधि हरि, जान-सिरोमनि राइ।
तिनका सौं अपने जन कौ गुन मानत मेरु-समान॥
सकुचि गनत अपराध-समुद्रहिं बूँद-तुल्य भगवान।
बदन-प्रसन्न कमल सनमुख ह्वै देखत हौं हरि जैसैं॥
बिमुख भये अकृपा न निमिषहूँ, फिर चितयौ तौ तैसैं।
भक्त-विरह कातर करुनामय, डोलत पाछैं लागे।
'सूरदास' ऐसे स्वामी कौं देहिं पीठ सो अभागे॥८॥—'विनय', सूरसागर

२—यह सुनि इन्द्र अतिहिं सकुचान्यौ। ब्रज अवतार नहीं मैं जान्यौ॥
राखि लेहु त्रिभुवन के नाथा। नाहिं मोतैं कोउ और अनाथा॥
फिरि-फिरि चरन धरत लै माथा। छमा करहु राखहु मोहिं साथा॥
रवि आगे खद्योत प्रकासा। मनि आगैं ज्यौं दीपक नासा॥
कोटि इन्द्र रचि कोटि बिनासा। मोहिं गरीब की केतिक आसा॥
—सूरसागर, पद सं० १५६८

आश्रित—शरणागत, ज्ञानी व सेवानिष्ठ, इन तीनों को आश्रित दास कहते हैं। शरणागत जैसे कालियनाग, जरासन्ध इत्यादि[1]। ज्ञानिष्ठ वे हैं जो मुक्ति की इच्छा त्याग कर केवल हरि के आश्रित हुए हैं, जैसे शौनक आदि ऋषि। सेवानिष्ठ वे दास हैं जो आरम्भ से ही भजन में आसक्त हैं जैसे शिव, इन्द्र, बहुलाश्व, राजा ईक्ष्वाकु, श्रुतदेव व पुण्डरीक इत्यादि। आश्रित और अधिकृत दासत्व के भाव एक-दूसरे में संक्रमित हो सकते हैं, जैसे इन्द्र में।

पारिषद—द्वारिका में उद्धव, दारुक, सात्यकि, श्रुतदेव, शत्रुजित्, नन्द, उपनन्द व भद्र इत्यादि पार्षद हैं। ये मन्त्रणा एवं सारथ्यादि कार्य में नियुक्त रहने पर भी समय-समय पर परिचर्या में प्रवृत्त होते हैं। कौरवों में भीष्म, परीक्षित व विदुर को पार्षद कहते है। पार्षदों में प्रेमविह्वल उद्धव सर्वप्रमुख हैं।

अनुग—जो सदा परिचर्या में आसक्त-चित्त हैं, उन्हें अनुग कहते हैं। पुरस्थ (द्वारिकास्थित) एवं व्रजस्थ भेद से अनुग दो प्रकार के होते हैं। पुरस्थ अनुग हैं—सुचन्द्र, मण्डन, स्तन्व व सुतन्व इत्यादि, एवं व्रजस्थ अनुग रक्तक, पत्रक, पत्री, मधुकण्ठ, मधुव्रत, रसाल, सुविलास, चन्द्रहास, बकुल इत्यादि हैं। इनमें से रक्तक सर्वप्रधान है।

ये अनुग श्रीकृष्ण की सब प्रकार की परिचर्या करते हैं जैसे मण्डन, श्रीकृष्ण पर कनक-दण्ड-छत्र धारण करते हैं, सुचन्द्र श्वेत चमर से व्यजन करते हैं, सुतन्व ताम्बूल वीटिका समर्पित करते हैं इत्यादि।

पारिषद भी त्रिविध होते हैं—धूर्य, धीर, वीर। धूर्य वे है जो कृष्ण, कृष्णप्रेयसीवर्ग तथा कृष्णदास में यथायोग्य प्रीति रखते हैं। जो श्रीकृष्ण की प्रेयसियों के आश्रित होते हैं, सेवा में अतिशय परायण नहीं होते, उन्हें धीर पारिषद कहते हैं। जो श्रीकृष्ण की कृपा का आश्रय लेकर अन्य की उपेक्षा नहीं करते किन्तु श्रीकृष्ण में ही अतुल प्रीति रखते हैं, उन्हें वीर पार्षद कहते हैं।

आश्रित-दास में भी नित्यसिद्ध, सिद्ध एवं साधक का भेद होता है। यह उपभेद, साधना की अवस्था-विशेष को दृष्टि में रख कर किया गया है।

---

१—अब कीन्ह्यौ प्रभु मोहिं सनाथ।
कोटि-कोटि कीटहु सम नाहीं, दरसन दियौ जगत के नाथ।
असरन-सरन कहावत हौ तुम, कहत सुनी भक्तनि मुख बात॥
ये अपराध छमा सब कीजै, धिक मेरी बुधि कहत डरात।
दीन बचन सुनि काली मुख तैं, चरन धरे फन-फन-प्रति आप।
सूरस्याम देख्यौ अति व्याकुल, खसु दीन्ह्यौ मेटे त्रय ताप॥—सूरसागर, पद सं० ११७७

जीवगोस्वामी ने प्रीति-सन्दर्भ में दास्यभक्ति-मय रस के अन्तर्गत दास का वर्गीकरण कुछ भिन्न प्रकार से किया है। उनके अनुसार भृत्यवर्ग त्रिविध हैं—अङ्गसेवक, पार्षद, प्रेष्य। अङ्गसेवक का कार्य अङ्गमर्दन, ताम्बूल-अर्पण, वस्त्रार्पण तथा गन्ध-समर्पण इत्यादि है। अङ्गसेवक और अनुग प्रायः एक ही हैं। मन्त्री, सारथि, सेनाध्यक्ष, धर्माध्यक्ष, देशाध्यक्ष, तथा विद्याचातुर्य द्वारा सभारञ्जक पार्षद हैं। श्रेष्ठता के कारण पुरोहितगण गुरुवर्ग के अन्तर्गत आते हैं किन्तु उनमें भी आंशिक पार्षदत्व विद्यमान है। शिल्पी इत्यादि प्रेष्य हैं। इन तीनों में अङ्गसेवक प्रियतम दास हैं, पार्षद प्रियतर एवं प्रेष्य प्रिय। इस वर्गीकरण में अधिकृत एवं आश्रित दासों को समाविष्ट नहीं किया गया है। इन दोनों प्रकार के दासों को एक स्वतन्त्र कोटि में रख कर प्रीति-सन्दर्भकार ने एक नूतन रस की स्थापना की है जिसे आश्रय-भक्तिरस का नाम दिया है।

उद्दीपन—श्रीकृष्ण का अनुग्रह, उनकी चरणधूलि, उनके भक्त का अवशिष्ट अन्न प्राप्त करना एवं श्रीकृष्ण के भक्तों का संग—ये सब प्रीतिरस के असाधारण उद्दीपन हैं।[१]

भक्त अपने पुरुषार्थ से जिस प्रीति को उत्पन्न नहीं कर पाता वह श्रीकृष्ण की अनुकम्पा से सहज ही प्रदीप्त हो जाती है। अतः श्रीकृष्ण के अनुग्रह की अनुभूति से भक्त जब कृतार्थ होता है तब कृतज्ञता मिश्रित जो भाव उसके अन्तर में विकसित होता है वह दासत्व का होता है, आश्रित का होता है। भगवान् के श्रीचरणों की धूलि उसके लिए पवित्रतम वस्तु होती है क्योंकि इसे उन त्रितापनाशक चरणों का संस्पर्श प्राप्त हुआ रहता है जिसकी लालसा दास-भक्तों को रहती है और दास में श्रीकृष्ण की चरण-रति प्रमुख होती है। भक्तों के अवशिष्ट अन्न को ग्रहण करने से उनका भक्तिभाव सञ्चरित हो जाता है, ऐसा साधक भक्तों का विश्वास होता है। अतएव वे अवशिष्ट अन्न को ग्रहण करना भक्ति को उद्दीप्त करने का साधन मानते हैं। भक्तों की सङ्गति में उन्हीं सब बातों की चर्चा होती है जो दास्यभक्ति को अंकुरित एवं पल्लवित करते हैं, अतएव कृष्णभक्तों का सङ्ग साधनावस्था में काम्य होता है। सत्सङ्ग में भक्तिभाव के श्रवण से भक्ति उद्बुद्ध होती है।

श्रीकृष्ण का मुरली-नाद, शृङ्ग-ध्वनि, सहास्यावलोकन, गुणोत्कर्षश्रवण, पद्म, पदचिह्न, नवजलधर, अङ्गसौरभ इत्यादि साधारण उद्दीपन हैं।

---

१—ऐसें बसिये ब्रज की बीथिनि।
ग्वारनि के पनवारे चुनि-चुनि, उदर भरीजे सींथिनि।
× × ×
कुञ्ज,-कुञ्ज-प्रति लोटि-लोटि, ब्रज-रज लागे रंग रीतनि॥—सूरसागर, पद सं० ११०८

अनुभाव—भगवत्-आज्ञा का पालन, भगवत्परिचर्या में ईर्ष्याशून्यता, कृष्णदास के साथ मित्रता एवं प्रीतिमात्र में निष्ठा—ये असाधारण कार्य प्रीतिरस के अनुभाव कहे जाते हैं।[१]

भगवदाज्ञा का पालन शरणागति का प्रथम लक्षण है। अहं की समस्त आकांक्षाओं का परित्याग तभी सम्भव हो सकता है जब अपनी मनोनुकूलता न देख कर भगवान् की इच्छा के प्रति समर्पण हो। इस समर्पण से अहं का नाश तथा सेवक भाव उत्पन्न होता है। दास्यभाव के उत्पन्न होने पर अपनी कोई इच्छा नहीं रह जाती, इष्टदेव की प्रसन्नता ही भक्त का एकमात्र उद्यम होता है अवएव वह सदैव उसकी आज्ञा के पालन में तत्पर रहता है। किन्तु सेवा में अच्छे सेवक होने का अन्तिम अहङ्कार भी बच रह सकता है, अन्य सेवकों से श्रेष्ठ होने का गर्व सेवा को कलुषित कर देता है। वास्तविक दास्यभाव में अपनी इतनी भी प्रमुखता नहीं रहती, परिचर्या का सुख ही परिचर्या का फल होता है अतएव दासभक्त ईर्ष्या-द्वेष से उपराम हो जाता है। यह ईर्ष्यारहितता तभी आ सकती है जब उसे अन्य सेवकों से द्वेपमिश्रित स्पर्धा का भाव न हो, मैत्री हो और सद्भावना हो। दासरति में आराध्य के प्रति ऐसा उत्कट पूज्य भाव होता है कि उसके सम्मुख व्यक्ति अत्यन्त तुच्छ एवं नगण्य हो जाता है, उसी में खो कर वह ईर्ष्या-द्वेप सबसे परे हो जाता है।

भगवत् आज्ञा का पालन

> ज्योंही ज्योंहीं तुम राखत हौ, त्योंही त्योंही रहियतु है हो हरि।
> और तौ अचरचे पाइ धरौं, सो तौ कहौ कौन के पेंड परि॥[२]

प्रीतिमात्र में निष्ठा

> जो सुख होत गुपालहिं गाएँ।
> तो सुख होत न जप-तप कीन्हैं, कोटिक तीरथ न्हाएँ।
> दिएँ लेत नहिं चारि पदारथ, चरन-कमल चित लाएँ।
> तीन लोक तृन-सम करि लेखत, नँद-नन्दन उर आएँ॥[३]

---

१—सर्व्वतः स्वानियोगानामाधिक्येन परिग्रहः।
ईर्ष्यालवेन चास्पृष्टा मैत्री तद् प्रणते जने।
तन्निष्ठताद्याः शीता स्युरंष्वसाधारणाः क्रियाः॥२३॥
—भ० र० सि०, पश्चिम विभाग, द्वितीय लहरी

२—स्वामी हरिदास, अष्टादश सिद्धान्त के पद, पद सं० १

३—सूरसागर, पद सं० ३४६

सात्विक—प्रीतिरस में स्तम्भ आदि सारे सात्विक प्रकाशित होते हैं। इस रस में भी ये सात्विक उन्हीं कारणों से उत्पन्न होते हैं जिनसे शान्तरस में। अवश्य ही इसमें भावना का पुट अधिक गहरा होता है। यों सात्विक भावों के उदाहरण दास्यभक्ति के पदों में नहीं मिलते, वे तात्विक रूप में ही गृहीत हुए हैं।

व्यभिचारी—प्रीतिरस में चौबीस व्यभिचारी भावों का प्रकाशन सम्भव है, नौ का नहीं। वे २४ हैं—हर्ष, गर्व, धृति, निर्वेद, विषण्णता, दैन्य, चिन्ता, स्मृति, शंका, मति, औत्सुक्य, चपलता, वितर्क, आवेग, लज्जा, जड़ता, मोह, उन्माद, अवहित्या, बोध, स्वप्न, व्याधि, विषाद, मृति।

प्रीतिभाव के चरितार्थ होने पर हर्ष और गर्व तथा मति का सञ्चार होता है। अपनी हीनता के बोध से विषण्णता, दैन्य, चिन्ता, शंका, चपलता, वितर्क, आवेग, लज्जा अवहित्या जैसे क्षोभकारी भाव उत्पन्न होते रहते हैं, ये चित्त में निर्वेद तथा बोध जाग्रत करते हैं। अपनी दीन-हीन दशा से परित्राण पाने के हेतु दास, प्रभु की कृपा-प्राप्ति के लिए निरन्तर उत्सुक रहता है। यदि कृपा-प्राप्ति में कुछ विलम्ब होता है तो वह मोह और व्याधिग्रस्त होने लगता है; किन्तु जब उसे करुणामय की अनुकम्पा की अनिर्वचनीय अनुभूति हो जाती है तब वह उन्मादित-सा हो उठता है। प्रेमसिक्त परिचर्या के द्वारा श्रीकृष्ण के सान्निध्य को प्राप्त कर दास की चेतना जाग्रत अवस्था से विगत हो, स्वप्न दशा में आरोहण कर जाती है। ये व्यभिचारी भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न रूप से उदय होते हैं। विरह में भक्त की मनःस्थिति मिलन से भिन्न प्रकार की होती है, अतः ये सञ्चारी भी भिन्न रूप-रंग धारण करते हैं।

साधारणतया, मिलन में हर्ष, गर्व, धैर्य तथा अमिलन में ग्लानि, व्याधि, मृति एवं निर्वेद आदि अट्ठारह व्यभिचारी—मिलन एवं अमिलन, दोनों में प्रकट होते हैं।

हरि, हौं सब पतितन को नायक।<br>
× × ×<br>
बहुत भरोसो जानि तुम्हारो, अब कीन्हें भरि भाँड़ौं।<br>
लीजै वेगि निवेरि तुरतहीं, सूर पतित को टाँड़ौ ॥[1]

विषण्णता

अब मैं नाच्यौं बहुत गुपाल।<br>
काम क्रोध कौ पहिरि चोलना, कंठ विषय की माल।<br>
× × ×

१—सूरसागर, 'विनय', पद सं० १४३

'सूरदास की सबै अविद्या दूरि करौ नंदलाल ॥'[1]

चपलता

मोसौं बात सकुच तजि कहियै ।
कत ब्रीड़त, कोउ और बताओ ताही के ह्वै रहियै ।[2]

उपर्युक्त चौबीस सञ्चारियों के अतिरिक्त मद, श्रम, त्रास, अपस्मार, आलस्य, उग्रता, क्रोध, असूया व निद्रा—ये नौ सञ्चारी प्रीतिरस के अतिशय पोषक नहीं हैं, अतएव इनका उल्लेखमात्र किया गया है । प्रीतिरस में मिलन एवं विरह के अनुरूप योग एवं अयोग दो अवस्थाएँ घटित होती हैं ।

अयोग—हरि-सङ्ग के अभाव को अयोग कहते हैं । इसमें श्रीकृष्ण के प्रति मन का समर्पण तथा उनके गुणों का सन्धान किया जाता है, क्योंकि असमर्पित मन से तथा भगवान् के गुणो से अनभिज्ञ चित्त से श्रीकृष्ण का सङ्गलाभ नहीं हो सकता । चिन्ता इसका प्रमुख लक्षण है ।

उत्कण्ठित एवं वियोग भेद से अयोग दो प्रकार का होता है । अदृष्टपूर्व श्रीकृष्ण की दर्शनेच्छा को उत्कण्ठित कहते हैं । इसमें औत्सुक्य, दैन्य, निर्वेद, चिन्ता, चपलता, जड़ता, उन्माद, और मोह का प्राधान्य रहता है ।

श्रीकृष्ण का सङ्गलाभ करके फिर विच्छेद घटित हो तो उसे वियोग कहते हैं । वियोगावस्था में सम्भ्रम-प्रीति की दस अवस्थाएँ होती हैं अङ्गों का ताप, कृशता, जागरण, आलम्बन-शून्यता, अधृति, जड़ता, व्याधि, उन्माद, मूर्च्छा और मृति । चित की अनवस्थिति का नाम आलम्बनशून्यता है तथा सारे विषयों से अनुरागशून्यता का नाम अधृति है ।

योग—श्रीकृष्ण के साथ मिलन को योग कहते हैं । यह सिद्धि, तुष्टि और स्थिति-भेद से तीन प्रकार का होता है । उत्कण्ठित अवस्था में हरि की प्राप्ति को सिद्धि कहते हैं, विच्छेद के पश्चात् कृष्णसम्प्राप्ति को तुष्टि कहते हैं । स्थिति में दासभक्त श्रीकृष्ण की सेवा में सावधानी से नियुक्त रहते हैं ।

### ब—गौरव-प्रीतिरस

श्रीकृष्ण द्वारा पाल्य होने का भाव रखने वाले भक्तों में उनके प्रति गौरव-प्रीति होती है । इसमें उत्तरोत्तर गुरुत्व का ज्ञान होता है । यह प्रीति विभावादि द्वारा पुष्ट होकर गौरव-प्रीतिरस कहलाती है ।

स्थायीभाव—देह सम्बन्धाभिमान के कारण श्रीकृष्ण के अपने गुरु होने में

---

१—सूरसागर, विनय, पद सं० १५१

२—वही, पद सं० १३६

जो भाव हैं, उसे गौरव कहा गया है एवं लालक के प्रति जो तन्मयी प्रीति है उसका नाम गौरवप्रीति है। यह गौरवप्रीति ही गौरवप्रीतिरस का स्थायीभाव है।[१] यह प्रीति किञ्चित् विशेषता प्राप्त करके प्रेम, स्नेह व राग दशाओं तक पहुँचती है।

आलम्बन—हरि एवं हरि के लालनीय भक्तगण इस गौरवप्रीति के आलम्बन हैं। इसमें श्रीकृष्ण महागुरु, महाकीर्ति, महाबुद्धि, महाबल, रक्षक एवं लालक इत्यादि गुणों से विभूषित आलम्बन बनते हैं।

कनिष्ठ एवं पुत्र-अभिमान भेद से लाल्य दो प्रकार के होते हैं। सारण, गद एवं सुभद्र, कनिष्ठत्वाभिमानी हैं एवं प्रद्युम्न, चारुदेव, साम्ब इत्यादि यदुकुमार पुत्रत्वाभिमानी हैं।

सम्भ्रम एवं गौरवप्रीति दोनों प्रकार में श्रीकृष्ण के ऐश्वर्यज्ञान की प्रधानता रहती है। व्रज में इस भाव के जो भक्त हैं, उनमें परमेश्वर-ज्ञान न रहने पर भी इन्द्रजय आदि कार्यों से तथा कृष्ण के गोपराज होने के कारण ऐश्वर्य-भाव का समावेश हो जाता है।

उद्दीपन—श्रीकृष्ण के वात्सल्य एवं ईषत्हास्य इत्यादि को उद्दीपन माना जाता है।

अनुभाव—श्रीकृष्ण के सम्मुख नीचे आसन पर बैठना, गुरुपथ में अनुगमन एवं स्वेच्छाचार का परित्याग - इन्हें शीतभाव कहा जाता है।[२] नीचे आसन पर बैठना तथा गुरुपथ में अनुगमन उनके प्रति पूज्य बुद्धि का परिचायक है तथा स्वेच्छाचार का त्याग वात्सल्य किंवा कनिष्ठ भाव की शोभा है। आज्ञाकारिता वात्सल्य का भूषण है।

गौरवप्रीतिमय भक्तों में दास के कई साधारण अनुभाव भी होते हैं—जैसे प्रणाम, अधिकतर मौन, संकोच, विनयशीलता, अपना प्राण परित्याग करके भी श्रीकृष्ण की आज्ञा का प्रतिपालन, अधोवदनता, स्थैर्य, खाँसी और हास्य आदि का वर्जन, एवं कृष्ण की केलिरहस्यवार्ता से उपरामता।

सात्विक—साधारणतया शान्तरति व्यतिरेक अन्य रसों में सारे सात्विकों का प्रकट होना स्वीकृत है।

व्यभिचारी—सम्भ्रमप्रीति के समस्त व्यभिचारी गौरवप्रीति में भी होते हैं।

---

१—देहसम्बन्धितामात्राद्गुरुधीरत्र गौरवम्। तन्मयी लालके प्रीतिर्गौरवप्रीतिरुच्यते ॥८१॥
—भ० र० सि०, पश्चिमविभाग, द्वितीय लहरी

२—अनुभावास्तु तस्याग्रेनीचासननिवेशनम्। गुरोर्वर्त्मानुसारित्वं धुरस्तस्य परिग्रहः ॥
स्वैराचारविमोचाद्याःशीताल्लाल्येषु कीर्तिताः ॥७७॥—वही

जैसे हर्ष, दूर से पाञ्चजन्य की शंखध्वनि के गगनमंडल में उद्गत होने पर यदुराजधानी में स्थित कुमारों का रोम-रोम हृष्ट नट की भाँति नृत्य करने लगा।[१] इसमें भी अयोग-योग भेद पूर्ववत् हैं।

प्रश्रयभक्ति रस गौरवप्रीतिरस के लाल्य भाव पर आश्रित भाव को प्रीति-सन्दर्भ में प्रश्रयभक्तिरस कहा गया है और उसे स्वतन्त्र रस माना गया है। इस प्रश्रय-भक्तिरस का विवेचन इस प्रकार से किया गया है।

स्थायीभाव—प्रश्रयभक्ति नामक दास्यरति।

आलम्बन—लालक श्रीकृष्ण। इस रस में श्रीकृष्ण का आविर्भाव परमेश्वराकार तथा श्रीमन्नराकार रूप से द्विविधि होता है।[२] ब्रह्मा आदि के श्रीकृष्ण परमेश्वराकार हैं, द्वादशाक्षर मन्त्र के ध्यान से जो गोपबालक दिखाई पड़ते हैं उनके श्रीमन्नराकार तथा द्वारिकाजात लाल्यगण के उभयविध हैं। पुत्र, अनुज, भ्रातुष्पुत्र इत्यादि लाल्य हैं।[३]

उद्दीपन—गुण, जाति, क्रिया, द्रव्य और काल भेद से उद्दीपन पाँच प्रकार के हैं।

गुण—भक्त विषयक वात्सल्य, स्मितदृष्टि इत्यादि एवं श्रीकृष्ण की कीर्ति, बुद्धि, बल इत्यादि।

जाति—गोपत्व, क्षत्रियत्व।

क्रिया—परमेश्वराकार के प्रश्रित भक्तों के लिए सृष्टिस्थिति आदि के कर्ता कृष्ण, विश्वरूपदर्शन इत्यादि क्रियारूप उद्दीपन हैं। नराकार श्रीकृष्ण के प्रश्रित भक्तों के लिए परपक्षदलन, स्वपक्षपालन, सदयावलोकन इत्यादि उद्दीपन हैं।

द्रव्य—अस्त्र (शंख, चक्र, गदा, पद्म और शार्ङ्गधनु) वादित्र (वंशी व शृङ्ग), भूषण, स्थान, पदाङ्क, भक्त इत्यादि। जिनके परमेश्वररूप श्रीकृष्ण आलम्बन हैं, उन पर श्रीकृष्ण के द्रव्य रूपी उद्दीपन अलौकिक रूप में तथा जिनके श्रीमन्नराकार हैं उन पर लौकिक प्रतीत होते हुए भी अलौकिक प्रभाव डालते हैं।

काल—श्रीकृष्ण का जन्म, विजयादि सम्बन्धी तिथि, जाति, क्रिया, द्रव्य, काल उद्दीपन आश्रयभक्तिरस में कथित हुए हैं, इन्हें यथायोग्य प्रश्रयभक्ति रस में भी अवगत किया जाता है।

---

१—भ० र० सि०, पश्चिम विभाग, द्वितीय लहरी (अच्युत ग्रन्थमाला प्रकाशन), पृ० ३५६।

२—अथप्रश्रयभक्तिमयो रसः तत्रालम्बनो लालकत्वेन स्फुरणप्रश्रयभक्तिविषयः श्रीकृष्णाश्च पूर्ववत् परमेश्वराकारः श्रीमन्नराकारश्चेति द्विविधाविर्भावः।—प्रीतिसन्दर्भ, वृत्ति २१८

३—...तत्तदाश्रयत्वेन च लाल्याश्च त्रिविधाः तत्र परमेश्वराकाराश्रयाः ब्रह्मादयः। श्रीमन्नराकाराश्रयाः श्रीदशाक्षरध्यानदर्शितश्रीगोकुलपृथुकाः। उभयाश्रयाः श्रीद्वारकाजन्मानः। ते च सर्वे यथायथं पुत्रानुजभ्रातुष्पुत्रादयः।—वही

अनुभाव—बाल्यभाव से मृदुभावसहित श्रीकृष्ण से नाना प्रश्न करना, उनसे खेलने की प्रार्थना करना, उनके बाहु, अंगुलि इत्यादि का अवलम्बन ग्रहण कर अवस्थित श्रीकृष्ण के क्रोड़ में बैठना तथा उनका चर्वित ताम्बूल ग्रहण करना इत्यादि प्रश्रयभक्तिरस के अनुभाव हैं।

बाल्यभिन्न अन्य वयस् (किशोर, यौवन) में श्रीकृष्ण का आज्ञापालन, उनकी चेष्टा का अनुसरण, स्वातन्त्र्य-त्याग इत्यादि अनुभाव हैं। किन्तु बाल्य तथा अन्य अवस्था में श्रीकृष्ण का आनुगत्य प्रमुख अनुभाव है।

सात्विक—स्तम्भादि समुदाय।

व्यभिचारी—पूर्वोक्त हर्ष, गर्व इत्यादि।

विभावादि संवलित इस प्रश्रयभक्तिरस में पूर्वकथित योग-अयोग आदि भेद भी हैं।

वास्तव में, मध्ययुगीन हिन्दी और बङ्गला के कृष्णकाव्य में प्रीतिरस का सम्यक् स्फुरण नहीं हुआ है। सिद्धान्त रूप में इस रस का विस्तृत विवेचन चैतन्य सम्प्रदाय में अवश्य हुआ किन्तु रस रूप में दास्यभाव को रूपान्तरित कर देने वाला काव्य नहीं रचा गया। हिन्दी में सूरदास के विनय के पदों में दास्यरति सर्वाधिक विकसित रूप में मिलती है। सम्भ्रमप्रीति से अधिक गौरवप्रीति की ओर सूरदास जी का झुकाव परिलक्षित होता है। उनमें अपने इष्टदेव के प्रति ममता भी विकसित है और श्रीकृष्ण के प्रति बालक की धृष्टता भी यत्र-तत्र खुलकर प्रकट हुई है। वस्तुत: प्रीतिरस का सम्यक् निर्वाह द्वारिका-लीला के प्रसङ्ग में हो सकता था किन्तु मध्ययुग के कृष्णकाव्य में ब्रजलीला का ही विशद गान हुआ है, अन्य धाम की लीलाओं का वर्णन प्राय: नगण्य-सा है।

प्रेयभक्तिरस—(मैत्रीमयरस) सख्यभावजन्यरस को प्रेयभक्तिरस कहा गया है। आत्मोचित विभावादि द्वारा स्थायीभाव सख्य जब सज्जन के चित्त में रस की पुष्टि कराता है तब उस रस को प्रेयभक्तिरस कहते हैं।[१]

स्थायीभाव—समानप्राय सखाद्वय की सम्भ्रमशून्य विश्वासमयी रति को सख्य कहते हैं। यह सख्यरति प्रेयरस का स्थायीभाव है।[२]

---

१—स्थायीभावो विभावाद्यैः सख्यमात्मोचितैरिह।
नीतश्चित्ते सतां पुष्टिं रसप्रेयानुदीर्य्यते ॥१॥
—भ० र० सिं०, पश्चिम विभाग, तृ० ल०

२—विमुक्तसम्भ्रमा या स्याद्विश्रम्भात्मा रतिर्द्वयोः।
प्रायः समानयोरत्र सा सख्यं स्थायिशब्दभाक् ॥४५॥ —वही

यह सख्यरति वृद्धि प्राप्त होकर क्रमशः प्रणय, प्रेम, स्नेह और राग दशाओं तक आरोहण करती है। जिस रति में स्पष्ट रूप से सम्भ्रम का अवकाश हो फिर भी सम्भ्रम स्पर्श न कर सके, उसे प्रणय कहते हैं।[१] प्रेयरस की इन अवस्थाओं का उदाहरण भी दिया गया है। यथा—

प्रेम—पाण्डवों के अज्ञातवासकाल में नारद ने श्रीकृष्ण से कहा, हे मुकुन्द! तुम परमेश्वर हो, उनकी राज्यच्युति, वनवास, परगृह में दासकर्म जैसी अमङ्गलमयी दुर्गति हुई है, फिर भी तुम्हारे मन में उन पाण्डवों के प्रति दुगुना सख्यामृत बढ़ा है।[२]

स्नेह—श्रीकृष्ण के क्रीड़ा करते-करते सो जाने पर अन्य गोपबालक स्नेह से आर्द्रचित्त होकर उनका मनोज्ञ गीत गाने लगे।[३]

राग—निष्ठुर अश्वत्थामा ने जब दुष्परिहार्य वाणपंक्ति श्रीकृष्ण पर चलाई तब गाण्डीवधारी अर्जुन ने उछल कर उस वाणश्रेणी को अपने हृदय पर धारण कर लिया, अर्जुन को यह वाणवृष्टि पुष्पवृष्टि सदृश प्रतीत हुई।[४]

आलम्बन—हरि एवं हरि के सखागण।

द्विभुजरूपधारी श्रीकृष्ण प्रेयरस के आलम्बन होते हैं, कहीं वे चतुर्भुजरूप में भी आविर्भूत होते हैं। कहीं चतुर्भुजरूप में आविर्भूत होने पर भी श्रीकृष्ण उत्कट सख्य के कारण नराकार ही प्रतीत होते हैं जैसे विश्वरूप दर्शन के पश्चात् अर्जुन के सम्मुख।

प्रेयरस के आलम्बन श्रीकृष्ण सुन्दरवेशधारी, सर्वसंल्लक्षणयुक्त, बलिष्ठ, विविध प्रकारेण अद्भुत भाषावेत्ता, वावदूक, सुपण्डित, अतिशय प्रतिभाशाली, दक्ष, करुणाविशिष्ट, वीरश्रेष्ठ, विदग्ध, बुद्धिमान्, क्षमाशाली, रक्तलोक, समृद्धिमान् एवं सुखी हैं।

सखा वे हैं जो रूप, गुण और वेश में श्रीकृष्ण के समान हैं, दास की भाँति यन्त्रणाशून्य हैं एवं विश्वासी हैं। सखा व्रजस्थ, पुरस्थ भेद से दो प्रकार के हैं। द्वारिकापुर में अर्जुन, भीमसेन, द्रौपदी, श्रीदामा ब्राह्मण इत्यादि सखा हैं जिनमें अर्जुन सर्वश्रेष्ठ हैं। किन्तु प्रेयरस में व्रजस्थ सखाओं की मान्यता अधिक है। व्रज सम्बन्धी सखा क्षणमात्र को भी कृष्ण का दर्शन न पाकर व्यथित हो जाते हैं, सदा

---

१—भक्तिरसामृतसिंधु, पश्चिम विभाग, सृ० ल० (अच्युतग्रन्थमाला प्रकाशन, १९८८ विक्रमाब्द) श्लोक ५७।

२—वही, पृ० २८७।

३—वही, पृ० २८८।

४—वही, पृ० २८८।

श्रीकृष्ण के साथ विहार करते हैं, उनका जीवन ही कृष्णमय है। ये व्रजवासी श्रीकृष्ण के वयस्य कहे जाते हैं, सारे सखाओं में ये प्रधान हैं। गोकुल में वयस्य चार प्रकार के कहे गये हैं—सुहृत्, सखा, प्रियसखा, प्रियनर्मसखा।

सुहृत् के सख्य में वात्सल्य की गन्ध होती है। ये वयस् में श्रीकृष्ण की अपेक्षा किञ्चित् बड़े हैं, अस्त्रधारी हैं और सदा दुष्टों से श्रीकृष्ण की रक्षा करते हैं। सुभद्र, मण्डलीभद्र, गोभट, भद्रवर्द्धन, इन्द्रभट, भद्राङ्ग, बलभद्र, वीरभद्र, आदि गोपगण सुहृत् हैं। इनमें से मण्डलीभद्र व बलभद्र प्रधान हैं।

जो श्रीकृष्ण के कनिष्ठतुल्य हैं, जिनका प्रेम किञ्चित् दास्यभावमिश्रित है, उन्हें सखा कहते हैं। विशाल, वृषभ, ओजस्वी, देवप्रस्थ, वरूथप और मरन्द इत्यादि श्रीकृष्ण के सखागण हैं, ये उनकी सेवा में अनुरक्त हैं।

जो तुल्यवयस हैं एवं केवल सख्यभाव के आश्रित हैं, उन्हें प्रियसखा कहा गया है। श्रीदाम, सुदाम, दाम, वसुदाम, किंकिणी, स्तोककृष्ण, अंशु, भद्रसेन, पुण्डरीक, विटङ्क व कलविङ्क इत्यादि श्रीकृष्ण के प्रियसखा हैं। ये विविध केलि द्वारा सर्वदा श्रीकृष्ण को सुख प्रदान करते हैं। सर्वप्रमुख प्रियसखा श्रीदाम हैं।

प्रियनर्म्मसखा उपर्युक्त तीनों वयस्यों से श्रेष्ठ हैं क्योंकि वे श्रीकृष्ण के अन्तरङ्ग हैं। प्रियनर्म्मसखा विशेष भाव-सम्पन्न हैं एवं श्रीकृष्ण के अत्यन्त गोपनीय रहस्य-कार्यों में नियुक्त रहते हैं।

सखागण नित्यप्रिय, देवता व साधक भेद से त्रिविध कहे गये हैं। इनमें से कोई सखा स्थिरभाव से मन्त्री की भाँति श्रीकृष्ण की उपासना करता है, कोई परिहासक है जो अपने चपल स्वभाव से श्रीकृष्ण को हँसाता है, कोई अपने सरल स्वभाव और ऋजु व्यवहार से श्रीकृष्ण को सुखी करता है। कोई सखा प्रतिकूल वक्रभाव से श्रीकृष्ण को विस्मित करता है, कोई प्रगल्भतापूर्वक श्रीकृष्ण से वादविवाद करता है। इस प्रकार सखाओं का श्रीकृष्ण से बहुमुखी सम्बन्ध है। ये सब मधुर स्वभाव के हैं एवं पवित्र मैत्री द्वारा नाना कार्यों में वैचित्र्य सम्पादन करते हैं।

उद्दीपन—श्रीकृष्ण की वयस्, उनका रूप, शृङ्ग, वेणु, शंख, तथा विनोद, परिहास एवं पराक्रम, राजा, देवता, अवतार की चेष्टाओं का अनुकरण प्रेयरस के उद्दीपन हैं। इनके अतिरिक्त श्रीकृष्ण के गुण—अभिव्यक्त मित्रता, सरलता, कृतज्ञता, बुद्धिपाण्डित्य, प्रतिभा, दक्षता और शौर्यबल इत्यादि—भी उद्दीपन हैं।

वयस्—कौमार, पौगण्ड और कैशोर। गोकुल में कौमार एवं पौगण्ड, मथुरा, द्वारिका में कैशोर वयस् उद्दीपन है। कौमार वात्सल्य के अधिक अनुकूल है, अतएव गोकुल में सख्यरस श्रीकृष्ण के पौगण्ड वयस् में प्रस्फुटित होता है।

पौगण्ड की आद्य, मध्य और शेष तीन अवस्थाएँ होती हैं। आद्यपौगण्ड में अधर की रक्तिमा, उदर की कृशता, कण्ठ में शंख की भाँति तीन रेखा आदि चिह्न लक्षित होते हैं। इस वयस् के प्रसाधन हैं पुष्पालङ्कार, गैरिक आदि धातु द्वारा चित्रजल्प, पीतवर्ण एवं पट्टवस्त्र आदि। वन में गोचारण, वाहुयुद्ध, नृत्य, शिक्षारम्भ इत्यादि चेष्टाएँ हैं। मध्यपौगण्ड में भाण्डीरतट पर क्रीड़ा व गोवर्द्धनधारण चेष्टाएँ होती हैं। अन्त्य-पौगण्ड में वाक्यभङ्गिमा, नर्मसखाओं से कानाफूसी, उनसे गोकुलवालाओं की प्रशंसा आदि चेष्टाएँ व्यक्त होती हैं। कैशोर मधुररस के प्रसङ्ग में विस्तार से वर्णित है।

समवयस्क सखाओं में मैत्रीभाव अधिक प्रगाढ़ होता है। कृष्ण के मानव-सुलभ गुण—अभिव्यक्तमित्रता, कृतज्ञता, आदि—भक्त और भगवान् के बीच की चौड़ी खाई पाट देते हैं। उनके इन गुणों के कारण मानव हृदय की दिव्यसत्ता के लिए पुकार सार्थक हो पाती है। समानता का भाव भक्ति को ग्लानि-विवश कुण्ठा से मुक्त करके सर्वप्रथम ऐसी भावभूमि पर आत्मा-परमात्मा का साक्षात्कार करवाता है जिसमें अंशी-अंश परस्पर ओतप्रोत होने लगते हैं, उनमें क्रीड़ा का भाव स्फुरित होने लगता है। कृष्ण का बुद्धि-पाण्डित्य, दक्षता, प्रतिभा आदि गुण विस्मय के भाव को अक्षुण्ण रख कर भक्तिरस को प्राकृत सख्यरस से ऊँचा उठाए रहते हैं, अलौकिकता का स्पर्श बनाये रखते हैं। कुछ उद्दीपन के उदाहरण यहाँ दिये जा रहे हैं, यथा—

राजा का अनुकरण

विविध कुसुम दिया सिंहासन निरमिया
कानाई वसिला राजासने।
रचिया कुसुम दाम छत्र धरे वलराम
गद्गद् नेहारे वदने॥
अशोक-पल्लव करे सुबल चामर करे
सुदामेर करे शिखिपुच्छ।
भद्रसेन गाँथि माला पराय कनाइर गले
शिरे देय गुञ्जाफल गुच्छ।

× × ×

ए उद्धवदास कय सख्य-दास्य रसमय
सेवये सकल सखा मेलि।[१]

---

१—पदकल्पतरु, पद सं० १२३८

अभिव्यक्त मित्रता, कृतज्ञता, बुद्धिचातुर्य

स्याम कहत नहिं भुजा पिरानी, ग्वालनि कियो सहैया।
लकुटनि टेकि सबनि मिलि राख्यो, अरु धावा नंदरैया ॥[१]

शौर्यबल

सब मिलि पूछें गोवर्द्धन क्यों धर्यो।
कहो कृष्ण ऐसो डर काको क्यों मघवा पायन पर्यो।[२]

रूप

कन्हैया हेरी दे।
सुभग सांवरे गात की मैं, सोभा कहत लजाऊं।
मोर-पंख सिर-मुकुट की, मुख-मटकनि बलि जाऊं।

× × ×

सब मिलि आनंद प्रेम बढ़ावत, गावत गुन गोपाल।
यह सुख देखत स्याम संग कौं, सूरदास सब ग्वाल ॥[३]

अनुभाव—सख्यरस के अनुभाव भक्तिरसशास्त्र की मौलिक सूझ हैं। इस रस के अनुभाव हैं—बाहुयुद्ध, कन्दुक, द्यूत, स्कन्ध पर आरोहण व वहन, परस्पर लाठी खेलना, युद्ध द्वारा श्रीकृष्ण का परितोष—पर्यंङ्क आसन व झूला में श्रीकृष्ण के साथ सोना, बैठना, परिहास करना, जलाशय में विहार। श्रीकृष्ण से मिलने पर सखाओं में नृत्य-गीत आदि भी हुआ करता है। ये अनुभाव अत्यन्त सहज हैं, पौगण्डवयस् में ये क्रीड़ाकौतुक हुआ करते हैं। इस प्रकार के खेल समानता के भाव में ही खेले जा सकते हैं, किसी सम्भ्रम या आत्महीनता से आक्रान्त होकर नहीं। सख्यरस की ये स्वाभाविक चेष्टाएँ हैं।

स्कन्ध पर आरोहण

आजि खेलाय हारिला कानाई।
सुबल करिया कान्धे वसन आँटिया बाँधे वंशीवटेर तले जाई।[४]

---

१—सूरसागर, पद सं० १५८३
२—परमानन्द सागर, पद सं० २६७
३—सूरसागर, पद सं० १०६६
४—पदकल्पतरु, पद सं० ११६७

पर्यङ्क में शयन

सुन्दर स्याम शरीर।
श्रीदामक कोरे अलसे तहिं शूतल सुवल कोरे बलवीर।[१]

नृत्यगीतादि

चरावत वृन्दावन हरि घेनु।
ग्वाल सखा सब संग लगाये, खेलत हैं करि चैनु।
कोउ गावत कोउ मुरलि बजावत, कोउ विषान कोउ वेनु।
कोउ निरखत कोउ उघटि तार दै, जुरि ब्रज बालक सैनु।[२]

प्रेयभक्तों का कार्य

सुहृदों का कार्य है श्रीकृष्ण को कर्तव्याकर्तव्य का उपदेश देना, हितजनक कार्य में प्रवृत्त करांना, एवं सब कार्य में अग्रसर होना। सखाओं का कार्य श्रीकृष्ण के मुख में ताम्बूल अर्पण करना, तिलक निर्माण, चन्दनलेपन, व मुखमण्डल को चित्रविचित्र अङ्कित करना है। प्रियसखाओं का कर्म है श्रीकृष्ण को युद्ध में पराजित करना, हाथ से फूल छीन लेना, श्रीकृष्ण द्वारा अपना शृङ्गार करवाना, तथा हाथा-पायी का प्रस्ताव रखना। व्रजकिशोरियों का दौत्य करना, उनके प्रणय का अनुमोदन करवाना, उनके साथ प्रणय-कलह उपस्थित होने पर श्रीकृष्ण का पक्ष-समर्थन, काना-फूसी इत्यादि प्रियनर्मसखाओं के कार्य हैं।

दासभक्तों के साथ वयस्यों की साधारण क्रियाएँ हैं—वन्यपुष्पों एवं रत्नालङ्कारों द्वारा श्रीकृष्ण का अलङ्करण, श्रीकृष्ण के सम्मुख नृत्य, गीत, गोसुश्रूषा, अङ्गमर्दन, व्यजन और मालाग्रन्थन आदि।

सात्विक—स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, स्वरभेद, अश्रु आदि।

प्रेयरस के पदों में सात्विक भाव के उदाहरण कियत् हैं। भक्तिरसामृतसिन्धु में कालियह्रद में श्रीकृष्ण के प्रवेश करने पर सखाओं की दशा का एक उदाहरण दिया गया है जिसमें अधिकांश सात्विक सम्मिलित हो गये हैं।[३] यों कृष्ण के अलौकिक

---

१—पद कल्पतरु, पद सं० १२०१

२—सूरसागर, पद सं० १०६६

३—प्रविष्टवति माधवे भुजगराजभार्ज ह्रदम्। तदीयसुहृदस्तदा पृथुलवेपथुव्याकुलाः।
विवर्णवपुषः क्षणाद्विकट घर्घरध्मायिनो। निपत्य निकटस्थली भुवि सुपुप्तिमारेभिरे ॥४१॥
—भ० र० सिं०, पश्चिम विभाग, तृ० ल०

कृत्यों को देखकर स्तम्भ, रोमाञ्च आदि सात्विकों का प्रकट होना स्वाभाविक है। उनके गुणों से अभिभूत चित्त में प्रशंसाभाव के कारण रोमाञ्च, स्वरभेद, अश्रु और प्रलय आदि सात्विक प्रकट हुए रहते हैं।

व्यभिचारी—उग्रता, त्रास, आलस्य के अतिरिक्त अन्य सारे व्यभिचारी प्रेयरस में प्रकट होते हैं। योग में मद, हर्ष, गर्व, निद्रा व धृति तथा अयोग में मृति, क्लम, व्याधि, अपस्मार व दीनता अधिक व्यक्त होते हैं।

कृष्ण का सान्निध्य पाकर सखा को हर्ष के साथ-साथ मद और गर्व भी हो सकता है। प्राप्ति पर चित्त की अचञ्चलता (धृति) एवं मनस्तुष्टि स्वाभाविक है। प्रेयरस की लीलाओं की अविच्छिन्न अनुभूति से जाग्रत मन का निमीलन (निद्रा) सम्भव है। जिसका सारा सौन्दर्य, सारा उत्साह, जीवन में सारी रुचि कृष्ण-संग के कारण हो, उसका कृष्ण के अभाव में अपना कोई अस्तित्व ही नहीं रह जाता। अतएव सखा, विरह में अत्यन्त दीन हो जाता है और जीवन की प्रेरणा तथा स्फूर्ति के लुप्त हो जाने से वह व्याधिग्रस्त-सा हो जाता है। कृष्ण की निरन्तर स्मृति से मन जब अत्यन्त विकल और दुःखकातर हो जाता है तब उसको अपस्मार, क्लम और मृति जैसे बाह्य-चेतना को निर्जीव और हतप्रभ करने वाले भाव सहज ही आक्रान्त कर लेते हैं। ये सञ्चारी कृष्ण को भी अभिभूत करते हैं क्योंकि अपने सखाओं के लिए उनके मन में वैसा ही प्रेम होता है जैसा सखाओं में उनके लिए।

प्रेयरस में भी अयोग व योग दो अवस्थाएँ होती हैं। अयोग में उत्कण्ठित और वियोग तथा योग में सिद्धि, तुष्टि व स्थिति अवस्थाएँ इस रस में भी घटित होती हैं।

अयोग - उत्कण्ठित अर्जुन धनुर्वेद का अध्ययन करते-करते वाष्पपूरित गद्गद्-वाक्य सहित श्रीकृष्ण से आलिङ्गन निवेदित करने लगे।[१]

वियोग—श्रीकृष्ण के मथुरा चले जाने पर सखाओं की अवस्था वियोग के अन्तर्गत आती है। इस स्थान पर दस दशाएँ उल्लिखित हैं—ताप, कृशता, जागरण, आलम्बन-शून्यता, अधृति, जड़ता, व्याधि, उन्माद, मूर्च्छा, मृति।

---

१—भक्तिरसामृतसिंधु, पश्चिमविभाग, तृ० ल० श्लोक ५७—अच्युत ग्रन्थमाला-प्रकाशन, १९८८ विक्रमाब्द, पृ० २८८।

कृशता, ताप, अधृति

सब तें छीन सरीर सुबाहु । (कृशता)
आधो भोजन सुबल करत हैं, सब ग्वालिनि उर दाहु । (ताप)
नन्द गोप पिछवारे डोलत नैनन नीर प्रवाहु । (अधृति)
आनन्द मिट्यो मिटी सब लीला, काहू मन न उछाहु ।[1]

मूर्च्छा, मलिनता, कृशता, उन्माद

आसिवार काले हेरि धेनुशाले पड़े मुरछित हैया ।
चूड़ा नाहि बांधे नटवर-छान्दे बसन नाहिक परे ।
भोजन तेजल देह दुरबल सतत प्रलाप करे ।[2]

वियोग की दस दशाएँ प्रकट लीला में स्वीकृत हैं, अप्रकट लीला में नहीं । अप्रकट नित्यलीला में श्रीकृष्ण और व्रजवासियों का कभी विच्छेद नहीं होता ।

योग

सिद्धि—द्रुपदनगर में कुम्भकारगृह में श्रीकृष्ण को देखकर तुल्याकृति होने के कारण अर्जुन ने उनसे मित्रता की ।

तुष्टि—श्रीकृष्ण के इन्द्रप्रस्थ जाने पर भीम मामा कृष्ण का आलिगन करते हुए हास्यवदन हुए, प्रेमाश्रुधारा से आकुल होकर नकुल सहदेव के साथ आकर अर्जुन प्रियतम अच्युत का आलिङ्गन करते हुए स्वेद से भींग गये ।[3]

स्थिति

व्रजवासियों के साथ श्रीकृष्ण की नित्यस्थिति है । सखाओं से श्रीकृष्ण कहते हैं कि वे उन्हें छोड़ कर कहीं नहीं जाते ।[4]

सिद्धि, तुष्टि, स्थिति प्रकट लीला में द्वारिका में ही सम्भव है । व्रज में कभी अप्रकट वियोग नहीं होता, अतः सदैव योग की स्थिति रहती है । प्रकट लीला में जब व्रज के सखाओं से विच्छेद हुआ तब उस विच्छेद के पश्चात् कृष्ण से पुनर्मिलन क्षण भर के लिए ही हुआ ।

---

१—सूरसागर, पद सं० ४७०७
२—पदकल्पतरु, पद सं० १७५८
३—तं मातुलेयं परिरम्य निवृत्तो भीमः स्मयन् प्रेमजलाकुलेन्द्रियः ।
यमौ किरीटीच सुहृत्तमं मुदा प्रवृद्धवाष्पाः परिरेभिरेऽच्युतम् ॥—भागवत, १०।७१।२५
४—व्रज तै तुमहिं कहूँ नहिं टारौं, यह पाइ मैं हूँ व्रज आवत ।—सूरसागर, पद सं० १०६६

वत्सलभक्तिरस—विभावादि द्वारा पुष्ट होकर वात्सल्य-स्थायी वत्सलभक्ति-रस कहलाता है।[१]

स्थायीभाव—अनुकम्प्य के प्रति अनुकम्पाकारी की जो सम्भ्रमशून्य रति होती है उसे वात्सल्य कहते हैं। यह वात्सल्य वत्सलरस का स्थायीभाव है। वात्सल्य-रति भी प्रेम, स्नेह व अनुराग दशाएँ धारण करती है।

आलम्बन—श्रीकृष्ण एवं उनका गुरुवर्ग। कृष्ण का कोमल, शैशव और कौमार्य ही इस रस में मुख्यतः ग्राह्य है, यद्यपि आद्यकैशोर तक वे अपने गुरुजन के वात्सल्य के पात्र बने रहते हैं। श्यामाङ्ग, रुचिर, सर्वसंल्लक्षणाक्रान्त, मृदु, प्रियवाक्य, सरल, लज्जाशील, विनयी, मान्यजन को मानप्रद, दाता इत्यादि गुणों से विभूषित श्रीकृष्ण वत्सलरस के आलम्बन हैं। किन्तु जब इन गुणों का वत्सलता में तिरोभाव हो जाता है और वे प्रभाव-शून्य होकर अनुग्रह के पात्र से लगते हैं, तभी कृष्ण की आलम्बन-विभावना होती है, अन्यथा परमेश्वर का अनुग्राह्य होना असम्भव प्रतीत होगा।[२] गुरुवर्ग में वे हैं जिनमें यह भाव है कि वे कृष्ण से बड़े हैं। अधिकमन्यभाव, शिक्षा देने एवं लालन आदि गुणों के कारण गुरुवर्ग इस वत्सलरस के आश्रय हुए रहते हैं। इस वर्ग में यशोदा, नन्द, रोहिणी, ब्रह्मा द्वारा हरे गये पुत्रों की माताएँ, देवकी व उनकी सपत्नियाँ, कुन्ती, वसुदेव एवं सन्दीपन मुनि आते हैं जिनमें प्रधान हैं यशोदा और नन्द।

उद्दीपन—कौमारादि वयस्, रूप, वेश, बाल्य-चञ्चलता, मधुरवाक्य, मन्दहास्य, क्रीड़ा आदि वत्सलरस के उद्दीपन हैं।

कौमार की तीन अवस्थाएँ होती हैं—आद्य, मध्य, शेष। प्रथम कौमार में उरुदेश की स्थूलता, नेत्र के अन्तर्भाग में शुक्लवर्णता, अल्प दन्तोद्गम एवं मृदुता प्रकट रहती है। आद्यकौमार में बारम्बार पादनिक्षेप, क्षण में रोना क्षण में हँसना, अंगूठा चूसना, उतान सोना इत्यादि चेष्टाएँ होती हैं। कण्ठ में बाघ-नख,

---

१—विभावाद्यैस्तु वात्सल्यं स्थायी पुष्टिमुपागतः।
एष वत्सलतामात्र प्रोक्तो भक्तिरसो बुधैः ॥१॥
—भ० र० सिं०, पश्चिमविभाग, च० ल०

२—श्यामांगो रुचिरः सर्व्वसंल्लक्षणयुतो मृदुः ॥२॥
प्रियवाक् सरलो ह्रीमान् विनयी मान्यमानकृत् ॥
दातेत्यादिगुणः कृष्णो विभाव इह कथ्यते ॥३॥—वही।

रक्षातिलक, काजल, कटि में पट्टरज्जु व हाथ में सूत्र—ये सब आद्यकौमार के आभूषण हैं।

मध्यकौमार में केश के अग्रभाग गिरने लगते हैं, ईषत् नग्नता अर्थात् कृष्ण कभी वस्त्र पहिनते हैं, कभी विवसन रहते हैं तथा कर्णछेदन, रिंगण आदि चेष्टाएं हुआ करती हैं। इस अवस्था के अलङ्कार हैं नासाग्र में मोती, हाथ में नवनीत, कटि में छोटी घण्टी।

शेषकौमार में मध्यदेश ईषत् क्षीण होने लगता है, वक्षस्थल किञ्चित् विशाल होने लगता है एवं मस्तक पर लटें लटकने लगती हैं। घटी (एक वस्त्रविशेष जिसमें कम फैलान होती है किन्तु लम्बाई काफी होती है, और जिसका अगला हिस्सा साँप के फण की भाँति कुञ्चित होता है), वन्यभूषण, हाथ में छोटी वेंत इत्यादि इस वयस् के भूषण हैं। व्रज के आस-पास गोवत्सचारण, सखाओं के साथ क्रीड़ा, सूक्ष्म वेणु, शृङ्ग व पत्तों का वाद्य-वादन इत्यादि शेष कौमार की चेष्टाएं हैं।

पौगण्ड का विस्तृत वर्णन प्रेयरस के प्रसङ्ग में हो चुका है।

कैशोर वयस् वत्सलभक्तिरस के अधिक अनुकूल नहीं है। श्रीकृष्ण के नवयौवन से शोभायमान होने पर भी वत्सलरस-निष्ठ व्यक्तियों के निकट पौगण्ड-वयस् ही विशेष रूप से आस्वादनीय होती है।

रूप-वेश

हरि जू की बाल-छवि कहौं बरनि।
सकल सुख की सींव, कोटि-मनोज-सोभा हरनि।
भुज-भुजङ्ग सरोज नैननि, वदन विधु जित लरनि।
रहे विवरनि सलिल नभ उपमा अपर दुरि डरनि।[१]

वाल्य-चापल्य—दूध के मटके फोड़ना, आँगन में दही फेंकना, मथानी तोड़ना तथा अग्नि में निरन्तर नवनीत डाल कर माता का आनन्द वढ़ाना इत्यादि क्रीड़ाएं वाल्य-चापल्य-बोधक हैं।[२]

---

१—सूरसागर, पद सं० ७२७

२—हरि सब भाजन फोरि पराने।
छींक देत पैठे दै पैला नेक न मनहिं डराने।
सीकें छोरि मारि लरिकनि कौं माखनदधि सब खाइ।
भवन मच्यौ दधि कांदौ लरकनि रोवत पाए जाइ॥—सूरसागर, पद सं० ९४६

मधुर वाक्य

मा मा मा वलि चान्द वदन तुलि नवीन कोकिला येन वोले।[१]

× × ×

मैया मैं नहिं माखन खायौ।
ख्याल परैं ये सखा सबै मिलि, मेरे मुख लपटायौ।
देखि तुही सींके पर भाजन, ऊँचे धरि लटकायौ।
हौं जु कहत नान्हें कर अपनें, मैं कैसे करि पायौ।[२]

अनुभाव—जो चेष्टाएँ वात्सल्य, विशेषकर मातृत्व में अत्यन्त स्वाभाविक हैं वे ही वत्सल-रस के अनुभाव हैं। मस्तक आघ्राण, अङ्ग सहलाना, आशीर्वाद, आज्ञाकरण, लालन, प्रति-पालन और हितोपदेश आदि इस रस के असाधारण अनुभाव हैं। मित्र के साथ तिरस्कार, नाम लेकर पुकारना, चुम्बन और आलिङ्गन आदि वत्सल-रस के साधारण कार्य हैं।

अङ्गसहलाना, चुम्बन, आलिङ्गन

धरनि-धर राख्यौ दिन सात।
अतिहीं कोमल भुजा तुम्हारी, चापति जसुमति मात॥
ऊँचौ अति विस्तार भार बहु, यह कहि कहि पछितात।
वह अगाध तुव तनक तनक कर, कैसे राख्यौ तात॥
मुख चूमति, हरि कंठ लगावति, देखि हँसत बल भ्रात।
सूर स्याम कौं कितिक बात यह, जननी जोरति नात॥[३]

हितोपदेश

आमार शपति लागे ना धइह धेनुर आगे परानेर परान नीलमणि।[४]

× × ×

कन्हैया तू नहिं मोहि डरात।
षट्रस धरे छाँड़ि कत पर घर, चोरी करि-करि खात।[५]

सात्विक—स्तम्भादि आठों सात्विक वत्सलरस में प्रकाशित होते हैं। इनके

१—पदकल्पतरु, पद सं० ११६०
२—सूरसागर, पद सं० ९५२
३—वही, पद सं० १५८७
४—पदकल्पतरु, पद सं० ११८६
५—सूरसागर, पद सं० ९८७

अतिरिक्त स्तनदुग्धक्षरण— यह एक और सात्विक प्रकट होता है। ममता में अश्रु-पूरित होना स्वाभाविक है। शिशु की चेष्टाओं से पुलकित माता-पिता में रोमाञ्च, कम्प और स्वरभङ्ग आदि भी नैसर्गिक हैं। सन्तान पर किसी विपत्ति की आशङ्का से या हर्षातिरेक से स्तम्भ जैसे सात्विक प्रकट होते हैं, आदि-आदि।

स्तनदुग्धक्षरण

हेरइते परशिते लालन करइते स्तन खिरे भीगल वास।[१]

व्यभिचारी—अपस्मार सहित प्रीतिरसोक्त व्यभिचारी वात्सल्यरस में प्रकट हुए रहते हैं। उनका उदाहरण योग-अयोग में दिया गया है। वत्सल-रस की भी योग-अयोग अवस्थाएँ होती हैं।

अयोग—वत्सल-रस में भी अयोग के उत्कण्ठित और वियोग भेद हुआ करते हैं। उत्कण्ठित का उदाहरण व्रजलीला में नहीं मिलता। वियोग का ही विस्तृत प्रसङ्ग वहाँ प्राप्त है। वियोग में अनेक व्यभिचारियों की सम्भावना होती है किन्तु चिन्ता, विषाद, निर्वेद, दैन्य, जड़ता, चपलता, उन्माद और मोह की प्रधानता रहती है।

चपलता

फूटि न गई तुम्हारी चार्यों कैसे मारग सूझै॥[२]

दैन्य

हौं तो धाइ तिहारे सुत की मया करत ही रहियो।[३]

चपलता, उन्माद, मूर्च्छा, मोह

रजनी प्रभाते माता यशोमति नवनी लइया करे।
कानाइ बलाइ बलिया डाकये निझरे नयान झरे॥
तबे मने पड़े तारा मधुपुर तवहि हरये ज्ञान।
कुयल-कुन्तले लोटाय भूतले क्षेणे रहि मुरछान॥
श्रीदाम सुवल आसिया से वेले श्रवण वदन दिया।
तुया नाम करि उठये फुकरि शुनि थिर बान्धे हिया॥
चेतन पाइया सुबले लइया यतेक विलाप करे।
से कथा व शुनिते मनुज पशुज परान नाहिक धरे॥

---

१—पदकल्पतरु, पद सं० ११५४
२—सूरसागर, पद सं० ३७५३
३—वही—पद सं० ३७६४

तिल आध तोरे नादेखिया मरे बने ना पाठाय जेह।
ए पुरुषोत्तम कहये से जन केमने धरिव देह॥[१]

योग : सिद्धि—वसुदेव की पत्नियाँ रङ्गस्थल में समुस्थित श्रीकृष्ण को देख कर क्षणकाल में कञ्चुलिका का अञ्चल सींचने लगीं।

तुष्टि

लीन्हौं जननि कण्ठ लगाइ।
अङ्ग पुलकित रोम गद्‌गद, सुखद आँसु वहाइ॥[२] (हर्ष)
माता यशोमती धाइ उनमती। (हर्षोन्माद)
गोपाल लइया कोरे।
स्तन-क्षीर-धारे तनु वहि पड़े झरये नयान-लोरे॥ (अश्रु)
निज घरे जाइया क्षीर सव लैया भोजन कराइया बोले।
घरेर वाहिरे आर न करिव सदाइ राखिव कोले॥[३]

स्थिति—व्रज के परिकरों के साथ श्रीकृष्ण की नित्य स्थिति है।

प्रीति, प्रेय और वत्सल

ये तीनों रस कभी स्वतन्त्र रूप में कभी मिश्रित रूप में आस्वादित होते हैं। बलराम का सख्य प्रीति और वात्सल्य मिश्रित है, युधिष्ठिर का वात्सल्य प्रीति व सख्यभावान्वित है। नकुल, सहदेव, नारद आदि का सख्य प्रीतियुक्त है। उद्धव की प्रीति सख्य मिश्रित है। कुछ गोपियों के वात्सल्य में सख्य का मिश्रण हुआ रहता है।

उज्ज्वलरस

रस की पूर्णतम अभिव्यक्ति तब होती है जब आस्वादक आस्वाद्य-एकाकार हो जायँ, मदीयभाव छोड़ कर तदीयभाव प्राप्त हो, तादात्म्य प्राप्त करें। तादात्म्य की चरम-स्थिति कान्तभाव के माध्यम से भक्तिरस में अभिव्यक्त की गयी है। परमानन्द की निविड़ अनुभूति को राधा (गोपी)-कृष्ण के सम्बन्ध में चरितार्थ होता दिखलाया गया है। परब्रह्म की स्वरूपशक्ति एक रूप में इस आनन्द को आस्वाद्य बनाती है, दूसरे रूप में उसका आस्वादन करती है। राधा यही शक्ति हैं, वह उज्ज्वल किंवा मधुर रस की अधिष्ठातृ देवी हैं। आस्वादक रूप में वह तत्त्व श्री

---

१—पदकल्पतरु, पद सं० १७५५
२—सूरसागर, पद सं० ११६८
३—पदकल्पतरु, पद सं० १६६२

कृष्ण हैं, आस्वाद्य रूप में श्रीराधा। युगल दम्पति का ओतप्रोत आनन्द आद्य रस है, परात्पर रस है, इसे ही कृष्ण-भक्ति ने उज्ज्वलरस की संज्ञा प्रदान की है।

शान्तरस इस उज्ज्वल रस का आधार है, किन्तु इसके वैचित्र्य के सम्मुख हतप्रभ! शान्त क्या, प्रीति, प्रेय, और वत्सल-रस भी इस रस के आगे नहीं ठहर पाते। यह उज्ज्वलरस मधुरतम है, साथ ही सबसे अधिक संकुल भी। पूर्व-पूर्व रस का गुण पर-पर रस में सन्निविष्ट होता जाता है। गुणाधिक्य से स्वाद में आधिक्य होता है। मधुररस में शान्त, प्रीति, प्रेय, वत्सल रसों के गुण विद्यमान रहते हैं, इसीलिए इसका आस्वादन सर्वोपरि होता है। मधुररस में पूर्वकथित रस उसी प्रकार से सन्निहित हैं जिस प्रकार पृथ्वी में आकाश, वायु, अग्नि और जल।[१]

मधुरभाव में शान्त का स्थैर्य, दास्य की सेवाभावना, सख्य का निस्सङ्कोच, भाव और वात्सल्य का ममत्व एकत्रित हो जाता है, और इन सबके ऊपर होती है अनिर्वचनीय तादात्म्य की अनुभूति जिसका अन्य भावों में अभाव बना रहता है। इसीलिए श्रीकृष्ण का चरम माधुर्य गोपियों के संसर्ग में प्रस्फुटित होता है। ब्रजदेवियों में भी राधा का प्रेम शिरोमणि है जिसके सन्मुख स्वयं श्रीकृष्ण नतमस्तक हो जाते हैं। रास में केवल राधा को लेकर छिप जाना राधाभाव की महत्ता का परिचायक है। शतसहस्र गोपियों से श्रीकृष्ण को पूर्णतृप्ति नहीं मिल पाती, एक मात्र राधा के भाव से ही उन्हें पूर्णरस का आस्वादन हो पाता है। इसी भाव के कारण कृष्ण पूर्णप्रकाम बनते हैं। राधा आह्लाद की घनीभूत दिव्य विग्रह हैं जिससे संयुक्त हो कर पुरुषोत्तम कृष्ण आनन्दब्रह्म की संज्ञा लाभ करते हैं।

अतएव, मधुररस में राधा का स्थान सर्वोपरि है। यद्यपि वल्लभ-सम्प्रदाय में गोपियों को लेकर भी मधुर रस का परिपाक हुआ है किन्तु वहाँ भी राधा प्रेम का स्थान धुर्य है। निम्बार्क, राधावल्लभ, हरिदासी एवं चैतन्य-सम्प्रदायों में राधा एकमात्र नायिका हैं, अन्य गोपियाँ या तो उनकी सहायक सखियाँ हैं या दूतीमात्र। गोपियों एवं राधा का सम्बन्ध दार्शनिक दृष्टिकोण से भी समझाया गया है। गोपियों को राधा की अङ्गकान्ति कहा गया है, वे राधा की काय-व्यूह हैं। रसशास्त्र की दृष्टि से वल्लभ-सम्प्रदाय को छोड़कर अन्य सम्प्रदायों में गोपियों को नायिका का स्थान नहीं मिला है। वे राधा की सखी किंवा दूती रूप में मधुर रस का

---

१—पूर्व्व पूर्व्व रसेर गुण परे परे हय। दुइ तिनगनने पंच पर्यन्त बाड़य॥
गुणाधिक्ये स्वादाधिक्य बाढ़े प्रति रसे। शान्त दास्य सख्य वात्सल्य गुण मधुरेते वैसे॥
आकाशादिर गुण येन पर पर भूते। दुइ तीन क्रमे बाड़े पंच पृथिवीते॥
—चै० च०, मध्यलीला अष्टम परिच्छेद, पृ० १३९

विस्तार करती हैं, किन्तु स्वतन्त्ररूप से रस की आश्रय नहीं बनतीं। यद्यपि चैतन्यमत में रसविवेचन के प्रसङ्ग में गोपियों की चर्चा आलम्बन-विभाव के अन्तर्गत की गई है, तथापि पदावली-साहित्य में सिवा राधा के अन्य किसी गोपी में मधुररस की विभावना नहीं-सी है। अधिकांश सम्प्रदायों में मधुररस, राधाकृष्ण रस ही है, इसकी पूर्णतम स्थिति को निकुञ्जरस कहा गया है। गोपीकृष्ण रस एकमात्र वल्लभ-सम्प्रदाय में सम्यक् रूप से विकसित हुआ है, वहाँ गोपियाँ राधा की सखी बनकर भी अपना आश्रय-विभावन नहीं खोतीं।

इस रस का सर्वाधिक महत्व होने के कारण रूपगोस्वामी ने उज्ज्वलरस पर एक पृथक् ग्रन्थ, 'उज्ज्वल नीलमणि' का प्रणयन किया। मधुररस का विवेचन शृङ्गार रस के आधार पर ही किया गया है। मधुररस पूरे मध्ययुगीन कृष्णकाव्य को आक्रान्त किये हुए है, उसमें यही स्वर गूंजता है—

"नरमेव श्याम रूपं, पुरी मधुपुरी वरा, वयः कैशोरकं ध्येयं, आद्यो एव परो रसः।"

आत्मोचित् विभावादि द्वारा पुष्ट होकर मधुरारति मधुराख्य भक्तिरस कहलाती है।[१] इस मधुराख्य भक्तिरस का आस्वादन वे नहीं कर सकते जो प्राकृत शृङ्गाररस से साम्य देखकर इससे विरक्त हो गये हैं, न ही वे रसिक-वृन्द जो समता देखकर इसकी ओर आकृष्ट हुए हैं, वरन् वे जो न आसक्त हैं न विरक्त।

स्थायीभाव—उज्ज्वल रस में मधुरा रति स्थायीभाव है।[१] इस रति का आविर्भाव कई कारणों से होता है जिनमें प्रमुख हैं—अभियोग, विषय, सम्बन्ध, अभिमान, तदीयविशेष, उपमा और स्वभाव, ये उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं।

अभियोग—स्वयं अपने द्वारा या अन्य किसी के द्वारा निज भाव का प्रकाशन अभियोग कहलाता है। भक्त या तो गुरु के माध्यम से या स्वयं अपनी अन्तश्चेतना के विकास से श्रीकृष्ण की रति प्राप्त करता है। रति प्राप्त कर आत्मनिवेदन के द्वारा अभियोग सिद्ध होता है अथवा गुरु मध्यस्थ बनकर भक्त और भगवान का आदान-प्रदान आरम्भ करता है, उनके भावसूत्र को जोड़ता है।

---

२—आत्मोचितविभावाद्यैः पुष्टिं नीता सतां हृदि ॥
मधुराख्यो भवेद्भक्तिरसोऽसौ मधुरा रतिः ॥२॥

—पश्चिमविभाग-पंचमलहरी, भक्तिरसामृतसिंधु

२—स्थायीभावो भवत्यत्र पूर्वोक्ता मधुरा रतिः।—वही, श्लोक ६

विषय—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—इनको विषय कहते हैं। साधना की अपरिपक्व दशा में मानवीय इन्द्रियाँ शुद्ध नहीं होतीं। अशुद्धता के कारण मधुरभाव की स्फूर्ति 'विषय' के माध्यम से नहीं हो पाती, एकमात्र शुद्ध अन्तःकरण में होती है। किन्तु साधना की परिपक्वावस्था में जब पञ्चेन्द्रियाँ चिन्मय हो जाती हैं तब मधुर प्रेम किसी भी इन्द्रिय-गुण से अभिव्यक्त हो सकता है। राधा, भक्त की उस मनोदशा की प्रतीक हैं जिसमें इन्द्रियों में जाने-अनजाने श्रीकृष्ण के प्रति स्वाभाविक उन्मुखता आ जाती है। 'ललितमाधव' नाटक में विषय के द्वारा कृष्णरति के जन्म लेने का एक सुन्दर प्रसङ्ग अवतरित किया गया है। राधा अपनी सखी से कहती हैं, "हे सखि, एक पुरुष के कृष्णनाम के एक अक्षर मात्र सुनने पर मेरी बुद्धि विलुप्त हो रही है। अन्य किसी पुरुष का वंशीनाद मेरे कानों में प्रवेश करके मुझे उन्मादित किये दे रहा है। किसी एक अन्य पुरुष को चित्रपट में देखने पर उसकी स्निग्ध-द्युति मेरे मन से संलग्न हो बैठी है। हा कष्ट! जब एक पुरुष की रति में इतनी व्याकुलता है तब मैं तीन पुरुषों की रति कैसे वहन कर सकूँगी? ऐसी दशा में मेरी मृत्यु हो जाना ही श्रेयस्कर है।"

सम्बन्ध—कुल, रूप, शील, शौर्य इत्यादि के गौरव को सम्बन्ध कहते हैं। कोई-कोई भक्त कृष्ण के रूप, उनके कुल, गौरव, शील, पराक्रम इत्यादि गुणों, से प्रभावित होकर कृष्ण के प्रति मधुर भावापन्न होते हैं, जैसे रुक्मिणी। ऐश्वर्यप्रधान भक्तों में मधुररति का प्रादुर्भाव प्रायः 'सम्बन्ध' के भान से होता है।

अभिमान—संसार में भूरि-भूरि रमणीय वस्तु के रहते हुए भी मुझे एकमात्र अपनी ही वस्तु, चाहे वह कैसी ही क्यों न हो, वह काम्य तथा प्रार्थनीय है—इस प्रकार के निश्चयीकरण को अभिमान कहा गया है। दूसरे शब्दों में ममता के आस्पद में अनन्यतामय सङ्कल्प का नाम अभिमान है। यह अभिमान रूप आदि की अपेक्षा न करता हुआ रति उत्पन्न करने में समर्थ है। अभिमान, प्रेम की नितान्त विशुद्ध, अत्यन्त अहेतुकी स्थिति है। प्रेमी को प्रेमास्पद के लिए अकारण आकर्षण होता है। वह उसमें किसी वाह्य-गुण का सन्धान नहीं करता प्रत्युत् प्रेमाञ्जनच्छुरित नेत्रों से उसे प्रियतम की प्रत्येक वस्तु सौन्दर्यमय प्रतीत होती है। यह अकारण आकर्षण निष्काम प्रेम का जनक है तथा प्रेम की अनन्य चातक-गति का, रूपलिप्सा आदि अवान्तर कारणों से स्वाधीन उसकी स्वतःपूर्ण निष्ठा का परिचायक है। आरम्भ में इस निश्चयीकरण के बिना भगवत्प्रेम दृढ़ भी नहीं हो सकता, क्योंकि अन्तःकरण में उसकी अनुभूति के उठने पर भी वाह्यमन तृष्णाओं में भटका करता है। साधना की प्रौढ़ावस्था में ही भगवान् के दिव्यरूप आदि का आकर्षण स्वाभाविक बन पाता है।

तदीय विशेष—कृष्ण सम्बन्धी वस्तुओं को तदीय विशेष कहते हैं जैसे उनके चिह्न, गोष्ठ, प्रियजन आदि। भक्ति का मूलमन्त्र मदीय भाव को छोड़कर तदीयभाव में प्रतिष्ठित होना है, अपने से सम्पर्कित वस्तुओं के प्रति ममता का नाश करके कृष्ण-सम्पर्कित परिवेश से अनुराग उत्पन्न करना है। अहं एवं मम की शृङ्खलाओं को तोड़कर ही कृष्ण का अप्राकृत प्रेम अनुभव किया जा सकता है। इसलिए भक्त जब निस्पृह हो जाता है, अहङ्कार एवं ममता से विगत होने लगता है तब कृष्ण (तदीय) सम्बन्धी वस्तुएँ कृष्ण के प्रति अनुराग उत्पन्न करने लगती हैं। इस भाव की चरम स्थिति सहचरी में दृष्टिगत होती है जहाँ जीवात्मा स्वसुख की वाञ्छा से नितान्त मुक्त हो, राधाकृष्ण की क्रीड़ा का रसपान तत्सुख-सुखी भाव से करती है।

उपमा—श्रीकृष्ण से सदृश्यप्राप्त वस्तुओं को उपमा कहा गया है जैसे तमाल, नील-कमल, घनश्याम इत्यादि। निर्गुण की सगुण अनुभूति में उपमा सहायक होती है। रूप, गुण, धर्म में कृष्ण के समान दीखने वाली वस्तुओं में भक्त स्वभावत: रागाविष्ट हो जाता है। इन वस्तुओं को देखकर उसके हृदय में प्रसुप्त भावसाम्य के कारण झंकृत हो उठते हैं। श्यामघन, नीलोत्पल आदि का चिन्तन घनीभूत होकर प्रेम उत्पन्न करता है।

स्वभाव—जो बाह्य कारणों की अपेक्षा नहीं रखता वरन् स्वत: ही आविर्भूत होता है, उसे स्वभाव कहते हैं। दूसरे शब्दों में इसे मधुरारति का सञ्चित संस्कार कह सकते हैं। यह स्वभाव निसर्ग और स्वरूप भेद से दो प्रकार का होता है। सुदृढ़ अभ्यासजन्य संस्कार को निसर्ग कहते हैं, निसर्ग में श्रीकृष्ण के रूप, गुण आदि उद्दीपन का योग कियत् होता है। यह जन्मान्तरीण संस्कार के कारण स्वयं प्रकाशित रहता है। रति-उत्पादक वस्तुओं को स्वरूप कहते हैं; यह कृष्णनिष्ठ, ललनानिष्ठ एवं उभयनिष्ठ होता है।

मधुरारति का तारतम्य भी महत्त्वपूर्ण है। यह रति तीन प्रकार की होती है– साधारणी, समञ्जसा, समर्था, जो उत्तरोत्तर श्रेष्ठ है। कुब्जा में साधारणी, द्वारिका की महिषियों में समञ्जसा तथा व्रजदेवियों में समर्था रति उत्पन्न हुई रहती है। इनकी उपमा मणि, चिन्तामणि और कौस्तुभ से दी जा सकती है। मणि यद्यपि इन तीनों रत्नों में सबसे कम गुणशाली है तथापि वह सर्वसुलभ नहीं है, तदनुरूप कुब्जा आदि की साधारणी रति भी सर्वसुलभ नहीं है। और जैसे चिन्तामणि सुदुर्लभ है वैसे ही कृष्णमहिषियों के अतिरिक्त समञ्जसा रति अन्यत्र सुलभ नहीं है। इन सब पर कौस्तुभमणि विराजमान है जो जगदुर्लभ है, श्रीकृष्ण-व्यतिरेक कहीं भी नहीं मिलती, उसी प्रकार समर्थारति केवल गोकुल की गोपियों में ही होती है, अन्य कहीं नहीं।

**साधारणी**—जो रति अतिशय प्रगाढ़ नहीं होती, प्रायः कृष्णदर्शन से उत्पन्न होती है और जो सम्भोगेच्छा का ही निदान है, उसे साधारणी रति कहते हैं।[1]

गाढ़ता के अभाव में रति सम्भोगेच्छा तक ही सीमित रह जाती है। इस इच्छा के ह्रास पर इस रति का ह्रास भी हो सकता है, अतः इसका नाम साधारणी है। वास्तविक प्रेम निष्काम होता है किन्तु जो भक्त प्रेम के इस सिद्ध स्वरूप को प्रारम्भ से ही नहीं पकड़ पाते, तथा जिनमें कामभाव की भक्ति होती है उनकी रति को साधारणीरति कहा जाता है। यों मधुर भक्ति की दृष्टि से यह हीनतम भाव है किन्तु कामभाव के उन्नयन का साधक होने के कारण यह भाव स्वयं में पर्याप्त उन्नत और श्रेयस्कर है। शृङ्गार की लौकिक चेष्टाओं का ऊर्जस्वीकरण स्वयं में महत् साधन है।

**समञ्जसा**—जिस रति में पत्नीत्व का अभिमान होता है और जो गुण आदि के श्रवण से उत्पन्न हुई रहती है, तथा कभी सम्भोगेच्छा की तृष्णा भी जिसमें उत्पन्न होती है, उसे समञ्जसा रति कहते हैं।[2]

समञ्जसा रति में सम्भोगेच्छा गौण है। जब यह इच्छा इस रति से पृथक् रूप में केवल अपने हाव-भाव द्वारा व्यक्त होती है तब श्रीकृष्ण को वशीभूत करना दुःसाध्य होता है। पत्नीत्व-भाव के करण इस रति में कर्त्तव्य-भावना तथा कृष्ण के प्रति सम्मान का भाव भी बना रहता है जिससे रस की स्वछन्द अनुभूति बाधित होती है।

**समर्था**—साधारणी और समञ्जसा रति से किञ्चित् विशेष सम्भोगेच्छामयी जिस रति में नायक-नायिका का तादात्म्य भाव होता है, उसे समर्था रति कहते हैं।[3] इसी रति में मधुर रस का पूर्ण परिपाक होता है क्योंकि इसमें अन्तर्बाह्य के सारे अवरोध ध्वंस हो चुकते हैं। सब प्रकार की सीमाओं से मुक्त व्यक्ति ही इस परम निष्काम स्वच्छन्द माधुर्य का आस्वादन कर सकता है।

यह रति ललनाओं के स्वरूप (स्वभाव) हेतु है, इसके उत्पन्न होने पर कुल, शील, धैर्य, लज्जा, आदि सारी लौकिक मर्यादाएँ विस्मृत हो जाती हैं। यह रति

---

१—नातिसान्द्रा हरेः प्रायःसाक्षाद्दर्शन सम्भवा।
सम्भोगेच्छा निदानेयं रतिः साधारणी मता ॥३०॥—उज्ज्वलनीलमणि, स्थायीभाव-प्रकरण

२—पत्नीभावाभिमानात्मा गुणादि श्रवणादिजा।
क्वचित्भेदित सम्भोगतृष्णा सान्द्रा समञ्जसा ॥३३॥—वही

३—किञ्चिद्विशेष मायान्त्या सम्भोगेच्छा ययाभितः।
रत्या तादात्म्यमापन्ना सा समर्थेति भण्यते ॥३७॥—वही

अत्यन्त गाढ़ और सान्द्र होती है। समर्था-रति सम्भोगेच्छा के कारण विशेषता प्राप्त नहीं करती, इसमें केवल कृष्ण-सुखार्थ ही उद्यम होता है।[१]

प्रौढ़ होने पर यही रति महाभाव दशा प्राप्त करती है। अतएव मुक्त एवं प्रधान भक्त इसका अन्वेषण किया करते हैं किन्तु यह प्राप्त नहीं होती। यह रति अविच्छेद्य है, विरुद्ध भाव द्वारा भी अभेद्य रहती है। जब यह प्रतिकूल भाव द्वारा अविचलित रहती है तब उसे प्रेम कहा जाता है। प्रेम उदित होकर क्रमशः मान, प्रणय, राग, अनुराग व भाव में परिणत होता है।[२] जिस प्रकार इक्षुदण्ड की ग्रन्थि में स्थित अंकुर मिट्टी में बोये जाने पर यथासमय इक्षु, रस, गुड़, खाँड़, शक्कर, मिश्री व मिश्री के ढेले (सितोपल) का रूप धारण करता है, उसी प्रकार रति से प्रेम प्रेम से राग, राग से अनुराग तथा अनुराग से महाभाव उत्पन्न होता है। ये उत्तरोत्तर मधुर हैं, सितोपल स्वरूप महाभाव मधुरतम है।

प्रेम के विकास के कारण स्नेह, मान, प्रणय आदि को प्रेम के अन्तर्गत हा माना गया है। उपर्युक्त अवस्थाओं की परिभाषाएँ दी गयी हैं तथा उनके उपभेदों का भी कथन हुआ है।

प्रेम—ध्वंस का कारण उपस्थित होने पर भी जो ध्वंस नहीं होता, युवक-युवती के ऐसे भावबन्धन को प्रेम कहते हैं।[३]

यह प्रेम प्रौढ़, मध्य, मन्द भेद से तीन कोटि का होता है। नायक के विलम्ब हो जाने पर नायिका की चित्तवृत्ति अज्ञात रहने पर नायक को जो कष्ट पहुँचता है उसे प्रौढ़ प्रेम कहते हैं। जो प्रेम इतर कान्ता के प्रेम को भी सहन करता है, उसे मध्य प्रेम कहते हैं जैसे चन्द्रावली का प्रेम। सर्वदा आत्यन्तिक रूप से परिचित होने पर भी जो प्रेम अन्य कान्ता की अपेक्षा अथवा उपेक्षा नहीं करता, उसे मन्द प्रेम कहते हैं।[४] श्री राधा एवं उनकी सखियों में प्रेम की प्रौढ़ता है, चन्द्रावली इत्यादि में मध्यत्व है, मन्द प्रेम का उदाहरण व्रज में असम्भव है।

---

१—सर्व्वाद्भुतविलासोर्म्मिं चमत्कारकरश्रियः।
सम्भोगेच्छा विशेषोऽस्या रतेर्जातु न भिद्यते॥
इत्यस्यां कृष्णसौख्यार्थमेव केवलमुद्यमः॥४०॥—उज्ज्वलनीलमणि, स्थायीभाव-प्रकरण

२—स्याद्दृढेयं रतिः प्रेम्णा प्रोद्यन् स्नेहः क्रमादयं।
स्यान्मनः प्रणयो रागोऽनुरागो भाव इत्यपि॥४४॥—वही

३—सर्व्वथा ध्वंसरहितं सत्यपि ध्वंसकारणे।
यद्भावबन्धनं यूनोःस प्रेमा परिकीर्तितः॥४६॥—वही

४—सदा परिचितत्वादेः करोत्यात्यन्तिकां तु यः।
नैवापेक्षां नचापेक्षां स प्रेमा मन्द उच्यते॥५०॥—वही

उपर्युक्त भेद श्रीकृष्ण के प्रेम का है। इसी की भिन्न प्रकार से व्याख्या प्रेयसियों के श्रीकृष्णविषयक प्रेम में की जाती है। यथा, विच्छेद की असहिष्णुता को प्रौढ़ प्रेम कहते हैं, कष्टसहित सहिष्णुता को मध्य प्रेम तथा किसी समय विस्मृत हो जाने वाले प्रेम को मन्द प्रेम कहते हैं।

स्नेह—जो प्रेम परमोत्कर्ष में आरोहण करके चिद्दीपदीपन अर्थात् प्रेमोपलब्धि का प्रकाशक होता है तथा चित्त को द्रवीभूत करता है, उसे स्नेह कहते हैं। स्नेह दर्शनमात्र से सन्तुष्ट नहीं होता। अङ्ग-सङ्ग, अवलोकन, श्रवण जनित स्नेह क्रमशः कनिष्ठ, मध्यम, व ज्येष्ठ कहलाता है क्योंकि ये इन्द्रियाँ उत्तरोत्तर सूक्ष्म हैं।

स्वरूपस्नेह दो प्रकार का होता है—घृतस्नेह, मधुरस्नेह। जो स्नेह अतिशय आदरमय है, उसे घृतस्नेह कहते हैं। यह भावान्तर के साथ मिल कर अत्यन्त सुस्वादु होता है। आदर की गाढ़ता के कारण इसे घृतस्नेह कह कर निर्देशित किया गया है। अपनत्व-भावनायुक्त स्नेह मधुस्नेह कहलाता है। जिसका माधुर्य स्वयं प्रकट होता है, जिसमें नाना रसों की सूक्ष्मरूप से अवस्थिति रहती है तथा जो उन्मादकारी व उष्ण होता है—मधु के साथ इन विशिष्टताओं की समानता के कारण, ऐसे स्नेह को मधुस्नेह कहते हैं।

मान—जो स्नेह उत्कृष्टता प्राप्ति के निमित्त नित्यनूतन माधुर्य अनुभव कराता है एवं स्वयं कुटिलता धारण करता है, उसे मान कहते हैं।

मान द्विविध है—उदात्त और ललित। घृतस्नेह उदात्त-मान का रूप धारण करता है। यह उदात्तमान कई प्रकार का होता है। कहीं-कहीं गहनता या दुर्बोध रीति धारण करके भी सरल बना रहता है, कहीं पर प्रकृतरूप से कुटिल होता है, और कहीं पर बाहर कोप प्रकट करके भी सरल बना रहता है। मधुस्नेह यदि स्वतन्त्र रूप से हृदयगत कौटिल्य या नम्रता को धारण करे तब उसे ललितमान कहते हैं।

प्रणय—मान के विश्रम्भयुक्त होने को प्रणय कहते हैं। विश्रम्भ का तात्पर्य विश्वास अथवा सम्भ्रमरविहीनता है। यह विश्वास प्रेयसी और कान्त के प्राण, मन, बुद्धि, देह, परिच्छद की ऐक्य-भावना का पोषक होता है।

विश्रम्भ दो प्रकार का होता है—मैत्र एवं सख्य। विनयान्वित विश्रम्भ मैत्र है जैसे रास में अन्तर्ध्यान के उपरान्त आगत श्रीकृष्ण के प्रति विभिन्न गोपियों का भाव। इस विश्रम्भ में विनय आवश्यक है किन्तु भयनिर्मुक्त जो विश्रम्भ है, उसका नाम सख्य है। इस सख्य में श्रीकृष्ण को वशीभूत करने की शक्ति होती है, जैसे श्रीराधा और सत्यभामा का विश्रम्भ।

प्रणय, स्नेह और मान का कोई निश्चित क्रम नहीं है। कहीं पर प्रणय स्नेह से उत्पन्न होकर मानदशा प्राप्त करता है तो, कहीं पर स्नेह से मान उत्पन्न होकर प्रणयरूप में परिणत होता है। प्रणय एवं मान में अवश्य ही कार्यकारण का सम्बन्ध है।

राग—प्रणय के उत्कर्ष हेतु चित्त में जब अतिशय दुःख भी सुखरूप में अनुभूत होता है तब उस दशा को 'राग' कहते हैं जैसे कड़ी धूप में गोवर्द्धनपर्वत पर खड़े होकर श्रीकृष्ण का दर्शन करना, श्रीकृष्ण के प्रति प्रेम के कारण कलङ्क का भी प्रिय लगना आदि। राग की दो अवस्थाएँ होती हैं—नीलिमा तथा रक्तिमा।

नीलिमाराग—नील वृक्ष के समान श्यामलताजनित राग को नीलिमाराग कहते हैं। इसे नीली राग भी कहते हैं। इस राग में व्यय की सम्भावना नहीं होती, बाहर अतिशय प्रकाशवान् नहीं होता, तथा स्वलग्न भाव को ढक लेता है। यह राग चन्द्रावली और श्रीकृष्ण में लक्षित होता है।[१]

रक्तिमाराग—कुसुम्भ एवं मञ्जिष्ठ के समान राग को रक्तिम राग कहते हैं। इसके दो उपभेद हैं—कुसुम्भ और मञ्जिष्ठ।

कुसुम्भ—जो राग चित्त में अतिशीघ्र उत्पन्न होता है तथा अन्य राग की कान्ति प्रकाशित करके यथोचित शोभा पाता है, उसे कुसुम्भरक्तिमराग कहते हैं। स्वभावतः यह चिरस्थायी नहीं होता किन्तु अन्य किसी भाव के साथ मिलकर चिरस्थायी होता है, वैसे ही जैसे कुसुम्भ पुष्प का रङ्ग स्वतः चिरस्थायी नहीं होता किन्तु अन्य द्रव्य के साथ मिलकर स्थायी हो जाता है। श्यामला आदि गोपियों का प्रेम कुसुम्भराग के अन्तर्गत आता है क्योंकि वह मञ्जिष्ठरागमयी श्रीराधा के राग के साथ युक्त होकर चिरस्थायी होता है।

मञ्जिष्ठ—जो राग किसी अन्य की अपेक्षा नहीं रखता, निरन्तर निजकान्ति द्वारा ही वृद्धिशील रहता है, उसे मञ्जिष्ठ राग कहते हैं जैसे राधाकृष्ण का राग। सञ्चारी-भाव इस राग को विचलित नहीं कर पाते, यह स्वतः सिद्ध है। नीली राग की भाँति किसी अन्य की अपेक्षा इसे नहीं रहती तथा कुसुम्भ राग की भाँति सीमित कान्ति इसकी नहीं है वरन् इसकी आभा सतत वृद्धिशील रहती है।

घृतस्नेह, उदात्त मान, मैत्रप्रणय व नीलिमाराग, चन्द्रावली, रुक्मिणी एवं अन्य

---

१—व्ययसम्भावनाहीनो बहिर्नाति प्रकाशवान्।
स्वलग्नभावावरणो नीलीरागःसतां मतः॥
यथावलोक्यते चैष चन्द्रावलिमुकुन्दयोः॥८६॥—उज्ज्वलनीलमणि, स्थायीभाव-प्रकरण

महिषियों में है तथा मधुस्नेह, ललितमान, सख्य प्रणय आदि राधा, सत्यभामा एवं अन्य नायिकाओं में है।

स्नेह तथा राग आदि का यह वर्गीकरण भाव की विविधता को आत्यन्तिक नहीं कर देता। घृत एवं मधु-स्नेह तथा नीलिमा व रक्तिम राग के परस्पर अर्द्धपाद, एकपाद व सार्द्धपाद आदि मिश्रण से मधुरारति नामक स्थायीभाव विविध रूप धारण करता है और भिन्न-भिन्न नायिकाओं में अभिव्यक्त होता है।

अनुराग—जो राग स्वयं नव-नव होकर अनुभवकारी प्रियजन को सर्वदा नवीन अनुभूति प्रदान करता है उसे अनुराग कहते हैं।[1] अनुराग में परस्पर वशीभाव, प्रेम वैचित्र्य, अप्राणी, जगत् में जन्म लेने की लालसा एवं विप्रलम्भ में श्रीकृष्ण की स्फूर्ति घटित हुई रहती है।

भाव—यदि अनुराग स्थायीभावोन्मुख होकर प्रकाशित हो तो उसे भाव कहते हैं।

महाभाव—यह भाव की परिपक्वतम अवस्था है। महिषियों को अलभ्य केवल व्रजसुन्दिरयों में ही यह दशा प्रकाशित होती है। यह मधुररति की आत्यन्तिक प्रौढ़ावस्था है। यह रूढ़ एवं अधिरूढ़ भेद से दो प्रकार का माना जाता है।

रूढ़—रूढ़ महाभाव वह है जिसमें सारे सात्विक उद्दीप्त होते हैं। अनुभाव की दृष्टि से इसमें निमिष की असहिष्णुता, आसन्न जनसमूह का हृदय-विलोडन, क्षण का कल्प के समान बोध, श्रीकृष्ण के सख्य में भी आर्ति की आशंका से क्षीणता, मोह के अभाव में भी आत्मविस्मृति—योग वियोग में प्रकाशित हुए रहते हैं।[2]

अधिरूढ़—जिस महाभाव में रूढ़ भावोक्त अनुभाव विशेपदशा प्राप्त करते हैं, उसे अधिरूढ़ महाभाव कहते हैं।

अधिरूढ़ महाभाव के सुख-दुःख की तुलना में लोक-लोकान्तर के सुख-दुःख नहीं ठहर पाते। इस महाभाव के दो उपभेद हैं—मोदन एवं मादन। जिस अधिरूढ़ भाव में राधाकृष्ण में सारे सात्विक उदय हों, उसे मोदन कहते हैं। यह भाव

---

१—सदानुभूतमपि यः कुर्यान्निवनवं प्रियम्।
रागो भवन्नवनवः सोऽनुराग इतीर्यते ॥१०२॥—उज्ज्वलनीलमणि, स्थायीभाव-प्रकरण

२—निमेपासह्यतासन्नजनताहृद्विलोडनम्। कल्पक्षणत्वं खिन्नत्वं तत् सौख्येऽप्यार्तिशंकया॥
मोहाद्यभावेप्यात्मादिसर्वविस्मरणं सदा। क्षणस्य कल्पतेत्याद्या यत्र योगवियोगयोः ॥११६॥
—वही

कृष्ण तक में विक्षोभ उत्पन्न कर देता है। गुरु गम्भीर प्रेम सम्पत्तिशालिनी कान्ताओं से भी गुरुतर जो प्रेमाधिक्य है, उसे मोदन कहते हैं। यह भाव श्रीराधा एवं उनकी यूथगत सखियों में ही सम्भव है। मोदन महाभाव ह्लादिनी शक्ति का प्रिय एवं श्रेष्ठ विलास है। जब यह भाव विरह दशा में उत्पन्न होता है तब इसे मोहन कहते हैं। मोहन में विरह से उत्पन्न समस्त सात्त्विक प्रकाशित हुए रहते हैं। मोहनभाव में कान्ता-लिङ्गित श्रीकृष्ण की मूर्च्छा, असह्य दुःख स्वीकार करके भी श्रीकृष्ण की सुखकामना, ब्रह्माण्डक्षोभकारिता, तिर्यक् जाति का रोदन, मृत्यु स्वीकार करके शरीरस्थ भूतों द्वारा श्रीकृष्ण-सङ्ग की लालसा, एवं दिव्योन्माद इत्यादि नये अनुभाव प्रकट होते हैं। यह एकमात्र श्रीराधा में ही प्रकाश पाता है।

दिव्योन्माद—मोहन की अत्यधिक विकसित अवस्था का नाम दिव्योन्माद है। किसी अनिर्वचनीयवृत्ति-विशेष को प्राप्त कर भ्रम सदृश जो विचित्र दशा हो जाती है, उसे दिव्योन्माद की संज्ञा दी गयी है।

साधारण जन की संज्ञा के खो जाने को उन्माद कहते हैं, किन्तु भक्त जिस चेतना में प्रवेश करके अपनी मानसिक संज्ञा विस्मृत कर बैठता है, उसे दिव्योन्माद कहना ही उचित है। जिस प्रकार साधारण उन्माद में व्यक्ति कार्य-कारण की बुद्धि-सम्मत शृङ्खला में नहीं बँधा रहता, उसका आचरण अर्थरहित प्रतीत होता है, उसी प्रकार दिव्यभाव में चित्त के निष्क्रमण कर जाने पर भक्त मनस्-परक किसी बुद्धिसम्मत शृङ्खला में बँधा नहीं रह पाता। नूतन भाव राज्य में प्रवेश करने पर उसमें ऐसी भाव-वृत्तियों, ऐसी चित्त-वृत्तियों का प्रकाशन होता है जो लोक-मानस के लिए अपरिचित एवं अज्ञात होती हैं। अतः उसके आचरण को उन्माद की संज्ञा दे दी जाती है। इस उन्माद में भक्त पूर्णरूपेण आत्मविस्मृत हो जाता है, सामान्य मन के सारे क्रियाकलाप समाप्त हो चुकते हैं, उसका चेतन मन अतिचेतन में लीन हो, किन्हीं ऐसी भाववृत्तियों और चित्तवृत्तियों में विचरण करता है जिन्हें समझ सकना मानव-मनोविज्ञान से दुःसाध्य होता है। उसका समस्त आचरण साधारण बुद्धिजीवी मानव से इतना भिन्न तथा रहस्यमय हो उठता है कि उसे सहज ही उन्माद समझ लिया जाता है, फिर भी उस उन्माद में दिव्यगन्ध सुस्पष्ट होती है।

उद्घूर्णा—नाना प्रकार की विलक्षण चेष्टाओं को उद्घूर्णा कहते हैं। यथा, उद्धव ने श्रीकृष्ण से कहा, 'हे बन्धो! श्रीराधा तुम्हारे विरहोद्भ्रम में कभी वासकसज्जा की भाँति कुञ्जगृह में शैया रच रही हैं, कभी खण्डिता भाव में अतिशय कुपित होकर लीला-पद्म का तर्जन कर रही हैं, कभी अभिसारिका बन कर निविड़ अन्धकार में भ्रमण कर रही हैं।'

चित्रजल्प—प्रियतम के सुहृद् के साथ मिलने पर गूढ़ रोषवश जो भावमय

जल्पना होती है, उसका नाम चित्रजल्प है। यह जल्पना दस रूपों में अभिव्यक्त होती है—प्रजल्प, परिजल्प, विजल्प, उज्जल्प, सञ्जल्प, अवजल्प, अभिजल्प, आजल्प, प्रतिजल्प, सुजल्प।

असूया, ईर्ष्या व मदयुक्त अवज्ञा द्वारा प्रियतम के अकौशल के प्रति जो उद्‌गार होता है, उसे प्रजल्प कहते हैं। प्रभु की निर्दयता, शठता, चपलता आदि दोषों के प्रतिपादन को, जिससे कि अपनी विलक्षणता व्यक्त हो, परिजल्प कहते हैं। गूढ़-रूप से मानमुद्रा जिसमें मध्यवर्तिनी है, इस प्रकार की सुस्पष्ट असूया द्वारा श्रीकृष्ण के प्रति कटाक्षोक्ति को विजल्प कहा गया है। जिसमें गर्वगर्भित ईर्ष्या द्वारा श्रीकृष्ण की कठोरता का कथन होता है तथा असूया सहित सदा आक्षेप किया जाता है, उसे उज्जल्प कहते हैं। गहन आक्षेप द्वारा श्रीकृष्ण की अकृतज्ञता के प्रति उक्ति, सञ्जल्प कही जाती है। जिसमें श्रीकृष्ण की कठोरता, कामुकता, धूर्तता तथा भयहेतु ईर्ष्या के साथ आसक्ति की अयोग्यता वर्णित होती है, उसे अवजल्प कहते हैं। जिसमें निर्वेद के कारण श्रीकृष्ण की कुटिलता एवं उनकी दुःखदायिता का वर्णन होता है तथा सङ्केत से उन्हें अन्य को सुखदाता कहा जाता है, उसे आजल्प कहते हैं जैसे कुब्जारति पर आक्षेप। जिसमें श्रीकृष्ण का द्वन्द्वभाव दुस्त्यज्य है, दूत का सम्मान वर्णित है, उसे परिजल्प कहते हैं। आर्जव से गम्भीरतापूर्वक, दैन्य किंवा चपलता सहित श्रीकृष्ण के संवाद पूछने को सुजल्प कहते हैं।

मादन—प्रेम यदि महाभाव पर्यन्त जाने में उद्यमशील हो तो उसे मादन कहा जाता है। यह मादन, मोहन आदि भावों की अपेक्षा उत्कृष्ट है। मादन सतत श्रीराधा में स्थित रहता है, अन्य किसी पात्र में इसकी सामर्थ्य नहीं है।

मादन की विशेषता यह है कि ईर्ष्या का कारण न रहने पर भी मादन प्रवल ईर्ष्या का विधान करता है। संयोगावस्था में यह नित्यलीला की शत-शत विलासोर्म्मि में प्रकट रहता है, विप्रलम्भ में यह उत्पन्न नहीं होता है।

स्थायीभाव के उपसंहार में इतना अवश्य कथनीय है कि रति का क्रम-विकास किसी निश्चित विधा से नहीं घटित होता। कभी-कभी राग से पहिले ही अनुराग की उत्पत्ति हो जाती है, स्नेह की बाद में। इसीलिए मीराबाई में मान आदि का अतिक्रम करके सीधे राग का आविर्भाव देखा जाता है। यों साधारणीरति में प्रेम अन्तिम सीमा है, समञ्जसा में अनुराग। केवल समर्थारति ही भाव पर्यन्त पहुँचती है। रूढ़भाव में उद्दीप्त सात्विक तथा मोदन मादन में सुदीप्त शोभायमान होता है।

साधारणी, समञ्जसा, समर्था रतियों में भी देश, काल, पात्र की योग्यतानुसार श्रेष्ठ, मध्य व कनिष्ठ प्रभेद होते हैं।

आलम्बन—श्रीकृष्ण एवं कृष्णप्रियावर्ग ।

श्रीकृष्ण—जिसके समान कोई नहीं है, जिससे अधिक कोई नहीं है, ऐसे सौन्दर्य और रसिकता के सम्पद् श्रीकृष्ण मधुररस के आलम्बन हैं । गीत गोविन्द में कहा गया है—

विश्वेषामनुरञ्जनेन जनयन्नानन्दमिन्दीवर—
श्रेणी श्यामलकोमलैरुपनयन्नङ्गै रनङ्गोत्सवम् ।।
स्वच्छन्दं ब्रजसुन्दरीभिरमितः प्रत्यङ्गमालिङ्गितः
शृङ्गारःसखि मूर्तिमानिव मधौ मुग्धो हरिः क्रीडति ।।

ऐसे सुरम्य मूर्तिमान् शृङ्गाररूपी श्रीकृष्ण के निम्नलिखित गुण उनके आलम्बन विषयक उद्दीपन हैं । वे हैं—सुरम्य, मधुर, सर्व्वसंल्लक्षणान्वित, वलीयान, नवतरुण, वावदूक, प्रियंवद, शुचि, प्रतिभावान्, धीर, विदग्ध, चतुर, सुखी, कृतज्ञ, दक्षिण, प्रेमवशी, गम्भीरता के सागर, वरीयान्, कीर्तिमान्, नारीजन-मोहनकारी, नित्यनूतन, अतुल्य केलि-सौंदर्य-विधायक, वंशीवादक आदि-आदि । मधुररस में श्रीकृष्ण के प्रेमगुणों को ही लिया गया है। जिन गुणों से उनका ब्रह्मत्व आच्छादित रहता है वे उज्ज्वलरस के उपयुक्त श्रीकृष्ण की आलम्बन-विभावना सम्पादित करते हैं ।

श्रीकृष्ण में धीरोदात्त, धीरललित, धीरप्रशान्त धीरोद्धत—ये चार गुण भी हैं । इनके अतिरिक्त उनमें पतित्व और उप-पतित्व, ये दो विशेष गुण रस की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं । वेदोक्त-विधान से कन्या का श्रीकृष्ण के साथ जो पाणिग्रहण है, उसमें उनका पतित्व है जैसे रुक्मिणी, सत्यभामा आदि द्वारिका की महिषियों से सम्बन्ध । इनके पूर्व व्रजदेवियों से भी कुञ्ज में श्रीकृष्ण के विवाह का उल्लेख हुआ है । किन्तु जो व्यक्ति रागावेश के कारण धर्म का उल्लङ्घन करके अन्य रमणी के प्रति अनुरक्त होता है एवं उस रमणी का प्रेम ही जिसका सर्वस्व होता है, उसे उपपति कहा गया है ।[१]

श्रीकृष्ण का व्रजाङ्गनाओं से सम्बन्ध प्रकाश्य रूप में उपपति का है । व्रजदेवियों में कुछ कन्याएँ थीं, कुछ विवाहिता । प्राकृत शृङ्गार रस में उपपति को कोई श्रद्धेय आसन नहीं दिया गया । किन्तु पूर्ण भगवान श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में यह दृष्टिकोण लागू नहीं किया जा सकता । वल्कि उनका पूर्णतम रस उपपतिभाव के कारण ही

---

१.—रागेणोलङ्घयन् धर्म्मं परकीयाबलार्थिना ।
तदीयप्रेमसर्वस्वं बुधैरुपपतिःस्मृतः ।।११।।—उज्ज्वलनीलमणि, नायक-प्रकरण

ब्रज में चरितार्थ हो पाता है। भक्तों की दृष्टि में श्रीकृष्ण का अवतार मधुर रस के आस्वादनार्थ हुआ था, चाहे वे पति हों अथवा उपपति, इसका महत्त्व नहीं रह जाता। उनके उपपतित्व का तात्पर्य यही है कि जब संसार आत्मा का स्वामी बन बैठता है तब परमात्मा उपपति बन कर ही उसका उद्धार करते हैं।

प्रेयसीवर्ग—जो नित्यनवीन माधुरी की विग्रह हैं, जिनका अङ्ग समुदाय कृष्ण की प्रणयतरङ्ग से तरङ्गायित है और जो रमण रूप से श्रीकृष्ण का भजन करती हैं, वे अद्‌भुत किशोरियाँ मधुर रस की आश्रय हैं। इन समस्त किशोरियों में वृषभानुनन्दिनी श्रीराधिका सर्वप्रधान है।

प्रेयसियाँ सब प्रकार से कृष्ण के तुल्य हैं। उन्हीं की भाँति सुरम्याङ्ग एवं सर्व-संल्लक्षण आदि गुणों से विभूषित हैं। प्रेम और माधुर्य के अग्रभाग में ये सुशोभित हैं। स्वकीया, परकीया भेद से प्रेयसीवर्ग द्विविध है। स्वकीया द्वारिका की महिषियाँ हैं जिनमें आठ मुख्य हैं—रुक्मिणी, सत्यभामा, जामवन्ती, कालिन्दी, शैब्या, भद्रा, कौशल्या एवं माद्री। इनमें रुक्मिणी और सत्यभामा प्रधान हैं, रुक्मिणी ऐश्वर्य में श्रेष्ठ हैं, सत्यभामा सौभाग्य में। परकीया-प्रेयसीवर्ग ब्रजदेवियों का है। गन्धर्वरीति से कृष्ण के साथ विवाह होने के कारण वास्तविक दृष्टि से उनका स्वकीयत्व है, किन्तु प्रकाश रूप में विवाह न होने के कारण उनका परकीयत्व ही प्रचलित है। परकीया में पुनः कन्या और परोढ़ा का उपभेद है। परकीया में प्रमुख हैं राधिका, यद्यपि चन्द्रावली, विशाखा, ललिता, श्यामा, पद्मा, शैब्या, भद्रा, घनिष्ठा आदि की गणना भी की जाती है।

श्रीराधा अपने रूपाधिक्य, गुणाधिक्य एवं सौभाग्याधिक्य के कारण सर्वापेक्षा प्रिय हैं। वे सुष्ठुकान्ता हैं, षोडश शृङ्गार और द्वादश आभरण धारण किए रहती हैं। षोडश-शृङ्गार हैं—नासाग्र में मणिराज, नीलवसन परिधान, कटितट में नीवी, शिर में वेणीबद्ध, कर्ण में उत्तंश, गले में स्रक, हाथ में पद्म, मुखकमल में ताम्बूल, चिबुक में कस्तूरीविन्दु, नयनयुगल में उज्ज्वल कज्जल, गण्डस्थल में मकरीपत्र, चरण में आलक्तकराग, ललाट में तिलक, सीमन्त में सिन्दूर। द्वादश आभरण ये हैं–चूड़ा में मणीन्द्र, कान में स्वर्ण कुण्डल, नितम्बदेश में काञ्ची, गलदेश में स्वर्णपदक, कान के अर्द्ध में दो स्वर्णशलाकाएँ, कर में वलय, कण्ठ में कण्ठाभरण, अँगुलियों में अंगूठी, गले में नक्षत्रतुल्य हार, भुजाओं में अङ्गद, चरणों में रत्नमय नूपुर एवं पदांगुलियों में उत्तुङ्ग अँगुरीयक (बिछुवे)।

इस वाह्य शृङ्गार के अतिरिक्त उनका विशिष्ट शृङ्गार प्रेम का है। उनके आभरण और वस्त्र प्रेम की विविध भाव-वृत्तियाँ (moods) हैं। चैतन्यचरितामृत में कहा गया है कि अपने प्रति श्रीकृष्ण का प्रेम राधा का सुगन्धिलेपन है, इसलिए

उनकी देह उज्ज्वल है। इसके पश्चात् राधिका प्रथम स्नान करुणामृतधारा में, द्वितीय स्नान तारुण्यामृतधारा में, तृतीय स्नान लावण्यामृतधारा में करती हैं। तदुपरान्त वस्त्रधारण का अवसर आता है। निज लज्जारूपी श्यामपट्टसाड़ी उनका प्रथम परिधान है। कृष्ण अनुराग से अनुरञ्जित रक्तिम वसन द्वितीय वस्त्र है। सौन्दर्य उनका कुंकुम है, प्रणय चन्दन, स्मितकान्तिरूपी कर्पूर विलेपन। श्रीकृष्ण का उज्ज्वलरस मृगमद है जिससे उनका कलेवर चित्रित है। वाम धम्मिल्ल-विन्यास प्रच्छन्न मान है, धीराधीर गुण अङ्ग का पट्टवसन है। रागरूपी ताम्बूल से उनके अधर रञ्जित हैं, प्रेम कौटिल्य के कज्जल से नेत्र अञ्जित हैं। सुदीप्त सात्विक एवं हर्ष आदि सञ्चारीभावों के प्रत्येक अङ्ग पर आभूषण हैं, गुणश्रेणी की पुष्पमालाएँ हैं, सौभाग्य का तिलक है, तथा हृदय में प्रेम—वैचित्त्य का रत्न है। श्रीराधा केवल कृष्ण नाम और कृष्णयश सुनती हैं और ये उनके वचनों से प्रवाहित होते हैं।[१]

श्रीराधा के असंख्य गुण हैं जिनमें कुछ प्रधान हैं। राधा मधुरा, नववया, चलापाङ्गा, उज्ज्वलस्मिता, चारु सौभाग्यरेखाढ्या, गन्धोन्मादितमाधवा, सङ्गीत-प्रसराभिज्ञा, रम्यवाक्, मर्मपण्डिता, विनीता, करुणापूर्णा, विदग्धा, पाटवान्विता, लज्जाशीला, सुमर्यादा, धैर्यशालिनी, गाम्भीर्यशालिनी, सुविलासा, महाभावपरमोत्कर्ष तर्षिणी, गोकुल प्रेमवसति, जगच्छ्रेणीलसद्यशा, गुर्व्वर्पितगुरुस्नेहा, सखीप्रणयितावशा, कृष्णप्रियावली मुख्या, सन्तताश्रव केशवा इत्यादि हैं। अधिक क्या कहा जाय उनके गुण कृष्ण की गुणावली की भाँति अनन्त हैं। इन समस्त गुणों में मधुरा से गन्धोन्मादित माधवा पर्यन्त छह गुण देह सम्बन्धी हैं, मर्मपण्डिता तक तीन वाक्य सम्बन्धी, तथा विनीता तक दस पर सम्बन्धी हैं।

ह्लादिनी नामा महाशक्ति सब शक्तियों में वरीयसी है, राधा उसी की सार-भाव है।[२] प्रेम, दया, मधुरता, लावण्य, लालित्य, सुकुमारता आदि रस के समस्त उपकरण उनमें ही प्रतिष्ठित हुए रहते हैं।[३]

उद्दीपन—हरि एवं हरिप्रिया के गुण, नाम, चरित्र, भूषण तथा तटस्थ (प्रकृति आदि) को उद्दीपन विभाव कहा गया है।

गुण —मानसिक, कायिक, वाचिक भेद से तीन प्रकार के हैं।

---

१—चैतन्य चरितामृत, मध्यलीला, अष्टम परिच्छेद, पृ० १४३

२—ह्लादिनी या महाशक्तिः सर्वशक्तिवरीयसी।
तत्सारभावरूपेयमिति तन्त्रे प्रतिष्ठिता ॥४॥—उज्ज्वलनीलमणि : राधा-प्रकरण

३—अमन्द प्रेमाङ्कश्लथ सकल निर्बन्धहृदयं, दयापारं दिव्यच्छवि मधुरलावण्यललितम्।
अलक्ष्यं राधाख्यं निखिलनिगमैरप्यतितरां, रसाम्भोधेः सारं किमपि सुकुमारं विजयते ॥
—हितहरिवंश—श्रीराधासुधानिधि, श्लोक ५१

मानसिक - जैसे कृतज्ञता, क्षान्ति (क्षमा) करुणा आदि।

कृतज्ञता

स्याम हँसि बोले प्रभुता ढारि।
बारंबार विनय कर जोरत, कटि तट गोद पसारि।
तुम सन्मुख, मैं विमुख तुम्हारो, मैं असाधु तुम साध।
धन्य-धन्य कहि जुवतिनि कौं, आपु करत अनुराध॥[१]

वाचिक—कर्णप्रिय व आनन्दजनक वाक्य को वाचिक कहते हैं।

कायिक—वयस्, रूप, लावण्य, सौन्दर्य, अभिरूपता, माधुर्य, और मार्दव को कायिक गुण कहा गया है। शरीर पर भूषण आदि न रहने पर भी जिसके द्वारा सारा अङ्ग भूषित की भाँति दीखता है, उसे रूप कहते हैं। जिस प्रकार प्रशस्त मोती के अन्दर से एक छटा निकलती है, उसी प्रकार स्वच्छं अङ्गों से जो एक तरल आभा प्रतिभासित होती है, उसे लावण्य कहते हैं। अङ्ग-प्रत्यङ्ग के यथोचित सन्निवेश को तथा सन्धियों की यथायथ मांसलता को सौन्दर्य कहा जाता है। जो वस्तु अपने गुणोत्कर्ष के कारण अन्य समीपस्थ वस्तु को अपना सारूप्य प्रदान कराती है, उसे अभिरूपता कहते हैं। देह के किसी अनिर्वचनीय रूप को माधुर्य कहते हैं। कोमल-वस्तु की स्पर्श-असहिष्णुता को मार्दव कहते हैं; मार्दव, उत्तम, मध्यम्, कनिष्ठ होता है।

चरित—अनुभाव एवं लीला को चरित कहते हैं। लीला के अन्तर्गत रासादि क्रीड़ाएँ, वेणुवादन, गोदोहन, नृत्य, पर्व्वतोत्तोलन, गोआह्वान, तथा गमन आते हैं।

मण्डन—वस्त्र, भूषण, माला एवं अनुलेपन को मण्डन कहते हैं।

गुंण (कायिक), चरित (गमन), मण्डन

ढल ढल कांचा अंगेर लावनि अवनी बहिया जाय।
ईषत हासिर तरङ्ग-हिल्लोले मदन मुरछा पाय॥—मार्दव, लावण्य

× × ×

हासिया हासिया अङ्ग दोलाइया नाचिया नाचिया जाय।
नयान कटाखे विषम-विशिखे परान विन्धिते धाय॥—चरित
मालती फूलेर मालाटि गले हियार माझारे दोले।
उड़िया उड़िया मातल भ्रमरा घूरिया घूरिया बोले॥
कपाले चन्दन फोटार छटा लागिल हियार माझे।[२]—मण्डन

---

१—सूरसागर, पद सं० १६५१
२—पदकल्पतरु, पद सं० १५२

वेणुवादन

मुरली सुनत उपजी बाइ।
स्याम सों अति भाव बाढ़्यो चली सब अकुलाइ॥
× × ×
नन्द-नन्दन तरुनि बोलीं, सरद निसि कें हेत।
रुचि सहित बन को चलीं वै, सूर भईं अचेत॥[1]

नाम—प्रेयसियों के नाम से कृष्ण का व्याकुल होना भी वर्णित है।
राधा नाम कि कहिले आगे शुनइते मनमथ जागे।
सखि काहे कहलि उह नाम मन माहा नाहि लागे आन॥[2]

घर घर तें निकसीं ब्रज-बाला।
लीन्हें नाम जुवति जन-जन के मुरली मैं सुनि-सुनि ततकाला।
इक मारग, इक घर तें निकरीं, इक निकरति इक भईं बेहाला॥[3]

सम्बन्धी—लग्न व सन्निहित भेद से सम्बन्धी-उद्दीपन दो प्रकार का होता है। लग्न सम्बन्धी हैं—वंशीरव, शृङ्गध्वनि, गीत, सौरभ, भूषण शब्द, चरणचिह्न, वीणारव व शिल्प कौशल। सन्निहित सम्बन्धी हैं—माला, मयूरपुच्छ, पर्वतधातु, नैचिकी (उत्तम, गाय) लगुडी, (यष्टि) वेणु, शृङ्गी, श्रीकृष्ण की दृष्टि, गोधूलि, वृन्दावन, वृन्दावनाश्रित वस्तुएँ, जैसे गोवर्द्धन, यमुना रासस्थानादि।

यमुना

सुरेन्द्रवृन्दवन्दितां रसादधिष्ठिते वने, सदोपलब्धमाधवाद्भुतैक सद्दशोन्मदाम्।
अतीव विह्वलामिवच्चलत्तरङ्ग दोर्लतां भजे कलिन्दनन्दिनीं दुरन्तमोहभञ्जिनीम्॥[4]

तटस्थ—चन्द्रिका, मेघ, विद्युत्, वसन्त, शरत्, पूर्णचन्द्र, गन्धवाह अर्थात् दक्षिण वायु एवं खग आदि।

विद्युत्, मेघ, खग आदि

हरषति कामिनि, बरषत दामिनि, मेघन की माला पहिरै तन।
विविध विराजत गिरिवर ऊपर उड़त पताका, पाँति अरु सोभित सुरराज सरासन॥

---

१—सूरसागर, पद सं० १६१०
२—पदकल्पतरु; पद सं० ७८
३—सूरसागर; पद सं० १६२३
४—यमुनाष्टक (हितहरिवंशविरचित) श्लोक ६

बोलत चातक चन्द्र मण्डल महँ कुञ्जित कोकिल कल, खेलत खञ्जन।
रेंगत्ति चन्द्रवधू धुरवानि विच-विच् कीच वन घन मह सौरभ समीरन॥
गरजत सिंह, विथकित गज हंस बिहरत, मीन-मधुप मिलि तन-मन।
सर-सरिता-सागर भरि उमगे यह सुख पीवत 'व्यास' प्यास बिन॥[१]

वसन्त

फुटल कुसुम अलिक मेलि कुहरे कोकिल वारिह केलि।
कपोत नाचत आपन रंगे राइ नाचत श्याम संगे॥[२]

अनुभाव—अलङ्कार, उद्भास्वर (नीवी व उत्तरीय भ्रंशन) एवं वाचिक भेद से अनुभाव मधुररस में तीन प्रकार का होता है।

अलङ्कार—यौवन में कामिनियों के सत्वगुणजनित अलङ्कार बीस होते हैं जो समय-समय पर प्रकट होते हैं। उनमें से हाव, भाव, हेला, ये तीन अङ्गज हैं।

भगवद्रति का प्रशान्त महासागर जब सक्रिय रूप धारण करता है तब विभिन्न भावलहरियों का आकार ग्रहण करता है। मधुर रस का अमृत कलश लेकर जब श्री का आविर्भाव होता है तब उसमें भाव की न जाने कितनी भङ्गिमाएँ, हाव, हेला आदि-दृष्टिगोचर होते हैं। मधुररस प्रगाढ़ होता हुआ भी कुटिलतम रस है, उसकी अभिव्यक्ति शान्तरस की भाँति ऋजु नहीं है, उसमें भाववैचित्र्य की वक्रता है, कौटिल्य है। शृङ्गार रस की समस्त वृत्तियों सहित मधुररस की साधना होती है, इसलिए इसमें शृङ्गारोचित हाव-भाव भी कृष्ण रस के संसर्ग से उज्ज्वल प्रेम की विलासोर्मि बनते हैं। शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, प्रगल्भता, औदार्य व धैर्य ये सात अयत्नज हैं अर्थात् वेशादि शोभा के अभाव में भी स्वतः प्रकाशित हुए रहते हैं।

शुद्ध सत्वमय मनोविकार से भक्त में एक प्रकार का स्निग्ध तेज अवतरित होने लगता है। मधुररस में शुद्ध सत्व का निविड़तम रूप प्रकाशित होता है इसलिए तद्भावित भक्तों में बिना किसी आयास के ऐसी माधुरी, ऐसी उज्ज्वल कान्ति विकीर्ण होती है जिन्हें अयत्नज अलङ्कार कहा जा सकता है। कृष्ण की सम्प्राप्ति से भक्त में प्रगल्भता, उदारता और धैर्य आ जाता है। लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम, किलकिञ्चित् मोट्टायित, कुट्टमित, विव्वोक, ललित एवं विकृत—ये दस स्वभावज हैं अर्थात् नायिकाओं में स्वभावतः प्रकट हुए रहते हैं। प्रेम के अत्यन्त सूक्ष्म होने पर उसमें वैचित्र्य आ जाता है, इसलिए लीलाप्रधान भाव अर्थात् स्वभावज अलङ्कार स्फुरित होने लगते हैं।

---

१—'भक्त कवि व्यास जी', पद सं० ६८४

२—पदकल्पतरु, पद सं० १४६८

ये सारे अलङ्कार श्रीकृष्ण एवं उनकी प्रेयसियों में व्यक्त हुए रहते हैं। रूप गोस्वामी ने कहा है कि इनके अतिरिक्त और भी अलङ्कार असीम की लीला में व्यक्त हो सकते हैं और होते हैं। अन्य पण्डितजन उनका उल्लेख भी करते हैं किन्तु शास्त्रीय आधार के हेतु तथा भरतमुनि के अनुसार चलने के कारण वे इन्हीं अलङ्कारों का परिगणन करते हैं। माधुर्य के किञ्चित् अधिक पोषण के कारण दो नये अलङ्कारों का उल्लेख रूप-गोस्वामी ने किया है, वे हैं—मौग्ध और चकित। प्रियतम के सम्मुख ज्ञात वस्तु के लिए अज्ञ की भाँति प्रश्न करना मौग्ध है तथा प्रियतम की उपस्थिति में भय के स्थान पर जो गुरुतर भय होता है। उसे चकित कहते हैं।

अङ्गज—हाव-भाव

सुरत रङ्ग अङ्ग-अङ्ग हाव भाव भृकुटि भङ्ग,
माधुरी तरङ्ग मथत कोटि मार री।[१]

स्वभावज—किलकिञ्चित

सुरत नीवी निबन्ध हेत प्रिय मानिनी प्रिया की
भुजनि में कलह मोहन मची।
सुभग श्रीफल उरज पानि परसत रोष
हुङ्कार गर्व दृग भङ्गि भामिनी लची॥[२]

× × ×

सखिगन संगे चलति नव रङ्गिनि
शोभा वरनि न होय।

× × ×

पद दुइ चारि चलत पुन फीरइ

× × ×

अद्भुत मनहिं विलासन उन्मुख....॥[३]

उद्भास्वर

नीवी, उत्तरीय, धम्मिल्ल (जूड़ा) इत्यादि का भ्रंशन तथा गात्र-मोटन, जृम्भा, नासिका की प्रफुल्लता एवं निश्वास इत्यादि को उद्भास्वर कहा गया है।

---

१—हितचौरासी, पद सं० ७६
२—वही, पद सं० ५०
३—पदकल्पतरु, पद सं० ११३

नीवी-भ्रंशन कदाचित् अधोचेतना के शिथिल होने का परिचायक है, जब तक अधो-चेतना से मुक्ति नहीं मिलती तब तक देह सत्ता में कृष्णरस का प्रकट होना असम्भव है। धमिम्ल-भ्रंशन मानसिक-नियन्त्रण से मुक्ति का सूचक होता है। गात्रमोटन आदि अन्य अनुभावों का अन्तरङ्गभावपरक विवेचन पहिले किया जा चुका है।

धम्मिल, नीवी-भ्रंशन

आज सम्हारत नाहिन गौरी।
× × ×
बाँधत भृङ्ग उरज अम्बुज पर अलक निबंध किशोरी।
संगम किरचि-किरच कंचुकी-बंध, शिथिल भई कटि डोरी।[१]

गात्रमोटन

खेने तनु मोड़सि करि कत भङ्ग।[२]

वाचिक—वाचिक अनुभाव द्वादश होते हैं—आलाप, विलाप, संलाप, प्रलाप, अनुलाप, अपलाप, सन्देश, अतिदेश, अपदेश, उपदेश, निर्देश व व्यपदेश।

चाटुसूचक प्रियोक्ति आलाप है। दुःखजनित वाक्य विलाप है। उक्ति-प्रयुक्ति विशिष्ट वाक्य संलाप है। व्यर्थ आलाप प्रलाप है। वारम्वार कथन का नाम अनुलाप है। पूर्वकथित वाक्य को पुनः भिन्न प्रकार से कहना अपलाप है। प्रवासीकान्त को वार्ता भेजना सन्देश है। किसी के कहने से यदि अन्य का मन्तव्य स्पष्ट हो जाय तो उसे अतिदेश कहते हैं। वक्तव्य विषय का दूसरे अर्थ में कल्पना करना अपदेश कहलाता है। शिक्षानिमित्त वाक्य उपदेश है। अपना और दूसरों का परिचयात्मक वाक्य निर्देश कहलाता है एवं छलपूर्वक अपनी अभिलाषा को प्रकट करने को व्यपदेश कहते हैं।

संलाप (वक्रोक्तियुक्त)

को इह पुन-पुन करत हुङ्कार। हरि हाम जानि ना कर परचार।
परिहरि सो गिरि-कन्दर माझ। मन्दिर काहे आउब मृग-राज।
सो नह धनि मधुसूदन हाम। चलु कमलालय मधुकरि ठाम।
श्याम-मुरति हाम तुहुं कि ना जान। तारा-पति भये बुझि अनुमान।
घरहुं रतन दीप उजियार। कंछने पैठब घन अँधियार।[३]

---

१—हितचौरासी, पद सं० ७०
२—पदकल्पतरु, पद सं० ७०
३—वही, पद सं० ३५०

सात्विक—मधुररस में आठों सात्विक प्रकट होते हैं। उनके कारणों का विस्तृत विवरण भी दिया गया है।

स्तम्भ—हर्ष, भय, आश्चर्य, विचार, क्रोध के कारण।

स्वेद—हर्ष, क्रोध, भय जन्य।

रोमाञ्च—आश्चर्य दर्शन, हर्ष एवं विषाद के कारण।

स्वरभङ्ग—विस्मय, अमर्ष, हर्ष एवं भय के कारण।

वेपथु—कम्प, त्रास, हर्ष व क्रोध के कारण।

वैवर्ण्य—विषाद, रोष व भय के हेतु।

अश्रु—हर्ष, रोष व विषाद-जन्य।

प्रलय—सुखनिमित्त एवं दुःख हेतु।

इन सात्विकों की ज्वलित, दीप्त एवं उद्दीप्त दशाएं होती हैं। दो या तीन सात्विक एक साथ प्रकट हों और यदि उन्हें कष्टपूर्वक छिपाया जा सके तो उस दशा को ज्वलित कहते हैं। तीन, चार अथवा पाँच प्रौढ़ भाव यदि एक साथ प्रकट हों और उन्हें संवरण न किया जा सके तो उन्हें दीप्त कहते हैं। उद्दीप्तावस्था वह है कि जहाँ एक ही समय में पाँच-छः अथवा समस्त सात्विक उदित होकर प्रेम के परमोत्कर्ष में आरूढ़ होते हैं।

दीप्त, स्तम्भ, स्वेद, कम्प

आरति गुरुया पिरित नह थोर।
लाख मुखे कहिते ना पाइये ओर॥
परशे अवश तनु, वेश निरकम्प।
घामल सब तनु उपजल कम्प॥[१]

स्वरभङ्ग, रोमाञ्च, अश्रु

चलहि किन मानिनि कुञ्जकुटीर।
तो विनु कुंवरि कोटि वनिता जुत मथत मदन की पीर।
गदगद सुर, विरहाकुल, पुलकित, श्रवत विलोचन नीर॥[२]

× × ×

व्यभिचारी—उग्रता और आलस्य व्यतिरेक अन्य सभी व्यभिचारी उज्ज्वल रस में कथित हैं। उनके उत्पन्न होने के कारणों का भी उल्लेख किया गया है।

---

१—पदकल्पतरु, पद सं० १६१
२—हितचौरासी, पद सं० ३७

निर्वेद—उज्ज्वलरस में निर्वेद आत्मधिक्कार का रूप धारण करता है। निर्वेद इस रस में आर्ति, विप्रियता, व ईर्ष्याजन्य होता है।

विषाद—इष्ट की अप्राप्ति, विपत्ति व अपराध हेतु।

दैन्य—दुःख, त्रास एवं अपराध हेतु।

ग्लानि—श्रम, मनः-पीड़ा व रतिजन्य। श्रम पथजनित और नृत्यजनित होता है।

गर्व—सौभाग्य, रूप, गुण, सर्वोत्तम आश्रय व इष्टलाभ हेतु।

शङ्का—चोरी, (मुरली), अपराध एवं अन्य की क्रूरता से उत्पन्न।

त्रास—विद्युत्, भयानक जन्तु, उग्रशब्द जनित।

आवेग—प्रियदर्शन एवं प्रियश्रवण जनित चित्तविभ्रम से उत्पन्न किंकर्तव्य-विमूढ़ता आवेग है।

उन्माद—प्रौढ़ आनन्द, किंवा विरह में चित्त विभ्रम को उन्माद कहते हैं।

अपस्मार—दुःख निमित्तकिंवा धातुवैषम्यजन्य चित्त का विप्लव अपस्मार है।

व्याधि—ज्वर के कारण अथवा हर्ष के कारण विकार को व्याधि कहते हैं।

मोह—विरह, विषाद हेतु।

मरण—भगवद्रति में मरण का उद्यम मात्र वर्णनीय है साक्षात् मृत्यु नहीं, क्योंकि प्रेयसीवर्ग के नित्य सिद्ध होने के कारण मरण असम्भव है। साधक कृष्ण-प्रिया की मृत्यु अमङ्गलजनक होने के कारण उपेक्षित हुई है।

आलस्य—वस्तु के प्रति अकरणेच्छा को आलस्य कहते हैं। कृष्ण-प्रियायों में कृष्ण विषयक वस्तु के प्रति आलस्य असम्भव है, किन्तु परम्परानुरोध से इसका उल्लेखमात्र किया गया है।

जड़ता—इष्ट श्रवण, अनिष्ट श्रवण, इष्ट दर्शन व अनिष्ट दर्शन तथा विरह के कारण जड़ता उपस्थित होती है।

व्रीड़ा—अन्याय, आचरण, स्तव, अवज्ञा तथा नवसङ्गम हेतु।

अवहित्था—लज्जा, कपट किंवा दाक्षिण्य के कारण आकारगोपन।

स्मृति—सादृश्य दर्शन किंवा अतिशय अभ्यास के कारण।

वितर्क—कारणान्वेषण तथा संशय हेतु।

चिन्ता—इष्ट की अप्राप्ति तथा अनिष्ट की प्राप्ति के कारण।

मति—विचारोत्थ अर्थ निर्धारण।

धृति—दुःख के अभाव किंवा उत्तम वस्तु की प्राप्ति के कारण मन की स्थिरता धृति कहलाती है।

औत्सुक्य—इष्ट दर्शन व इष्ट प्राप्ति की स्पृहा।

उग्रता—साक्षात् व्यभिचारी नहीं है, केवल वृद्धाओं में प्रकट होता है।
अमर्ष—अधिक्षेप तथा अपमान हेतु असहिष्णुता।
हर्ष—अभीष्ट दर्शन और अभीष्ट प्राप्ति हेतु।
असूया—अन्य के सौभाग्योत्कर्ष के कारण।
चापल्य—राग किंवा द्वेषवश चित्त की लघुता से उत्पन्न गम्भीरता।
निद्रा—क्लम हेतु चित्त का निमीलन।
सुप्ति—स्वप्न दशा को सुप्ति कहा गया है।
प्रबोध—निद्रा निवृत्ति।

जड़ता, चिन्ता, निर्वेद, विषाद—साधक में जब आध्यात्मिक अनुराग जन्म लेता है तब उसकी सामान्य चेतना मूक और स्तब्ध—जड़वत्—हो जाती है और रहस्यमय भाव का उन्मेष उसके सामान्य विचारों एवं क्रियाकलापों को निरर्थक करता हुआ मन की गति को निश्चल बना देता है। यही मधुर रस में जड़ता सञ्चारी है। वह कृष्ण मिलन के लिए चिन्तित हो जाता है, किन्तु भावोदय होने के अनन्तर यदि भक्त का साक्षात्कार ओट में छिपे श्रीकृष्ण से नहीं हो पाता तब एक विचित्र प्रकार का विषाद उसमें व्याप्त हो जाता है। उस विषाद की सघनता से वह स्वयं अपने से विरत तो हो ही जाता है, उसके कारण संसार से भी विरक्ति और तटस्थता आ जाती है और यह तटस्थता निर्वेद का रूप धारण कर लेती है। राधा के प्रेमोदय के प्रसङ्ग में ये मनोभाव का व्यात्मक ढङ्ग से वर्णित हैं, यथा—

राधार कि हैल अन्तरे बेथा।
बसिया विरले थाकये एकले, ना शुने काहारो कथा॥
सदाइ धेयाने चाहे मेघ पाने, ना चले नयान तारा।
विरति आहारे राँगा बास परे, येमत योगिनी पारा॥[१]

प्रेम की प्रवर्तकावस्था में ये सञ्चारी भिन्न कारणों से उत्पन्न होते हैं और सिद्धावस्था में अन्य कारणों से। प्रेम की प्रौढ़ अनुभूति में जड़ता, असूया के कारण निर्वेद और विषाद जन्म लेते हैं।

स्मृति, उन्माद—सान्निध्य के अभाव में प्रियतम कृष्ण की मोहक चेष्टाओं, रूप एवं गुण आदि का स्मरण (स्मृति) साधना को पुष्ट करता है, अथवा मिलन होने के पश्चात् वियोग उपस्थित हो जाने पर निरन्तर स्मरण से अतीत की अनुभूतियाँ चेतना में जड़वद्ध होने लगती हैं। विरह या मिलन की उत्कट अनुभूति में भक्त

---

१—पदकल्पतरु, पद सं० ३०

जब सामान्य मानव-मन का अतिक्रमण कर किसी ऐसी चेतना में पहुँच जाता है जहाँ के क्रियाकलाप साधारण जन को सङ्गति-विहीन लगते हैं, तब उसे उन्माद दशा कहा जाता है। उन्माद आनन्दातिरेक अथवा दुःखातिरेक से उत्पन्न होता है। ऐसी स्थिति में भक्त की वृत्तियाँ इतनी अन्तर्मुखी हो जाती हैं कि वह वाह्याचार पर अधिकार खो देता है। आत्मविस्मृत होकर वह उन दिव्यभावों से परिचालित होने लगता है जो मानव-बुद्धि की पहुँच से परे हैं। किन्तु इस उन्माद में अपने लोक की सङ्गति होती है, यह अनर्गल नहीं होता। परमानन्ददास, राधा की स्मृति तथा उन्माद दशा का वर्णन करते हुए कहते हैं—

हरि तेरी लीला की सुधि आवै।
कमल-नैन मन मोहन मूरति के मन मन चित्र बनावै।
कबहुँक निबिड़ तिमिर आलिगन, कबहुँक पिक ज्यों गावै।
कबहुँक संभ्रम क्वासि क्वासि कहि संग हिलमिलि उठि धावै।
कबहुँक नैन मूँदि उर अन्तर मनि माला पहिरावै।
मृदु मुसुकानि बंक अवलोकनि चाल छबीली भावै।[1]

शृङ्गाररस की भाँति उज्ज्वलरस की भी दो अवस्थाएँ होती हैं—विप्रलम्भ एवं संयोग।

विप्रलम्भ—नायक-नायिका के मिलन व अमिलन में अभिमत आलिङ्गन आदि की अप्राप्ति में जो भाव प्रकट होता है, उसे विप्रलम्भ कहते हैं। यह विप्रलम्भ सम्भोग का पुष्टिकारक है।[2]

शृङ्गार का विप्रलम्भ पक्ष चैतन्य-सम्प्रदाय में सर्वोपरि है। ऐसी ही मान्यता वल्लभसम्प्रदाय में भी है। विरह से 'निरोध' उत्पन्न होने के कारण विरहावस्था को संयोगावस्था से अधिक महत्त्व दिया गया है। किन्तु जो सम्प्रदाय, विरह को नित्यलीला में स्वीकार नहीं करते जैसे (राधाबल्लभ, निम्बार्क तथा हरिदासी सम्प्रदाय), वे विप्रलम्भ को मधुररस किंवा निकुञ्जरस में स्थान नहीं देते। उनका विश्वास है कि मिलन विरह की द्वन्दात्मक अनुभूति लौकिकता से अछूती नहीं है तथा राधाकृष्ण की चिरन्तन ऐक्यानुभूति में यह विभाजन सम्भव नहीं है। अस्तु, विरह

---

१—परमानन्दसागर, पद सं० ५६४

२—यूनोरयुक्तयोर्भावो युक्तयोर्वाथ यो मिथः।
अभीष्टालिङ्गनादीनामनवाप्तौ प्रकृष्यते।
स विप्रलम्भो विज्ञेयः सम्भोगोन्नतिकारकः ॥२॥—विप्रलम्भप्रकरण, उज्ज्वलनीलमणि

किंवा विप्रलम्भ का वहाँ कोई स्वतन्त्र स्थान नहीं है। अधिक से अधिक सूक्ष्म विरह के रूप में मान एवं प्रेमवैचित्त्य को प्रश्रय दिया गया है, मान भी कुटिल नहीं अत्यन्त ऋजु ही। किन्तु अन्य सम्प्रदाय राधाकृष्ण के प्रेम को नित्य मानते हुए भी साधना की दृष्टि से विप्रलम्भ को मधुररस का अनिवार्य अङ्ग मानते हैं। चैतन्य सम्प्रदाय का मत है कि विप्रलम्भ व्यतिरेक में सम्भोग की पुष्टि नहीं होती, वैसे ही जैसे रञ्जित वस्त्र को पुनः रङ्गने पर राग की और वृद्धि होती है।

एक प्रकार से विप्रलम्भ की परिभाषा रस तक के रूप में दी गई है। उज्ज्वल-नीलमणि में कहा गया है कि युवक-युवती प्रथम मिलन के पूर्व अयुक्त रहते है, मिलन के बाद युक्त होने पर भाव स्थायी होता है। यह स्थायी भाव विभावादि से संवलित होकर विप्रलम्भ नामक रस बनता है। मीराबाई के काव्य को हम विप्रलम्भ रस मान सकते हैं। उनके पदों में मिलन की चर्चा अत्यन्त विरल है, है केवल हृदय का दाह, मर्माहतवेदना और विरह में आत्म-निवेदन की पूर्णाहुति। ये ही भाव निरन्तर विद्यमान् होकर स्थायी बन गये हैं। मीरा का विप्रलम्भ, रस की दृष्टि से स्वतः पूर्ण दृष्टिगत होता है।

प्रचलित परिपाटी के अनुसार विप्रलम्भ के तीन भेद होते हैं—पूर्वराग, मान, प्रवास। बङ्गाल के वैष्णवभक्तों ने एक और सूक्ष्म भेद जोड़ा है—प्रेमवैचित्य, जिससे मिलन में विरह की अनुभूति द्योतित होती है। इस प्रकार कृष्ण-भक्ति की काव्य-परम्परा में विप्रलम्भ के चार भेद हुए—पूर्वराग, मान, प्रेमवैचित्त्य, प्रवास। नन्ददास ने 'विरह मञ्जरी' में ब्रज में विरह के चार भेद किये हैं—प्रत्यक्ष, पलकान्तर वनान्तर, देशान्तर। प्रत्यक्ष विरह प्रेमवैचित्त्य का दूसरा नाम है, वनान्तर तथा देशान्तर विरह प्रवास के अन्तर्गत आते हैं। पलकान्तर विरह नया है—गोपियाँ श्रीकृष्ण की रूप-माधुरी का पान अनिमेष दृष्टि से करना चाहती हैं किन्तु पलक गिरने के कारण उस दर्शन में जो बाधा पहुँचती है और उस बाधा से जो विरह उत्पन्न होता है, उसे पलकान्तर विरह कहा गया है।

पूर्वराग—जो रति मिलन के पूर्व दर्शन, श्रवण, आदि के द्वारा उत्पन्न होकर विभावादि के मिश्रण से नायक-नायिका को आस्वादनीय होती है, उसे पूर्वराग कहते हैं।[१]

---

१—रतिर्या सङ्गमात् पूर्व्वं दर्शनश्रवणादिजा।
तयोरुन्मीलति प्राज्ञैः पूर्व्वरागः स उच्यते ॥५॥—विप्रलम्भ प्रकरण, उज्ज्वलनीलमणि

दर्शन चित्रपट किंवा स्वप्न से हो सकता है।[१] स्वप्न में दर्शन से मीराबाई में प्रेम उत्पन्न होना विदित है, नन्ददास ने 'रूपमञ्जरी' में स्वप्न-दर्शन से ही प्रेम का उदय दिखाया है। चित्रपट दर्शन का वर्णन कृष्णकाव्य में कम मिलता है। यह बङ्गला पदावली में अवश्य निर्देशित है, क्योंकि उसका सङ्कलन काव्य शास्त्र की प्रणाली पर हुआ है।[२]

श्रवण वन्दी, दूती, व सखी किंवा गीत, मुरली आदि द्वारा उद्बुद्ध होता है। इनमें से मुरली प्रमुख है।[३] दूती द्वारा वर्णन भी ब्रजबुलि पदावली में है।[४]

पूर्वराग में व्याधि, शङ्का, असूया, श्रम, निर्वेद, क्लम, औत्सुक्य, दैन्य, चिन्ता, निद्रा प्रबोध, विषाद, जड़ता, उन्माद, मोह व मृत्यु इत्यादि प्रकट हुए रहते हैं।

समर्था, समञ्जसा, साधारणी रतियों के अनुरूप पूर्वराग के प्रौढ़, समञ्जस, व साधारण उपभेद कथित हुए हैं।

प्रौढ़ पूर्वराग—प्रौढ़ पूर्वराग में विरह की दसों दशाएँ घटित होती हैं—लालसा, उद्वेग, जागरण, तानव, जड़ता, व्यग्रता, व्याधि, उन्माद, मोह व मृत्यु। प्रौढ़पूर्वराग की समस्त दशाएँ प्रौढ़ होती हैं। इन दशाओं का लक्षण व उनमें प्रकट होने वाली चित्तवृत्तियों का विस्तृत वर्णन उपस्थित किया गया है।

अभीष्ट प्राप्ति की अत्यन्त उत्कट आकांक्षा लालसा है। मन की चञ्चलता का

---

१—(अ) स्वपने देखिलूँ ये श्यामल वरन दे, ताहा बिनु आर कारो नई॥
—पदकल्पतरु, पद सं० १४४

(ब) इकदिन सखी सङ्ग राजकुमारी, पौढ़ी हुती कनक चित्रसारी।
सुपन मांझ इक सुन्दर नाइक, पायौ कुवरि अपनी लाइक।
तन मन मिलि तासौं अनुरागी, अधर सधर खण्डन मैं जागी।
—'रूपमञरी'—नन्ददास—भाग १, पृ० ६-२०

२—हम से अबला हृदये अखला भाल मन्द नहीं जानि।
विरले बसिया पटेते लिखिया विशाखा देखाल आनि॥
विषम बादव-आनल मामारे आमारे डारिया दिल॥—पदकल्पतरु, पद सं० १४३

३—(क) मेरो मन गह्यौ माई मुरली कौ नाद।
आसन पौन ध्यान नहिं जानौ कौन करै अब वाद विवाद।
—परमानन्दसागर, पद सं० २११

(ख) कदम्बेर वन हैते किबा शब्द आचम्बिते आसिया पशिल मोर काने।
अमृत निछिया फेलि कि माधुर्य पदावली कि जानि केमन करे प्राणे।
—पदकल्पतरु, पद सं० १४१

४—शुन-शुन गुनवति राइ, तो बिनु आकुल कानाइ।
सो तुया परशक लागि, छटफट यामिनि जागि।—वही, पद सं० ६५

नाम उद्वेग है; चिन्ता, अश्रु, वैवर्ण्य, घर्म, दीर्घनिश्वास, त्याग, स्तब्धता आदि इसके चिह्न हैं। निद्रा के क्षय को जागर्य कहा गया है जिसमें स्तम्भ, शोष, रोग उत्पन्न हुए रहते हैं। तानव शरीर की कृशता है, इसमें दुर्बलता तथा भ्रमण-वृत्ति उत्पन्न हुई रहती है। किसी-किसी के मत से तानव के स्थान पर विलाप होना चाहिये। जड़िमा वह दशा है जिससे इष्ट-अनिष्ट का ज्ञान नहीं रहता, प्रश्न करने पर अनुत्तर एवं दर्शन तथा श्रवण का अभाव होता है, प्रस्ताव के अभाव में भी हुङ्कार, स्तब्धता, श्वास व भ्रम इत्यादि उत्पन्न हुए रहते हैं। भावगाम्भीर्य हेतु विक्षोभ की असहिष्णुता को व्यग्रता कहते हैं, इसमें विवेक, निर्वेद, असूया व खेद प्रकट होते हैं। अभीष्ट की अप्राप्ति से शरीर की जो पाण्डुता अथवा उत्ताप है उसे व्याधि कहते हैं। व्याधि में शीत, स्पृहा, मोह, निश्वास व पतन प्रकाशित हुए रहते हैं। सर्वत्र सब अवस्थाओं में इष्टविषयक भ्रान्ति को उन्माद कहा गया है, इससे इष्ट के प्रति द्वेष, निःश्वास, निमेष, तथा विरह उत्पन्न हुए रहते हैं। चित्र की विपरीत गति को मोह कहते हैं, निश्चलता व पतन इसके सञ्चारी हैं। दूती-प्रेषण किंवा स्वयं प्रेम प्रकट करने पर भी यदि कान्त का समागम प्राप्त न हो तो मरण का उद्यम होता है उसे ही भक्तिरस में मृत्यु कहा गया है, इसमें अपनी प्रिय वस्तुएँ वयस्कों को देना, भृङ्ग, मन्दपवन एवं कदम्ब आदि का अनुभव इत्यादि सञ्चारी प्रकट होते हैं। इन विरह-दशाओं का आन्तरिक सङ्केत भी भक्ति रस के विवेचन-क्रम में दिया जा चुका है। पूर्वराग, मधुरारति के प्रथम संस्पर्श की प्रतिक्रिया है। इस भावोदय के साथ ही राग साधना प्रारम्भ होती है। पूर्व राग की ये दस दशाएँ (इनके अतिरिक्त और न जाने कितनी दशाएँ हो सकती हैं जो काव्यानुमोदित नहीं हैं) साधना को गतिवान् बनाती हैं, रति को तीव्रतर करती हुई मिलन के द्वार तक ले आती हैं। लालसा से साधना प्रक्रिया आरम्भ होती है। भगवत्प्राप्ति की अभीप्सा, कृष्ण-मिलन की दुर्धर आस्पृहा लालसा का रूप धारण करती है। यह लालसा जब भक्त में जाग्रत हो जाती है तब उसकी अन्य सारी मानवीय लालसाओं का अवसान हो जाता है। परमप्रेमास्पद के प्रति इस ललक के उत्पन्न होने से चित्त की सारी वृत्तियाँ 'अलोभ' के लोभ में संलग्न हो जाती हैं और भक्त में स्वतः एकाग्रता आ जाती है। भक्ति के आचार्यों ने रागभक्ति को एक उत्कट लोभ बताया है जिसमें अपनी योग्यता-अयोग्यता का विचार नहीं रह जाता, एकमात्र भगवत्प्राप्ति की अदम्य लालसा भक्त को लोभी व्यक्ति की भाँति अभिभूत किए रहती है। लालसा के जन्म लेते ही व्यक्ति सामान्य मानवचेतना की निश्चित स्थिति में निवास नहीं कर सकता, उसे भक्ति-बाधक सभी वस्तुओं के प्रति उद्वेग होता है। साधारण चेतना से उसे विद्रोह होता है और जिस दिव्यभाव का उसमें उन्मेष हुआ रहता है, उसे चरितार्थ न कर पाने से मन

उद्वेजित हो उठता है। इस उद्वेजना से उसके व्यक्तित्व का मन्थन होता है, उसकी समस्त जड़ता, सारी निश्चेतनता तिरोहित होने लगती है और आत्म प्रबोध किंवा आत्म जागृति (जागरण) उत्पन्न होती है। अन्तश्चेतना के सतत जाग्रत होकर कार्य करने से देह चेतना पर एक प्रकार का घनीभूत दबाव पड़ता है जिसे देह का तम आरम्भ में सँभाल नहीं पाता, इसलिए शरीर कुछ कृश हो जाता है। इस कृशता में दैहिक तम का नाश होता है और उसकी तन्द्रा चिन्मयभाव के प्रभाव से मिटने लगती है। देह के संस्कार का अर्थ है बाह्यचेतना के बहिर्तम रूप का संस्कार। इस प्रकार जब अन्तर्बाह्य सामान्य चेतना से मुक्त हो जाते हैं तब जो अनिवर्चनीय भावगाम्भीर्य अवतरित होता है, उसमें समस्त व्यक्तित्व डूबकर निश्चल, जड़वत् हो जाता है। इस भावगाम्भीर्य में यदि विक्षोभ हो जाय तो उसकी असहिष्णुता से व्यग्रता उत्पन्न हो जाती है। यदि तब भी कृष्णमिलन नहीं होता तब शरीर और मन की जो अतिशय विकलता होती है, वेदना से हृष्टता का जो नाश होता है, उसे व्याधि कहते हैं। राग की चरम सीमा में जो नाना प्रकार के विचित्र भाव उठते हैं वे भक्त में उन्माद दशा ला देते हैं। जिस प्रकार उन्मादित व्यक्ति बाह्यज्ञानशून्य हो जाता है उसी प्रकार भक्त दिव्यमनोराग में बाह्यज्ञान से अनभिज्ञ हो जाता है। राग के अतिरेक में एक प्रकार की अतिचेतन मूर्च्छा आ जाती है और पूर्ण आत्मविलयन (मोह) हो जाता है। यह अवस्था आंशिक या सम्पूर्ण भावसमाधि में परिणत हो जाती है जिससे भक्त की सामान्य चेतना एवं उसके साधारण जीवन की आत्यन्तिक इति (मृत्यु) हो जाती है। इन मनोदशाओं के कुछ उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

लालसा

माधव तुया अनुरागिनि राधा।
तुया परसङ्ग अङ्ग सब पुलकति ना मानये गुरुजन बाधा।

× × ×

पुन पूंछत पुन दिग निहारत भूमे शुतये पुन बेरि।[1]

× × ×

ग्वालिन! अजहूँ बन में गाइ।
होन न देति बार दोहन की चलति सकार्‌यौ धाइ।
लै दोहनी खरिक-मिस खोरति उत्तरु कहति बनाइ।
नंद द्वार फिरि-फिरि झाँकति इहि बात न जानी जाइ॥[2]

---

१—पदकल्पतरु, पद सं० १५६
२—चतुर्भुजदास, [पद संग्रह] पद सं० २८१

उद्वेग

(क) तुया अपरूप रूप हेरि दूर सब लोचन मन दुहुँ धाव।
परशक लागि आगि जलु अन्तरे जीव रह किये न जाव।
माधव तोहे कि कहव करि भंगी।[1]

(ख) मेरी आँखियन यही टेव परी।
कहा री! करो सखी! वारिज मुख पर लागत ज्यों भंवरी।
सरकि सरकि प्रीतम मुख निरखति रहति न एक घरी।
ज्यों-ज्यों जतन करि-करि राखति हौं त्यों-त्यों होत खरी।
सुच रही सखी! रूप जलनिधि में प्रेम पीयूष भरी।
कुंभनदास गिरिधर मुख निरखत लूटत निधि सगरी॥[2]

जागर्य, तानव

(क) तब धरि जागर-क्षीण कलेवर दिन-रजनि नाहिं जान।[3]

(ख) मांस गल गल छीजिया रे, करक रह्या गल आहि।
आंगलियां रो मूदड़ों, म्हारे आवन लागी बाँहि।
रहो रहो पापी पपीहा रे, पिव को नाम न लेइ।
जो कोइ विरहणि साम्हले, पिव कारण जीव देइ॥[4]

जड़िमा

(क) तुया प्रेम विवसे जड़ित मेल अन्तर किछुइ ना शूनइ कान।[5]

(ख) गोरस वेचत आपु विकानी।
भवन गोपाल मनोहर मूरति मोही तुम्हारी वानी।
अङ्ग-अङ्ग प्रति भूल सहेली, मैं चातुरि कछुवं नहि जानी।
चत्रुभुज प्रभु गिरिधर मन अटक्यो तन मन हेत हिरानी॥[6]

व्यग्रता

(क) माधव तुया खेद सहइ न पार।
मानइ सो निज जीवन भार।

---

१—पदकल्पतरु, पद सं० १५८
२—कुम्भनादस, [पद संग्रह] पद सं० २१६
३—पदकल्पतरु, पद सं० १६५
४—मीराबाई की पदावली, पद सं० ७४
५—पदकल्पतरु, पद सं० १६५
६—चतुर्भुजदास, [पद संग्रह] पद सं० २५८

सुया विसरणलागि करत संचार।
आन जन याहा लगि करे परकार।[१]

(ख) नागरि मन गई अरुझाइ।
अति विरह तनु भई व्याकुल, घर न नैकु सुहाइ।
स्याम सुन्दर मदन मोहन मोहिनी सी लाइ।
चित्त चंचल कुंवरि राधा खान पान भुलाइ॥[२]

व्याधि

(क) निरमल कुल-शिल कांचन-गोरि।
पांडुल कवल विरह्-जर तोरि।
अनुखन खल खल निगवइ राइ।
निशिदिन रोयइ सखि-मुख चाइ।[३]

(ख) हेरी मैं तो दरद दिवानी मेरो दरद ना जाणै कोइ।

× × ×

दरद की मारी वन बन डोलूं, बैद मिल्या नहिं कोइ।
मीरां की प्रभु पीर मिटैगी, जब बैद संवलिया होइ॥[४]

उन्माद

(क) खेने हासये खेने रोय, दिशि दिशि हेरइ तोय।
खेने आकुल खेने थीर, खेने धावइ खेने गीर।
खेने खेने हरि हरि वोल, सहचरि धरि करु कोर।[५]

(ख) कहा री! सखी तोहिं लागी ढौरी?
संध्या समय खरिक वीथिन में इत उत झांकति डोलति वौरी।
कबहुंक हंसति कवहुं कछु बोलति चंचल बुधि नाहिन इक ठौरी।

---

१—पदकल्पतरु, पद सं० १६८
२—सूरसागर, पद सं० १२६६
३—पदकल्पतरु, पद सं० १७०
४—मीराबाई की पदावली, पद सं० ७२
५—पदकल्पतरु, पद सं० १७५

कबहुँक कर-तल ताल बजावति, कबहुँक रागु अलापति गौरी।
गिरिधर पिय तुव कियौ दुचितौ चितु, कहि न सकति मीठी अरु कौरी।[१]

मोह

(क) जब तुया नयन मुरलि-विष जारल तब मन मोहन भेल।
निचल कलेवर पड़ल धरणितल परिजन लागल शेल॥
आन उपदेशे तोहारि नाम तेखने देवहि उपनीत केल।
सोइ शबद पुन काने सम्भायल ऐछन चेतन भेल।
ऐछन भांति दिशइ मोहे पुन पुन ना बुझिये जाग न जाग।[२]

(ख) मैं हरि बिन क्यूं जिवूंरी माइ।
पिय कारण बौरी भई, ज्यूं काठहि घुन खाइ।
ओखद मूल न संचरै, मोहि लाग्यौ बौराइ।[३]

मृत्यु

(क) लुठइ धरणि धरि सोय।
श्वास विहिन हेरि सहचरि रोय।
मुरछनि कंठे पराण।
इह पर की गति दैवे से जान।
ए हरि पेखलूं सो मुख चाइ।
खिनहि परशे तुया मा जीवइ राइ।[४]

(ख) माई म्हारी हरिहू न बूझी बात।
पंड मांसूं प्राण पति, निकसि यूं नहीं जात।
× × ×
लेइ कटारी कंठ सरूं, मरूंगी विष खाइ।
मीरादासी राम रती, लालच रही ललचाइ॥[५]

१—चतुर्भुजदास, [पद संग्रह] पद सं० २८२
२—पदकल्पतरु, पद सं० १७७
३—मीराबाई की पदावली, पद सं० ६०
४—पदकल्पतरु, पद सं० १८०
५—मीराबाई की पदावली, पद सं० ६८

समञ्जस पूर्वराग—समञ्जसा रति के स्वरूप से उत्पन्न पूर्वराग समञ्जस पूर्व-राग नाम से अभिहित होता है। इसमे क्रमशः अभिलाषा, चिन्ता, स्मृति, गुणकीर्तन, उद्वेग, सविलाप उन्माद, व्याधि एवं जड़ता उत्पन्न हुए रहते हैं।

प्रियव्यक्ति की सङ्गलालसा को अभिलाषा कहते हैं। इसमें राग आदि दशाएँ प्रकट होती हैं। अभीष्ट प्राप्ति के हेतु जो ध्यान होता है, उसे चिन्ता कहा गया है। इसमें शैया पर लोटना, चारों ओर बार-बार घूमना तथा निःश्वास व निर्लक्ष्य देखना आदि अनुभाव प्रकट होते हैं। अनुभूतप्रिय के गुण, वेश इत्यादि के चिन्तन को स्मृति कहते हैं। इसमें कम्प, वैवर्ण्य, वाष्प, निःश्वास इत्यादि लक्षण प्रकट होते हैं। सौन्दर्य आदि गुणों की श्लाघा को गुणकीर्तन कहते हैं, इसमें कम्प, रोमाञ्च एवं गद्गद-कण्ठता उत्पन्न होती है।

प्रौढ़पूर्वराग की अन्य दशाएँ समञ्जस पूर्वराग में भी होती है, किन्तु उनमें वह प्रौढ़ता नहीं होती जो समर्थारति की विशेषता है।

साधारण पूर्वराग—साधारणीरति के आश्रित पूर्वराग को साधारण पूर्व-राग कहते हैं। यों तो इसमें लालसा से लेकर विलाप तक सञ्चारी भाव उदय होते हैं किन्तु वे अत्यन्त कोमल होते हैं।

कुछ विद्वान् पूर्वराग का सामान्य विवेचन करते हुए नयन-प्रीति, चित्त-आसङ्ग (आसक्ति) सङ्कल्प, (मन के द्वारा कार्योत्पादन की कल्पना) निद्राच्छेद, कृशता, विषय- निवृत्ति, लज्जा, विनाश, उन्माद, मूर्च्छा के क्रम से दस दशाओं का वर्णन करते हैं।

यह विवरण अधिक सार्थक तथा मनोवैज्ञानिक है एवं काव्यशास्त्र की परम्परा से मुक्त होने के कारण स्वाभाविक है। अधिकतर दर्शन ही रागोत्पत्ति का कारण होता है, इसलिए नयन-प्रीति से प्रेम उत्पन्न होने का क्रम आरम्भ किया गया है। प्रीति जुड़ते ही भक्त की चित्तवृत्तियाँ कृष्ण के चिन्तन में डूबने लगती हैं, क्योंकि प्रेम का यह स्वभाव है कि उसके उदय होते ही व्यक्ति का समस्त आकर्षण प्रेमास्पद में केन्द्रित हो जाता है। अतएव उसका स्मरण एवं ध्यान निरन्तर नैसर्गिक रूप से होता रहता है। इस निरन्तर चिन्तन से प्रेम गाढ़ होकर आसङ्ग किंवा आसक्ति का रूप धारण कर लेता है। आसक्ति के उत्पन्न होते ही प्रिय की प्राप्ति के लिए मन वद्ध-निश्चय (सङ्कल्प) हो जाता है। प्राप्ति की साधना में भक्त की तन्द्रा, साधक का निश्चेतन तमस (निद्राच्छेद) करने लगता है। मिलने की कठोर साधना में शारीरिक दुर्बलता ( कृशता ) भी आ जाती है। श्रीकृष्ण के दिव्य व्यक्तित्व में मन के रमने पर सांसारिक विषयों से स्वतः वैराग्य (विषय निवृत्ति) उत्पन्न हो जाता है और उस अनुपम रस की तुलना में अन्य सारे रस फीके और निस्सार लगने

लगते हैं। भगवान् की उत्कट लालसा जब समस्त व्यक्तित्व को आच्छादित कर देती है तब व्यक्ति किसी भी अपवाद से सशङ्कित नहीं होता, बिना किसी लज्जा व सङ्कोच के वह इष्ट के प्रति धावित होता है (लज्जा विनाश) और इष्ट के अनवरत ध्यान अथवा मिलन-अमिलन की क्लेशमयी मनःस्थिति में उन्माद दशा उपस्थित हो जाती है। उन्माद में वह जब अपने को एकदम भूल जाता है तब समाधिस्थ चेतना (मूर्च्छा) में समस्त उपाधियों से मुक्त होकर प्रियतम के सान्निध्य के योग्य होता है।

पूर्वराग में श्रीकृष्ण वयस्यों से काम-लेख (पत्र) व माला इत्यादि भेजते हैं। कामलेख दो प्रकार का होता है—निरक्षर व साक्षर। निरक्षर कामलेख में रक्तवर्ण-पल्लव में अर्द्धचन्द्राकार नखाङ्क तथा वर्णविन्यासशून्यता रहती है। साक्षर कामलेख में प्राकृत भाषामयी लिपि अपने हाथ से श्रीकृष्ण अङ्कित करते हैं।

मान—भगवद्प्रेम में मदीयभाव की प्रबलता के कारण निर्बाधरसनिष्पत्ति में जो बाधा पहुँचती है, उसे मान कहते हैं। शास्त्रीय दृष्टि से परस्पर अनुरक्त एवं एक सङ्ग अवस्थित नायक-नायिका के अभिमत आलिङ्गन, वीक्षण आदि के रोधक को मान कहते हैं। मान में निर्वेद, शङ्का, अमर्ष, चपलता, गर्व, असूया, अवहित्था, ग्लानि, एवं चिन्ता इत्यादि सञ्चारी अभिव्यक्त होते हैं।[१] यह मान द्विविध होता है—सहेतु, निर्हेतु।

सहेतु मान—यह मान ईर्ष्याजन्य होता है। प्रिय व्यक्ति के मुख से विपक्ष की विशेषताओं के कीर्तन पर प्रणय-प्रधान जो भाव होता है, उसे ईर्ष्यामान कहते हैं।[२] यह भक्ति के अहं के कारण उत्पन्न होता है। जब विश्वात्मा के निर्वैयक्तिक किन्तु व्यक्तिगत सम्बन्ध में स्फुरित प्रेम को भक्त, उसके निजी स्वरूप में नहीं अनुभव करता, प्रत्युत् मानव प्रेम की अधिकारजन्य अहम्मन्यता में बाँधना चाहता है तब सहेतु मान उत्पन्न होता है।

---

१—दम्पत्योर्भाव एकत्र सतोरप्यनुरक्तयोः।
स्वाभीष्टाश्लेषवीक्षादिनिरोधी मान उच्यते॥
सञ्चारिणोऽत्र निर्वेदशंकामर्षाः सचापलाः।
गर्व्वासूयावहित्थाश्च ग्लानिश्चिन्तादयोऽप्यमी॥३१॥—विप्रलम्भ प्रकरण, उज्ज्वलनीलमणि

२—हेतुरीर्ष्या विपक्षादेर्वैशिष्ट्ये प्रेयसा कृते।
भावः प्रणयमुख्योऽयमीर्ष्यामानत्वमृच्छति॥३२॥—विप्रलम्भप्रकरण, उज्ज्वलनीलमणि

सहेतु मान श्रुत[1], अनुमित, व दृष्टभेद से तीन प्रकार का होता है। प्रिय सखी किंवा शुक द्वारा सुना गया विपक्ष का गौरवश्रुत सहेतुमान उत्पन्न करता है। भोगाङ्क[2], गोत्रस्खलन[3] अर्थात् एक व्यक्ति को अन्य व्यक्ति के नाम से पुकारना, स्वप्न आदि के द्वारा अनुमित मान उत्पन्न होता है। हरिया विदूषक की स्वप्न-क्रिया को 'स्वप्न' कहते हैं। साक्षात् देख लेने पर दृष्ट मान उत्पन्न होता है। नायिका द्वारा स्वप्न में देखा गया श्रीकृष्ण का अन्यविषयक प्रेम भी सहेतु मान का कारण होता है[4] जिसका उदाहरण प्रस्तुत किया जा चुका है।

निर्हेतुमान—निर्हेतुमान अहंजन्य नहीं होता वरन् यह रागावेश की अतिरिक्तता से उत्पन्न भाव है, प्रणय की चरम माधुरी है। कारण के अभाव अथवा नायक-नायिका में कारणाभास से जो प्रणय उदित होता है, वह निर्हेतुमान का रूप धारण करता है। इसे ही प्रणयमान कहा गया है।[5] इसका प्रमुख व्यभिचारी अवहित्था है।

निर्हेतु मान साम, भेद, दान, नति एवं उपेक्षा आदि रसान्तर द्वारा उपशमित हो जाता है। मान उपशमन का चिह्न वाष्प-मोचन व हास्य है। प्रिय

---

१—प्रिय सखि निकटे जाइ कहे द्रुत गति शुन धनि चतुरिनि राधे।
चन्द्रावलि सभे कानु रजनि आजु कामे पुरायल साधे॥
उछन शुनइते बात अरुणिम लोचन गरगर अन्तर रोखे पुरल सब गात।
—पदकल्पतरु, पद सं० ५२६

२—देख राइ कानुसखि सने दुहुं वसियाछे निरजने।
रस-परसङ्ग कहि ते-कहिते खलित भेल वचने॥
कहे तुया मुख बलि जाइ कत चन्दावलि निछाइ।
स्याम वदने शुनिते वचने कोपे भरल राइ।—वही, पद सं० ५७१

३—धाम स्याम भोर भए आए।
इत रिस करि रही धाम, रैनि जागि चारि जाम, देख्यौ जो द्वार स्याम, ठाढ़े सुखदाए।
जावक रङ्ग लग्यौ भाल, बन्दन भुज पर बिसाल, पीक पलक अधर झलक वाम प्रीति गाढ़ी।
क्यों आए कौन काज, नाना करि अङ्ग साज, उलटे भूषन सिङ्गार, निरखत ही जाने।
ताही कैं जाहु स्याम, जाकैं निसि बसे धाम, मेरे गृह कहा काम, सूरदास गाने॥
—सूरसागर, पद सं० ३११६

४—आपन मन्दिरे शुतिया सुन्दरी देखइ घूमेर घोरे।
कानु आन सजे रभस करई करिया आपन कोरे॥
आन रमनी बिहरे रजनी छामारि नागर-कोर।
देखिते-देखिते पाइया चेतन मान भरमे भोर॥—पदकल्पतरु, पद सं० ५७२

५—अकारणाद्द्वयोरेव कारणाभासनस्तथा।
प्रोद्यन् प्रणय एवायं भजेन्निर्हेतुमानताम् ॥४०॥—विप्रलम्भप्रकरण, उज्ज्वलनीलमणि

वाक्य-रचना को साम कहते हैं। सङ्केत किंवा भङ्गिमा द्वारा अपना माहात्म्य व्यक्त करना या सखी द्वारा उपालम्भ प्रयोग करना, भेद कहलाता है। छलपूर्वक भूषण आदि प्रदान करना दान है। दैन्यावलम्बनपूर्वक चरणों पर गिरना नति है। साम आदि समस्त उपायों के अवशेष में जो अवज्ञा या तूष्णीभूत भाव होता है, उसे उपेक्षा कहते हैं।

कारणाभास

(क) कियौ अति मान वृषभानु वारी। देखि प्रतिबिम्ब पिय हृदय नारी॥
कहा ह्यां करत लै जाहु प्यारी। मनहि मन देत अति ताहि गारी॥
सुनत यह वचन पिय-विरह बाढ़ी। कियौ अति नागरी मान गाढ़ौ॥
काम तनु दहत नहि धीर धारैं। कबहुँ बैठत उठत द्वार धारैं॥
सूर अति भए व्याकुल मुरारी। नैन भरि लेत जल देत ढारी॥[1]

(ख) मरकत-दरपन श्याम-हृदय माहा आपन मुरति देखि राइ।
गुरुया कोप अधर घन कांपइ अरुण नयान भै जाइ॥[2]

अकारण

नैन भौंह की मुरनि, मैं लाल दीन ह्वै जात।
जल सूखे जलजात ज्यौं, वदन मृदुल कुंभिलात।
भर्‌यौ हियौ अनुराग सौं, रहि न सकौ अकुलाइ।
लये लाइ प्रिय हीय सौं, अधर सुधारस प्याइ।
मान मनावन छुटि गयौ, पर्‌यौ लपटि तहाँ प्रेम।
अंतर भरि बाहिर भर्‌यौ, रहे लीन ह्वै नेम॥[3]

देख राधामाधव रङ्ग।
तनु-तनु दुहुँ जन निविड़ आलिङ्गन आरति रभस-तरङ्ग।
किये अनुभाव कलह दुहैं उपजल सुन्दरि मानिननि भेल।
ऐछन प्रेम-आरति विघुराइया को विहि इह दुःख देल।
मानिनि वदन फेरि तहि आउल जाहाँ निज सखिनि समाज॥[4]

---

१—सूरसागर, पद सं० ३०३६
२—पदकल्पतरु, पद सं० ५६२
३—प्रेमावली लीला (दोहा ९९,१००-१०१) ब्यालीस लीला, हितध्रुवदास
४—पदकल्पतरु, पद सं० ६०४।

प्रेम-वैचित्र्य—प्रिय के सन्निधान में प्रेम के उत्कर्षवश विच्छेद भय से जिस पीड़ा का अनुभव होता है, उसे प्रेम-वैचित्र्य कहते हैं।[1] नन्ददास ने इसे प्रत्यक्ष विरह कहा है।[2] इसे राधावल्लभ सम्प्रदाय में मिलन में सूक्ष्मविरह की स्थिति कहा गया है। तन, मन, प्राण, बुद्धि, अन्तःकरण, सबके एक होने पर भी रागातिरेक के कारण राधाकृष्ण में ऐसी भावदशा उपस्थित हो जाती है जिसमें उन्हें ऐसा प्रतीत होता है कि, जैसे, वे एक-दूसरे से कभी मिले ही न हों। मिलकर भी न मिलने के सदृश विरह खलता है, प्राप्ति में अप्राप्ति का भाव बना रहता है। मिलन में चाह, चटपटी, नित्य नूतनता का आस्वाद प्रेम-वैचित्र्य या विरह-विभ्रम को जन्म देता है। प्रेम-वैचित्र्य भी दो प्रकार का होता है—निर्हेतु अथवा मुख्य एवं कारणाभास अथवा गौण।

किसी-किसी स्थल पर अनुराग विलास-प्राप्त होकर पार्श्वस्थित प्रियतम को स्पष्ट रूप से खोया हुआ समझता है। यह प्रेम-वैचित्र्य की सबसे अधिक विकसित अवस्था है।

### निर्हेतु-प्रेम-वैचित्र्य

श्यामल कोरे बतने धनि सूतल मदन-आलसे घुमि भोर।
भुजे भुजे बन्धन निविड़ आलिंगन जनु कांचन मणि जोड़॥
कोरहि श्याम चमकि धनि बोलत काहे मोहे भीतब कान।
हृदयक ताप तबहि सभू मीटब अमिया करब सिनान॥

× × ×

एत कहि सुन्दरि बोध निसाबद मुरछित हरल गेयान।
आकुल राइ श्याम परबोधइ गोविंददास परमान॥[3]

× × ×

राधेहि मिलेहुँ प्रतीति न आवति।
जदपि नाथ-विधु-बदन विलोकत, दरसन को सुख पावति॥
भरि भरि लोचन रूप-परम-निधि, उर में आनि दुरावति।

---

१—प्रियस्य सन्निकर्षेऽपि प्रेमोत्कर्षस्वभावतः।
या विश्लेषधियार्तिस्तत्प्रेमवैचित्त्यमुच्यते ॥५७॥—विप्रलम्भप्रकरण, उज्ज्वलनीलमणि

२—प्रगट विरह के सुनि अब लच्छन चकित होत जहँ चंद बिनन्दन।
ज्यों नव कुंज सदन श्रीराधा, विहरति प्रीतम अंक अबाधा।
पौढ़ी प्रीतम अंक सुहाई, कछु इक प्रेम लहरि सी आई।
संभ्रम गई कहति रस-भलिता, मेरे लाल कहाँ री ललिता।२०।
—विरहमंजरी (नन्ददास) भाग १, पृ० २९

३—पदकल्पतरु, पद सं० ७६५

बाँए कर द्रुम टेके ठाढ़ी।
बिछुरे मदन गोपाल रसिक मोहि, विरह व्यथा तनु बाढ़ी॥
लोचन सजल, वचन नहिं आवै, स्वास लेत अति गाढ़ी।
नंदलाल हम सों ऐसी करी, जल तें मीन धरि काढ़ी॥[१]

सुदूरप्रवास भावी, भवन, भूत भेद से त्रिविध होता है। श्रीकृष्ण का मथुरा जाना उनके व्यक्तित्व में ऐश्वर्यपक्ष का समावेश करता है जिससे माधुर्यभाव में क्षोभ उत्पन्न होता है, श्रीकृष्ण जैसे व्रज से दूर चले जाते हैं। श्रीकृष्ण के दूर चले जाने की आशङ्का से जो विरह उपस्थित होता है, वह भावीप्रवास के अन्तर्गत आता है। ऐश्वर्य का व्यवधान सुदूर प्रवास है।

भावी (सुदूर प्रवास)

कहति हौं बात डरात डरात।
हौं मथुरा में सुनि आई तुम्हारी कथा बलभ्रात॥
धनुष जग्य को ठाठ कियो है चहौं दिसि रोपे मांच।
रङ्गभूमि नीकी कै खेलो मल्ल सकेले पांच॥
काल्हि दूत आवन चाहत हैं राम कृष्ण कौ लैन।
नन्दादिक सब ग्वाल बुलाए आपनी वार्षिक लैन॥
हँसि व्रजनाथ कही तू सांची तेरी कहो अब मानौं।
'परमानन्द स्वामी' आयो काल कंस को भानो॥[२]

× × ×

ना जानि को मथुरा सओं आयल, ताहे हेरि काहे जिउ कांपि।
तब धरि दखिन पयोधर फूरये, लोरे नयन युग झांपि॥
सजनि अकुशल शत नाहिं मानि।

× × ×

कुसुमित कुंजे भ्रमर नाहि गुंजये, सघने रोयत शुक सारि।
गोविंददास आनि सखि पूछह, काहे एत विघन वियारि॥[३]

भवन—प्रत्यक्ष, आँखों के सम्मुख श्रीकृष्ण को मथुरा जाते हुए देखकर जो तीव्रतर वियोग होता है, वह भवन विरह कहलाता है। उसमें गोपियाँ स्तम्भित-सी

१—सूरसागर, पद सं० १७२१
२—परमानन्द सागर, पद सं० ४७५
३—पदकल्पतरु, पद सं० १६००

खड़ी रह जाती हैं, कृष्ण को एकटक देखती रह जाती हैं और अपनी सारी चेतना खो बैठती हैं। अथवा वे अतिशय व्याकुल हो जाती हैं, उन्हें क्षण भर को भी धैर्य नहीं बँधता—

रही जहाँ सो तहाँ सब ठाढ़ीं।
हरि के चलत देखियत ऐसी, मनहु चित्र लिखि काढ़ी॥
सूखे वदन, स्रवति नैनन तें जल-धारा उर बाढ़ी।
कंधनि बाँह धरे चितवति मनु द्रुमनि बेलि दव दाढ़ी॥
नीरस करि छांड़ी सुफलक सुत, जैसे दूध बिनु साढ़ी।
सूरदास अक्रूर कृपा तें, सही विपति तन गाढ़ी॥[१]

× × ×

खेने खेने कान्दि लुठइ राइ रथ आगे, खेने खेने हरि मुख चाह।
खेने खेने मनहि करत जानि ऐछन, कानु सजे जीवन जाह।[२]

भूत—श्रीकृष्ण में मथुरा चले जाने पर जो विरह होता है, वह भूत प्रवास के अन्तर्गत आता है। इस विरह में श्रीकृष्ण का दर्शन तक नहीं हो पाता इसलिए गोपियाँ अत्यन्त क्षीण, कातर, विकल और उद्भ्रान्त हो जाती हैं। कृष्ण के अभाव में उनके जीवन की सारी गति रुद्ध हो जाती है, सारा सौन्दर्य निष्प्रभ हो जाता है। पूर्णरूपेण आत्महारा होकर वे अत्यन्त दीन और निस्सहाय हो जाती हैं। यह विरह का प्रबलतम रूप है यथा—

अब मथुरा माधव गेल। गोकुल माणिक के हर नेल॥
गोकुल उछलल करुणक रोल। नयन-जले देख बहये हिलोल।[३]

× × ×

नैननि निर्झर झरत सुमिरि माधौ! वे पहिली बतियाँ।
नहि बिसरात निरन्तर सींचत बिरहानल प्रबल भयौ घतियाँ॥
नवल किशोर स्यामघन सुन्दर वेनु-व्याज बोलीं अधरतियाँ।
रास-विलास विनोद महासुख गान बँधान नृत्य बहु भतियाँ।
संग विहार भवन वन निसिदिन अब सन्देस पठवत लिखि पतियाँ।
'चत्रभुज' प्रभु गिरिधर-दरसनु बिनु नीर-बिमुख जैसे मीन की गतियाँ॥[४]

---

१—सूरसागर, पद सं० ३६१३
२—पदकल्पतरु, पद सं० १६२७
३—वही, पद सं० १६३१।
४—चतुर्भुजदास [पद संग्रह] पद सं० ३४६

अबुद्धिपूर्वक प्रवास—परतन्त्रता से उत्पन्न प्रवास को अबुद्धिपूर्वक प्रवास कहते हैं। दिव्यादिव्य आदि कारणों से यह प्रवास अनेक प्रकार का होता है[१]। इस प्रवास में भी चिन्ता, जागर्य और उद्वेग आदि दस दशाएँ घटित हुई रहती हैं। ये दशाएँ केवल नायिकाओं को ही नहीं, श्रीकृष्ण को भी अनुभूत होती हैं। प्रौढ़, मध्य, मन्द तथा मधु, घृत, मञ्जिष्ठ आदि भेदों से विप्रलम्भ में उक्त दस दशाएँ नाना रूप धारण करती हैं। समस्त भेद-प्रभेदों में उक्त लक्षणदशाएँ साधारणतया सम्भव होती हैं इसलिए उनका कथन हुआ है, असाधारणदशाओं का उल्लेख नहीं किया गया।

विरहावस्था का वर्णन श्रीकृष्ण की प्रकट लीला के अनुसार ही किया गया है। वृन्दावन में सर्वदा रास आदि क्रीड़ाओं में विहरणशील श्रीकृष्ण का गोपियों से कभी विच्छेद नहीं होता।[२]

संयोग—विरह साधना का प्रथम सोपान है, बिना उसके प्रेम में गाढ़ता आदि उत्पन्न नहीं हो पाती। विरह प्रेमी के सान्निध्य की उत्कट लालसा है, जब यह सान्निध्य प्राप्त होता है तब भक्ति में संयोग दशा आती है जिसमें भक्त और भगवान परस्पर ओतप्रोत होने लगते हैं। यह सान्निध्य ही आनन्द के खोज की सिद्धि है। दर्शन एवं आलिङ्गन आदि की अनुकूलता से उत्पन्न नायिका-नायक के व्यवहार को सम्भोग कहते हैं। मुख्य एवं गौण भेद से यह दो प्रकार का होता है[३]।

मुख्यसम्भोग—श्रीकृष्ण का सान्निध्य साधना के यथेष्ट विकसित होने पर ही प्राप्त होता है। आरम्भ में जाग्रत चेतना में आध्यात्मिक संयोग की दिव्य अनुभूति नहीं उतर पाती क्योंकि बाह्य मन के संस्कार एवं उसकी अभ्यासगत प्रवृत्तियाँ जड़-बद्ध-सी होती हैं, इसलिए यह मिलन ऐसी अर्द्धजाग्रत अवस्था में अनुभव किया जाता है जो न स्वप्न है न जागृति। किन्तु जब साधना सत्ता के बाह्य अङ्गों को भी अधिकृत कर लेती है तब मिलन जाग्रतावस्था में भी अनुभव किया जाता है।

जाग्रतावस्था में मुख्य सम्भोग चार प्रकार का होता है। ये चार प्रकार पूर्वराग मान, किञ्चिद्दूर प्रवास व सुदूरप्रवास के अनुक्रम से संक्षिप्त, सङ्कीर्ण, सम्पन्न व समृद्धि-

---

१—पारतन्त्र्योद्भवो यस्तु प्रोक्तः सोऽबुद्धिपूर्वकः।
दिव्यादिव्यादिजनितं पारतन्त्र्यमनेकधा ॥६३॥—विप्रलम्भ प्रकरण, उज्ज्वलनीलमणि

२—वृन्दारण्ये विहरता सदा रासादिविभ्रमैः।
हरिणा व्रजदेवीनां विरहोऽस्ति न कर्हिचित् ॥१॥
—संयोगवियोगस्थितिः प्रकरण, उज्ज्वलनीलमणि

३—दर्शनालिङ्गनादीनामानुकूल्यान्निषेवया।
यूनोरुल्लासमारोहन् भावः सम्भोग ईर्यते।
मनीषिभिरियं मुख्यो गौणश्चेति द्विधोदितः ॥४॥—सम्भोगप्रकरण, उज्ज्वलनीलमणि

मान कहलाते हैं। अर्थात् पूर्वराग के उपरान्त संक्षिप्त सम्भोग मानान्तर सङ्कीर्ण सम्भोग, किञ्चिद्दूर प्रवास के उपरान्त सम्पन्न सम्भोग तथा सुदूरप्रवास के उपरान्त समृद्धिमान सम्भोग घटित होता हैं। किसी-किसी विद्वान् के मत से प्रेमवैचित्र्य के अनन्तर भी सम्पन्न व समृद्धिमान संयोग हुआ करता है।

संक्षिप्त (सम्भोग)— लज्जा एवं भय के कारण जिस सम्भोग में युवक-युवती अल्पमात्र भोगाङ्ग वस्तु व्यवहार करते हैं, उसे संक्षिप्त सम्भोग कहते हैं।[१] अथवा यों भी कहा जा सकता है कि प्रारम्भ में साधक में आध्यात्मिक मिलन को सहने की क्षमता कियत् होती है। अपने अर्द्धविकसित मानव-व्यक्तित्व पर दिव्यसत्ता के स्पर्श को वह पूर्णरूपेण आत्मसात् नहीं कर पाता, इसलिए संयोग संक्षिप्त किंवा अल्पकाल के लिए होता है। ज्यों-ज्यों उसका आत्मविकास होता जाता है, त्यों-त्यों उसका व्यक्तित्व रूपान्तरित होता जाता है और त्यों-त्यों उसमें भगवान् से एकाकार होने की क्षमता बढ़ती जाती है, उसके मिलन की अनुभूति उत्तरोत्तर संकुल होती जाती है। आरम्भ का सम्भोग संक्षिप्त ही होता है, यथा —

अवनत-वयनि ना कहे किछु वानि।
परशिते विहसि ठेलइ पहुँ-पानि॥
सुचतुर नाह करये अनुरोध।
अभिनव नागरि ना मानये वोध।[२]

× × ×

कछु छल, कछु बल, कछु मनुहारी, लै बैठे तहँ कुंजविहारी।
मन चहै रम्यौ, र तन चहै भग्यौ, कामिनि कौं यह कौतुक लग्यौ।
जो पारद कौं कर थिर करै, सो नवोढ़ बाला उर धरै॥[३]

सङ्कीर्ण— भक्त का आत्मसमर्पण जब श्रीकृष्ण के प्रति पूर्णतः निःस्वार्थ नहीं हो पाता तब मिलन खुलकर नहीं होता। उसमें 'स्वसुख' का लेश रहता है, केवल कृष्ण के सुख में सुखी होने का भाव नहीं होता। अहं के आहत होने के कारण मिलन संकुचित किंवा सङ्कीर्ण होता है।

पारिभाषिक रूप से नायक के द्वारा विपक्ष के गुणानुवाद एवं स्ववञ्चना आदि के स्मरण के कारण सम्भोग जब सङ्कीर्ण होता है तब उसे सङ्कीर्ण सम्भोग कहते

१—युवानौ यत्र संक्षिप्तान् साध्वसव्रीडितादिभिः।
उपचारान्निषेवेते स संक्षिप्त इतीरितः॥६॥—सम्भोगप्रकरण, उज्ज्वलनीलमणि

२—पदकल्पतरु, पद सं० २२३

३—रूपमञ्जरी—नन्ददास, भाग १, पृ० २६

है।[१] जिस प्रकार तप्त इक्षु का चर्वण एक साथ स्वादुता एवं उष्णता उत्पन्न करता है, उसी प्रकार सङ्कीर्ण सम्भोग में नायक-नायिका की मनोदशा होती है, यथा—

सुरत नीबीनिबन्ध हेत प्रिय मानिनी प्रिया की भुजनि में कलह मोहन मची।
सुभग श्रीफल उरज पानि परसत रोष हुंकार गर्व दृगभंगि भामिनि लची॥
कोटि कोटिक रभस रहसि हरिवंश हित विविध कल माधुरीकिमपि नाहिन बची।
प्रणय मय रसिक ललितादि लोचन चषक पिवत मकरन्द सुख राशि अन्तर सची॥[२]

× × ×

राइ जब हेरलि हरि-मुख ओर। तैखन छल छल लोचन जोर॥
जब पहुँ कहलहिं लहु लहु बात। तबहुँ कयल धनि अवनत माथ॥
जब हरि धयलहिं अञ्चल-पाश। तैखने ढर ढर तनु परकाश॥
जब पहुँ परशल कंचुक-संग। तैखने पुलके पुरल सब अंग॥
पुरल मनोरथ मदन उदेश। कह कविशेखर पिरिति विशेष॥[३]

सम्पन्न – मिलन में जब किसी प्रकार का अन्तर्वाह्य व्यवधान नहीं रह जाता व संयोग समृद्ध और सम्पन्न होता है। प्रवास-विरह की कठिन साधना के पश्चात् ाधक जब निःशेष रूप से अहंविहीन हो जाता है तब वह मिलन की प्रगाढ़ अनुभूति ो निष्कम्प सह सकता है।

प्रवास के अन्तर्गत आगत प्रिय के मिलन को सम्पन्न सम्भोग कहा गया है। इसके पुनः दो भेद होते हैं—आगति एवं प्रादुर्भाव। लौकिक व्यवहार के अनुरोध से आगमन को आगति कहते हैं जैसे गोष्ठ से श्रीकृष्ण का लौटना। प्रेमसंरम्भ अर्थात् रूढ़भाव के विभ्रम द्वारा विह्वला प्रियतमाओं के सम्मुख अकस्मात् श्रीकृष्ण का आविर्भाव प्रादुर्भाव कहा जाता है जैसे, रास में अन्तर्ध्यान होने के पश्चात् पुनः प्रकट होकर रास रचना। यथा—

बाजत डम्फ रबाव पखोयाज।
करतल ताल तरल एकु मेलि।
चलत चित्र-गति सकल कलावति।

---

१—यत्र सङ्कीर्यमाणाः स्युर्व्यलीकस्मरणादिभिः।
उपचाराः स सङ्कीर्णः किञ्चित्तप्तेक्षुपेशलः॥१०॥—सम्भोग प्रकरण, उज्ज्वलनीलमणि

२—हितचौरासी, पद सं० ५०

३—पदकल्पतरु, पद सं० ५२३

करे करे नयने नयने करु खेलि ।
नाचत स्याम संगे व्रजनारि ।
× × ×
दुहुँ दुहुँ सरस परश रस लालसे ।
आलिंगइ रह तनु लाइ ।[१]
× × ×

नन्द नन्दन उर लाइ लई ।
नागरि प्रेम प्रगट तनु व्याकुल, तव करुना हरि हृदय-भई ।।
देखि नारि तरु-तर मुरझानी, देह दसा सव भूलि गई ।
प्रिया जानि अंकम भरि लीन्हीं, कहि कहि ऐसी काम हई ।।
वदन विलोकि कंठ उठि लागी, कनकवेलि आनन्द वई ।
सूर स्याम फल कृपा दृष्टि भएँ, अतिहिं भई आनन्द मई ।।[२]

समृद्धिमान—पराधीनता के कारण नायक-नायिका के परस्पर वियोग होने पर दर्शन दुर्लभ हो और फिर मिलन हो, तो ऐसे स्थल पर जो अतिरिक्त सम्भोग होता है, उसे समृद्धिमान कहते हैं ।[३] मिलन में व्याघात पहुँचने पर सान्निध्य की अतिरिक्त लालसा उत्पन्न हो जाती है, इस अतिरिक्त लालसा का निदान समृद्धिमान सम्भोग के द्वारा होता है । उदाहरण स्वरूप निम्नपद हैं—

झाँपल कनय-धराधर जलधर, दामिनि जलद आगोरि ।
निज चंचल गुण जलदे सौंपि पुन, तछु वैरज करु चोरि ।।
देखि सखि अपरूप वादर भेल ।
निज-पद परिहरि दिनमणि संचरि, गिरिवर-सन्धिम गेल ।।[४]

रैनि जागि प्रीतम कैं संग रंग-भीनी ।
प्रफुलित मुख-कंज, नैन-कंजरीट-मीन मैन ।
बिथुरि रहे चूरनि कच वदन ओप दीनी ।।
आतुर आलस जँभाति, पुलकित अति पान खाति ।
मदमाती तन सुधि नहिं, सिथिलित भई वेनी ।।

१—पदकल्पतरु, पद सं० १२६६
२—सूरसागर, पद सं० १७४७
३—दुर्लभालोकयोर्यूनोः पारतन्त्र्याद्वियुक्तयोः ।
उपभोगातिरेको यः कीर्त्यते स समृद्धिमान् ।।१६।। सम्भोग प्रकरण, उज्ज्वलनीलमणि
४—पदकल्पतरु, पद सं० २०१०

मांग तें मुकतावलि टरि, अलक संग अरुझि रही।
उरगिनि सत फन मानो कंचुलि तजि दीनो ॥
बिकसत ज्यों चंपकली भोर भयें भवन चली।
लटपटात प्रेम घटा गज-गति गति लीन्हीं ॥
आरति को करत नास, गिरिधर सुठि सुख की रासि।
सूरदास स्वामिनि-गुन-गन न जात चीन्ही ॥[1]

सम्भोग के उपर्युक्त चारों भेद प्रच्छन्न और प्रकाश भेद से द्विरूप होते हैं किन्तु उनका वर्णन यह कह कर रूपगोस्वामी ने नहीं किया कि वे अत्यन्त उल्लासप्रद हैं।

**गौणसम्भोग**—जब संयोग नितान्त जाग्रतावस्था में न होकर अर्द्धसुपुप्ति अवस्था में होता है, तब उसे गौण सम्भोग कहते हैं। स्वप्न में श्रीकृष्ण की प्राप्ति को गौण-सम्भोग कहते हैं। सामान्य विशेष भेद से यह स्वप्न दो प्रकार का होता है। सामान्य स्वप्न व्यभिचारी के प्रकरण में उल्लिखित हुआ है। विशेष जो है वह जाग्रतावस्था में ही उपस्थित होता है। श्रीकृष्ण के मिलन के उद्यम में भक्त की जाग्रत चेतना पर एक दिव्य तन्द्रा-सी व्याप्त हो जाती है जिसमें वह कृष्ण मिलन की अनुभूति प्राप्त कर लेता है। भावोत्कंठामय स्वप्न-विशेष पूर्ववत् संक्षिप्त, सङ्कीर्ण सम्पन्न व समृद्धमान् भेद से चतुर्विध होता है।

विशेष स्वप्न

अन्तरजामी जानि लई।
मन मैं मिले सबनि सुख दीन्हों, तब तनु की कछु सुरति भई ॥
तब जान्यो बन मैं हम ठाढ़ीं, तन निरख्यौ मन सकुचि गई।
कहति परस्पर आपुस में सब, कहाँ रहीं, हम काहि रई ॥
स्याम बिना ये चरित करै को, यह कहि कै तनु सौंपि दयौ।
सूरदास प्रभु अन्तरजामी, गुप्तहिं जोबन-दान लयौ ॥[2]

इस जागृत स्वप्नदशा में इन अनुभव-दशाओं का वर्णन किया गया है—दर्शन, जल्प, स्पर्श, वर्त्मरोध, रास, वृन्दावन-क्रीड़ा, यमुनाकेलि, नौकाखेल, लीलाचौर्य, घट्ट-लीला, कुञ्ज में छिपना, मधुपान, स्त्रीवेशधारण, कपट निद्रा, द्यूतक्रीड़ा, वस्त्राकर्षण एवं अन्य सम्प्रयोग। अर्थात् ये अनुभव तथा ये लीलाएँ चेतना की अर्द्ध समाधि-दशा में प्रकट होने लगती हैं। इसीलिए रागभक्ति के प्रतिफलन के लिए शृङ्गारलीलाओं का

१—सूरसागर, पद सं० २३१२
२—वही, पद सं० २२०६

श्रवण-मनन योग्यसाधक के लिए विधेय बताया गया है क्योंकि इन लीलाओं के अविरत चिन्तन से वह उस भाव दशा में पहुँच जाता है जिसमें उसे कृष्ण-मिलन की अनुभूति प्राप्त हो जाती है।

परस्पर गोष्ठी एवं वादविवाद को जल्प कहते हैं। वंशी, वस्त्र एवं पुष्पादि हरण को लीलाचौर्य करते हैं। दानघाट आदि की लीला को घट्टलीला कहा गया है।

परिकर के अनुसार मधुर रस प्रचुर है किन्तु जिस प्रकार समुद्र का अवगाहन दुस्तर है, उसी प्रकार मधुररस का अवगाहन दुस्तर है। शुकदेव भी जिसका अन्त नहीं पा सके, उस अति-गूढ़ अति-गहन रहस्यमय मधुररस के असंख्य पार्श्व हैं जो अज्ञात हैं। मधुररस की कोई सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती क्योंकि वह असीम सच्चिदानन्द का स्वच्छन्द अनन्त विलास है। यों, भक्तिरस में मधुर रस का विवेचन काव्य के शृङ्गार के आधार पर ही किया गया है।

**गौणभक्तिरस**—काव्य में मान्य अन्य रसों को कृष्णभक्ति में गौणभक्तिरस के अन्तर्गत माना गया है। हास्य, अद्भुत, वीर, करुणा, रौद्र, भयानक और वीभत्स रस गौणभक्ति रस हैं।

**हास्यभक्तिरस**—विभावादि द्वारा पुष्ट होकर हास्य रति, हास्यभक्तिरस संज्ञा प्राप्त करती है। हास्यभक्तिरस के आलम्बन कृष्ण एवं तदन्वयी अर्थात् कृष्ण के अनुगत चेष्टाशाली व्यक्ति होते हैं। शिशु एवं वृद्धजन प्रायः हास्यरति के आश्रय होते हैं। कृष्ण एवं कृष्ण सम्बन्धी व्यक्तियों का उसी प्रकार वाक्यवेश एवं आचरण आदि इस रस के उद्दीपन हैं। नासा, ओष्ठ, गण्डस्पन्दन आदि अनुभाव हैं, तथा हर्ष, आलस्य, आकारगोपन इत्यादि सञ्चारी हैं।

इस हास्यरस में हासरति स्थायीभाव है। हास्य छः प्रकार का होता है—स्मित, हसित, विहसित, अवहसित, अपहसित, अतिहसित। स्मित में नेत्र व गण्ड की प्रफुल्लता लक्षित होती है, दन्त लक्षित नहीं होते। हसित में दन्त ईषत् दृष्ट होता है। विहसित में शब्द के साथ दन्त भी दिखायी देते हैं। अवहसित में नासा प्रफुल्लित एवं नेत्र कुञ्चित हो जाते हैं। अपहसित में नेत्र अश्रुयुक्त तथा स्कन्ध कम्पित होता है। हस्तताल तथा अङ्गक्षेप सहित हँसना अतिहसित कहलाता है।

हास्यरति के ज्येष्ठ, मध्य व कनिष्ठ भेद होते हैं। ज्येष्ठ हास्यरति में स्मित, हसित प्रकाशित होते हैं, मध्य हास्यरति में विहसित एवं अवहसित तथा कनिष्ठ हास्य-रति में अपहसित व अतिहसित व्यक्त होते हैं। कहीं-कहीं विभावनादि के वैचित्र्य से उत्तम व्यक्ति में भी विहसति इत्यादि प्रकट होते हैं।

**अद्भुतभक्तिरस**—आत्मोचित विभावादि द्वारा विस्मयरति यदि भक्त के चित्त में आस्वादनीय हो तो उसे अद्भुतभक्तिरस कहते हैं। सब प्रकार की भक्ति

विस्मयरति के आश्रित है। लोकातीत श्रीकृष्ण इसके आलम्बन हैं, उनकी चेष्टाएँ इस रस के उद्दीपन हैं तथा नेत्रविस्तार, स्तम्भ, अश्रु, और पुलक इत्यादि इसके अनुभाव हैं।[1] आवेग, हर्ष और जाड्य इत्यादि अद्भुत भक्तिरस के व्यभिचारी हैं।

लोकातीत कर्ममयी विस्मयरति इस रस का स्थायीभाव है। यह साक्षात् किंवा अनुमान भेद से द्विविध होती है। चक्षु द्वारा दर्शन, कर्ण द्वारा श्रवण, तथा मुख द्वारा कीर्तन को साक्षात् विस्मयरति कहा जाता है। लोकातीत कर्म को साक्षात् न देखकर उस कर्म के परिणाम को देखकर जो विस्मय होता है, उसे अनुमितविस्मयरति कहते हैं।

वीरभक्तिरस—आत्मोचित विभावादि के द्वारा उत्साह रति के स्थायीभाव रूप में आस्वादनीय होने पर वीरभक्तिरस कहा जाता है। युद्धवीर, दानवीर, दयावीर तथा धर्मवीर—ये चारों इसके आलम्बन होते हैं। युद्ध, दान, दया तथा धर्म का उत्साह समूह में ही अधिक सम्भव होता है।

युद्धवीर—श्रीकृष्ण के परितोषनिमित्त उत्साही सखा या बन्धु को युद्धवीर कहा गया है। प्रतियोद्धा स्वयं श्रीकृष्ण बनते हैं अथवा उनके दर्शक रूप में उपस्थित रहने पर उनके इच्छानुसार कोई अन्य सुहृद्।

आत्मश्लाघा, आस्फालन, स्पर्द्धा, विक्रम, अस्त्रग्रहण, प्रतियोद्धारूप में अवस्थिति इत्यादि इसके उद्दीपन हैं। आत्मश्लाघा यदि स्वनिष्ठ हो तो वह अनुभाव के अन्तर्गत परिगणित किया जाता है। इसके अतिरिक्त अहोपुरुषिका, (अर्थात् दर्पहेतुक अपने में जो सद्भावना रहती है) आक्रोश, युद्धार्थ गति, सहाय व्यतिरेक युद्धोद्यम, युद्ध से अपलायन तथा भीत व्यक्ति को अभयप्रदान आदि भी इसके अनुभाव हैं।

युद्ध, दान, दया, धर्म— चारों प्रकार के वीरों में समस्त सात्विक प्रकाशित होते हैं तथा गर्व, आवेग, धृति, लज्जा, मति, हर्ष, अवहित्था, अमर्ष, उत्सुकता, असूया तथा स्मृति व्यभिचारी प्रकट हुए रहते हैं।

युद्धोत्साह युद्धवीर रस का स्थायीभाव है। वीरभक्तिरस में कृष्ण के सुहृद् ही प्रतियोद्धा हो सकते है शत्रु नहीं, क्योंकि भक्तक्षोभकारी होने के कारण शत्रु वीर-रस के आलम्बन होते हैं, वीरभक्ति-रस के नहीं।

---

१—भक्तः सर्व्वविधोप्यत्र घटते विस्मयाश्रयः।
लोकोत्तरक्रियाहेतुर्विपयस्तत्र केशवः॥
तस्य चेष्टा विशेपाधास्तस्मिन्नुद्दीपना मताः।
क्रियास्तु नेत्रविस्तारस्तम्भाश्रुपुलकादयः॥२॥ उत्तर विभाग, द्वि० ल०, भ० र० सिं०

दानवीर—दानवीर दो प्रकार के होते हैं— बहुप्रद तथा उपस्थित-दुर्लभ-अर्थ-परित्यागी। जो व्यक्ति कृष्ण के सन्तोषार्थ अचानक सर्वस्वदान कर देता है उसे बहुप्रद कहते है। इसमें सम्प्रदान के प्रति निरीक्षण आदि उद्दीपन होते हैं, वाञ्छित से अधिक दातृत्व, हास्यपूर्वक सम्भाषण, स्थैर्य, दाक्षिण्य और धैर्य इत्यादि अनुभाव होते हैं तथा वितर्क, औत्सुक्य और हर्ष आदि व्यभिचारी होते हैं। दानोत्साह रति स्थायीभाव है।

बहुप्रद के भी पुनः दो भेद होते हैं—आभ्युदयिक व सम्प्रदानक। जो व्यक्ति श्रीकृष्ण के कल्याणार्थ, भिक्षुक, ब्राह्मण आदि को सर्वस्व दान कर देता है, उसे आभ्युदयिक बहुप्रद दानवीर कहते हैं। सम्प्रदानक बहुप्रद दानवीर वह है जो श्रीकृष्ण के माहात्म्य से अवगत होकर उन्हें अहंता ममता के आस्पदों को प्रदान करता है। यह दान प्रीति व पूजा भेद से दो प्रकार का होता है। बन्धु रूपी हरि को दान करना प्रीतिदान है तथा विप्ररूपी भगवान को दान पूजा-दान है।

कृष्ण के सार्ष्टि आदि मुक्ति या अन्य किसी वर के देने पर भी जो उन्हें ग्रहण नहीं करता, उसे उपस्थित-दुर्लभ-अर्थ-परित्यागी कहा गया है। कृष्ण की कृपा, आलाप और हास्य इत्यादि इसके उद्दीपन हैं तथा कृष्ण का दृढ़रूप से उत्कर्ष वर्णन अनुभाव है। अतिशय धृति इसका सञ्चारी है। दानविषयक उत्साह रति इसका स्थायीभाव है।

दयावीर—जो व्यक्ति दया से आर्द्रचित्त होकर श्रीकृष्ण को खण्ड-खण्ड देह अर्पित करता है, उसे दयावीर कहते हैं। इसमें कृष्ण की पीड़ाप्रकाशक वस्तुएँ उद्दीपन हैं। इसमें अपना प्राण देकर विपन्न व्यक्ति का त्राण करना, आश्वास-वाक्य, स्थैर्य आदि को अनुभाव तथा औत्सुक्य, मति, हर्ष आदि को सञ्चारी कहा गया है। उत्साह यदि दया का उद्रेक करे तब उसे दयोत्साह कहते हैं।

धर्मवीर— श्रीकृष्ण के परितोष के लिए जो व्यक्ति धर्म विषय में सदा तत्पर रहता है, उसे धर्मवीर कहा जाता है। प्रायः धीरशान्त पुरुष ही धर्मवीर होते हैं। सत्शास्त्र श्रवण इत्यादि इसके उद्दीपन हैं। नीति, आस्तिकता, सहिष्णुता, एवं इन्द्रियनिग्रह आदि अनुभाव हैं। इसमें मति, स्मृति इत्यादि व्यभिचारी प्रकट हुए रहते हैं।

करुणभक्तिरस—सहृदय में शोकरति जब आत्मोचित विभावादि द्वारा पुष्टि प्राप्त करती है तब उसे करुणभक्तिरस कहते हैं। यद्यपि यह रस प्रेम विशेष के कारण

अव्युच्छिन्न महानन्दरूपी है किन्तु अनिष्ट प्राप्ति की प्रतीति से कृष्ण, कृष्णप्रिय तथा कृष्णसुख से वञ्चित स्वजन इस रस के त्रिधा आलम्बन हैं।[१]

इस रस के उद्दीपन हैं कृष्ण के गुण, रूप व कर्म। मुखशोष, विलाप, अङ्गस्खलन, श्वास, चीत्कार, भूमिपतन, भूमिआघात और वक्ष-ताड़ना इत्यादि इसके अनुभाव हैं। आठों सात्विक एवं जाड्य, निर्वेद, ग्लानि, दीनता, चिन्ता, विषाद, औत्सुक्य, चापल्य, उन्माद, मृत्यु, आलस्य, अपस्मृति, व्याधि और मोह आदि व्यभिचारी करुणभक्तिरस में प्रकट होते हैं। रति की गुरुता तथा लघुता के कारण शोक में विपुलता या न्यूनता होती है। रति से अविच्छिन्न होने के कारण कहीं-कहीं शोकरति में विशिष्टता हुई रहती है।

रौद्रभक्तिरस—क्रोधरति जब निजोचित विभावादि द्वारा पुष्ट होती है तब उसे रौद्रभक्तिरस कहते हैं। कृष्ण, हित व अहित—ये तीन इस रस के आलम्बन हैं। कृष्ण के प्रति क्रोध सखी किंवा जरती (राधा की सास) का होता है।

हित त्रिविध होते हैं—अनवहित, साहसी व ईर्ष्यु। श्रीकृष्ण के पालनकर्ता होकर भी कृष्ण से इतर कर्मान्तर में अभिनिवेशवश जो व्यक्ति उनकी परमहानि-जनक परिस्थितियों का निदान करने में असमर्थ होता है उसे अनवहित कहते हैं। जो भय-स्थान में जाता है उसे साहसी कहते हैं। जिसमें केवल मान की ही प्रबलता है तथा जो ईर्ष्याक्रान्त हैं, उसे ईर्ष्यु कहते हैं।

अहितों का दो वर्ग है—अपने अहित व कृष्ण के अहित। जो व्यक्ति कृष्ण-सम्बन्ध में बाधक हैं उन्हें आत्म अहित कहते हैं और कृष्ण के वैरीपक्ष को कृष्ण का अहित कहते हैं।

रौद्रभक्तिरस में सोल्लुण्ठन, वक्रोक्ति, कटाक्ष, अनादर, तथा कृष्ण के अहित-व्यक्ति उद्दीपन हैं। हस्तमर्दन, दन्तघर्टन (दन्त-शब्द) रक्तनेत्रता, ओष्ठदशन, भृकुटी, भुजास्फालन, ताड़न, तुष्णीभूतता, नतवदन, निःश्वास, वक्रदृष्टि, भर्त्सन, शिरश्चालन, नेत्रान्तपाटलवर्ण, भ्रूभेद एवं अधर-कम्पन इत्यादि रौद्ररस के अनुभाव हैं। आवेग, जड़ता, गर्व, निर्वेद, मोह, चपलता, असूया, उग्रता, अमर्ष और श्रम आदि इसके व्यभिचारी हैं।

---

१—भवेच्छोकरतिर्भक्तिरसोऽयं करुणाभिधः ॥१॥
अव्युच्छिन्नमहानन्दोऽप्येष प्रेमविशेषतः।
अनिष्टाप्तेः पदतया वेद्यः कृष्णोऽस्यच प्रियः ॥२॥
तथाऽनवाप्ततद्भक्तिसौख्यश्च स्वप्रियो जनः।
इत्यस्य विषयत्वेन ज्ञेय आलम्बनस्त्रिधा ॥३॥
—उत्तर विभाग-चतुर्थ लहरी, भक्तिरसामृत सिंधु, (अच्युत ग्रन्थमाला प्रकाशन)

क्रोधरति इस रस का स्थायीभाव है। क्रोध के कई रूप हैं जैसे कोप, मन्यु आदि। शत्रुपक्ष में कोप और वन्धुवर्ग में मन्यु होता है। पूज्य, सम तथा न्यून वन्धुभेद से मन्यु त्रिविध होता है। कोप में हस्तमर्दन आदि तथा मन्यु में तुष्णीभाव आदि हुआ करते हैं। क्रोध के आश्रयस्वरूप शिशुपाल आदि शत्रुगण की स्वाभावसिद्ध क्रोधरति के व्यतिरिक्त अन्य क्रोधरति भक्तिरसता प्राप्त नहीं करती।[१]

भयानकभक्तिरस—वक्ष्यमान विभावादि द्वारा पुष्ट होकर भयरति भयानक भक्तिरस बनती है। इसके आलम्बन हैं कृष्ण एवं दारुण। भक्त के अपराधी होने पर आलम्बन कृष्ण हैं। दारुण उन्हें कहते हैं जिन्हें स्नेहवश भय होता है। स्नेहवश कृष्ण-अनिष्ट से आशङ्कित दारुण दर्शन, श्रवण किंवा स्मरण हेतु भयरति के आलम्बन हुए रहते हैं। भृकुटी आदि इसके उद्दीपन हैं। मुखशोष, उच्छ्वास, पश्चात्दृष्टि, निजाङ्गोपन, उद्घूर्णा, आश्रय का अन्वेषण, एवं चीत्कार आदि इस रस के अनुभाव हैं। अश्रु के अतिरिक्त मोह, अपस्मार, व शङ्का इसके व्यभिचारी हैं।

भयरति, भयानकभक्तिरस का स्थायी है। भय अपराध एवं भीषणता जनित होता है। अपराधजन्य भय अनुग्रहपात्र के अतिरिक्त और कहीं सम्भव नहीं होता। जो आकृति, प्रकृति व स्वभाव द्वारा भीषण हैं वे भी इस रस के आलम्बन हैं। आकृति द्वारा पूतना, स्वभाव द्वारा दुष्ट नृपतिगण एवं प्रभाव द्वारा इन्द्र, शङ्कर इत्यादि भीषण कहे जाते हैं। कंस इत्यादि असुरगण अतिशय भयभीत होने के कारण रतिशून्य हैं, इसलिए वे इस भक्तिरस के आलम्बन नहीं बन सकते।

वीभत्स भक्तिरस—आत्मोचित विभावादि द्वारा पुष्ट होकर जुगुप्सा रति वीभत्स भक्तिरस में परिणित होती है। इसके आलम्बन शान्त के आश्रित भक्तगण होते हैं। इस रस के अनुभाव हैं- कुटिल मुख, नासिकाच्छादन, धावन, कम्प, पुलक, और घर्म्म इत्यादि। ग्लानि, श्रम, उन्माद, निर्वेद, मोह, दैन्य, विषाद, चापल्य, आवेग, एवं जाड्य इत्यादि व्यभिचारी इसमें प्रकट होते हैं।

जुगुप्सा रति इसका स्थायीभाव है। यह रति विवेक एवं प्रायिक भेद से दो प्रकार की होती है। जातरति कृष्णभक्ति में देहादि के प्रति विवेकजनित जो जुगुप्सा उत्पन्न होती है, उसे विवेकजनित जुगुप्सा रति कहते हैं। पवित्रता की अनुभूति के कारण सब प्रकार से सबके प्रति जो जुगुप्सा उत्पन्न होती है उसे प्रायिकी कहते हैं। जिस व्यक्ति ने श्रीकृष्ण के प्रति रति लाभ किया है, जिसका मन सर्वदा पवित्र है,

---

१—क्रोधाश्रयाणां शत्रूणां चैद्यादीनां स्वभावतः ॥१८॥
क्रोधो रतिविनाभावान्न भक्तिरसतां व्रजेत् ॥
—उत्तरविभाग-पंचमलहरी, भक्तिरसामृतसिंधु। (अच्युत ग्रन्थमाला प्रकाशन)

वह यदि कभी घृणित वस्तु के लेश से क्षोभयुक्त होता है तब रति ही उस क्षोभ को पुष्ट करती है।

कृष्णभक्तिरस में इन गौण रसों को अधिक महत्त्व नहीं मिला। शान्तप्रीति आदि पञ्च-रस ही भक्तिरस है, इनमें हास्य आदि गौण रस प्रायः व्यभिचारिता धारण करते हैं।

रसाभास—रसाभास उत्तम, मध्यम, कनिष्ठ भेद से उपरस, अनुरस, अपरस के नाम से अभिहित होता है। विरूपता प्राप्त स्थायी, विभाव, अनुभाव के द्वारा उक्त द्वादश रस ( पाँच मुख्य सात गौण ) उपरस होते हैं। कृष्ण सम्बन्ध विवर्जित विभावादि द्वारा प्राप्त हास्यादि सप्त रस तथा शान्त रस को अनुरस कहते हैं। कृष्ण अथवा कृष्ण के विपक्षी यदि हास्यादि रसों की विषयाश्रता प्राप्त करें तब उसे अपरस कहा जायगा।

प्राप्त काव्यपरम्परा का उपयोग तथा भक्तिरस शास्त्र का योगदान—

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि भक्ति को रस का रूप देने में बङ्गाल के वैष्णवाचार्यों ने रसशास्त्र की काव्य परम्परा को अविकल अपनाया है। 'सहृदय' को 'भक्त' ने स्थानान्तरित्त किया और लौकिक नायक को पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण ने। जिन अवयवों के द्वारा काव्य में रसनिष्पत्ति भरतमुनि के समय से मान्य है, उन्हीं के द्वारा भक्ति में भी रसनिष्पति मनोनीत हुई। जिस प्रकार रसास्वादन के लिए सामाजिक में पूर्वजन्मार्जित वासना का होना आवश्यक ठहराया गया है, उसी प्रकार रसाधिकारी भक्त में प्राक्तन (पूर्वजन्म से सञ्चित) तथा आधुनिक (वर्तमान जन्म में अर्जित) संस्कारों से सद्‌भक्ति की वासना आवश्यक बताई गई है। उद्दीपन, अनुभाव, सञ्चारी, सात्विक, भावों की आवृत्ति की गई है। भक्तिसिद्धान्त के अनुरोध से उनमें कहीं-कहीं पर मौलिक अनुभावों का समावेश किया गया है। लुण्ठन, नृत्य, गीत, क्रोशन, तनुमोटन और श्वासभूमन आदि तथा वात्सल्य, सख्य एवं अन्य कुछ रसों के अन्य अनुभाव भक्तिरस के अपने निजी अनुभाव हैं। व्यभिचारी भाव वे ही तैंतीस हैं तथा सात्विक आदि भी वही आठ ( वात्सल्य में एक और ), इनकी परिभाषाएँ भी परम्परागत हैं। विश्लेषण की प्रवृत्ति के कारण प्रत्येक भाव के उत्पन्न होने के कारणों का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि कृष्णभक्ति रसशास्त्र में प्राप्त रसशास्त्र के उपकरणों का यथायथ उपयोग किया गया है, किन्तु कुछ परिवर्द्धन के साथ।

भक्ति को केन्द्रीय दृष्टि में रखने के कारण काव्य में प्रचलित शृङ्गार व्यतिरेक अन्य सात रसों को मुख्य रस का स्थान छोड़ना पड़ा। प्रेमलक्षणा भक्ति में

अनुराग की ही मान्यता है, अतः काव्य के शृङ्गार रस को तो मुख्य भक्तिरस में ले लिया गया, हास्य आदि अन्य सात रसों को नहीं। कृष्णरति के पोषक रूप में, गौणरूप से ही उन्हें स्वीकार किया गया है। इसके विपरीत, प्रेम के अन्य भाव जो काव्यशास्त्र की मान्यता में रस बनने से वञ्चित कर दिए गए थे, उन्हें भक्तशास्त्रज्ञों ने रस कोटि में रखा, युक्तिसंगत प्रणाली से उनकी रसरूपता स्थापित की। भक्ति में मुख्य भाव एक ही है, वह है कृष्णरति। यह रति मात्र शृङ्गार तक सीमित नहीं है, वात्सल्य, सख्य और दास्य भी इसके क्षेत्र हैं। यह कृष्णरति, भक्तिरस की विधायक है, काव्य के समस्त भाव नहीं। अन्य भाव इसके अनुगत मात्र हैं। काव्य के अन्य भावों का स्वतन्त्र महत्त्व नहीं है। उनका कार्य एक प्रकार से सञ्चारी भावों का है। मुख्य भाव की रोचकता में वृद्धि कर वे उसे संकुल एवं वैचित्र्यसम्पन्न बनाते हैं। शान्त रस की स्थापना भी मौलिक है। शान्त को रस की दृष्टि से कुछ काव्याचार्यों ने ही देखा था, काव्य में मुख्यतः आठ रस स्वीकृत होते रहे। निर्वेद पर आधारित शान्त को रस माना अवश्य गया किन्तु उसका विशेष महत्त्व नहीं था। कृष्णव्यक्ति-रिक्त निर्वेद की रसरूपता भक्तों ने स्वीकार नहीं किया। आलम्बनशून्य वैराग्य रस दशा को कैसे प्राप्त करे? ऐसे शान्त रस को भक्तिरसशास्त्र में अनुरस नामक रसाभास की संज्ञा दी गई। भक्तिरस में शान्त रस की स्थापना मौलिक ढङ्ग से हुई—ब्रह्मत्व-परक रूप से श्रीकृष्ण का आलम्बन बनना, अंगुष्ठ मुद्रा, अवधूत चेष्टा, संसारध्वंस आदि अनुभावों का प्रकट होना भक्ति के शान्तरस की निजी विशेषताएँ हैं।

भक्तिरस शास्त्र की अपनी प्रतिभा भी है। मधुर रति को साधारणी समञ्जसा, समर्था में विभाजित कर उसे केवलमात्र शृङ्गार रति का पर्याय नहीं बनाया गया। समञ्जसा, समर्था में भक्ति की शृङ्गाररति की विशिष्टता सुस्पष्ट हो जाती है। महाभाव का विवेचन, उसका अधिरूढ़ भाव तथा अधिरूढ़ के सूक्ष्म विभेद, मधुरशृङ्गार को उज्ज्वल रस की योग्यता प्रदान करते हैं। प्रेमवैचित्य-विरह, कृष्णरस की विशेषता व्यञ्जित करने में अत्यन्त सहायक हुआ है, विशेषकर उन सम्प्रदायों में जिनमें स्थूल विरह की मान्यता नहीं है। सात्त्विकों का वर्गीकरण मौलिक है—स्निग्ध, दिग्ध, रुक्ष, धूमायित, दीप्त, ज्वलित, उद्दीप्त आदि अवस्थाओं का निरूपण वैष्णव आचार्यों की विश्लेषण-प्रिय दृष्टि का परिचायक है। सात्त्विकाभास का प्रकरण मौलिक है। व्यभिचारी भावों के वर्गीकरण में भी निजी विशेषता है—स्वतन्त्र परतन्त्र तथा उसके भेद-उपभेद नूतन हैं। रसाभास का अपरस एवं अनुरस में वर्गीकरण मौलिक है।

भक्तिरस के निरूपण में सूक्ष्मातिसूक्ष्म विश्लेषण की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। यह विश्लेषण कहीं-कहीं पर भेद-उपभेद की बारीकी की चमत्कार-प्रियता से प्रेरित है, कहीं रस के वैचित्र्य को व्यक्त करने में वास्तविक रूप से सहायक हुआ है।

प्रीतिरस में गौरव, संभ्रम का भेद तथा दास, पार्षद, अनुग आदि में दास भक्तों का वर्गीकरण तत्तत् रस के विविध पक्षों को उद्घाटित करने में समर्थ है। रति की स्नेह, प्रेम, मान, राग आदि दशाओं का वर्णन तथा राग में नीली, रक्तिम, रक्तिम में पुनः मञ्जिष्ठ, कुसुम्भ का सूक्ष्मातिसूक्ष्म भेद केवल चमत्कारप्रियता के कारण नहीं किया गया है। इस विवरण से भाव के सोपान तथा उसके विकास की स्थिति का बोध भी होता है। सम्भोग के संक्षिप्त, सङ्कीर्ण आदि भेद सार्थक हैं किन्तु कहीं-कहीं व्यर्थ के भेद-उपभेद का तांता बांध दिया गया है, विशेष कर गौणभक्तिरस के प्रसङ्ग में कुल मिला कर भक्ति-रस का निरूपण अत्यन्त व्यापक है।

किन्तु यह प्रश्न उठ सकता है कि भक्तिरस की निष्पत्ति काव्यपरम्परा की प्रणाली में जकड़ कर क्यों दिखाई गई है? क्या इसके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं था? भक्ति सामान्य मानव-चेतना का भाव नहीं है, वह मनुष्य की गहनतम अन्तश्चेतना है, अतिमन किंवा अन्तर्मन का रहस्य है। इस अन्तर्मन में रस की अनुभूति जिस प्रक्रिया से होती है, क्या वह काव्यपरम्परा का अनुसरण करती है? उसके चेतना-लोक की भी क्या वे ही विधाएँ होती हैं जो सामान्य चेतना की होती हैं? क्या शुद्ध सत्व स्वतन्त्र रूप से रसनिष्पत्ति में समर्थ नहीं है, क्या उसे भी सीमाबद्ध सत्वोद्रेक के पथ का अनुगमन करना पड़ता है? प्रत्युत्तर में रूपगोस्वामी ने एक स्थल पर कहा है कि कृष्णरति विभावादि के अभाव में भी सद्यःआस्वादनीय होती है। मीराबाई का उदाहरण इसका ज्वलन्त उदाहरण है। उनका दर्शन से उत्पन्न पूर्वराग जिस प्रक्रिया से प्रौढ़ मधुर रस में परिणत हो गया उसमें अनुभाव, सात्विक, आदि सबका साङ्गोपाङ्ग संयोग नहीं है। स्वतःसिद्ध कृष्ण रस का विवेचन राधावल्लभ सम्प्रदाय में भी किया गया है। निकुञ्जरस वह अखण्ड रस है जो विरह-मिलन के द्वैत से मुक्त है। वह चिदानन्द का ऐसा आह्लाद है जो मनुष्य की संकुचित वृत्तियों, जैसे मान, गर्व आदि, से मुक्त है। उसमें मानवमन में उठने-गिरने वाले सारे सञ्चारी नहीं हैं, केवल प्रेमवैचित्य के पोषक सूक्ष्म भाव हैं। किन्तु अनुभाव तो उसमें भी वे ही है जो काव्यशास्त्र में। यह क्यों? इसका समाधान यही हो सकता है कि यद्यपि कृष्णभक्ति अलौकिक-रस की स्वतः-संवेद्यता, आत्मपरिपूर्णता से भलीभांति परिचित थी, तथापि उसने मानव मन की दुर्बल से दुर्बल वृत्तियों को कृष्णाभिमुखी करने का प्रयत्न किया। कृष्णभक्तिरस का अतिचेतन मानवचेतना का बहिष्कारक नहीं है, उसका समुत्थान करने वाला है, उसे ग्रहण करके रूपान्तरित कर देता है। इस भगवद्रस में ससीम की रसवृत्तियां असीम के रसास्वादन का कारण बनती हैं तब असीम, ससीम के रस में अवतरित होता है। यह स्वीकार करते हुए भी कि राधाकृष्ण की प्रेम कहानी में कुछ वैचित्र्य नहीं है, परिवेश उदार नहीं है, सामाजिक दृष्टि से

विषय भी सदैव ग्लानिरहित नहीं है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि वैष्णव-काव्य ने मनुष्य की प्रेम-वृत्ति को जिस ढङ्ग से भगवान् के रस में नियोजित किया, वह श्लाघ्य है। पृथ्वी में जिस प्रेम का कोई युक्तिसङ्गत हेतु नहीं दिखाई देता, जिसके साथ पूर्वकृत कोई सम्बन्ध-बन्धन नहीं जुड़ा हुआ है, यहाँ तक कि जो समस्त सम्बन्ध-बन्धनों को विच्छिन्न करके दुरूह दुराशय आत्मविसर्जन कर देता है, वैष्णव कवियों ने पृथ्वी के उसी प्रेम को परमात्मा के प्रति आत्मा के निगूढ़ प्रेम का आदर्श रूपक मानकर काव्य में व्यवहृत किया है। वैष्णव कवियों की भाषा में कृत्रिमता हो सकती है, किन्तु उनके भावों की अकृत्रिमता एवं अनुभूति की तीव्रता के विषय में सन्देह नहीं उठता। कृष्णभक्ति-कविता जो अभिव्यक्त करती है, उससे कहीं अधिक गम्भीर द्योतन करती है।[१] इस प्रकार कृष्णभक्तिकाव्य ने पार्थिव प्रेम को अपार्थिव प्रेम में परिणत कर दिया, यही उसकी चरम उपलब्धि है।

---

१—"स्वीकार करि राधाकृष्णेर प्रेमकाहिनी जाहा वैष्णव कविरा वर्णना। करियाछेन ताहार मध्ये किछू वैचित्र्य नाइ, उदार परिसरेर अभाव आछे, समाज दृष्टिते विषयउ सब समय ग्लानिहीन नय। किन्तु जखन भावरसेर दृष्टिते पदकर्तादेर मानस अनुवर्तन करि तखन देशकाल समाजेर परिवेश लुप्त हइया जाय। पृथिवीते जे भालवासार कोन युक्तिसंगत हेतु देखा जाय ना जाहार सहित पूर्वकृत कोन सम्बन्ध-बन्धन जड़ित नाइ—एमन कि, जाहा समस्त सम्बन्ध-बन्धन विच्छिन्न करिया दुरुह दुराशय आत्मविसर्जन करिते जाय वैष्णव कविगण पृथिवीर सेइ भालवासाकेइ, परमात्मार प्रति आत्मार अनिवार्य निगूढ़ भालवासार आदर्श रुपकस्वरूप व्यवहार करियाछेन। वैष्णव कविर भाषाय कृत्रिमता थाकिते पारे किन्तु ताहादेर भावेर अकृत्रिमतार एवं अनुभूतिर तीव्रतार विषये सन्देह उठे ना। वैष्णव कविता अर्थ जाहा प्रकाश करे ताहार तुलनाय द्योतना वहन करे अनेक गभीर।"

श्री सुकुमार सेन—बंगला साहित्येर इतिहास (प्रथम खण्ड), पृ० २८१

# भाव-चित्रण

रस की दृष्टि से हम भावों का, उनके स्थायी, अनुभाव, सञ्चारी आदि रूपों में, विवेचन कर चुके हैं। किन्तु कृष्णकाव्य के दास्य, सख्य आदि भाव काव्यरीति को सन्तुष्ट करने के लिए छन्दोवद्ध नहीं किये गए, उनमें मानव-मन एवं भक्ति के मनोविज्ञान की सद्यः प्रेरणा है। इसी की ओर इङ्गित करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कहा था कि "सूर के सञ्चारी प्रणाली में वँधकर चलने वाले नहीं हैं।" सूरकाव्य में ही नहीं, समस्त कृष्णकाव्य में इन भावों के ऐसे सूक्ष्म तथा आन्तरिक पक्षों का उद्घाटन हुआ है जो काव्य-शास्त्र की सीमा को तोड़कर अपने वैचित्र्य से नवीनता का सञ्चार करते हैं। यद्यपि वङ्गला पदावली का संकलन रसशास्त्र को दृष्टि में रख कर किया गया है किन्तु वङ्गाली कवि एक मात्र रसशास्त्र पर दृष्टि निवद्ध करके पद रचते रहे हों, यह विश्वसनीय नहीं जान पड़ता। सम्पूर्ण कृष्णकाव्य में भावों की मार्मिकता, संवेदनशीलता एवं नैसर्गिकता की आद्यन्त अनुभूति से हम उल्लसित होते रहते हैं। यत्र-तत्र कृत्रिमता आ गई हो तो हो, यों कृष्णभक्तों की वाणी उनके हृदय के सहज उद्गार से ओतप्रोत है, विनत समर्पण के कारण गम्भीर है, मुग्ध भाव की विपुल क्रीड़ामाधुरी से आकर्षक है। दास्य, सख्य आदि सभी भावों के वे कुशल चितेरे हैं।

### दास्यभाव

**विषयासक्ति से जुगुप्सा**—जिस क्षण भक्त में आन्तरिक जागरण होता है उस क्षण से वह अपने सामान्य विषयासक्त जीवन से अत्यन्त असन्तुष्ट और क्षुब्ध हो उठता है। उसे ऐसा प्रतीत होता है जैसे उसने सारा जीवन एक भ्रम में विता दिया, व्यर्थ ही मानव-जीवन खो दिया। अविनश्वर जीवन की प्रथम किरण का स्पर्श उसके नश्वर जीवन एवं मन के समस्त अन्धकार को उद्घाटित करने लगता है। देह-गेह सम्वन्धित सामान्य मानव-जीवन के विषयविलास के प्रति, अपने मन के काम, क्रोध, मोह, लोभ आदि विकारों के प्रति, उसका मन घृणा-जुगुप्सा और विगर्हणा से भर जाता है। मायामय तृष्णाओं के भ्रमजाल में डोलते-डोलते वह ध्वस्त हो जाता है और क्रोध, लोभ, मोह से सञ्चालित जीवन उसे उवा देता है।[1] न जाने जीवन

---

१—अब हौं नाच्यौ बहुत गुपाल।
 काम-क्रोध को पहिरि चोलना, कंठ विषय की माल॥
 महामोह को नूपुर वाजत, निन्दा शब्द रसाल।
 भ्रम भोयौ मन भयो पखावज, चलत असंगत चाल॥

का कितना हिस्सा हरि-स्मरण के विना, परनिन्दा करते-करते, ऊपरी ठाठ-बाट बनाकर विषयों का मुंह जोहते हुए बीत जाता है। उदर भरना और सो रहना तो पशु-जीवन का व्यापार होता है, कुल कुटम्ब के लिए श्रम करते हुए अचेत-पशु की भाँति मनुष्य भी जीवन विताता है। क्या मानव-जीवन का लक्ष्य पशु जीवन के लक्ष्य को दुहराना है? भक्त को प्रभुविहीन जीवन शूकर, श्वान, शृगाल के जीवन-सा गर्हित एवं हेय लगने लगता है।[1] अपनी इस अधोगति का अनुभव करके भक्त में दैन्य आता है—'मेरौ मन मतिहीन गुसाईं'।[2] किन्तु यह जानते हुए भी कि मन मतिहीन है, भक्त उसे वश में नहीं कर पाता। यद्यपि वह विवेक, वैराग्य आदि नाना प्रकार के उपदेशों से मन को सचेत करता है, शिक्षा देता है, उद्बोधन करता है किन्तु हिंसा-मद-ममता की सुरा में मत्त मन आशा में लिपटा सब कुछ सुनकर अनसुनी कर देता है। माया का प्रबल प्रभुत्व जीव को कपि की भाँति कुपथ में नचाता रहता है और वह विवश होकर नाचता जाता है। अविद्या चिन्मय जीव को इतना वशीभूत कर लेती है कि मतिहीन मनुष्य प्रपञ्च में ही सुख समझने लगता है और उसमें ही लिप्त होकर रस लेने लगता है। किन्तु अज्ञान वरदान नहीं होता, अन्त में मनुष्य उस सुख के भ्रम से दंशित होने लगता है और अज्ञान वशीभूत होकर नाना प्रकार के दुःख सहता है। त्रितापदग्ध जीव को संसार में कहीं शान्ति, कहीं सच्चा सुख नहीं मिलता, अतएव वह प्रभु की ओर आशाभरी दृष्टि से देखता है।

**प्रभु का आवाहन**—उसे इस बात का बोध हो जाता है कि सच्चा सुख और वास्तविक कल्याण प्रभुसेवा में है। विषयभोग में नहीं, यदि वह भगवान् का स्मरण करे तो ऐसी दीन-हीन पशुवत् दशा क्यों उपस्थित हो?[3] इसलिए सर्वसमर्थ, सर्वज्ञ प्रभु की कृपालुता, गुण-अवगुण का विचार न करने वाली उनकी परम दयालुता, भक्तवत्सलता आदि को याद करके भक्त उनसे निरन्तर प्रार्थना-करता है कि वे किसी

---

तृष्णा नाद करति घट भीतर, नाना बिधि दै ताल।
माया को कटि फेंटा बाँध्यौ, लोभतिलक दियौ भाल ॥
कोटिक कला काछि दिखराई, जल-थल सुधि नहिं काल।
सूरदास की सबै अविद्या, दूरि करौ नन्दलाल ॥सूरसागर, 'विनय', पद सं० १५३

१—मानुष जनम पोत नकली ज्यौं, मानत भजन बिना बिस्तार।
सूरदास प्रभु तुम्हरे भजन बिनु, जैसे सूकर स्वान सियार। वही—४१

२—सूरसागर, 'विनय', पद सं० १०३

३—माधौ जू मन माया बस कीन्हौं।
लाभ हानि कछु समुझत नाहीं, ज्यौं पतंग तन दीन्हौ ॥
गृह दीपक, धन तेल, तूल तिय, सुत ज्वाला अति जोर।
मैं मतिहीन मरम नहिं जान्यौ, पर्‌यौ अधिक करि दौर ॥

प्रकार उसे भवसमुद्र की उन्मत्त तरङ्गों से निकाल लें।[१] अशरण-शरण, पतित-पावन से भक्त उनके विरद की याद दिलाता हुआ अपने उद्धार की कातर प्रार्थना करता है, शरणागत होने की लाज रखने को कहता है। दीन-दयाल, अभयदाता, जग के पिता-माता पर त्रस्त-जीव को भरोसा हो जाता है और वह संसार की समस्त एषणाओं को छोड़कर केवल मात्र भक्ति की उनसे याचना करता है।[२] किन्तु त्राता के आने में कुछ विलम्ब भी होता है। गर्हित जीवन से भक्त इतना अधिक क्षुब्ध हो चुकता है कि भगवान की ओर से प्रत्युत्तर आने तक के समय में वह अधीर हो उठता है। वह सोचता है, आखिर भगवान् आने में विलम्ब क्यों कर रहे हैं, उद्धार में इतनी देर क्यों लगा रहे हैं ? अपनी क्षुब्ध मनःस्थिति में भक्त, भगवान् की कृपा का अनुभव नहीं कर पाता, किन्तु वह उस कृपा की निरन्तर याचना करता जाता है।

कृपा का अनुभव—कभी ऐसा भी होता है कि भक्त अविचल रहकर भगवान् के अनुग्रह को अनुभव करने लगता है। भगवान् की कृपा का सशक्त प्रमाण देखते हुए स्वामी हरिदास अपनी भूलभ्रान्तियों पर अधिक सोच नहीं प्रकट करते। दीनता उनमें अवश्य है किन्तु अपनी चञ्चलता के बावजूद भी उन्हें भगवान् की उस कृपाशक्ति का भरोसा है, उस कृपाशक्ति के सञ्चालन में आश्वासन मिलता है, जो भक्तरूपी बालक का माता-पिता की भाँति संरक्षण करती है। यद्यपि भक्त का बहिर्मुखी मन इधर-उधर भटकने को आतुर रहता है, फिर भी कृपालु भगवान् उसे अपनी संरक्षता में बन्दी रखकर भटकने नहीं देते। वैसे सचेतन मन से भक्त, भगवान् के अनुकूल रहने का संकल्प करता है, किन्तु तब भी यदि अधोमुखी वृत्तियों की ठेल उसे कुपथ में पग रखने के लिए प्रेरित करती है तो भगवान् उसे इस प्रकार पकड़ रखते हैं जैसे पिंजड़े में पशु। यदि भक्त की पाशविकता स्वच्छन्द होना चाहे तो भी नियन्ता भगवान् उसके लिए द्वार उन्मुक्त नहीं कर देते। यह भगवान द्वारा की गई गुप्त रक्षा है, उनकी उस प्रबल कृपाशक्ति का प्रकाशन है जो मनुष्य की अवचेतन प्रेरणाओं का

---

बिवस भयौ नलिनी के सुक ज्यौं, बिन गुन मोहि गह्यौ।
मैं अज्ञान कछू नहिं समझ्यौ, परि दुःख पुञ्ज सह्यौ॥
बहुतक दिवस भये या जग मैं, भ्रमत फिर्यौ मति हीन।
सूर स्यामसुन्दर जो सेवै, क्यों होवै गति दीन॥—सूरसागर, 'विनय', पद सं० ४६

१—तुम सरवज्ञ, सबै बिधि समरथ, असरन-सरन मुरारि।
मोह समुद्र सूर बूड़त है, लीजै भुजा पसारि॥—वही, पद सं० १११

२—दीन कौ दयाल सुन्यौ, अभय दान दाता।
साँची बिरुदावलि, तुम जग के पितु माता।
अपनी प्रभु भक्ति देहु, जासौं तुम नाता॥—वही, पद सं० १२३

भी संस्कार करके उन्हें निर्मल बनाने की, भक्ति में बदलने की, चेष्टा करती है। प्रभु अपने सहज वात्सल्य के कारण भक्त को कुमार्ग में नहीं जाने देते।[1] भक्ति के आविर्भाव के लिए उद्भ्रान्त चित्त को भगवान् के अधीन रखना उतना ही आवश्यक एवं श्रेयस्कर है जितना अज्ञ पशु का पिंजड़े में बन्द रहना। अधोवृत्तियों पर भगवान् की ममता का यह अनुशासन स्वीकार करना-आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है। यदि किसी को प्रभु से तनिक भी लगाव है तो प्रभु भा उसके पथ्यापथ्य का ख्याल रखते हैं। अनुशासन में तड़पड़ाहट महसूस होने पर भी अन्त में इसी में जीव का कल्याण और सुख है क्योंकि परमविज्ञ ईश्वर सब प्रकार से सुखदाता है।[2]

**निराशा एवं त्रास से उत्पन्न संसार-विमुखता तथा ईश्वरोन्मुखता**—इतना ज्ञान होने पर भी मन यदि इधर-उधर जानबूझकर भटकता है तो परिणाम में उसे दुःख के अतिरिक्त और कुछ नहीं मिलता। जिन अस्थायी सुखों के पीछे वह आनन्द समझ कर दौड़ता है, वे मृगतृष्णावत् झूठे एवं अस्तित्वविहीन होते हैं। अन्त में निराशा के अतिरिक्त और कुछ हाथ नहीं लगता।[3] जिन आकर्षणों के पीछे वह भगवान् से सम्बन्ध नहीं जोड़ता, वे अपना रूप उद्घाटित करने लगते हैं। मनुष्य-मनुष्य का सम्बन्ध का सदैव स्निग्ध तथा सहानुभूतिमय नहीं होता, वे एक-दूसरे के मित्र न होकर भक्षक हो जाते हैं। जिस संसार को प्रभु का क्रीड़ास्थल बनना था, वह एक भीषण समुद्र बन जाता है और तदस्थित जीव एक-दूसरे को निगल जाने वाले जानवर। मन-बयार की प्रेरणा से व्यक्ति इन स्नेह फन्दों में फँसा रहता है। लोभ से प्रेरित व्यक्ति संसार में ही अर्थ, धर्म, काम-मोक्ष की प्राप्ति में लगा रहता है। किन्तु इनसे आनन्द की प्राप्ति नहीं होती। वस्तुतः आनन्द उसी को मिलता है जो श्रीकृष्ण

---

१—ज्यों ही ज्यों ही तुम राखत हौ, त्योंहीं त्योंहीं रहियतु है हो हरि।
और तौ अचरचे पाइ धरौं, सो तौ कहौं कौन के पैंड़ भरि॥
यद्यपि कीयौ चाहौं अपनो मन भायौं, सो तौ क्यों करि सकौं राख्यौ हौं पकरि।
कह हरिदास पिंजरा को जनावर ज्यों, फड़ फड़ाय रह्यो उड़िवे कौं कितोऊ करि॥
स्वामी हरिदास—अष्टादश सिद्धान्त के पद, पद सं० १

२—जाहि तुमसौं हित तासौं तुम हित करो, सब सुख कारिनि।—वही, पद सं० २

३—अब कैसे पैयत सुख माँगे ?
जैसोइ बोइये तैसोइ लुनिये, कर्मन भोग अभागे॥
बोवत बबुर दाख फल चाहत, जोवत है फल लागे।
सूरदास तुम राम न भजिकै, फिरत काल संग लागे॥—सूरसागर, 'विनय', पद सं० ६१

के चरणों को पकड़ लेता है, उन्हें आत्मसमर्पण कर देता है।[१] जीवन के प्रेय और श्रेय को उसकी वास्तविकता में ग्रहण करने के लिए इष्ट की ओर उन्मुख होना आवश्यक है। विषयोन्मुखता को बलपूर्वक बन्दी बनाकर उसे राधाकृष्ण के कोटि-काम-लावण्य में नियोजित करना ही अपेक्षित है। इस रूप-सुधा का पान कर इन्द्रियों की चपलता स्वत: विनष्ट हो जाती है। वे आत्मा के सान्द्ररस में निमग्न हो आत्मस्वरूप हो जाती हैं। इष्ट के रूप में चित्त का निरोध करना, साकार साधना का प्राण है। किन्तु यह रूपासक्ति सहज ही नहीं उत्पन्न होती। भक्त यह अनुभव करता है कि इस असीम सौन्दर्य की ओर मन का उन्मुख होना भी ईश्वर की कृपा से सम्भव है। श्रीकृष्ण माया के अधिपति हैं, क्यों न वे जीव के ऊपर से अपनी वहिर्मुखी माया का प्रभाव हटा लें और उसे अपने पास बुला लें। भक्तात्मा अपने मन को अविनाशी के चरण-कमलों में लगाने का प्रयत्न करती हुई कहती है कि इस संसार में कुछ भी स्थायी नहीं है, सभी कुछ नष्ट हो जाता है। देह का गर्व भी कितना हास्यास्पद है, यह देह भी मिट्टी में मिल जाती है। संसार में सब का मिलन चिड़ियों का खेल-सा है जो शाम होते ही उड़ जाती हैं। संसार की नश्वरता को सोचकर मन को अविनाशी के चरणों में लगाना चाहिए। मन का ईश्वर चरणों में लगना तीर्थ-व्रत, योग-युक्ति आदि, से सम्भव नहीं है, दैन्यावलम्बपूर्वक भगवान् की कृपा की याचना करने पर वह प्रभु द्रवीभूत होकर भक्त के बन्धन काट देते हैं।[२]

सांसारिक प्रवञ्चना से उत्पन्न चिरस्थायी रागात्मक सत्ता की खोज—मन की

---

१—संसार समुद्र मनुष्य मीन, नक्र मगर और जीव बहु बंदिस।
मन बयार प्रेरे स्नेह फंद फंदिस।
लोभ पंजर लोभी मरजीया पदारथ चारि खदि खंदिस।
कहि हरिदास तेई जीव पार भये जे गहि रहे चरन आनन्द नंदिस।
—स्वामी हरिदास—अष्टादश सिद्धान्त के पद, पद सं० ९

२—भज मन चरण कमल अविनासी।
जेताइ दीसे धरण गगन बिच, तेताइ सब उठ जासी।
कहा भयो तीरथ व्रत कीन्हें, कहा लिए करवत कासी॥
इण देही का गरव न करणा, माटी में मिल जासी।
यो संसार चहर की बाजी, साँझ पड्याँ उठ जासी॥
कहा भयो है भगवा पहर्याँ, घर तज भये संन्यासी।
जोगी होय जुगति नहिं जाणी, उलटि जनम फिर आसी॥
अरज करौं अबला कर जोरे, स्याम तुम्हारी दासी।
मीरां के प्रभु गिरिधर नागर, काटो जम की फाँसी॥
—मीराबाई की पदावली, पद सं० १९४

समस्त चञ्चलताओं के पीछे किसी रागात्मक सत्ता की परिचालना रहती है। वस्तुतः मानव-मन चिर आनन्द का पिपासु है किन्तु भ्रान्ति के कारण वह आनन्द के वास्तविक आलम्बन को न खोजकर अस्थायी एवं संकुचित आलम्बनों में उलझ जाता है। पर अन्त में जब उसकी अन्तश्चेतना जगती है तब सारे सांसारिक सम्बन्ध स्वार्थपरायण प्रतीत होने लगते हैं। वह यह अनुभव करने लगता है कि कोई किसी से निस्वार्थ प्रेम नहीं करता, सब में अपने सुख, अपनी सुविधा का आग्रह रहता है। सांसारिक सम्बन्धों की प्रवञ्चना तब उद्घाटित होती है जब दुःख पड़ता है। सुख में तो सभी चारों ओर से घेरे रहते हैं किन्तु विपत्तिकाल में सब दूर-दूर रहते हैं। जगव्यवहार को मनुष्य सच्चा स्नेह समझ लेता है और अन्त में दुःख पाता है। प्रेम के इस धोखे से खिन्न होकर भक्त सच्चे प्रीतम को पहिचानना चाहता है।[१] भक्त उस निःस्वार्थ, पूर्णप्रकाम, परम रागमयी सत्ता से प्रेम करना चाहता है जिसके प्रेम के सम्मुख सारे प्रेम-सम्बन्ध फीके लगने लगते हैं। उसे परमानन्दरूप श्रीकृष्ण की खोज विकल करने लगती है क्योंकि श्रीकृष्ण का आकर्षण एवं तज्जन्य प्रेम चिरस्थायी, गहन, अन्तर्प्रवेशी होता है। वह न कभी मन्द पड़ता है और न समाप्त होने की प्रवञ्चना में परिणत होता है। स्वामी हरिदास सांसारिक प्रीति की तुलना कुसुम्भी रङ्ग से करते हैं जो धूपछांह से प्रभावित होकर अल्पकाल में उड़ जाता है। किन्तु भगवान् का प्रेम उस मञ्जिष्ठ रङ्ग की भाँति है जो सतत एक-रङ्ग बना रहता है, धोने पर भी धुल नहीं सकता, जिस पर धूपछांह का कोई असर नही पड़ता, हल्के पड़ने की बात तो क्या निरन्तर घनीभूत होता हुआ सारे सुख-दुःख को डुबाकर मनुष्य को चिर आनन्द का भागी बनाता है।[२] संसार में भगवान् के अतिरिक्त कोई सच्चा-सगा नहीं है, वही एक मात्र

---

१—प्रीतम जानि लेहु मन माहीं।
अपने सुख कौं सब जग बाँध्यौ, कोउ काहू को नाहीं॥
सुख में आइ सबै मिलि बैठत, रहत चहूँ दिसि घेरे।
विपति परी तब सब संग छाँड़ि, कोउ न आवै नेरे॥
घर की नारि बहुत हित जासौं, रहति सदा सङ्गलागी।
जा छन हंस तजी यह काया, प्रेत प्रेत कहि भागी॥
या विधि को ब्यौहार बन्यौं जग, तासौं नेह लगायौ।
सूरदास भगवन्त भजन बिनु, नाहक जनम गवायौं॥—सूरसागर, 'विनय', पद सं० ७६

२—हित तौ कीजै कमलनैन सौं, जा हित के आगे और हित लागै फीकौ।
कै हित कीजै साधु सङ्गति सौं, ज्यौं किल विष जाय सब जी कौ।
हरि कौं हित ऐसो जैसो रंग मजीठ, संसार हित रंग कसूम दिन दुती कौ।
कहि हरिदास हित कीजै श्रीबिहारी सौं, और निवाहू जानि जीकौ॥
—अष्टादश सिद्धान्त के पद, पद सं० ७

निःस्वार्थ प्रेमी है।[१]

वात्सल्य-भाव

वात्सल्य की प्रगाढ़ अनुभूति यशोदानन्द के सन्दर्भ में ही अधिक चित्रित की गई है। देवकी-वसुदेव के वात्सल्य भाव की यत्र-तत्र चर्चा मात्र है। यद्यपि उनकी संवेदना का भी अपना महत्त्व है किन्तु अत्यन्त कियत्। इस भाव के आधार हैं प्रमुखरूप से शिशु या बालक कृष्ण। पौगण्ड एवं किशोर कृष्ण सख्य तथा मधुर भाव के आलम्बन बन जाते हैं, वत्सल रस में प्रकारान्तर से ही आलम्बन बन पाते हैं। वात्सल्य का उच्छलरूप उनकी शिशुता में उमड़ा है। हिन्दी में सूर ही एक मात्र इस रस के सम्राट् हैं, बङ्गला पदावली में तो इस भाव के पद अत्यन्त विरल हैं, किन्तु जो भी हैं वे सुन्दर हैं।

यशोदानन्द का भाव—अर्द्धरात्रि को जग कर जब यशोदा अपनी वृद्धावस्था में सन्तान का मुख देखती हैं तब उनके हर्ष का ठिकाना नहीं रह जाता। अङ्गों में पुलक नहीं समा पाता, गद्गद कण्ठ से वाणी नहीं निकलती। अपने सुख के भागी नन्द को बुलाकर वह उस अपार हर्ष को कुछ झेल पाती हैं।[२] कृष्ण कोई साधारण बालक नहीं हैं, षोडश कला पूर्ण स्वयं-भगवान् का अवतार हुआ है। अतः केवल यशोदानन्द ही नहीं, ब्रज के सारे लोग उस बालक के परम आश्चर्यमय रूप के सुधा-पान में मग्न हैं। उनके जन्म ने ब्रज के समस्त अन्धकार को हर लिया और आनन्द की किरणें बिखेर दिया।[३] नन्द प्रसन्नता के मारे नाच उठे, उनके साथ स्वजन-परिजन आनन्दमत्त होकर नाचने लगे। उपनन्द, अभिनन्द, सनन्द, नन्दन, नन्द पाँचों भाई

---

१—थो संसार सगो नहिं कोई, सांचा सगा खुबरजी।
मात-पिता औ कुटम कबीलो, सब मतलब के गरजी।
मीरां की प्रभु अरजी सुण लो, चरण लगावो थोंरी मरजी॥
—मीराबाई की पदावली, पद सं० १३०

२—जागी, महरि पुत्र-मुख देख्यौ, पुलकि अंग उर में न समाई।
गद्गद कंठ, बोलि नहिं आवै, हरषवंत है नन्द बुलाई।
आवहु कंत, देव परसन भयौ, पुत्र भयौ, मुख देखौ धाई॥—सूरसागर, पद सं० ६३१

३—जसुमति उदर उदधि आनन्द करि वल्लवकुल कुमुद विकासी हो।
रूप किरनि बरसत ब्रजजन कै नैन चकोर हुलासी हो॥
राका राधापति परिपूरन षोडस कला गुनरासी हो।
बालक वृन्द नक्षत्रन मानौं वृन्दावन व्योम विलासी हो॥
दिवस विरह रवि ताप नसावत, पीवत नैन सुधा सी हो।
हरत तिमिर सब घोख मंडल कौं 'गोविन्द' हृदै जोन्ह प्रकासी हो॥
—गोविन्दस्वामी, [पदसंग्रह] पद संख्या ३

बाहु उठा-उठाकर नृत्य-विभोर होने लगे और यशोधर, यशोदेव, सुदेव आदि गोप भी उनके साथ नाचने लगे। और तो और नन्द की जननी तक जर्जरावस्था में नृत्य करने लगीं। केवल मनुष्य ही नहीं नर्तक बने, गायें भी पूंछ ऊँची करके उत्सव मनाने लगीं। पिता की हर्षविह्वलता से नन्द कभी गाते हैं, कभी नाचते हैं, कभी सूतिका-गृह में जाकर पुत्र का मुख देखते हैं। सब लोग शिशु को आशीर्वाद दे रहे हैं।[१] केवल नन्दालय ही नहीं, वृन्दावन की विटप वेलि यह आनन्दपर्व मनाती हैं। ऐसे हर्ष के अवसर पर यशोदा को अपनी प्रजाओं का 'अनखना' भी अच्छा लगता है। नारा-छेदन के लिए दाई बड़ा लम्बा-चौड़ा प्रस्ताव रखती है। ऊपर से यशोदा उसके इस हठीले आचरण पर खीझती हैं किन्तु मन ही मन इस महत् पर्व की महत्ता को समझ कर वे सर्वस्व लुटा देने को तैयार हो जाती हैं। ऊपर से खीझ और अन्दर से मगन होने का भाव उनके हृदय की पुत्र-प्रेम विह्वलता को प्रकट कर देता है।[२] कुछ ही दिनों में कृष्ण सात दिन के होते हैं, यशोदा का ममत्व कृष्ण का नाना प्रकार

---

१—उपनन्द, अभिनन्द, सनन्द, नन्दन नन्द
पंच भाई नाचे बहु तुलिया रे॥ ध्रु०॥
यशोधर, यशोदेव, सुदेवादि गोप सब
नाचे नाचे आनन्द भूलिया रे।
नाचे रे नाचे रे नन्द संग लैया गोप वृन्द
हाथे लाटी काँधे भार करिया हे।
खेने नाचे खेने गाय सूतिका गृहेते धाय
गिरये बालक मुख हेरिया रे।
दधि दुग्ध भरे भरे ढालये अवनी परे
केह शिर ढाले दधि भूलिया रे॥
लगुड़ लदया करे अडल धीरे-धीरे
नन्देर जननी नाचे वरीयसी बुड़िया रे।
जत वृद्ध गोपनारी जजकार-ध्वनि करि
आशीष करये शिशु वेढ़िया रे।
नर्तक बालक कत नाचे गाय शत शत
धेनू धाय उच्च पुच्छ करिया रे।
भोर हैल गोप सब अपरूप नन्दोत्सव
ए दास शिवाई नाचे फिरियारे॥—पद कल्पतरु, पद सं० ११३२

२—झगरिनि तैं हौं बहुत खिझाई।
कञ्चनहार दिये नहिं मानति, तुहीं अनोखी दाई।
× × ×

से मनुहार करता है। कभी वह हिलाती-डुलाती, दुलराती हैं, कभी पलने पर झूलते कृष्ण को सुलाने के लिए जो-सो मन में आता है वह गाती रहती हैं। कृष्ण की चेष्टाओं से उन्हें सोता हुआ जान कर लोगों को इशारे से चुप रहने को कहती हैं। इसी बीच जब शिशु अकुला उठता है तब उसे बहलाने के लिए फिर कोई मधुर स्वर छेड़ देती हैं। बालक को सुलाने में कुछ न कुछ गुनगुनाना, उसकी नींद में खलल न पड़े इसलिए सब को इशारे से चुप कराना और बालक के अकुलाने पर फिर कोई तान छेड़ कर उसे बहलाना या सुलाना, माता के नित्यप्रति जीवन की एक अत्यन्त सरल झाँकी है।[१] इस झुलाते रहने पर यदि शिशु कृष्ण बाँह पसार देते हैं तो माता यशोदा पालने से उठा कर उन्हें अङ्क में भर लेती हैं। कृष्ण का हुलसना, हँसना, किलकारी भरना, माता के हृदय के स्नेह को बरबस खींच लेता है किन्तु कृष्ण को इस प्रकार पालने में झुलाते रहने पर उन्हें सन्तोष नहीं होता।

मातृसुलभ अभिलाषाएँ—उनके मन में यह अभिलाषा जगती है कि कैसे कृष्ण बड़े हों। कब वे घुटनों चलेंगे, कब उनके दूध की 'दँतुलिया' निकलेंगी, कब वे तोतली बोली बोलेंगे आदि। इससे भी तीव्र उनकी अभिलाषा यह है कि कब कृष्ण उन्हें 'माँ' कहकर पुकारेंगे। माता को बालक जब माँ कहकर पुकारता है तब जैसे उसे सब कुछ मिल जाता है। कृष्ण आँगन में चलकर हलधर के साथ खेलें, जल्दी-जल्दी क्षुधित हों तब उन्हें वह अपने निकट बुलावें, इस प्रकार न जाने कितनी अभिलाषाएँ यशोदा के मातृ-हृदय में जन्म लेती रहती हैं।[२] पालना झुलाते समय उन्होंने कुलदेव से मनाया था कि कब कान्हा घुटनों चलेंगे। अब जब वे घुटनों से चलने लगे तो उन्हें शीघ्र ही पैरों से चलते देखने की लालसा उमड़ पड़ी और इस भावावेश में वह कह उठती हैं कि "जो कृष्ण को पैरों से चलना सिखा देगा उसे वे सर्वस्व दे डालेंगी।"[३] जब कृष्ण एक वर्ष के हो जाते हैं तब स्वयं वह उनको चलना सिखाना आरम्भ करती हैं। कृष्ण 'अरबरा' कर अपनी बाहें पकड़ाते हैं एवं डगमगाते हुए पृथ्वी पर

---

मेरौ चीत्यौ भयौ नन्दरानी, नन्द सुवन सुखदाई।
दीजै बिदा जाउँ घर अपने कालि्ह साँझ की आई।
इतनौ सुनत मगन ह्वै रानी, बोलि लए नन्दराई।
सूरदास कञ्चन के अभरन लै झगरिनि पहिराई॥ सूरसागर, पद सं० ६३४

१—जसोदा हरि पालनै झुलावैं॥—वही, पद सं० ६६१

२—वही, पद सं० ६६१

३—पलना झूलत कुलदेव अराध्यौ जतन जतन करि घुटरुनु धावै।
सर्वसु ताहि देउँगी जो मेरे नान्हरे गोविन्द पाँ पाँ चलन सिखावै॥
—चतुर्भुजदास, [पद संग्रह] पद सं० १४५

चरण रखते हैं। उनके हड़बड़ाये रूप और चलने के इस दृश्य को देखकर जननी आनन्द से परिपूर्ण कभी उनकी बलैया लेती हैं कभी उनके चिरञ्जीव होने की कामना करती हैं, कभी बलदेव को पुकारती हैं कि वे कृष्ण के साथ इसी प्रकार आँगन में खेलें। नन्द भी उन्हें चलना सिखाते हैं। जब कृष्ण गिर पड़ते हैं तब फिर हाथ टेककर उठा लिए जाते हैं। उनसे कुछ बोलवाने का भी प्रयत्न किया जाता है। इधर कृष्ण भी इस क्रीड़ा में कभी हाथ छोड़कर दो एक पग अकेले रेंग लेते हैं, कभी पृथ्वी पर बैठ जाते हैं और कभी कुछ गाने लगते हैं। कभी पैरों चलना भूलकर फिर अपनी अभ्यस्त चाल से घुटुनों के बल आँगन से घर चल देते हैं। पल-पल बदलती श्याम की इस विचित्र क्रीड़ा में उन दोनों का मन उलझा रहता है।

कृष्ण का नर्तन—फिर तो चलना क्या कृष्ण नाचने लगते हैं। उन्हें तरह-तरह से नचाया भी जाता है। माता-शिशु परस्पर अनुकरण करते हुए क्रीड़ारस में डूब जाते हैं, यशोदा ताली बजाकर गाती जाती हैं और कृष्ण नाचते जाते हैं। यशोदा को ताली बजाते देख बालक कृष्ण स्वयं ताली बजाने लगते हैं, उनको गाता हुआ देख कर वह स्वयं गुनगुनाने लगते हैं। शिशु में अनुकरण करने की जो प्रवृत्ति है उसी का सुन्दर दृश्य सूरदास ने एक पद में चित्रित किया है। इस अनुकरण में माता को जो मोह होता है, वह अनिर्वचनीय है।[१] कृष्ण दधि, रोटी या नवनीत माँगते हैं। उनकी इस क्षुधा का लाभ उठाते हुए यशोदा उनसे कहती हैं कि तुम नाचो तब मक्खन मिलेगा। कृष्ण मक्खन पाने की आशा में नाचना आरम्भ करते हैं।[२] जैसे-जैसे मथानी का रव मुखरित होता है वैसे वैसे, उसी लय एवं स्वर से, अपनी किङ्किणी-नूपुर का स्वर मिलाते हुए बालक कृष्ण नृत्य करते हैं। छोटी-छोटी अँगुलियों से अरुण एड़ियों को उठाते हुए, झुनुक-झुनुक पैंजनी की झङ्कार में कृष्ण का चलना भी मानो नृत्य करना है। बालदशा का यह चित्र अत्यन्त स्वाभाविक है तथा साथ ही मनोहारी भी है।[३] बालक को नाचते हुए देखने का माताओं को बहुत शौक होता है। कृष्ण का यह नर्तन केवल यशोदा के लिए ही आनन्दप्रद नहीं बनता, समस्त

---

१—सूरसागर, पद सं० ७५२

२—जननि कहत नाचौ तुम, दैहौं नवनीत मोहन,
रुनुक-झुनुक चलत पाइ, नूपुर धुनि बाजै।
गावत गुन सूरदास, बढ्यो जस भुव-अकास,
नाचत त्रैलोक्यनाथ माखन के काजै॥—सूरसागर, पद सं० ७६४

३—छोटी-छोटी गोड़िया अँगुरिया छबीली छोटी. नख ज्योती, मोती मानो कमल-दलनि पर।
ललित आँगन खेलैं, ठुमुकि ठुमुक ठुमुकि डोलैं, झुनुक झुनुक बोलैं पैंजनी मृदु मुखर।
—वही, पद सं० ७६९

व्रजरमणियाँ नन्द के आँगन में आ जुटती हैं। चारों ओर से वे नन्द-दुलारे को घेर लेती हैं और यशोदा ताली देती हैं। स्त्रियाँ उनके हाथ में नवनीत देती जाती हैं और वे खञ्जन की भाँति चपल भाव से नृत्य करते हैं। शिशु अवस्था, उस पर से दिगम्बर वेश। बस फिर कहना ही क्या उनकी शोभा का।[1] नन्द सर हिलाते हैं, भाँति-भाँति के यन्त्र बजाते हैं तथा माता यशोदा रोहिणी सहित कुछ गाती हुई शिशु के नृत्य को पुलकाकुल निहारती हैं।[2] किन्तु नाचते-नाचते कृष्ण थक जाते हैं। माँ के सम्मुख हाथ जोड़कर मलिनवदन कहते हैं कि 'माँ' नाचते-नाचते अब चरण भारी हो गये हैं, अब तो क्षुधा की वेला है, अब मैं नही नाच पाऊँगा, यदि दूध दोगी तब निरवधि नाचूँगा।[3]

गोचारण का हठ—कुछ ही दिनों में कृष्ण बड़े हो जाते हैं और चौगान तथा बटा लेकर सखाओं के सङ्ग खेलने लगते हैं। खेलते ही नहीं, अब तो अपने कुल की परम्परा के अनुसार गोचारण के लिए जाने का हठ भी करते हैं। कोमल-हृदया माता अत्यन्त संकुचित हो उठती है कि इतने कोमल बालक को कैसे घर से बाहर पैर रखने दूँ। उनके हृदय में भावों के घात-प्रतिघात उठने लगते हैं। इधर कृष्ण का गोवत्सचारण में इतना उत्कट उत्साह है कि वे माता से अपने को विभूषित करने के लिए कहते हैं, उधर यशोदा उनकी कोमलता एवं वन के कंटकाकीर्ण मार्ग की तुलना कर अचेतन हो जाती हैं कि कृष्ण के मृदुलरञ्जित चरण कैसे चञ्चल बछड़ों के पीछे दौड़ सकेंगे।[4] यही नहीं, जो पुत्र हर समय उनकी आँखों के सम्मुख ही रहता है उसे वह किस

---

१—पदकल्पतरु, पद सं० ११५६

२—अब नाचत रे नव नन्ददुलाल। ताहि माइ यशोमति देउत ताल॥
लहूँ हासिनी रोहिनी बूलत साथ। वद आनन्दे नन्द डुलाउत माथ॥
कत यंत्र बजाउत पंचम तान। पिकु निन्दित गाउत मङ्गल गान॥
—सङ्कीर्तनामृत, पद सं० ५६

३—नाचिते नाचिते हरि दखिण चरण धरि
माएर समुखे दाण्डाइल।
करतले कर जुड़ि मलिन बदन करि
गद गद कहिते लागिल।
जननि गो नाचिआ चरण हैल भारि।
एइ ना क्षुधार बेला खस्या पड़े पीत धड़ा
आर आमि नाचिते ना पारि॥
चीर सर देह यदि तवे नाचि निरवधि
घन घन चरण तूलिया।—वही, पद सं० ६६

४—पदकल्पतरु, पद सं० ११५७

प्रकार क्षण भर के लिए भी अपनी आँखों से दूर करें। जब वे दधि मथती हैं तब कृष्ण सम्मुख बैठकर खेलते हैं, आँगन से बाहर तो वह उसे कभी जाने ही नहीं देतीं, दूर वन जाने की बात कैसी? यदि कहीं गोपाल आँगन से बाहर जाकर खेलने लगते हैं तब वे सारा धैर्य खो बैठती हैं। यह तो दूर, गोद में कृष्ण को बैठा देखकर भी वह उसके अलग हो जाने की आशङ्का से चौंक-चौंक उठती हैं और एकटक बालक को देखती रह जाती हैं। गोपाल उनके प्राण हैं, आँख की पुतली हैं। यद्यपि बलराम को सौंप कर उन्हें कुछ भी सन्देह नहीं रह जाता किन्तु तब भी उनका प्राण अत्यन्त व्याकुल हो उठता है।[१] जिस गोपाल को उन्होंने हर-गौरी की आराधना करके पाया है उसको कैसे वह अपने से विलग कर सकती हैं? तिस पर कृष्ण उनकी दृष्टि में दुधमुँहा बच्चा ही है। जो बालक यशोदा का आँचल पकड़े हुए उनके पीछे-पीछे लगा रहता है, क्षण क्षण खाना माँगता है, वह मां को छोड़ ही कैसे सकता है।[२] फिर भी कृष्ण की जिद् ही तो ठहरी, अतः यशोदा सारे सखाओं को सहेजती हैं कि वे सब कृष्ण की रक्षा करें। भेजते-भेजते माँ उन्हें नाना प्रकार के खतरों से सतर्कित करती जाती हैं। पुत्र की हित कामना से उसे सुरक्षा का बहुविध उपदेश देना मातृ-हृदय के लिए स्वभावज है। यशोदा कहती हैं कि तुम्हें मेरी शपथ है धेनु के आगे मत चलना, अपने पास ही गायों को चराना और वंशी बजाते रहना ताकि मैं घर से सुनती रहूँ। बलराम आगे चलेंगे, अन्य शिशु बायें एवं श्रीदाम सुदाम पीछे। तुम इनके बीचोबीच चलना, कभी सङ्ग मत छोड़ना, गोष्ठ में अनेक प्रकार के शत्रुओं का भय है। फिर उनसे अपना मस्तक स्पर्श करवा कर प्रतिज्ञा करवाती हैं 'किसी के कहने पर

---

१—सूरसागर, पद सं० ११७६

२—बलराम तूमि नाकि आमार प्रान लैया वने जाइछो।

× × ×

केमने धैरज धरे माय कि बलिते पारे
वने जाउक ए दुग्ध कोअरा
छाओयाले छाओयाले खेले
घरे जाइते पथ भूले
टूटि छाथ मुख दिया कांदे।

× × —

श्री दाम सुदाम सुबल आदि बलराम
शुन तोमार जतेक राखाल
वंशी वदनेर वाणी कान्द कहे नन्दरानी
आजु देखि नाओ रे गोपाल॥—दपकल्पतरु, पद सं० ११७७

भी बड़ी धेनुओं को लौटाने मत जाना, पेड़ की छाँह में रहना जिससे धूप न लगे"।[१] यशोदा माँ के दिन भर का क्लेश शमन करने कृष्ण संध्या समय घर लौटते हैं। यशोदा दौड़ कर उन्हें गोद में उठा लेती हैं। उनका मातृ-हृदय कृष्ण के हाथों में वन-फल को देखकर गद्‌गद हो जाता है, वे फल तो उन्हीं के लिए बालक अपने नन्हें हाथों से तोड़कर लाया है। फिर दिन भर के श्रमित कृष्ण को वह भोजन से तृप्त करती हैं।[२]

यशोदा अब भी उन्हें गाय चराने से रोकती हैं। कहती हैं कि "जिसके नन्द से पिता और यशोदा-सी माता हैं उसे गाय चराने की क्या आवश्यकता ? अपने ही घर में कृष्ण उनकी आँखों के सामने खेलें"।[३] इस पर कृष्ण भी उनको सन्तुष्ट करने के लिए कहते हैं कि मैं अब गाय चराने नहीं जाऊँगा, सारे ग्वाल मुझे घसीटते हैं, मेरे पाँवों में दर्द होने लगता है। अब यशोदा का क्षोभ और भी बढ़ जाता है। वह नाराज होकर ग्वाल-बालों को गाली देने लगती हैं और खेद प्रकट करती हैं कि मैं तो अपने बालक को मन बहलाने के लिए भेजती हूँ और ये सखा उन्हें घसीट मारते हैं।[४]

---

१—आमार शपति लागे ना धाइहो धेनुर आगे
परानेर परान नीलमणि।
निकटे राखिह धेनु पूरिहो मोहन वेणु
घरे बसि आमि येन शुनि।
बलाई धाइबे आगे आर शिशु वाम भागे
श्रीदाम सुदाम सब पाछे।
तूमि तार माझे धाइय सङ्गछाड़ा ना होइय
माठे बड़ रिपु भय आछे।
क्षुधा हइले लइया खाइयो
पथ पाने चाहि जाइय।
अतिशय तृणांकुर पथे।
कारू बोले बड़ धेनु फिराइते ना जाइय कानु
हात तूलि देह मोर माथे॥
थाकिवे तरूर छाय मिनति करिछे माय
रवि यन ना लागये गाय।
यादवेन्द्र सङ्ग लइय
बाधा पानइ हाते थुइय
बूझिया जोगावे रांगा पाय॥—पदकल्पतरु, पद सं० ११८६

२—सूरसागर, पद सं०१०३६

३—वही, पद सं० ११२७

४—मैया हौं न चरैहौं गाइ।

**माखन-चोरी**—जो कृष्ण माता के सन्मुख इतने निरीह से, दया के पात्र बन जाते हैं वे वास्तव में उनके पीठ-पीछे बड़ी धृष्टता करते हैं। घर-घर जाकर सखाओं सहित नवनीत चुराकर खाते-खिलाते हैं, खाते ही नहीं बर्तन तक तोड़ देते हैं और पकड़े जाने पर आँख में उसी पानी की छींट देकर किलकारी मारते हुए नौ-दो ग्यारह हो जाते हैं। उनके इस आचरण से अन्तर्मुग्ध किन्तु बाह्यतः खिन्न गोपियाँ हरि की शिकायत पर शिकायत लिए यशोदा की ड्योढ़ी पर हाजिर रहती हैं। यशोदा कृष्ण की शैतानी पर विश्वास नहीं करतीं, करें भी कैसे, उनका भोला-भाला पुत्र भला इतना साहस कब कर सकता है। किन्तु जब उलाहनों की अति हो जाती है तब पुत्र पर वह सारी खीझ उतारते हुए उसे उखूखल की कठिन रस्सी से बाँध देती हैं। कृष्ण के साश्रु-वदन को देखकर जब गोपियों को तरस आ जाता है और वे यशोदा से उन्हें छोड़ देने का आग्रह करती हैं तो यशोदा उन्हें अपने-अपने घर चले जाने को कहती हैं। उन्हें मन ही मन उन पर आक्रोश आता है कि क्यों इन्होंने इतनी शिकायतें कीं? कृष्ण के आचरण पर भी उन्हें कम क्षोभ नहीं होता, वे उस दुष्टता के पात्र को यशोदा के 'वारे' न कहकर 'नन्द के लाल' कहकर व्यङ्ग करती हैं, जैसे कि नन्द ने ही लाड़ से उन्हें बिगाड़ रखा हो।[१]

**मथुरा-गमन**—धीरे-धीरे माखनचोरी से आरम्भ कृष्ण की गोपियों से छेड़छाड़ प्रणय का रूप धारण कर लेती है। किन्तु यशोदा का वत्सलभाव अक्षुण्ण है। शिशु कृष्ण अब किशोर हो गये। कंसवध की घड़ी आ चुकी और अक्रूर उन्हें बुलाने आये। कृष्ण सहर्ष चलने को प्रस्तुत हो गये। माँ के हृदय पर जैसे बज्रपात हो गया, उनकी समझ में नहीं आता कि राजदरबार में गोप-बालक का क्या काम? मथुरा में हत्यारे योद्धा बसते हैं, इन बालकों ने कब मल्ल अखाड़ा देखा है। वे अक्रूर को ही दोषी ठहराने लगती हैं कि—'सुफलक सुत मेरे प्रान हरन कौं, काल रूप ह्वै आयो'। जैसा उनका नाम वैसा उनका स्वभाव, आपाद मस्तक वे क्रूर हैं। कृष्ण को उन्होंने ही वश में कर लिया है नहीं तो क्या वह इस प्रकार तटस्थ हो जाते और मथुरा चलने

---

सिगरे ग्वाल घिरावत मोसौं मेरे पाइ पिराइ।
क्यौं न पत्याहि पूछि बलदाउहिं अपनी सौंह दिवाइ।
यह सुनि माइ जसोदा ग्वालनि गारी देत रिसाइ।
मैं पठवति अपने लरिका कौं आवै मन बहराइ।
सूरस्याम मेरौ अति बालक मारत ताहि रिंगाइ॥—सूरसागर, पद सं० ११२८

१—मोकौं जनि बरजौ जुवती कोउ, देखौ हरि के ख्याल।
सूरस्याम सौं कहति जसोदा, बड़े नन्द के लाल॥—वही, पद सं० ९९३

की उत्सुकता दिखाते ? कृष्ण उन्हें जो विरक्तिपूर्ण प्रबोधन देते हैं वह भी मानो अक्रूर की प्रेरणा से।

कृष्ण चले गए, नन्द भी उनके साथ गये; किन्तु जब लौटे तब अकेले। उन्हें कृष्ण के बिना लौटा देखकर यशोदा की वेदना कटुता से भर जाती है। वात्सल्य के अतिरेक में वह नन्द से अपशब्द तक कह डालती हैं। यशोदा उन्हें धिक्कारती हैं कि कृष्ण के बिना उनके प्राण कैसे बचे रहे, दशरथ की तरह प्राणान्त क्यों नहीं हो गया।[1] वह अत्यन्त व्याकुल हैं, बार-बार कृष्ण के विषय में पूछती हैं और अपनी खिन्नता के कारण सारा दोष नन्द पर मढ़ कर कभी उन्हें धिक्कारती हैं और कभी अपनी दुर्दशा का उपहास करती हुई कह डालती हैं। वास्तव में उनकी वेदना असहनीय है, विक्षिप्तावस्था सी आ जाती है।[2] किन्तु जब उनकी यह विभ्रम-दशा शान्त होती है तब पति-पत्नी मिल कर कृष्ण की चर्चा करते हैं और उनके गुण-गान करते-करते सारी रात यों ही बीत जाती है। उन्हें भली भांति विदित है कि कृष्ण अब वसुदेव-देवकी के पुत्र हैं इसलिए यशोदा का सारा मातृ-गर्व पानी हो जाता है। अतिशय दैन्य से कातर होकर अपने को कृष्ण की धाय कहने में उन्हें कोई सङ्कोच नहीं होता। उनका स्नेह कृष्ण में इतना समर्पित है कि अब पद-अभिमान की कोई बात ही नहीं रही। कृष्ण के वसुदेव-देवकी के पुत्र कहलाने में उन्हें न कोई ईर्ष्या है न क्षोभ, स्वयं धाय तक बनने को तैयार हैं यदि कृष्ण उनसे एक बार भी मिलने आ जायें।[3] इधर नन्द, कृष्ण के न आने का सारा दोष अपने सिर मढ़ लेते हैं। बार-बार पश्चात्ताप करने लगते हैं कि कृष्ण ने उनके घर बहुत कष्ट पाया, कण्टकाकीर्ण वन में उन्हें कोमल चरणों से गाय चराने के लिए चलना पड़ा और थोड़े से दही के कारण उलूखल से बंधना पड़ा। यशोदा की ममता नहीं मानती, वैभव में पलते हुए कृष्ण के लिए वह पथिक से सन्देश भेजती हैं कि कृष्ण को मक्खन-रोटी

---

१—प्रीति न करी राम दशरथ की, प्रान तजे बिनु हेरै।
सूर नन्द सौं कहति जसोदा, प्रबल पाप सब मेरै॥—सूरसागर, पद सं० ३७५०

२—जसुदा कान्ह कान्ह कै बूझै।
फूटि न गईं तुम्हारी चारौ, कैसे मारग सूझै।
इक तौ जरी जात बिनु देखे, अब तुम दीन्ही फूँकि।
यह छतिया मेरे कान्ह कुँअर बिनु, फटि न भई द्वै टूक।
धिक तुम धिक यह चरन अहो पति, अध बोलत उठि धाए।
सूरस्याम बिछुरन की हम पै, दैन बधाई आए॥—वही, पद सं० ३७५३।

३—जद्यपि वै वसुदेव देवकी, हैं निज जननी तात।
बार एक मिलि जाहु सूर प्रभु, धाई हू कै नात॥—वही, पद सं० ३७८०

रुचिकर है, नहाने में आनाकानी करते हैं, हो सकता है कि देवकी के आगे यह यह सब कहने में सङ्कोच करते हों, इसलिए पथिक देवकी से उनकी आदतें बता दे। यशोदा को अब भी विश्वास है कि कृष्ण उनके अधिक निकट हैं तभी निस्सङ्कोच होकर कृष्ण उनसे सब मांग लेते थे और देवकी से कहने में उन्हें सङ्कोच होता होगा।[१]

किन्तु सन्देश कहने पर भी कृष्ण लौटकर नहीं आते। यशोदा की वृद्धावस्था सूने गृह में एक भयङ्कर निस्सहायता से घिरी कटती है। कृष्ण की चपल क्रीड़ाओं से मुखरित गृह को निस्वन देखकर उनके हृदय में शूल-सा उठता है। अब न कोई उलाहना देने आता है न कृष्ण मक्खन मांगते हैं। घर की सारी श्री विलीन हो गई, रह गई केवल एक शून्यता, और उस शून्यता में मंडराती हुई अतीत की स्मृतियां।[२] कृष्ण के विरह में उनका सारा जीवन बीत जाता है। द्वारिका जाने से पूर्व केवल एक बार के लिए कुरुक्षेत्र में पुनर्मिलन होता है और उसी से सारे व्रजवासी कृतार्थ हो जाते हैं। कृष्ण का वैसा ही स्नेह देख कर सबको सन्तोष होता है और उन्हें ऐसा लगता है जैसे कृष्ण व्रज में नित्य स्थित हैं, घर-घर मक्खन खाते हुए विचर रहे हैं।

बालकृष्ण

मातृ-हृदय की वृत्तियों का सूक्ष्म विश्लेषण तो किया ही गया है, बालक कृष्ण के क्रीड़ा-कौतुक एवं उनके शिशु सुलभ भोलेपन, चापल्य, एवं हठ के भी सुन्दर चित्र कृष्ण-साहित्य में प्रस्तुत किये गये हैं। इस रस के चित्रण में सूर अद्वितीय हैं। मनोविज्ञान एवं काव्यप्रतिभा के सामञ्जस्य से बालक कृष्ण की जो छवि उन्होंने आंकी है, वह अनुपम है। अन्य कवियों ने एकाध पद लिख कर वात्सल्य को छोड़ दिया है। कृष्ण की विविध चेष्टाओं का दिग्दर्शन सूर ने ही हमें अधिक कराया है।

अंगूठा-चूसना—कृष्ण नन्हें-नन्हें हाथों से पैर का अंगूठा पकड़कर मुख में डालते हैं। जैसा कि बालक प्रायः अकेले में अपना अंगूठा चूसकर हर्षित होता हुआ खेलता है, वैसा ही कृष्ण भी करते हैं; किन्तु उनकी यह बालोचित क्रिया देवजगत् में हलचल मचा देती है। देवताओं को यह भय होने लगता है कि कहीं प्रलय तो नहीं होने वाला

---

१—सूरसागर, पद सं० ३७९३

२—मेरे कुँवर कान्ह बिनु, सब कछु वैसेहिं धर्‌यौ रहै।
को उठि प्रात होत लै माखन, को कर नेति गहै॥
सूने भवन जसोदा सुत के, गुन गहि सूल सहै।
दिन उठि घर घेरत ही ग्वारिनि, उरहन कोउ न कहै॥
जो ब्रज में आनन्द हुतौ, मुनि मनसा हू न गहै।
सूरदास स्वामी बिनु गोकुल, कौडी हू न लहै॥—सूरसागर, पद सं० ३७९९

है। शिव, ब्रह्मा, वटवृक्ष, प्रलय के बादल, दिग्पति, शेष, पृथ्वी, ऋषि-मुनि—सभी चिन्तित होने लगते हैं; किन्तु भोले व्रजवासियों को कृष्ण के ब्रह्म होने का भान तक नहीं, वे समझते हैं कि 'कान्ह' पैर से शकट ठेल रहे हैं।[१]

**मिट्टी खाना**—गोद में किलकते हुए जब कृष्ण की दूध की दँतुलियाँ देखकर यशोदा के हर्ष का ठिकाना नहीं रह जाता तब वे उस निरीह शिशु के मुख में अखिल ब्रह्माण्ड को देखकर सशङ्कित हो उठती हैं और उसका टोना उतरवाने घर घर जाती हैं। किन्तु यह टोना जैसे उतरता नहीं, बार-बार अपने को दुहराता है। जब बालक कृष्ण घुटनों से चलकर मिट्टी खाते हैं तब यशोदा डण्डी लेकर मुख खुलवाती हैं मिट्टी उगलने के लिए। किन्तु यह क्या ! फिर वही ब्रह्माण्ड। वे इसे अपना दृष्टिभ्रम समझ कर भुला देती हैं।

**मक्खन खाना**—मक्खन में कृष्ण की विशेष रुचि है। प्रातःकाल उठकर ही वह जननी से मक्खन-रोटी माँगने लगते हैं और शायद कुछ देर हो जाने के कारण पृथ्वी पर लोट भी जाते हैं।[२] प्रातःकाल यशोदा दही बिलोती हैं और कृष्ण-बलराम वहीं खेलते रहते हैं। बिलोते-बिलोते आफ़त मचा देते हैं, मक्खन खाने को अधीर हो उठते हैं। यदि यशोदा उन्हें समझाती हैं तो वे एक नहीं सुनते, कृष्ण खीझकर यशोदा के सिर पर से अञ्चल खींच लेते हैं। यही नहीं, बलबीर माला खीचते हैं और श्याम कबरी। बालक की खीझ का यह चित्र कितना मनोवैज्ञानिक है, जो उसे चाहिए वह यदि नहीं मिल पाता तो माँ का सर चाट डालता है।[३]

**प्रतिबिम्ब क्रीड़ा**—मक्खन खाते-खाते कृष्ण घट को पकड़ कर देखने लगते हैं। और उसमें अपना ही प्रतिबिम्ब देखकर अत्यन्त कुपित हो जाते हैं। वह सोचते हैं अन्य कोई बालक उनका मक्खन खा रहा है इसकी शिकायत भी अपने पिता से जाकर कर देते हैं। नन्द उनके भोलेपन पर रीझ कर उन्हें कण्ठ लगाये उस घट के पास आते हैं। अब भी क्या ! कण्ठ लिपटे बालक का प्रतिबिम्ब देखकर कृष्ण और क्षुब्ध हो उठते हैं। नन्द से उस बालक की शिकायत करना बेकार ही हुआ, अतः वह यशोदा के पास

---

१—सूरसागर, पद सं० ६८१

२—जननी पै माँगत जग जीवन, दै माखन रोटी उठि प्रात।
   लोटत सूरस्याम पुहुमी पर, चारि पदारथ जाके हाथ॥—सूरसागर, पद सं० ७७७

३—क्रीड़त प्रात समय दोउ वीर।
   माँगत माखन, बात न मानत, झङ्खत जसोदा जननी तीर।
   जननी मधि, सनमुख सङ्कर्षन, खैंचत कान्ह खस्यौ सिर-चीरी।
   मनहुँ सरस्वति सङ्ग उभय दुज, कल मराल अरु नील कण्ठीर।
   सुन्दर स्याम गही कबरी कर, मुक्ता माल गही बलबीर।
   सूरज भष लैवें अप अपनी, मानहु लेत निबेरे सीर॥—वही, पद सं० ७७९

जाकर केवल उन्हीं के पुत्र होने की घोषणा कर देते हैं। यह स्वाभाविक है कि जब बालक पिता से रूठ जाता है तो माता को ही सर्वस्व मान लेता है और जब माता से रूठता है तब पिता को। यशोदा को उनकी लीला में बड़ा आनन्द आया, जाकर उन्होंने अपने पुत्र का पक्ष लेते हुए मटके को हिला दिया, वह प्रतिबिम्ब भाग गया। कृष्ण अपने प्रतिद्वन्द्वी को भागता देख आनन्दित हुए। माँ के प्रताप से कृष्ण की विजय हुई, नन्द की शठता निरस्त हुई।[१] कभी-कभी वे अत्यन्त भोलेपन से अपनी छाया पकड़ने को आतुर हो उठते हैं।[२]

माखन-चोरी—घर का मक्खन ही कृष्ण को सन्तुष्ट नहीं कर पाता, वह अन्य ग्वालिनों के भी घर जाकर मक्खन चुरा-चुराकर खाते हैं।

इस प्रसङ्ग में कृष्ण के भोलेपन तथा चतुरता का एक साथ परिचय प्राप्त होता है। भोलेपन का एक सुन्दर चित्र प्रथम माखन-चोरी के प्रसङ्ग में मिलता है। पहिली बार जब वह किसी ग्वालिन के घर मक्खन चुराने जाते हैं तब हठात् उनकी दृष्टि मणि-खम्भ में झलकते अपने प्रतिबिम्ब पर जाती है। उन्हें भय लगता है कि यह बालक कहीं उनकी चोरी न पकड़ा दे। अतः उसे भी मक्खन खिलाने लगते हैं। किन्तु वह क्यों खाने लगे, सारा मक्खन गिरने लगता है। कृष्ण समझते हैं कि बालक खाने से इन्कार कर रहा है। वह तो उसे इतने प्रेम से खिला रहे हैं और बालक न जाने क्या सोचकर सब अस्वीकार कर रहा है।[३] पहिले तो आधा-आधा भाग कर देते हैं जिससे कि वह चोरी न खोल दे; किन्तु फिर भी जब वह स्वीकार नहीं करता तो अपना भी हिस्सा उसे दे डालने को तैयार हो जाते हैं। यदि प्रतिबिम्ब को मक्खन रुचिकर लगे तो कृष्ण सारा मक्खन देने को तैयार हैं।[४]

---

१—सूरसागर, पद सं० ७७४

२—नाचि नाचि चलि जाय बाजन—नूपुर पाय।
अपनार अङ्गछाया धरिवारे चाय॥—सङ्कीर्तनामृत, पद सं० ७१

३—सूरसागर, पद सं० ८८३

४—आजु सखी मनि-खम्भ-निकट हरि, जहँ गोरस को गोरी।
निज प्रतिबिम्ब सिखावत ज्यौं सिसु, प्रकट करै जनि चोरी।
अरध विभाग आजु तैं हम-तुम, भली बनी है जोरी।
माखन खाहु कतहि डारत हौ, छाँड़ि देहु मति भोरी।
बाँट न लेहु सबै चाहत हौ, यहै बात है थोरी।
मीठो अधिक, परम रुचि लागै, तौ भरि देउँ कमोरी।
प्रेम उमँगि धीरज न रह्यौ तब, प्रगट हँसी मुख मोरी।
सूरदास प्रभु सकुचि निरखि मुख, भजे कुञ्ज की खोरी॥—सूरसागर, पद सं० ८८५

किन्तु भोले होने के साथ-साथ वह चतुर भी कम नहीं हैं। कृष्ण व्युत्पन्नमति हैं। जब ग्वालिन उन्हें पकड़ने चलती है तब वह दही का पानी उसकी आँख में डाल कर भाग जाते हैं। गोपी समझती है कि वह बड़ी चतुर है, कैसा पकड़ा, किन्तु कृष्ण उससे भी चतुर निकले। यदि मौके से पकड़ भी जाते हैं तो आँखों से डरवाकर उल्टा ग्वालिन को ही दोषी साबित कर देते हैं।[१] बात बनाने में तो वह बहुत ही निपुण हैं। अँधेरे में मक्खन-चोरी करते हुए जब वह अकेले पकड़ जाते हैं, किसी और को दोषी ठहराने के लिए सखाओं की टोली भी नहीं मिल पाती, तब अपनी पैनी बुद्धि से तुरन्त बात बना देते हैं। कहते हैं कि मैं तो अपने घर के धोखे में यहाँ चला आया हूँ, गोरस में चींटी पड़ी देखकर उसे निकालने लगा।[२] जब माँ के पास तक शिकायत पहुँचती है तब वह बड़े भोलेपन से अपनी सफाई पेश करने लगते हैं। कहाँ उनके नन्हे कर कहाँ छीका? भला वह खुद कैसे दही पा सकते हैं? सखाओं ने ही जबर्दस्ती उनके मुख पर दही लपेट कर उन्हें चोर साबित करने की धूर्तता की है। किन्तु हाथ का दोना? वह उसे पीठ के पीछे छिपाकर पूरी तरह से निर्दोष साबित हो जाते हैं। उनकी इस भोली चतुरता पर मुग्ध होकर यशोदा भी हर्षोन्मादित हो जाती हैं।[३]

चोटी लम्बी करने की उत्सुकता—मक्खन तो कृष्ण को प्रिय है किन्तु दूध नहीं। दूध पिलाने के लिए यशोदा को उन्हें नाना प्रकार का प्रलोभन देना पड़ता है। कृष्ण की सबसे बड़ी अभिलाषा यह है कि उनकी चोटी बलदाऊ के बराबर लम्बी-मोटी हो जाय और बाल काढ़ते, नहाते पृथ्वी को छूती रहे। यशोदा कहती हैं कि इस प्रकार की चोटी तो दूध पीने से ही होती है। कृष्ण इसके लिए जलता दूध तक

---

१—भाजन भाँनि ढारि सब गोरस बाँटत है करि पात।
जो बरजों तो उलटि डरावत चपल नैन की घात॥—चतुर्भुजदास, [पदसंग्रह] पद सं० १५०

२—मैं जान्यौ यह मेरौ घर है, ता धोखै मैं आयौ।
देखत हौं गोरस मैं चींटी काढ़न कौं कर नायौ॥—सूरसागर, पद सं० ८९७

३—मैया मैं नहिं माखन खायौ।

ख्याल परैं ये सखा सबै मिलि, मेरैं मुख लपटायौ।
देखि तुम्हीं सींके पर भाजन, ऊँचे धरि लटकायौ।
हौं जु कहत नान्हे कर अपनैं, मैं कैसें करि पायौ।
मुख दधि पोंछि, बुद्धि इक कीन्हीं, दोना पीठि दुरायौ।
डारि सांटि, मुसुकाइ जसोदा, स्यामहिं कंठ लगायौ।
बाल-विनोद-मोद मन मोह्यौ, भक्ति प्रताप दिखायौ।
सूरदास जसुमति कौ यह सुख, सिव बिरंचि नहिं पायौ॥—वही, पद सं० ९५२

पीने से नहीं हिचकते। भोले कृष्ण दूध पीते हैं और चोटी की टोह लेते रहते हैं कि वह बढ़ रही है या माँ यों ही उन्हें बहका रही है।[१] जब चोटी न बढ़ने का प्रत्यक्ष प्रमाण उन्हें मिल जाता है तब वह यशोदा को उलाहना देने लगते हैं कि यह सब उन्हें मक्खन-रोटी न देकर कच्चे दूध पिलाने का बहाना है। यदि दूध पीने से चोटी बढ़ती तो न जाने कितने बार उन्होंने दूध पिया किन्तु वह अब भी उतनी ही छोटी है।[२] नागिन की तरह जमीन पर नहीं लोट रही है। फिर भी दूध की महिमा से उन्हें कभी-कभी यह प्रतीति हो जाती है कि उनकी चोटी मोटी हो गई है और वह अपने सखाओं की चोटी के साथ अपनी चोटी की तुलना करके गर्व से फूल उठते हैं। बाकायदे नाप-जोख होने लगती है। अन्दाज की ही बात नहीं है, कृष्ण नापकर हाथ की सफाई से अपनी चोटी बड़ी दिखा देते हैं।[३] चोटी को इसलिए भी बढ़वाना चाहते हैं कि वह बड़े हो जायें। उनमें शीघ्र ही बड़े होने की आकांक्षा है जिससे कि सबमें सबल रहें, किसी से डरें नहीं। बड़े होने के लिए वह मां से मुँहमाँगी चीजें देने को कहते हैं अन्यथा बड़े कैसे होंगे।[४]

**एकान्त में क्रीड़ा**—निभृत में बालक की क्रीड़ा अधिक स्वच्छन्द एवं चपल हो उठती है। कृष्ण अकेले में नाना प्रकार की भाववृत्तियों में सञ्चरण करते रहते हैं। नन्हें-नन्हें पैरों से नाचते हैं, कभी गायों की याद आ जाने पर बाँह उठाकर उन्हें बुलाने लगते हैं। कभी नन्द को पुकारते हैं, कभी घर के अन्दर चले आते हैं। कभी मक्खन खाते-खाते अपने प्रतिबिम्ब को देखकर कुछ उसे खिलाने लगते हैं और कुछ आप खाते हैं। माँ बालक की आत्मलीन क्रीड़ाओं को छिपकर देखती हुई आनन्दित होती रहती हैं।[५]

---

१—अँचवत पय तातो जब लाग्यो, रोवत जीभि डढ़ै।
पुनि पीवत ही कच टकटोरत, झूठहि जननि रढ़ै॥—सूरसागर, पद सं० ७९२

२—सूरसागर, पद सं० ७९३

३—अहो सुबल तुम बैठि मैया हो हम दोउ मापें एक बेरी।
लै तिनका मापत उनकी कछु अपनी करत बड़ेरी।
लै कर कमल दिखावत ग्वालिनि ऐसी न काहू केरी।
मोकों मैया दूध पिवावति तातें होत घनेरी।
'चतुर्भुज' प्रभु गिरिधर इहिं आनन्द नाचत दै दै फेरी॥
—चतुर्भुजदास, [पद संग्रह] पद सं० १४८

४—सूरसागर, पद सं० ७९४

५—हरि अपनें आँगन कछु गावत।
तनक तनक चरननि सौं नाचत, मनहीं मनहिं रिझावत॥
बाँह उठाइ काजरी धौरी, गैयनि टेरि बुलावत।
कबहुँक बाबा नन्द पुकारत, कबहुँक घर मैं आवत॥

चन्द्र-प्रस्ताव—कृष्ण जितने ही भोले हैं उतने ही हठीले। रोते हुए कृष्ण को चुप कराने के लिए यशोदा भूल से चन्द्रमा दिखला देती हैं। बालकों को बहलाने में चन्द्र एक प्रमुख खिलौना है। उसी का उपयोग यशोदा ने किया। कृष्ण को बहलाते हुए यशोदा कहती हैं कि देखो यह कितना सुन्दर है, तुम्हें कैसा लगा—खट्टा या मीठा। बस, फिर क्या था! कृष्ण कहने लगे, यह चन्द्रमा तो मैं खाऊँगा, मुझे भूख लगी है। आखिर चखकर ही तो किसी वस्तु का स्वाद बताया जा सकता है कि वह खट्टा है या मीठा। यशोदा उन्हें लाख समझाती हैं कि चन्द्र खिलौना है कोई खाने की वस्तु नहीं; किन्तु कृष्ण कब मानने लगे। यशोदा ने तो खुद ही स्वाद का प्रश्न उठाया था। वह और अधिक हठ पकड़ लेते हैं। यशोदा उनसे कहती हैं कि मधुमेवा, पकवान मिठाई, जो चाहें वह ले लें किन्तु यह हठ छोड़ दें, पर कृष्ण मचल गये। वह सिसकियाँ भरते हुए खीझते जाते हैं और यशोदा की गोद से खिसके जाते हैं। अब वह उनकी गोद में भी रहना पसन्द नहीं करते।[1] कृष्ण ने पूरा बाल हठ पकड़ लिया। अब वह माता की किसी बात को मानने को तैयार नहीं, पूर्ण असहयोग-आन्दोलन छिड़ गया। न वह उनकी गोद में जायँगे न दूध पिएँगे, न चोटी करवायेंगे। यहाँ तक कि अपने को यशोदा का पुत्र भी न कहलाएँगे। किन्तु भोले कृष्ण अपने विवाह की चर्चा सुनकर झट सारा हठ भूल जाते हैं।[2] किसी प्रकार बहला कर वह सुला दिये जाते हैं।

### सख्य-भाव

कृष्ण एवं कृष्णसखाओं का सख्य, साहचर्य से उत्पन्न एवं साहचर्य से ही पुष्ट हुआ है। इस सख्य के प्रसङ्ग में कृष्ण के देवतरूप का भी प्रस्फुटन हुआ है। बकासुर, तृणावर्त आदि विविध असुरों का वध, कालियदमन, इन्द्र एवं ब्रह्मा आदि देवताओं

---

माखन तनक आपने कर लै, तनक बदन मैं नावत।
कबहुँक चितै प्रतिबिम्ब खम्भ मैं, लौनी लिये खवावत॥
दुरि देखति जसुमति यह लीला, हरष आनन्द बढ़ावत।
सूरस्याम के बाल चरित, नित नित ही देखत भावत॥—सूरसागर, पद सं० ७९५

१—"खसि खसि परत कान्ह कनियां तैं सुसुकि सुसुकि मन खीजै"।—वही, पद सं० ८०८

२—मैया मैं तो चन्द-खिलौना लैहौं।
जैहौं लोटि धरनि पर अबहीं, तेरी गोद न ऐहौं॥
सुरभी कौ पय पान न करिहौं, बेनी सिर न गुहैहौं।
ह्वैहौं पूत नन्द बाबा कौ, तेरौ सुत न कहैहौं॥
आगे आउ, बात सुनि मोरी, बलदेवहिं न जनैहौं।
हँसि समुझावति कहति जसोमति, नई दुलहिया दैहौं॥
तेरी सौं मेरी सुनि मैया, अबहिं बियाहन जैहौं।
सूरदास ह्वै कुटिल बराती, गति सुमङ्गल गैहौं॥—वही, पद सं० ८११

की पराजय, दावानलपान आदि अप्राकृतिक कृत्य स्निग्ध गोचारण के प्रसङ्ग में ही घटित होते दिखाये गये हैं; किन्तु इन सब कृत्यों का सखाओं के साहचर्योत्पन्न स्नेह पर जैसे कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यदा-कदा वे इन लीलाओं में कृष्ण के अद्भुत पराक्रम को देखकर विस्मय विमुग्ध हो जाते हैं किन्तु विश्रम्भ उत्पन्न होने के पूर्व ही कृष्ण उनकी मैत्री को सहचर-भाव में विस्थापित कर देते हैं, अपनी प्रतिष्ठा द्वारा उसमें व्याघात नहीं उत्पन्न होने देना चाहते। यही कारण है कि कृष्णभक्ति-काव्य में सख्य-रस की धारा इतनी स्वच्छ तथा निर्मल है कि उसमें अन्य किसी भाव का मिश्रण नहीं है। कृष्ण सबके गले के हार अवश्य हैं किन्तु परब्रह्म होने के कारण नहीं, अपने कोमल आकर्षण एवं स्वभाव के कारण।

सख्य-भाव का प्रस्फुटन साहचर्य एवं क्रीड़ा के द्वारा हुआ है। शृङ्गार लीला में भी कहीं-कहीं सखाओं का सहयोग है किन्तु उससे सख्य ही पुष्ट हुआ है। ऐसे सखाओं को प्रिय सखा कहा गया है। अधिकतर समवयस्क, समस्वभाव सखाओं की मैत्री से सख्य का चित्रपट सजाया गया है। प्रियनर्म एवं ज्येष्ठ सखाओं का प्रसङ्ग-वश उल्लेख मात्र है।

**क्रीड़ा एवं साहचर्य**—कृष्ण सोकर उठ भी नहीं पाते कि गोप-बालकों की भीड़ खेलने की प्रतीक्षा में द्वार पर विकल घूमती रहती है। उन्हें सोता हुआ देख ग्वालबाल लौट-लौट जाते है।[१] कृष्ण जग जाते हैं और कलेवा करने के उपरान्त खेल आरम्भ हो जाता है। अभी माता यशोदा उन्हें घर की चारदीवारी से बाहर नहीं निकलने देना चाहती, अतः वह अपनी माँ को सुख देते हुए आँगन में ही विविध क्रीड़ाओं का प्रसार करते रहते हैं।

बालक कृष्ण ग्वालों के साथ खेलते हैं परन्तु उनके अत्यन्त कोमल होने के कारण बलदाऊ को यह आशङ्का हो जाती है कि कहीं खेल की भागदौड़ में उनके किसलय-कोमल चरणों में चोट न लग जाय। इस आशङ्का से भी कृष्ण का स्वाभिमान आहत हो जाता है और वे कहते हैं कि वे दौड़ना जानते हैं, उनके शरीर में बहुत बल है, बलदाऊ ने समझ क्या रखा है।[२]

कृष्ण के घनिष्टतम मित्र श्रीदामा हैं, खेल में उन्हीं से होड़ लगी रहती है।

---

१.—"फिरि फिरि जात निरखि मुख छिन-छिन, सब गोपनि के बाल।"—सूरसागर, पद सं० ८२५

२—खेलत स्याम ग्वालनि सङ्ग।
सुबल हलधर अरु श्रीदामा, करत नाना रङ्ग।
हाथ तारी देत भाजत, सबै करि करि होड़॥
बरजै हलधर स्याम तुम जनि चोट लागै गोड़।
तब कह्यौ मैं दौरि जानत, बहुत बल मो गात॥—वही, पद सं० ८३१

आगे कृष्ण भागते हैं पीछे उन्हें पकड़ने के लिए श्रीदामा। इस क्रीड़ा में कृष्ण हार जाते हैं और किसी प्रकार बात बनाकर अपने को 'शाह' साबित करना चाहते हैं। कहते हैं कि मैं तो जान-बूझकर खड़ा हो गया, ऐसे छूने से क्या ? मन में हार जाने पर गुस्सा भी है किन्तु गुस्सा उतारते हैं सखाओं पर खीझकर।[१]

कृष्ण के हार जाने और हार कर नाराज हो जाने पर सखाओं को उन्हें चिढ़ाने का अच्छा अवसर हाथ लग जाता है। जब अपने आप ही वह खड़े हो गए तब गुस्सा होने की क्या बात ! उनके खेल का महत्व परम अर्थ लगाकर बलदाऊ उन्हें चिढ़ाने लगते हैं—"तुम्हारे न माँ है न बाप, न ही तुम हार जीत समझते हो, बेकार लड़कों को क्यों दोषी ठहराते हो। हार जाने पर सखाओं से झगड़ते हो ? जाओ, अपने घर।" बस फिर क्या था ! कृष्ण रोने लगे, रोते-रोते चले यशोदा के पास।[२] कृष्ण के पक्ष में बोलने वाली केवल यशोदा बचीं, बलदाऊ तक ने जो उन्हें चिढ़ा दिया। माँ का पक्षपात पाने की भावना बाल-सुलभ स्वभाव है। बस, मन की सारी व्यथा, बलदाऊ के खिलाफ सारी शिकायत, उन्होंने यशोदा से कह दी। अन्त में कृष्ण खेलने तक से इन्कार कर देते हैं।[३]

अन्याय न हो उनके साथ इसलिए यशोदा अपने सामने ही उनसे खेलने को कहती हैं। हलधर एवं सखाओं को वहीं बुला लिया जाता है और आँख मूँदने का खेल प्रारम्भ होता है। यशोदा कृष्ण की आँख बन्द करती हैं, अन्य बालक छिपने लगते हैं। स्नेहातिरेक में यशोदा चुपके से कृष्ण को बता देती हैं कि बलदाऊ कहाँ छिपे हैं जिससे कि बलदाऊ को पकड़कर कृष्ण जीत जायँ और पिछली हार का प्रतिकार हो जाय। किन्तु कृष्ण की विशेष अटक तो श्रीदामा से है। अन्त में सब सखा तो आ जाते हैं, पर सुबल श्रीदामा छिपे ही रहते हैं। कृष्ण के हारने का अन्देशा होने लगता है, पर किसी प्रकार श्रीदामा पकड़ में आ ही जाते हैं। विजय-

---

१—आगे हरि पाछै श्रीदामा, धर्यौ स्याम हँकारि।
जानि कै मैं रह्यौ ठाढ़ौ, छुवत कहा जु मोहिं।
सूर हरि खीझत सखा सौं, मनहिं कीन्हौ कोह॥—सूरसागर, पद सं० ८३१

२—सखा कहत हैं स्याम खिसाने।
आपुहि आप बलकि भए ठाढ़े अब तुम कहा रिसाने॥
बीचहि बोल उठे हलधर तब, याकें माइ न बाप।
हारि जीति कछु नेकु न समझत, लरिकनि लावत पाप॥
आपुन हारि सखनि सौं झगरत, यह कहि दियौ पठाइ।
सूरस्याम उठि चले रोइ कै, जननी पूछत धाइ॥—वही, पद सं० ८३२

३—'खेलन अब मेरी जाइ बलैया।'—वही, पद सं० ८३५

गर्व के साथ कृष्ण श्रीदामा को पकड़े हुए यशोदा के पास ले आते हैं और अपनी विजय का टीका लगवाते हैं।[1]

धीरे-धीरे क्रीड़ा का क्षेत्र नन्द की देहली, पौरी का अतिक्रमण कर प्रकृति का विस्तृत प्राङ्गण बन जाता है। कृष्ण चौगान बटा लेकर घर से बाहर निकल जाते हैं। अब घोष में क्रीड़ास्थली बनती है। वृन्दावन की वनस्थली में कृष्ण एवं सखा श्रीदामा की विशेष क्रीड़ाएँ होती हैं। कवियों ने उनके मैत्रीमय समानता के भाव को अक्षुण्ण रखा है। कबड्डी में बलराम जैसे बलिष्ठ साथी के रहते भी कृष्ण श्रीदामा से हार जाते हैं, किन्तु हार मानने को तैयार नहीं होते। तब श्रीदामा खुल कर उनको धिक्कारते हैं कि उससे कौन खेले जो खेल में बराबरी का नाता नहीं रखता? कृष्ण के रूठ जाने से श्रीदामा न तो डरते हैं और न आतङ्कित ही होते हैं। श्रीदामा जात-पाँत सभी में बराबर जो ठहरे, आखिर कृष्ण के रोब में क्यों आ जायें? क्या वह केवल इसलिए डर जायें कि कृष्ण के पास कुछ अधिक गायें हैं? हैं तो रहें, खेल में धन-सम्पत्ति का क्या गर्व! श्रीदामा के पक्ष के सब ग्वाल खेल छोड़कर बैठ गए। अब कृष्ण को अपनी भूल स्वीकार करनी पड़ी। हार कर उन्होंने दाँव दे दिया। आखिर खेलने में कौन बड़ा कौन छोटा, किसका किस पर अधिकार, लीला में स्वयं प्रभु को हारना पड़ा।[2]

**माखन-चोरी**—अभी तक तो आपस में ही खेल होता रहा। अब कृष्ण अन्य

---

१—हरि तब अपनी आँखि मुदाई।
सखा सहित बलराम छपाने, जहँ तहँ गये भगाई॥
कान लागि, कह्यौ जननि जसोदा वा घर मैं बलराम।
बलदाऊ को आवन दैहौं, श्रीदामा सौं काम॥
दौरि दौरि बालक सब आवत, छुवति महरि कौ गात।
सब आये रहे सुबल श्रीदामा, हारे अब कै तात॥
सोर पारि हरि सुबलहिं धाये, गह्यो श्रीदामा जाइ।
दै दै सौंहैं नन्द बबा की, जननी पै लै आइ॥
हँसि हँसि तारी देत सखा सब, भये श्रीदामा चोर।
सूरदास हँसि कहति जसोदा, जीत्यौ है सुत मोर॥—सूरसागर, पद सं० ८४८

२—खेलत मैं को काकौ गुसैयां।
हरि हारे जीते श्रीदामा, बरबस हीं कत करत रिसैया॥
जाँति-पाँति हमतैं बड़ नाहीं, नाहीं बसत तुम्हारी छैयाँ।
अति अधिकार जनावत यातैं, अधिक तुम्हारे गैयाँ॥
रूठहि करै तासौं को खेलै, रहे बैठि जहं तहं सब ग्वैयाँ।
सूरदास प्रभु खेल्यौइ चाहत, दाउं दियौ करि नंद दुहैयाँ॥—वही, पद सं० ८६३

ग्वालिनों के घर जाकर सखाओं सहित चोरी का खेल भी रचने लगे। शुरू-शुरू में तो अकेले गये पर पकड़ जाने के कारण सखाओं का झुण्ड लेकर धावा बोलने लगे।[१] किन्तु जिन सखाओं की सहायता से वह घर-घर जाकर गोरस की लूट करते हैं उन्हें ही उल्टा दोष देने लगते हैं। चोरी का सारा अपराध बड़े भोलेपन से अबोध बालक बनकर सखाओं के सर मढ़ देते हैं—"स्याल परैं ये सखा सबै मिलि मेरे मुख लपटायों", यही नहीं, वे उनको मार तक देते हैं। कृष्ण सखाओं के साथ निस्सङ्कोच अत्यन्त उद्धत व्यवहार कर डालते हैं।[२]

गोचारण—कृष्ण अब और भी बड़े होते हैं और गोचारण के योग्य हो जाते हैं। रैंता, पैंता, मैना, मनसुखा, के साथ वंशीवट के नीचे खेलने-खाने में कृष्ण अपनी उत्सुकता प्रकट करते हैं। क्रीड़ा-प्रवण सखा विस्तृत वनस्थली में गायों को चरता छोड़कर नाना प्रकार के खेल में मस्त हो जाते हैं। कोई गाता है, कोई मुरली सुनता है, कोई विषाण बजाता है और कोई वेणु, कोई नाचता है, कोई ताली देकर उघटता है। रोज 'पिकनिक' होती है। पुरुषोत्तम परमधाम छोड़कर पृथ्वी पर पार्थिव जनों के सङ्ग यह क्रीड़ा-सुख लेने के लिए अवतरित होते हैं।[३]

---

१—भजि गयो मेरे भाजन फोरि।
कहारी कहूँ सुन मात जसोदा अरु माखन खायो चोरि॥
लरिका पाँच सात संग लीने रोके रहत साँकरी खोरि।
मारग में। कोउ चलन न पावत, लेत हाथ में दूध मरोर॥
समझ न परत या ढोटा की रात दिवस गोरस ढंढोर।
आनँद फिरत फाग सो खेलत तारी देत हँसत मुख मोर॥
सुन्दर स्याम रङ्गीलो ढोटा सब ब्रज बाँध्यौ प्रेम की डोर।
'परमानन्ददास' को ठाकुर स्यानी ग्वालिन लेत बलैया अंतर छोर॥
—परमानन्द सागर, पद सं० १४८

२—हरि सब भाजन फोरि पराने।
हाँक देत बैठे दै पेला नैकु न मनहिं डराने॥
सीँकें छोरि, मारि लरिकन कौं, माखन दधि सब खाइ।
भवन मच्यौ दधिकाँदौ, लरिकनि रोवत पाए जाइ॥—सूरसागर, पद सं० ९४९

३—चरावत वृन्दावन हरि धेनु।
ग्वाल सखा सब संग लगाए, खेलत हैं करि चैनु॥
कोउ निर्तत, कोउ मुरली बजावत, कोउ बिषान कोउ बेनु।
कोउ गावत, कोउ उघटि तारि दै, जुरी ब्रज-बालक सेनु॥
त्रिविध पवन जहँ बहत निसादिन, सुभग कुंज घन ऐनु।
सूरस्याम निज धाम बिसारत, आवत यह सुख लैनु॥—वही, पद सं० १०६६

दर्पण या जल में अपने मुख की भाँति-भाँति की मुद्राएँ देखने में भी बालकों को कौतुक होता है। कृष्ण एवं उनके सखा निर्मल यमुना-जल में इसी प्रकार का कौतुक करते हैं।[१] कभी-कभी राजा बनने का खेल भी आरम्भ हो जाता है। कृष्ण राजा बनते हैं, कुछ सखा उनकी सेना के अश्व, हाथी और कुछ उनका अभिनन्दन करते हैं। कभी सारे सखा वन के पशु-पक्षियों की नकल करने लगते हैं और कृष्ण गजराज की गति से चलते हैं। दाम, श्रीदामा, महाबल आदि के साथ-साथ नाना खेल खेले जाते हैं। कोई वत्स, कोई वृषभ बन जाता है, कोई कोकिल की तरह कूजता है तो कोई मोर की तरह नृत्य करता है। खेलते-खेलते सब यमुना तट पर पहुँच जाते हैं और जल में उतर कर भी खेल करने लगते हैं।[२] कृष्ण और बलराम कालिन्दी के जल में कूदते हैं और उठ उठकर बार-बार जोर से गिरते हैं तथा शोर मचाते हुए हंसते हैं। जब वे तैरते हैं तब उनके दिव्य स्पर्श से हुलसित होकर यमुना उत्ताल तरङ्गों में अपना हर्ष व्यक्त करती हुई नदी होने का पुण्य-लाभ करती हैं।[३] किन्तु कृष्ण एवं उनके सखाओं की यह मैत्री सर्वदा स्निग्ध नहीं बनी रहती। श्रीदामा से उनकी तनातनी भी हो जाती है। श्रीकृष्ण ने गेंद चलाया, श्रीदामा ने मुड़कर गेंद की चोट बचा लिया और वह जाकर कालीदह में गिर गई। बस फिर क्या था! श्रीदामा ने जाकर कृष्ण की फेंट पकड़ ली और कहने लगे कि वह और सखाओं की भाँति ऐसे-वैसे नहीं ठहरे, कृष्ण को गेंद देनी ही पड़ेगी। कृष्ण को अपराधी ठहरा कर सब सखा चुटकी लेने लगे और हंसने लगे।[४]

---

१—निरमल जमुना-जल माहा हेरइ आपन आपन तनु-छाह।
दशनहिं अधर नयम करि वंकिम कोप करये पुन ताह॥
खेने तिरिभङ्ग रङ्ग करि वहतहि खेने खेने वेणु बजाय।
खेने तरुवर हीलन देइ रङ्गहि रङ्गिम चरण दोलाय॥
विहरइ मन्द-दुलाल॥—पदकलपतरु, पद सं० ११८५

२—वही, पद सं० १२०५

३—रामं कानाइ आसिआ कालिन्दीतीर रे।
× × ×
परश पाइया उलसित हआ, यमुना उजान धरे रे।
अखिलेर पति पाआ पुण्यवती, मासिल आनन्दजले रे॥—सङ्कीर्तनामृत, पद सं० १३६

४—स्याम सखा कों गेंद चलाई।
श्रीदामा मुरि अङ्ग बचायौ, गेंद परी कालीदह जाई॥
धाइ गही तब फेंट स्याम की, देहु न मेरी गेंद मँगाई।
और सखा जनि मोकों जानो, मोसौं तुम जनि करौ ढिठाई॥
जानि बूझि तुम गेंद गिराई, अब दीन्हें ही बनै कन्हाई।
सूर सखा सब हंसत परसपर, भली करी हरि गेंद गँवाई॥—सूरसागर, पद सं०.११५३

कृष्ण गुस्सा हो गए। वह अपनी गेंद बदले में देने को तैयार हैं। घोषराज के पुत्र होने के गर्व से कहने लगे कि श्रीदामा न छोटा बड़ा देखते हैं न कुछ, बस बराबरी करने लगते हैं। इस पर श्रीदामा भी व्यंग करते हैं कि वह कृष्ण की क्या बराबरी कर सकते हैं, कृष्ण नन्द के पुत्र जो ठहरे! किन्तु नन्द के पुत्र हैं तो क्या अपना हक छोड़ दिया जाय, गेंद तो देनी ही पड़ेगी।[१]

तकरार काफी बढ़ गई। नन्द तक को उसमें स्मरण कर लिया गया और सखाओं ने कृष्ण को धूर्त तक कह डाला। कृष्ण गुस्सा से काँपने लगे; किन्तु सखा श्रीदामा ज्यों के त्यों टेक पर अड़े रहे।[२] अपनी आन की रक्षा में कृष्ण कालियदह में कूद पड़े। अब तो सखाओं में खलबली मच गई। सखा शोक और पश्चात्ताप से कातर होने लगे। कालियदह से मुस्कराते हुए निकल कर कृष्ण ने उनको आश्वस्त किया।

दुष्टदलन लीला—केवल कालियदह में कूद कर ही कृष्ण ने अपने सख्यत्व की रक्षा नहीं की, वरन् ब्रह्मा द्वारा बालक एवं गोवत्सहरण किये जाने पर वैसे ही गोवत्स तथा बालकों की रचना करके शकटासुर का वध, बकासुर का हृदयविदारण, एवं दावनल पान करके उन्होंने सखाओं की रक्षा किया। उनके दैवत रूप का अवतार होने का आभास सखाओं को भी होने लगता है।[३] पूतना-वध से कालियदमन तक की सभी लीलाएँ उनके अवतार होने की बुद्धि करने लगती हैं। सखाओं का सम्भ्रम कृष्ण के प्रति बढ़ने लगता है, उनके अतिमाननीय कृत्यों को देखकर साथ खेलने वाले 'धूत' कृष्ण के प्रति पूज्य बुद्धि का सञ्चार होता है। किन्तु स्नेह को इस प्रकार अतिरिक्त माहात्म्य-ज्ञान से प्रभावित देखकर सख्य-स्नेह में कृष्ण पुनः समानता का

---

१—फेंट छाँड़ि मेरी देहु श्रीदामा।
काहे कौं तुम रारि बढ़ावत, तनक बात कै कामा॥
मेरी गेंद लेहु ता बदले, बाँह गहत हौ धाई।
छोटौ बड़ौ न जानत काहूँ, करत बराबरि आई॥
हम काहें को तुमहिं बराबर, बड़े नन्द के पूत।
सूर स्याम दीन्हैं ही बनिहै, बहुत कहावत धूत॥—सूरसागर, पद सं० ११५४

२—तोसौं कहा धुताई करिहौं।
जहाँ करी तह देखी नाहीं, कह तोसौं मैं लरिहौं॥
मुँह सम्हारि तू बोलत नाहीं, कहत बराबरि बात।
पावहुगे अपनौ कियौ अबही, रिसनि कँपावत गात॥
सुनहु स्याम, तुमहूँ सरि नाहीं, ऐसे गए बिलाइ।
हमसौं सतर होत सूरज प्रभु, कमल देहु अब जाइ॥—वही, पद सं० ११५५

३—जहाँ तहाँ तुम हमहिं उबारयौ।
ग्वाल सखा सब कहत स्याम सौं धनि जसुमति अवतारयौ॥—वही, पद सं० १५७२

भाव स्थापित करते हैं। नन्हें बालक का गोवर्द्धन पर्वत उठा लेना, सभी के लिए आश्चर्य का विषय बना हुआ था। सखा भी उनके पराक्रम से अभिभूत थे, किन्तु इस महत् व्यापार के कृतकार्य होने का श्रेय सखाओं की लकुटी को देकर कृष्ण ने शुद्ध सख्यत्व की रक्षा कर ली।[१]

छाक—सखाओं के प्रकृत स्नेह एवं अनाविल सख्य का चित्र छाक के वर्णन में मिलता है। कोई ग्वालिन छाक लेकर आती है। कृष्ण ने गोवर्द्धन पर चढ़कर अपनी मित्र मण्डली को टेरा। कमलपत्र पर भाँति-भाँति के व्यञ्जन परोसे गये। बीच में श्याम बैठे हैं, वह गाते जाते हैं और खाते जाते हैं, साथ ही अन्य सखाओं की छाक भी छीन लेते हैं। कृष्ण के सख्यत्व की चरम व्यञ्जना इसी स्थल पर होती है। वे स्वयं ब्रह्म होकर भी सखाओं के जूठे कौर छीन-छीनकर खाते हैं, खाते ही नहीं, सराहते भी जाते हैं।[२]

सख्य में आराधना भाव—समानता का व्यवहार करने पर भी कृष्ण के व्यक्तित्व का मोहक प्रभाव सब सखाओं पर छाया हुआ है। वे सब कृष्ण के प्रति प्रशंसा से ओतप्रोत हैं। सखागण यशोदा से कृष्ण के चमत्कारी प्रभाव का वर्णन करते हुए कहते हैं कि यदि गायें तृण चरते-चरते दूर वन में निकल जाती हैं तो उन्हें कोई ग्वाल लौटाने नहीं जाता, केवल कृष्ण के वंशी बजाते ही सारी गायें लौट आती हैं।[३]

सख्य में दैन्य—कृष्ण के प्रति विस्मित श्रद्धा के कारण सखाओं के स्नेह में

---

१—भुजनि बहुत बल होहि कन्हैया।
बार बार भुज देखि तनक से, कहति जसोदा मैया॥
स्याम कहत नहिं भुजा पिरानी, ग्वालनि कियौ सहैया।
लकुटिनि टेक सबनि मिलि राख्यौ, अरु बाबा नन्दरैया॥—सूरसागर, पद सं० १५८३

२—ग्वारनि कर तैं कौर छुड़ावत।
जूठौ लेत सबनि के मुख कै, अपने मुख लै नावत॥
षटरस के पकवान धरे सब, तिन में रुचि नहिं लावत।
हा-हा करि-हरि माँग लेत हैं, कहत मोहि अति भावत॥
यह महिमा येई पै जानत, जातैं आपु बँधावत।
सूर स्याम सपनें नहिं दरसत, मुनि जन ध्यान लगावत॥—वही, पद सं० १०८६

३—ओगो मा तोमार गोपाल किबा जाने ये मोहिनी।
× × ×
तृण खाइते धेनुगण यदि जाय दूर वन
केह ना जाय फिराइते।
तोमार दुलाल कानू पूरय मोहन वेणू
फिरे धेनू मुरलीर गीते॥—पदकल्पतरु, पद सं० १२१३

पार कर कंस के सारे राजसी वस्त्र लुटा दिये। भाँति-भाँति के रङ्गीन वस्त्रों से गोप सुसज्जित हो गए। अवश्य ही सखाओं को राजसी वस्त्र पाकर अपार हर्ष हुआ होगा। इसके पश्चात् एक-एक करके राजदरबार के दृश्यों में सखा भाग लेने लगे। धनुपशाला में भी सखा गरण उनके साथ गये।

अवतार की प्रतीति—फिर एक के बाद एक दुष्टों का संहार सखाओं ने देखा—कुवलया का वध, मुष्टिक-चाणूर की मृत्यु और अन्त में स्वयं कंस का वध। कृष्ण के जिस दैवत रूप का वृन्दावन की क्रीड़ाभूमि में सखाओं को आभास मात्र हो पाता था, वह अब उनकी दृष्टि के सम्मुख खुल कर प्रकट होने लगा। मथुरा में सिवाय वध के ललित क्रीड़ा का कौतुक उन्हें देखने को ही नहीं मिला। कृष्ण के अवतारी रूप से अनभ्यस्त सखाओं के मन में धीरे-धीरे उनके ब्रह्म होने की प्रतीति उपन्न हो गई। ग्वाल सखाओं को अर्जुन की भाँति पूर्ण विश्वास हो गया कि जिनके साथ वह बचपन से लेकर अब तक खेले, खाये और झगड़े थे वह साक्षात् परब्रह्म के अतिरिक्त और कोई नहीं है।[१]

ब्रह्मत्व से क्षोभ—किन्तु कृष्ण के ब्रह्म रूप से सखाओं को कोई परितृप्ति नहीं मिली। नन्द के प्रति कृष्ण के औपचारिक वचनों को सुनकर सखागण अत्यन्त खिन्न हो गये। अब कृष्ण वह कृष्ण न रहे जिनसे उन्हें आत्मीयता थी, यशोदा के पुत्र होने का भाव जो नष्ट हो चुका था। सखा उन्हें निठुर समझते हैं, अब उनका कृष्ण से क्या सम्बन्ध, वे तो मथुरा के अन्य जनों की भाँति ही हो गये।[२] जब कृष्ण का रुख ही बदल गया तो सखा वहाँ रहकर क्या करते! नन्द के साथ वे पुनः वृन्दावन लौट आए। कृष्ण के ऐसे व्यवहार पर सखाओं का मन अत्यन्त क्षोभ से भर गया। कृष्ण ने उनसे निष्ठुरता का व्यवहार इसलिए किया कि वे अब राजा बन गये, ग्वाल अहीर न रहकर यदुवंशी हो गए और गुञ्जामाल आदि छोड़कर राजभूषण धारण करने लगे। एक साधारण मनुष्य का अहङ्कार तथा मद उनके प्रियतम सखा को भी

---

१—अरस परस सब ग्वाल कहैं।
जब मार्यौ हरि रजक आवतहि, मन जान्यौ हम नहिं निबहैं।
वैसी धनुप तोरि सब जोधा, तिन मारत नहिं विलम्ब कर्यौ॥
मल्ल मतंग तिहूँ पुरगामी, छिनकहि मैं सो धरनि पर्यौ।
सुनहु सूर ये हैं अवतारी, इनतें प्रभु नहिं और बियौ॥—सूरसागर, पद सं० ३७१०

२—नन्द गोप सब सखा निहारत, जसुमति सुत कौ भाव नहीं।
उग्रसेन वसुदेव उपन्न सुत, सुफलक सुत, वैसे सङ्ग ही॥
जब ही मन न्यारी हरि कीन्ही, गोपनि मन यह व्यापि गई।
बोलि उठे इहि अन्तर मधुरे, निठुर रूप जो भया मई॥—वही, पद सं० ३७११

अन्त में कुरुक्षेत्र में एक और अन्तिम वार के लिए कृष्ण अपने सखाओं से मिलते हैं। सखा प्रफुल्लित होकर उनसे मिलने चले।[१] श्याम को महाराज की वेशभूषा में देख कर सखाओं को उनसे मिलने में सङ्कोच हुआ, किन्तु कृष्ण स्वयं बढ़कर उनसे मिले और कुशल वार्त्ता पूछी।[२] इस प्रकार घात-प्रतिघात के बीच गुजर कर कृष्ण और कृष्ण-सखाओं का मैत्री-भाव अक्षुण्ण बना रहा।

माधुर्य भाव—माधुर्यभाव का प्रकाशन गोपियों एवं राधा दोनों के प्रसङ्ग में हुआ है। चैतन्य एवं राधावल्लभ, निम्बार्क तथा हरिदासी सम्प्रदायों में गोपी कृष्ण के प्रेम की कोई चर्चा ही नहीं है। वहाँ गोपियों का कृष्ण से कोई प्रणय-सम्बन्ध नहीं है। वे या तो राधा की सेवा में संलग्न हैं या फिर राधा की दूती बनकर ही क्रियाशील हैं। स्वयं अपने में, इस भाव के आश्रय की दृष्टि से, उनका कोई महत्व नहीं है। हाँ, वल्लभ-सम्प्रदाय में अवश्य गोपीकृष्ण का मधुर रस पूर्ण विस्तार के साथ प्रदर्शित हुआ है। गोपियाँ भी कृष्ण से उसी भाव से प्रभावित हैं जिससे राधा। अन्तर केवल इतना है कि राधा का प्रेम उनकी तुलना में अधिक गूढ़ तथा गोपन है। जहाँ कृष्ण के प्रति गोपियों का मनोभाव उनके कुछ निकट परिचय के बाद ही घर-बाहर प्रकट होने लगता है वहाँ राधा का प्रेम न तो उनकी माता ही भाँप सकती हैं न उनके साथ निरन्तर रहने वाली गोपियाँ ही। वल्लभ-सम्प्रदाय की राधा के प्रेम में गोपियों की तुलना में मधुर भाव का गहनतर रूप व्यञ्जित है। कृष्ण का राधा एवं गोपियों से समानान्तर प्रेम-व्यवहार चलता है।

प्रेमोदय—रस-शास्त्र की दृष्टि से साक्षात् दर्शन, श्रवण तथा स्वप्न आदि के द्वारा प्रेम का आविर्भाव चैतन्य-सम्प्रदाय की राधा में प्रदर्शित हुआ है किन्तु ब्रजभाषा-काव्य में प्रेम किसी परिपाटी में बँधकर नहीं चलाया गया। घर के भीतर, बाहर, घाट, बाट, कहीं भी गोपियों की अचानक कृष्ण से भेंट हो जाती है और वे उन पर न्योछावर हो जाती हैं। हिन्दी के कृष्ण-काव्य में गोपियों का भाव कृष्ण के प्रति तभी से तरङ्गित होने लगता है जब कृष्ण बालक ही रहते हैं। वस्तुतः वे अपनी अलौकिक शक्ति से उनके सम्मुख कैशोरवयस् की मूर्ति बन जाते हैं।

बालक कृष्ण को देखने एक ग्वालिन यशोदा के घर जाती है किन्तु वहाँ तो उसकी दशा कुछ और ही हो जाती है। आँगन में क्रीड़ा करते हुए कृष्ण को देखकर ग्वालिन का प्राण तुरन्त पलट जाता है और उसका तन मन श्यामल हो उठता है। देखते ही वह अमूल्य निधि आँखों के पथ से हृदय में सँजोली जाती है और उसमें तन्मय

---

१—कोऊ गावत कोउ बेनु बजावत, कोउ उतावल धावत।
हरि दरसन की आसा कारन, विविध मुदित सब आवत॥—सूरसागर, पद सं० ४६००

२—मिले सुतात, मात बाँधव सब, कुसल कुसल करि प्रस्न चलाई।—वही, पद सं० ४६०१

सबसे अधिक 'रोचक' किन्तु स्वाभाविक मिलन राधा से है। कृष्ण भौंरा-चकडोरी खेलते-खेलते ब्रज की गलों से यमुनातट की ओर निकले। उधर राधा भी स्वच्छन्द घूमती हुई सखियों के साथ चली आ रही थीं। बस, कृष्ण ने भोली राधा को देखा और राधा ने चतुर कृष्ण को; नैन-नैन की ठगोरी लग गई।[1] इस अचानक प्रथम दर्शन में ही उनकी पुरातन प्रीति के नये अंकुर फूट आये। कृष्ण चुप नहीं रह सके, पूछने लगे--"गोरी तू कौन है ? कहाँ रहती है, किसकी बेटी है, कभी तुझे ब्रज में देखा नहीं।" राधा भी झिझकने वाली नहीं, उन्होंने मुँह तोड़-जवाब दिया "ब्रज क्यों आती, अपने घर खेलती रहती हूँ, सुना है ब्रज में नन्द का लड़का बड़ा चोर है, मक्खन दही की चोरी करता फिरता है, ऐसे चोरों के देश में कोई क्यों खेलने जाये।" किन्तु कृष्ण कहते हैं कि राधा का वह क्या चुरा लेंगे, उसे उनके साथ खेलना चाहिए। और बातों ही बातों में भोली राधिका को वह बहका लेते हैं।[2] सबसे स्वच्छन्द वातावरण पनघट का है। वहाँ गोपियाँ नित्य-प्रति यमुना-जल भरने आती हैं, वहाँ गुरुजनों का कोई भय नहीं है। निर्द्वन्द्व कृष्ण किसी की गगरी ढरका देते हैं, किसी की ईंडुरी फटकाते हैं, तो कङ्कड़ से किसी की भरी गगरी फोड़ देते हैं। कभी-कभी किसी का घड़ा भी उठवा देते हैं। ऊपर से तो गोपियाँ रोष प्रकट करती हैं किन्तु मन-ही-मन कृष्ण की सारी 'अचगरी' पर रीझती जाती हैं। यमुना से पानी भरकर लौटने में ऐसा हाल बहुतों का होता है कि श्यामवर्ण बालक को देखकर वे घर की राह भूल जाती हैं।[3]

गौड़ीय-सम्प्रदाय की परकीया राधा भी यमुना तट पर श्रीकृष्ण का दर्शन

---

१—खेलत हरि निकसे ब्रज खोरी।
कटि कछनी पीताम्बर बाँधे, हाथ लिये भौंरा चकडोरी।
गए स्याम रवि-तनया कै तट, अङ्ग लसति चंदन की खोरी॥
औचकही देखी तहँ राधा, नैन विसाल भाल दिए रोरी।
नील वसन फरिया कटि पहिरे, बेनी पीठि रुलति झकझोरी॥
सङ्ग लरिकिनि चलि इति आवति, दिन-थोरी, अति छवि तन-गोरी।
सूर-स्याम देखत ही रीझे, नैन नैन मिलि परी ठगोरी॥—सूरसागर, पद सं० १२६०

२—वही, पद सं० १२६१

३—आवत ही जमुना भरि पानी।
स्याम वरन काहू को ढोटा, निरखि वदन घर गैल भुलानी॥
मैं उन तन उन मोतन चितयौ, तबहीं तैं उन हाथ बिकानी।
उर धकधकी टकटकी लागी, तन व्याकुल मुख फुरत न बानी॥
कहौ मोहन मोहिनि तू को है, मोहि नाहिं तोसौं पहिचानी।
सूरदास प्रभु मोहन देखत, जनु वारिध जल बूँद हिरानी॥—वही, पद सं० २०३०

कर काले रङ्ग से ग्रसित हो जाती है। पाँच सात सखियों के साथ नाना आभरण से अङ्ग सजा कर राधा पनघट पर जल भरने के लिए जाती हैं। यमुना के पथ पर कदम्ब के नीचे किसी श्यामल देवता के रञ्जित कर, रञ्जित चरण और दीर्घ नयनों को देखकर राधा के देह की दशा विचित्र-सी हो जाती है। कृष्ण के मकर-कुण्डल उन्हें समग्र रूप से ग्रस लेते हैं और पितृकुल और श्वसुरकुल दोनों प्रथम मिलन में ही खो जाते हैं।[१]

केवल गोपियों या राधा ही के मन में प्रेम का उदय नहीं होता, कृष्ण के मन में भी उनके प्रति रागोदय चित्रित हुआ है। रास्ते में मिल जाने पर, पनघट पर छेड़कर वह व्रजनारियों के प्रति अपने प्रेम की सूचना दे देते हैं; किन्तु राधा को देखकर उनकी दशा कुछ और ही हो जाती है। सुवल से, कालिय-दमन के दिन का वर्णन करते हुए कृष्ण कहते हैं—

कालिय दमन दिन माह।
कालिन्दि-कूल कदम्बक छाह।
कत शत व्रज-नव वाला।
पेखलुं जनु थिर विजुरिक माला।
तोहे कहों सुवल सांगाति।
तव धरि हाम ना जानि दिन राति।
तहिं घनि सनि दुइ चारि।
तहिं पुन मनमोहिनि इक नारि॥
सो रहु मझु मने पैठि।
मनसिज-घूमे घूमि नाहिं दीठि।
अनुखन तह्निक समाधि।
को जाने कैछन विरह-वियाधि।

---

१—तखनि वलिलूं तोरे जाइस ना जमुना तीरे, चाइस ना से कदम्बेर तले।
तूमि एखन केनवा वोल, शुन ना गो वड़ि माइ, गा मोर केमन केमन करे॥
रांगा हात रांगा पा मेघेर वरन गा, रांगा दीघल दूटि आँखि।
काहार शकति उहार दिठि ते पड़िले गो, घरे आइस आपना के राखि॥
काने मकर-कुण्डल आस्त मानुष गिले, काँचा पाका किछु नाहि वाछे।
आमरा उहार डरे सदाइ डराइ गो, वाहिर ना हई वाखीर नाछे॥
आन सने कथा कय आन जने मुराछाय, इहा कि शुन्याछ सखि काने।
ए कूल ओ कूल मोरा दुकूल खा आँछि गो, इय नय वंशीदास जाने॥
—पदकल्पतरु, पद सं० १२२

दिने दिने खिन भेल देहा।
गोविन्द दास कहे ऐसे नव लेहा ॥[१]

## प्रेमोदय की प्रतिक्रिया

निस्तब्धता—कृष्ण से मिलने पर गोपियों की सारी स्वच्छन्दता छिन जाती है, सारी चपलता चली जाती है। प्रथम मिलन के अनन्तर उनके मन की गति एकदम स्तब्ध-सी हो जाती है। इस भावगाम्भीर्य के कारण तन भी निश्चल हो जाता है, कोई अभूतपूर्व अनुभूति मन में जन्म लेने लगती है और गोपियाँ कृष्ण-सादृश्य वस्तुओं को देखकर जड़वत् होने लगती हैं। भाव, इस पृथ्वी से हटकर किसी अप्राकृत मनोराज्य में विचरण करने लगता है और सम्पूर्ण बाह्यचेतना लुप्त हो जाती है। प्रणयिनी एकदम गुमसुम हो जाती है।[२] कृष्ण को देखकर ग्वालिन, चितेरे की भाँति चित्रवत् हो जाती है। उन्हें देखकर वह इतनी ठगी-सी रह जाती है कि यदि उसके कान के निकट कोई उसे पुकारे तब भी वह कुछ नहीं सुनती, कुछ नहीं समझती।[३]

विमुग्ध-आत्मसमर्पण—कृष्ण के इशारे पर गोपियाँ ऐसा नाचने लगती हैं कि उन्हें अपने कार्य का ध्यान ही नहीं रह जाता। एक ग्वालिन दही मथते समय कृष्ण को देख लेती है और कृष्ण उसके आँगन से कुछ इशारा करते हुए निकल जाते हैं। बस, फिर क्या, दही सहित उसकी मथानी छिटक जाती है और वह मंत्रमुग्ध-सी आत्मविस्मृत

---

१—पदकल्पतरु, पद सं० ५६

२—राधार कि हैल अन्तरे वेथा।
वसिया विरले थाकये एकले, ना शुने काहारो कथा ॥
सदाई धेयाने चाहे मेघपाने, न चले नयन-तारा।
विरति आहारे रांगा वास परे, येमन योगिनी पारा ॥
आउलाइया वेनी फूलये गाथनी. देखये खसा पड़ा चूलि।
हसित वदने चाहे मेघपाने, कि कहे दु हात तुलि ॥
एक दिठ करि मयूर-मयूरी, कंठ करे निरखने।
चण्डीदास कय नव परिचय, कालिया वन्धूर सने ॥—पदकल्पतरु, पद सं० ३०

३—चितवत आपुहि भयौ चितेरौ।
मन्दिर लिखत छोटी हरि अचानक देखत है मुख तेरौ ॥
मानहुँ ठगी परी जक इकटक इत-उत करति न फेरौ।
और न कछू सुनति समुझति कोउ स्रवन निकट ह्वै टेरौ ॥
चत्रभुज प्रभु मग काहू न पार्‌यौ कठिन काम कौ घेरौ
गोवर्द्धन-धर स्याम सिन्धु मद पर्‌यौ प्रान कौ बेरौ ॥
—चतुर्भुजदास [पदसंग्रह,] पद सं० २५६

हो कृष्ण के पीछे चल पड़ती है।[१] इसी प्रकार पनघट से लौटती हुई एक ग्वालिन, जिससे कृष्ण छेड़-छाड़ कर चुकते हैं, अपने घर का रास्ता भूलकर किसी और ही मार्ग पर चल पड़ती है और किसी सखी के द्वारा सचेत किये जाने पर मन ही मन लज्जित होती है।

कोई गोपी तो अपनी दशा पर खीझती भी है। रात-दिन चित्त उचटा रहता है, उर की धुकधुकी नहीं शमित होती, रोना आता है और न जाने कौन-सा वला उत्पन्न हो गई है जैसे वायुरोग हो गया हो। वह अपनी इस दशा पर बहुत पश्चात्ताप करती है[२]।

विभ्रम-व्याकुलता—इस मनोव्यथा को समझने वाला कोई नहीं है, इसलिए बालक की वेदना की भाँति मन-ही-मन उसे सहना पड़ता है। प्रेम की मर्मव्यथा किसी अन्य उपचार से शान्त नहीं होती, वह तो कृष्ण-मिलन से ही मिट सकती है। मीराबाई भी अपने दर्द के विषय में कहती हैं कि "उस दर्द को पहचानने वाला कोई नहीं है, एकमात्र जो दर्द देता है वही पहचानता है या जिस पर बीतता है वह। केवल कृष्ण के वैद्य होने पर ही यह दर्द मिट सकता है।" मीरा की अन्तिम दशा भी आ गई। वह काशी में 'करवत' तक लेने को तैयार हो गईं। बिना देखे कल नहीं पड़ता। उधर मिलन नहीं हो पाता, इधर संसार का उपहास—ऐसी दशा में सिवाय मृत्यु के और चारा ही क्या है ? राधा भी अपनी सखी से कहती हैं—

इह वृन्दावने देह उपेखव, मृत तनु राखवि हामार।
कबहूँ श्याम-तनु-परिमल पायब, तबहूँ मनोरथ पूर।[३]

राधा को घर द्वार नहीं सुहाता, चित्त विभ्रमित है, खाना-पीना सभी भूल गया है; केवल एक मिलन की तीव्र उत्कण्ठा शेष है।[४]

---

१—मथनिया दधि समेत छिटकाई।
भूली सी रह गई चितै उत किनु न बिलोवन पाई॥
आँगन ह्वै निकसे नन्द-नन्दन नैन की सैन जनाई।
छाड़ि नेत कर लै घर तें उठि पाछे ही वन धाई॥
लोक लाज अरु वेद मरजादा सब तन ते बिसराई।
'चत्रभुज" प्रभु गिरिधरन मंद हँसि कछुक ठगौरी लाई॥—चतुर्भुजदास [पद संग्रह] पद सं० २४०

२—प्रेम की पीर सरीर न माई।
निस बासर जिय रहत चपपटी यह धुक धुकी न जाई॥
प्रबल सूल रह्यौ जात न सखी री आवै रोवन माई।
कासों कहौं मरम की माई उपजी कौन बलाई॥
जो कोउ खोजै खोजन पैयतु ताको कौन उपाई।
हौं जानति हौं मेरे मन की लागत है कछु साई॥
पाछे लगे सुनत परमानन्द हरि मुख मृदु मुसिकाई।
मूँदि आँखि आये पाछे ते लीनी कंठ लगाई॥—परमानन्द सागर, पद सं० ४२०

३—पदकल्पतरु, पद सं० ४५

४—सूरसागर, पद सं० १२९६

वृत्तियों का सम्पूर्णतः कृष्ण में केन्द्रित होना—सभी गोपियों की ऐसी दशा है कि उनके नेत्रों में कृष्ण रूपी किरकिरी पड़ गई है। नई प्रीति मन में बस गई और आँखों को केवल कृष्ण-दर्शन की चाह ने पकड़ लिया। निशि-वासर केवल कृष्ण का ही ध्यान रहता है और सारी चाह नष्ट हो गई है। गोपियों का हृदय कृष्ण-मूर्ति में पूर्णरूप से आबद्ध हो चुका है।[१] राधा अपने चित्त को जितना ही उधर से हटाना चाहती हैं उतना ही वह उधर जाता है और नकारात्मक रूप से वह कृष्ण को स्वीकार करता जाता है। यद्यपि वह दूसरे रास्ते से जाती हैं किन्तु पैर कृष्ण-मार्ग पर ही चलने लगते हैं और इस दुष्ट जिह्वा को क्या हो गया है कि वह परोक्ष से कृष्ण का नाम जपवाती रहती है। बन्द किये जाने पर भी नासिका को श्याम-गन्ध मिलती रहती है। कान के कृष्ण-कथा न सुनने का संकल्प करने पर भी वह उनके प्रसङ्ग के निकट अपने आप चला जाता है। श्रीमती राधा अपनी सारी इन्द्रियों को धिक्कारना आरम्भ करती हैं क्योंकि उनकी सारी इन्द्रियाँ उनके कहे में नहीं हैं, कुलशील को भुलाकर वे कृष्ण का अनुभव करवाती रहती हैं।[२]

मिलन की उत्कण्ठा—सभी की आँखें कृष्ण को देखने के लिए कातर हैं, अब वे रोके नहीं रुकतीं।[३] एक ही गाँव का वास है, आखिर कैसे कोई अपने को रोक सकता है। उसी मार्ग से कृष्ण गोचारण को जाते हैं और गोपियाँ दही बेचने। कैसे न मिलने का मन करे! गोपियाँ अपना सारा धैर्य खो बैठती हैं।

गोपियों का मिलनोद्यम—गोपियाँ कृष्ण से मिलने के नाना बहाने ढूँढ़ लेती हैं। माखन चोरी तथा पनघट पर छेड़छाड़ के उलाहना देने के मिस गोपियों की

---

१—प्रीति नई उर माँझ जगी पिय नैननि तेरिय चाह लगी है।
देखे बिना पलकौ न लगे पल देखै तो लागि रहै ठगी है॥
तेरोई ध्यान रहै निसि वासर और सबै चित्त चाह भगी है।
'वृन्दावन' प्रभु के मन मानस तेरिय मूरति जाय खगी है॥
—निम्बार्कमाधुरी—श्रीवृन्दावनदेव, पृ० १४८

२—जत निवारिये चिते निवार ना जाय रे। आन पथे जाइ, पद कानूपथे धाय रे॥
ए छार रसना, मोर हइल कि वाम रे। जार नाम ना लइब लय तार नाम रे॥
ए छार नासिका मुइ कत करु बन्ध। तबू त दारुण नासा पाय श्याम-गन्ध॥
तार कथा ना शुनिब करि अनुमान। परसंग शुनिते आपनि जाय कान॥
धिक रहू ए छार इन्द्रिय मोर सब। सदासे कालिया कानू हय अनुभव॥
—चण्डीदास पदावली, प्रथम खण्ड, पद सं० ४७

३—लोचन करमरात हैं मेरे।
देखन को गिरिधरन छबीलो करत रहत बहु फेरे॥
स्याम घन तन, बदन चंद के तृषावंत ताप सहत घनेरे।
सादर ज्यों चातक चकोर कुंभनदास ए न रहत घेरे॥—कुम्भनदास [पद संग्रह] पद सं० २१८

भीड़ यशोदा के घर पर जुट जाती है। तङ्ग आकर गोपी व्रज छोड़ देने का निश्चय कर लेती है।[1] यद्यपि मन में कृष्ण के नाते व्रज से कितनी गाढ़ आसक्ति है, यह वही जानती हैं। इसी प्रकार पनघट-प्रसङ्ग के बाद एक गोपी यशोदा से कहती है—

> तुम सौं कहत सकुचति महरि।
> स्याम के गुन कछु न जानति, जाति हम सौं गहरि।
> नैकहूँ नहिं सुनत स्रवननि, करत हैं हरि चहरि।
> जल भरन कोउ नाहिं पावति, रोकि राखत डहरि।
> अजगरी अति करत मोहन, फटकि गेंडुरि वहरि।[2]

नित्य-प्रति वही उलाहना लेकर व्रजाङ्गनाएं जाती रहती हैं और यशोदा कृष्ण को उलाहने का सच्चा बयान देने के लिए बुलाती हैं। इसी बहाने गोपियाँ उन्हें देखती हैं और बहस के मिस बात भी कर लेती हैं।

कभी-कभी तो बिना आधार के मिलने का बहाना ढूंढ़ लिया जाता है। कोई घटना कल्पित कर ली जाती है और उससे कृष्ण का सम्बन्ध जोड़कर उनसे मिलने का अवसर खोज लिया जाता है। एक ग्वालिन कहती है कि "मेरी अंगूठी खो गई, रात भर मुझे नींद नहीं आई। श्याम पनघट पर खेल रहे थे, अवश्य ही उन्होंने लिया होगा। उस अँगूठी का नगीना मेरे चित्त से हटता नहीं, इसीलिए सुबह होते ही मैं आई हूँ।"[3] कभी मथानी लेने के बहाने कोई मुग्ध गोपी सुबह-सुबह पहुँच जाती है। न जाने उसने अपनी मथानी कहाँ रख दी है, ढूंढ़े नहीं मिलती। इसीलिए वह

---

१—यहाँ लौं नेक चलो नन्दरानी जू।
अपने सुत के कौतुक देखो, कियो दूध में पानी जू॥
मेरे सिर की चटक चूनरी, लै रस में वह सानी जू।
हमरो तुमरो बैर कहा है, फोरी दधि की मथानी जू॥
ब्रज को बसिवो हम छाड़ दे है, यह निस्चय करि जानौ जू।
'परमानन्द' दास को ठाकुर, करैं वास रजधानी जू॥—परमानन्दसागर, पद सं० १५६

२—सूरसागर, पद सं० २०४०

३—नींद न परी रैनि सगरी मुंदरिया हो मेरी जु गई।
या ही तें झटपटाइ झुकि आई चटपटी जिय में बहुत भई॥
तुम्हरो कान्ह पनघट खेलत ही बूझहु महरि हँसि होइ लई।
बिसरत नहीं नगीना चोखौ हृदै तें न टरत वे झलक नई॥
'चतुर्भुज' प्रभु गिरिधर चलो मेरे संग देहौं दूध दधि चाहो जितई।
मेरो व जीवनि धन मोही को देहो तव चरन की चोरी देहौं जुग बितई॥
—चतुर्भुजदास, [पद संग्रह]पद सं० १५५

यशोदा से थोड़ी देर के लिए मथानी माँगने आई है और भोर ही यशोदा के बालक को आशीष देती हुई चली आती है।[1] सारी गोपियों में राधा की बुद्धि सबसे अधिक पैनी है। माँ से उसकी विरह-दशा छिपती नहीं है, और कारण बताया भी नहीं जा सकता। अतः अत्यन्त चतुरता से वह एक ऐसे प्रसङ्ग की कल्पना कर डालती है जो उसकी देह-दशा का प्रमाण बनने में नितान्त स्वाभाविक है, साथ ही कृष्ण को बुलाने का बहाना भी मिल जाता है। माँ, राधा की व्याकुलता देखकर पूछती है कि उसे हो क्या गया? अभी-अभी तो अच्छी भली थी, खरिक से आते ही यह कैसी दशा हो गई। तब राधा अत्यन्त भोलेपन से कहती हैं कि लौटते समय उसकी एक सखी को साँप ने डस लिया। एक श्यामवर्ण के लड़के ने उसका विष उतारा। इस घटना से उसका मन त्रास से भर गया।[2] श्यामवर्ण के लड़के का प्रसङ्ग छेड़ कर उसने बड़ी चतुराई से कृष्ण को बुलाने का सङ्केत दे दिया, भविष्य में उसे भी तो सर्प डसेगा! एक दिन राधा खरिक से दूध दुहाकर लौटीं तो उन्हें भी श्यामभुजङ्ग ने डस लिया। उनकी सखियाँ उन्हें घर लाई। सारे गारुड़ी बुलाए गये किन्तु सब पछता कर चले गये, किसी का कोई मन्त्र न लगा। अचानक कीर्ति को राधा द्वारा बताए गये कृष्ण गारुड़ी का ध्यान आया और वह नन्द के गृह उसे बुलाने चल पड़ी। यशोदा चकित हैं कि कृष्ण गारुड़ी कब से हो गये, फिर भी वह भेज देती हैं। राधा का विष कृष्ण के आते ही उतर जाता है।[3] कृष्ण उस विष को उतार कर अन्य गोपियों के सर पर डाल देते हैं।

एक ही जाति के होने के कारण दूध दुहने के समय गोपियों की कृष्ण से खरिक में भेंट हो ही जाती है। राधा अपनी गायों का दूध कृष्ण से दुहाने आती हैं। दूध दुहते हुए कृष्ण राधा से प्रीति जोड़ते हैं। क्षीर-स्नाता राधा की मोहिनी छवि देखकर उनकी सखियाँ उसी रङ्ग में रङ्ग जाती हैं और सारे गृहकार्य से विरक्त हो

---

१—चतुर्भुजदास, [पद संग्रह] पद सं० १५८

२—सूरसागर, पद सं० १३१५

३—हरि गारुड़ी तहाँ तब आए।
यह बानी वृषभानु सुता सुनि, मन मन हरष बढ़ाए॥
धन्य धन्य आपुन कौं कीन्हौं, अतिहिं गई मुरझाइ।
तनु पुलकित रोमाञ्च प्रगट भए, आनन्द-अश्रु बहाइ॥
बिह्वल देखि जननि भइ व्याकुल, अंग विष गयौ समाइ।
सूर स्याम प्यारी दोउ जानत, अंतरगत कौ भाइ॥—सूरसागर, पद सं० १३७६

जाती हैं।[१] परकीया राधा को जटिला-सी सास और कुटिला-सी नन्द मिली हैं। कृष्ण से उनका मिलना खतरे से खाली नहीं है, फिर भी जब कृष्ण उन्हें सुबल के द्वारा बुलवाते हैं तब वह पुरुषवेश धारण कर कृष्ण के निकट अभिसार करती हैं। रूप, वय, वेश में वह सुबल की प्रतिमूर्ति जान पड़ती हैं, यहाँ तक कि कृष्ण भी उन्हें नहीं पहिचान पाते।[२]

कृष्ण के गोपियों से मिलनोद्यम की छद्मलीलायें—जिस प्रकार गोपियाँ कृष्ण से मिलने के लिए सौ बहाने ढूँढ़ लेती हैं, उसी प्रकार कृष्ण भी उन गोपियों से—विशेष कर राधा से मिलने के लिए नाना छद्मवेश धारण करते रहते हैं। राधावल्लभ एवं चैतन्य-सम्प्रदाय के साहित्य में कृष्ण का छद्मवेश धारण करना अत्यन्त रञ्जक रूप में वर्णित हुआ है। नाइन, मालिन, पंसारी, वणिकनी, चिकित्सक, सँपेरा तथा जादूगर आदि के वेश में कृष्ण राधा से मिलने जाते हैं। एक दिन कृष्ण मालिनी के वेश में राधा के घर फूलमाला का मूल्य करने लगे। कहने लगे, पहिले मैं तुम्हें सजा लूँ बाद में जितना मूल्य होगा दे देना। माला पहिनाने के छल से कृष्ण ने राधा का चुम्बन किया, राधा ताड़ गई कि यह मालिन कौन है?[३] चाचा वृन्दावनदास ने रास-छद्मविनोद के अन्तर्गत अनेक लीलाओं का वर्णन किया है। कृष्ण चितेरिन, सुनारिन, मनिहारिन, मालिन, बिसातिन, पटविन, बीनावाली, गन्धिन तथा रँगरेजिन आदि

---

१—धेनु दुहत, अतिहीं रति बाढ़ी।
एक धार दोहनि पहुँचावत एक धार जहाँ प्यारी ठाढ़ी॥
मोहन करतें धार चलति, परि मोहनि मुख अतिहीं छवि गाढ़ी।
मनु जलधर जलधार वृष्टि-लघु, पुनि पुनि प्रेमचन्द पर बाढ़ी॥
सखी संग की निरखति यह छवि, भई व्याकुल मन्मथ की डाढ़ी।
सूरदास प्रभु के रस बस सब, भवन काज तैं भई उचाढ़ी॥—सूरसागर, पद सं० १३५४

२—मझु मन संशय तुया मुख हेरि। एकलि सुवल आओल बुझि फेरि॥
तबहिं विरहजर अन्तर काँप। तैखने परशि गिटाउलि ताप॥—संकीर्तनामृत, पद सं० १५४

३—एक दिन मने रमसकाजे। माल्यानी हइला रसिक-राजे॥
फूल माला गांथि भुलाइ हाते। के निबे के निबे फूकरे पाथे॥
तुरिते आइला मानुर बाड़ी। राइ कहे कत लइबा कड़ि॥
माल्यानी लइया निभृते बसि। माला फूल करे ईषत हासि॥
माल्यानी कहे साजाइ आगे। पाछे दिया कड़ि यतेक लागे॥
एत कहि माला पराय गले। बदन चुम्बन करये छले॥
बुझिया नागरी धरिला करे। एत ढीटपना आसिया घरे॥
नागर कहये नहिं ये सय। चण्डीदास कहे कि कर तय॥—पदकल्पतरु, पद सं० ६३६

बनकर राधा के पास आते हैं। नीलमणि की चूड़ी बेचने निकलते हैं, उसे पहिनने लायक सिवाय राधा के और कोइ दूसरा उन्हें मिलता ही नहीं। कृष्ण, राधा के पास पहुँचाये जाते हैं। उनका रूप देखकर राधा चकित हैं—

चली जू झूमत झुकत सी बेंनी सरकत पीठ।
घूंट अमी को सो भरो जब मिली दीठि सो दीठि ॥१८॥
बहुत हँसी नव नागरी देखी परम अनूप।
कै बेचत चूरी सखी तू कै बेंचत है रूप ॥[1]

चूड़ी पहिनाते समय कृष्ण को रोमाञ्च हो आता है। राधा आश्चर्यचकित होकर पूछती हैं कि तुम्हारी देह कांप क्यों रही है ? कृष्ण का अनुराग और छलक आता है, उत्तर कौन दे ! राधा भी समझ जाती हैं कि मनिहारिन परम गुणवान् नन्द के पुत्र हैं।[2]

स्त्रियोचित कोमल रूप होने के कारण कृष्ण सरलता से विभिन्न प्रकार की स्त्रियों का रूप धारण कर लेते हैं और मथुरा से आने वाली ग्वालिन बन कर वह राधा के साथ अपना परिचय गाढ़ा कर लेते हैं।

कृष्ण वीणावाली बन कर सरोवर के तीर बाबा के बाग में अङ्क में वीणा लेकर बैठ जाते हैं। उनके अङ्गसुवास से वहाँ भौंरों की भीड़ हो जाती है और पक्षी कौतुक से ठगे-से रह जाते हैं। उस नीलमणि-वर्ण की तरुणी को देखने बरसाने की स्त्रियाँ वहाँ जाती हैं और उसे गुणग्राहिका, स्नेह की भूखी राधा के पास ले आती हैं। राधा के अनुरोध पर श्यामली बाला ने गौरी राग गाया, रीझकर वृषभानु कुंवरि ने उसे अपनी माला दे डाली और उससे कुछ दिन बरसाने ठहरने को कहा।

---

लीला—रासछद्मविनोद (हितवृन्दावनदास), पृ० सं० ३०६
१—मनिहारी सो कर गह्यौ शिर अरि कियौ प्रताप।
२—जबहीं कर थ जानि कै कछु मधुर कियौ अलाप ॥३२॥
तन गतिपेप चूरी कुँअरि भूल जु आई भेद।
तुम लायक प्यारी कहौ तेरी क्यों कोंपत देह ॥३३॥
निरखि निरखि ी बली उत्तर देय जु कौन।
सरस्यौ प्रेम छि ी लाल क्यों न गहैं मुख मौन ॥३४॥
रूप अगल तापै च हैं कै कोउ परस्यौ रोग।
ललिता कै यह प्रेम के सखी कौन दई संजोग ॥३५॥
जतन करौ तन देखि सुत मै देख्यो टकटोर।
परम गुनीलौ नन्द
अहो प्रिया प्रीतम बिना लि ऐसौ प्रेम न होय ॥३६॥—वही, पृ० सं० ३१०

सांवरी सखी को उज्ज्वल रजना में एकान्त में ले जाकर राधा गाना सुनने लगीं। तदुपरान्त स्वयं राधा ने वीणा लिया, किसी सङ्गीत गति में नवागता सखी इतनी विभोर हो उठी कि वह नन्दलाल की ताल पर नाचने लगी। त्रिभङ्गी मुद्रा में मुरली का भाव लेकर खड़ी हो गई और उसे राधा-राधा की रट लग गई। ललिता ताड़ गई, कान में चित्रा ने कहा कि यह तो नन्दकिशोर हैं।[1]

प्रेम का परिपाक व पूर्णता—कृष्ण अपनी ओर से कुछ ऐसी चेष्टाएँ करते हैं जिनसे गोपियाँ उनसे अधिक खुलती जाती हैं।

चीरहरण-लीला—चीरहरण लीला के द्वारा गोपियाँ कृष्ण के पर्याप्त निकट आ जाती हैं। उनका अन्तर्वाह्य कृष्ण के प्रणय से दीप्त हो जाता है, आवरणों का निवारण हो जाता है और वे स्वच्छन्द हो जाती हैं।

दानलीला—अभी देह का पूर्णरूप से पार्थिव स्तर पर कृष्ण को समर्पण नहीं मिला। जो भी अङ्ग-सङ्ग हैं, वह अन्तश्चेतना में अतीन्द्रिय जगत् का है, कृष्ण का स्पर्शानुभव मात्र है। अतएव प्रत्येक को अपने और निकट लाने के लिए कृष्ण दानलीला रचते हैं और स्पष्ट रूप से उनके यौवन का दान माँगते हैं। कृष्ण के प्रति समर्पण में शरीर त्याज्य नहीं है वरन् अपरिहार्य है। उन्हें गोपियों का अपने यौवन का व्यापार करना पसन्द नहीं है।[2]

इस दान में काफी बहस छिड़ जाती है। गोपियों और कृष्ण के बीच की रही सही दूरी भी समाप्त हो जाती है। अब वे दीन नहीं हैं। वे कृष्ण से बराबरी से प्रश्न करती हैं—

> कापर दान पहिरि तुम आए।
> चलहु जु मिलि उनहीं पै जैये जिनि तुम रोकन पन्थ पठाए।[3]

कृष्ण भी अब परीक्षा नहीं लेते। वे अपना अधिकार माँगते हैं—

> हमारो दान दे गुजरेटी।
> नित तू चोरी बेचत गोरस, आजु अचानक भेंटी।
> अति सतराति क्यों व छुटेगी बड़े गोप की बेटी॥[4]

किन्तु गोपियाँ कृष्ण की चुटकी लेती हैं। अब सत्वर आत्मसमर्पण नहीं है, परिहास और व्यङ्ग-विनोद भी उनको आ गया है। कृष्ण की प्रभुता का उन पर कोई प्रभाव

---

१—वीनावारीलीला, रासछद्मविनोद, पृ० सं० ३१६-३२२
२—सूरसागर, पद सं० २१४२
३—वही, पद सं० २१३०
४—कुम्भनदास, [पद संग्रह] ११

नहीं पड़ता, वे उनसे तर्क करती हैं और उनके आचरण की आलोचना भी। यहाँ तक कि कृष्ण को गोपियाँ निर्लज्ज एवं धूर्त भी कह डालती हैं, दानी महाशय को उपदेश देती हैं।[१] सूर की गोपियाँ कहती हैं—

तुम कमरी के ओढ़न हारे पीताम्बर नहिं छाजत।
सूर स्याम कारे तन ऊपर, कारी कामरि भ्राजत॥[२]

कृष्ण भी तिलमिला जाते हैं और गोपियों पर व्यङ्ग करते हैं—

मों सो बात सुनहु व्रजनारी।
इक उपखान चलत त्रिभुवन में, तुम सौं कहौं उघारी।
कबहूँ बालक मुँह न दीजिये, मुँह न दीजिये नारी॥
जोइ उन करैं सोइ करि डारैं, मूंड चढ़त हैं भारी।
बात कहत अठिलाति जात सब, हँसति देति कर तारी॥
सूर कहा ये हमकौं जानैं, छाँछहि बेंचन हारी॥[३]

कृष्ण के भौंह सिकोड़ कर हँसने पर गोपियाँ प्रश्न पर प्रश्न पूछने लगती हैं कि वे क्यों हँसे, उन्हें नन्द, यशोदा, बलदाऊ, सब की सौगन्ध दिलाने लगती हैं। गोपियों की इस खीझ पर कृष्ण की ओर से श्रीदामा बोल उठते हैं

श्रीदामा गोपिनि समुझावत।
हँसत स्याम के तुम कह जान्यौ, काहै सौंह दिवावत॥
तुम हू हँसो आपने संग मिलि, हम नहिं सौंह दिवावैं।
तरुनिनि की यह प्रकृति अनैसी, थोरिहि बात खिसावैं॥
नान्हें लोगनि सौंह दिवावहु, ये दानी प्रभु सब के।
सूरस्याम कौ दान देहु री, मांगत ठाढ़े कब के॥[४]

---

१—हे दे हे निलज कानाई, ना कर एतेक चातुराली।
जो ना जाने मानमता तार आगे कह कथा, मोर आगे वेकत सकलि॥
बकोदला गरु लैया चे लाज फेलिला घुइया, एबे हैला दानी महाशय।
कदम्ब-तला थाना राजपथ कर माना, दिने दिने बाढ़िल विषम॥
आन्धार-वरनकाल भूमेतें ना पड़े पा, कुल वधू सने परिहास।
ए ए रूप निरखिय आपना के चाओ देखि, आइ आइ लाज नाहि वास॥
—पदकल्पतरु, पद सं० १३०७

२—सूरसागर, पद सं० २१३५

३—वही, पद सं० २१३६

४—वही, पद सं० २१६१

किन्तु कृष्ण के प्रभु-रूप का गोपियों के आत्मदान पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अन्त में कामनृपति की दुहाई पर गोपियाँ कृष्ण की बात मान जाती हैं।

फिर लोक लाज की बेड़ी एकदम टूट जाती है और गोपियाँ रीती मटकी लेकर गोरस के स्थान पर 'गोपाल' बेचतीं फिरती हैं[१]। सोते-जगते केवल कृष्ण का ही ध्यान रहता है। घर में मन नहीं लगता। मर्यादा के वचन बाण के समान लगते हैं और माता-पिता की तनिक भी परवाह नहीं रह जाती। वे श्याम से मिलकर हल्दी-चूना की भाँति एक-रङ्ग हो जाती हैं[२]।

**रासलीला**—अब कौन उन्हें घर पर रोक सकता है। कृष्ण की वंशी सुन कर गोपियाँ रुक नहीं पातीं। वे लोक-लज्जा की परवाह न करके प्रेम-विह्वल होकर अस्त-व्यस्त ही कृष्ण के समीप दौड़ पड़ती हैं। किन्तु रास के पूर्व की उनकी स्थिति अत्यन्त ही दयनीय है। कृष्ण उनकी परीक्षा लेते हैं। वे उनसे लौट जाने का कपट उपदेश देते हैं और आर्यमर्यादा के प्रतिकूल रात को पर-पुरुष के पास आने के लिए उनकी भर्त्सना करते हैं। गोपियों में तर्क करने की भी शक्ति नहीं रहती। वे विवश और असहाय हो जाती हैं, बहस करने के स्थान पर दीन हो जाती हैं। यद्यपि बुलाने के लिए कृष्ण को दोषी ठहराती हैं किन्तु उससे अधिक अपनी विवशता प्रदर्शित करती हैं[३]। फिर गोपियों एव राधा से कृष्ण का संयोग घटित होता है। इस संयोग में लोक की

---

१—कोउ माई लैहै री गोपालहिं।
दधि कौ नाम स्याम सुंदर रस, बिसरि गयौ ब्रजबालहिं॥ —सूरसागर, पद सं० २२५७

२—लोक सकुच कुलकानि तजी।
जैसे नदी सिन्धु कौं धावत, वैसेहिं स्याम भजी॥
मातु पिता बहु त्रास दिखायौ, नैकु न डरी लजी।
हारि मानि बैठे, नहिं लागत, बहुतै बुद्धि सजी॥
मानति नाहिं लोक-मरजादा, हरि कैं रंग मजी।
सूरस्याम कौं मिलि चूनौं, हरदी ज्यौं रंग रजी॥ —सूरसागर, पद सं० २२८६

३—आस जनि तोरहु स्याम हमारी।
बेनु-नाद-धुनि-सुनि उठि धाईं, प्रगटत नाम मुरारी॥
क्यौं तुम निठुर नाम प्रगटायौ, काहैं बिरद भुलाने।
दीन जानु हम तैं कोऊ नाहीं, जानि स्याम मुसकाने॥
अपनैं भुजदंडनि करि गहियै, विरह सलिल मैं भासी।
बार बार, कुल धर्म बतावत, ऐसे तुम अविनासी॥
प्रीति वचन नौका करि, राखौ, अंकन भरि बैठावहु।
सूरस्याम तुम बिनु गति नाहीं, जुवतिनि पार लगावहु॥ —सूरसागर, पद सं० १६४७

समस्त बाधाओं तथा अन्तर के सारे अवरोधों के टूटजाने के कारण प्रगाढ़ सान्निध्य है, परस्पर संलग्नता है।[1]

रास के मिलन में स्निग्धता है, सङ्गीत की तरङ्गों में भावनाओं की झङ्कार है, आलोड़न है। गोपी और कृष्ण काया-छाया की भाँति बद्ध हो जाते हैं। अब उन्हें कोई विलग नहीं कर सकता।

फाग : वसन्तलीला—फिर तो वृन्दावन की भूमि में खुल कर फाग खेली जाती है। यशोदा के द्वार पर ही गोपियों का झुण्ड और सखाओं की टोली सहित कृष्ण का झुण्ड उच्छल वसन्त-विलास में सराबोर होने लगता है। मर्यादा का लेश भी नहीं रह जाता।

> रूप रस छाक्यो कान्ह करत न काहु की कानि।
> नेह लगाइ करत बरजोरी रहत अचानक जानि॥
> ले गुलाल मुख पर डारत फिरि फिरि चितवत तन आन।
> गोविंद प्रभु सबहिन ते मेरो अंचरा पकर्यो आन॥[2]

इस अनुराग की अरुणिमा ने वृन्दावन के तरु, लता, फूल, पशुपक्षी, नदी सब को रञ्जित कर दिया है[3]। सूर-सारावली में सारी सृष्टि को ही कृष्ण की फाग-क्रीड़ा के रूप में चित्रित किया गया है।

## विरह : मथुरा-गमन

प्रेम के उन्मत्त विलास के उपरान्त विरह आकर उपस्थित हो जाता है। अक्रूर, कृष्ण को मथुरा की रङ्गभूमि में ले जाने के लिए व्रज की क्रीड़ा-भूमि में पदार्पण करते

---

१—विलसई रासे रसिक वरनाह। नयने नयने कत रस निर्वाह॥
दुहुं वैदगधि दुहुं हिये हिये लाग। दुहुक मरम पैठे दुहुंक सोहाग॥
दुहुंक परश-रसे दुहुं भेल भोर। वोलाइते वयने उगये नाहि वोल॥
पूरल दुहुंक मनोरथ-सिन्धु। उछलित भेल तहिं स्वेद-बिन्दु॥
दुहुंक परशु-रसे दुहुं उमलाय। ज्ञानदास कह मदन सहाय॥
—पदकल्पतरु, पद सं० १२६४

२—गोविन्दस्वामी —[पद संग्रह] पद सं० २१६

३—फागु खेलाइते फागु उठिल गगने। वृन्दावन तरुलता रातुल वरने॥
रांगा मयूर नाचे काछे रांगा कोकिल गाय। रांगा फूले रांगा भ्रमर रांगा मधु खाय॥
रांगा माये रांगा। हैल कालिन्दीर पानी। गगन भुवन दिग विदिग न जानि॥
रति जय रति जय द्विजकूल गाय। ज्ञानदास चित नयन जुड़ाय॥
—पदकल्पतरु, पद सं० १४५१

हैं। गोपियों के कुछ समझ में ही नहीं आता कि यह क्या हो रहा है। वे ठगी-सी खड़ी रह जाती हैं[1]। इस अपार दुःख के क्षण में कृष्ण का समता दिखाना और भी खल जाता है। उनके मुख पर इस विच्छेद की पीड़ा का चिह्न तक नहीं। चलते समय उन्होंने मुड़ कर देखा भी नहीं—'चलतहुं फेरि न चितये लाल'। किन्तु फिर भी वे कृष्ण को दोष न देकर अपने को ही दोषी ठहराती हैं —'हरि बिछुरत फाट्यो न हियो...भयौ कठोर वज्र तें भारी, रहि के पापी कहा कियो[2]'। हिन्दी साहित्य में गोपियों की आर्त्त-दशा के चित्रण में राधा का वर्णन नहीं मिलता, कदाचित् उनके दुःखातिशय के कारण। और न ही कृष्ण चलते समय उन्हें प्रबोधन देने आते हैं। किन्तु बङ्गला-काव्य में इस स्थल पर राधा की अवस्था एक दूती जाकर कृष्ण से निवेदित करती है कि आपके मधुपुरी जाने की बात सुनकर राधा चम्पक माला बनाना छोड़ कर मूर्च्छित हो गई हैं। दूती का वचन सुन कर विदग्ध माधव, कुञ्ज में जाकर राधा से मिलते हैं और राधा को समझाते-बुझाते हैं[3]। किन्तु फिर भी जब राधा को धैर्य नहीं बँधता तब कृष्ण यह आश्वासन देते हैं कि वह मथुरा नहीं जायेंगे। प्रेम का यह कोमल मर्मस्थल ब्रजभाषा-काव्य में किसी ने भी नहीं छुआ। गोपी-प्रेम की तीव्रता अङ्कित करने में कृष्ण की कोमलता सभी ने विस्मृत कर दिया।

कृष्ण, अक्रूर के साथ रथ पर बैठ कर जाने लगते हैं। कृष्ण के मथुरागमन के समय गोपियाँ हतबुद्धि हो जाती हैं, चित्रवत्-सी रह जाती हैं। उनके हृदय को जैसे पाला मार जाता है। सारी चेष्टाएँ पङ्गु हो जाती हैं। बङ्गला-साहित्य के राधा में कुल-शील का कोई संयम प्रदर्शित नहीं किया गया है। राधा कभी रोती-रोती धरती पर लुण्ठित होने लगती हैं, कभी रथ के आगे गिरती हैं, कभी दशन में तृण पकड़ कर बलराम के सम्मुख अपनी दीनावस्था प्रकाशित करने लगती हैं। राधा की इस दशा को देख कर सभी का मन करुणार्द्र हो उठता है[4]। इस प्रेमोच्छलन में संयम का

---

१—सूरसागर, पद सं० ३५७६।

२—वही, पद सं० ३६२४।

३—पदकल्पतरु, पद सं० १६१८।

४—खेने धनि रोइ रोइ खिति लूठत, खेने गीरत रथ आगे।
खेने धनि सजल नयन हेरि हरि मुख, मानइ करम, अभागे॥
देख देख प्रेमक रीत, करुणा सागरे विरह-वियाधिनि डुबाउल सबजन चीत॥ ध्रु०॥
खेने धनि दशनहिं तृण धरि कातरे, पइलहि राम समूखे॥
शिवराम दास गाप नादि फूरये, भेल सकल मन दूखे॥
—पदकल्पतरु, पद सं० १६२६

अभाव अवश्य खटक जाता है। कृष्ण चले जाते हैं। कृष्ण के मथुरा चले जाने पर गोपियों की चित्तवृत्तियों का जितना मार्मिक एवं मनोवैज्ञानिक अङ्कन हिंदी व्रजभाषा-काव्य में हुआ है, उतना वङ्गला-काव्य में नहीं। वहाँ भवन-विरह के अन्तर्गत परम्परा-गत परिपाटी के अनुसार विरह की दशाओं एवं द्वादश-मासिक विरह का साङ्गोपाङ्ग वर्णन हुआ है, यद्यपि इन प्रसङ्गों में अपनी भाव-विदग्धता भी है। भ्रमरगीत का कोई विस्तृत प्रसङ्ग वहाँ नहीं है, केवल दो तीन पद इस प्रसङ्ग में मिल जायेंगे। कृष्ण की ओर से दूत-प्रेषण के स्थान पर राधा की ओर से दूती का मथुरा जाना वर्णित है। उसके द्वारा सन्देश भेजने के भी कुछ पद हैं।

*दीनता, निराश्रयता, खिन्नता*—मथुरा जाने पर गोपियों का रागरङ्ग सब मिट जाता है। जीवन में अब कोई उल्लास और उत्साह नहीं है। जहाँ-जहाँ हरि ने क्रीड़ा की थी, उन्हीं स्थलों में उन्मादिनी होकर गोपियाँ उन्हें खोजती-फिरती हैं। उन्हें अपनी सुध-बुध तक विसर गई है—

> केते दिन भये रैन सुख सोये।
> कछु न सुहाइ गोपालहिं बिछुरे रहे पूंजी सीखोये॥
> जबतें गए नन्दलाल मधुपुरी चीर न काहू धोये।
> मुख संवारे नैन नहिं काजर विरह सरीर बिगोये॥
> ढूंढत घाट घाट बन परबत जहँ जहँ हरि खेल्यौ।
> 'परमानन्द' प्रभु अपनो पीताम्बर मेरे सीस पर मेल्यो॥[१]

कृष्ण के विरह में गोपियाँ अत्यन्त दीन एवं असहाय हो जाती हैं। कृष्ण की ओर से कोई आश्वासन न मिलने के कारण उनकी स्थिति और भी दयनीय हो जाती है। कृष्ण का मौन देख कर गोपियाँ अत्यन्त खिन्न हो जाती हैं। कितनी दूर मथुरा है? कृष्ण का संदेश भेजना भी दुर्लभ हो गया! उनकी निष्ठुरता पर व्यङ्ग करती हुई गोपियाँ कहती हैं—

> लिखि नहिं पठवत हैं द्वै बोल।
> द्वै कौड़ी के कागद मसि कौ, लागत है बहु मोल?
> हम इहि ओर स्याम पैले तट, बीच विरह कौ जोर।
> सूरदास प्रभु हमरे मिलन कौं, हिरदै कियौ कठोर॥[२]

---

१—परमानन्द सागर, पद सं० ५२१।
२—सूरसागर, पद सं० ३८७१।

**विक्षोभ, ईर्ष्या**—वस्तुतः कृष्ण की ओर से यह अवज्ञा देश की दूरी के कारण नहीं, हृदय की दूरी के कारण है। अवश्य ही उनका मन अन्य किसी में रम गया है। यहाँ तो गोपियों को विरह में चन्द्र भी तप्त लगता है, वहाँ कृष्ण ने नया प्रेम करना आरम्भ कर दिया है[१]।

अब कृष्ण क्यों गाँव लौट कर आवें ? वे तो मधुवन के नागरिक बन गये ! वहाँ जाकर सीधा, सरल आचरण भूल गये, उन पर नया रङ्ग छा गया[२]। चिकनिया भी हुए तो किसका सङ्ग किया—कुब्जा का ! कुब्जा से गोपियों को ईर्ष्या होती है और कृष्ण पर हँसी आती है। वे हँसती हैं कि जिन नटनागर ने गोपियों का तन-मन प्राण हर कर फिर उन्हें नहीं दिया, वेही कुब्जा से छले गये[३]।

**वितर्क, ग्लानि**— गोपियाँ क्या जानती थीं कि कृष्ण ऐसे निकलेंगे। उन्होंने तो उनकी इतनी सेवा किया, अपने जाति, कुल, नाम, सब पर कलङ्क लगाया, किन्तु कृष्ण अपने काम के वशीभूत हैं[४]।

---

१—दिन दिन तोरन लागे नातो।
मथुरा बसत गोपाल पियारो, प्रेम कियो हठि हातो॥
इतनी दूर जु आवत नाहिन, मन औरे ठाँ रातो।
मदनगोपाल हमारे ब्रज की, चालत नाहिन बातो॥
विरह विथा अब जारन लागी, चन्द भयौ अब तातो।
'परमानंद' स्वामी के बिछुरे, भूलि गई अब सातौ॥ —परमानन्द सागर, पद सं ५२२

२—स्याम विनोदी रे मधुबनियां।
अब हरि गोकुल काहे कौं आवत, भावत नव जोबनियां॥
वे दिन माधो भूलि गये जब, लिए फिरावति कनियां।
अपनैं कर जसुमति पहिरावति, तनक कांच की मनियां॥
दिना चारि तैं पहिरन सीखे, पट पीताम्बर तनियां।
'सूरदास' प्रभु वाकें बस परि, अब हरि भए चिकनियां॥
—सूरसागर, पद सं० ३६६६

३—घरु उन कुबिजा भलौ कियौ।
सुनि सुनि समाचार ये मधुकर, अधिक जुड़ात हियौ॥
जिनके तन मन प्रान रूप गुन, हर्यौ सु फिरि न दियौ।
तिन अपनौ मन हरत न जान्यौ, हंसि हंसि लाग जियौ॥ —सूरसागर पद, सं० ४२५७

४—सूरसागर, पद सं० ३८०६।

विवश प्रेम अपना ही दोष मान लेता है। कृष्ण ने कपटजाल बिछाकर उन्हें अपने प्रेम के वशीभूत किया —'प्रीति करि दीन्ही गरें छुरी', और अन्त में उन्हें तड़पता छोड़ कर चले गये। किन्तु यह धोखा तो गोपियों को पहिले ही समझ लेना चाहिए था। अन्ततः कृष्ण परदेशी ही तो ठहरे! परदेशी की प्रीति पर विश्वास करना भी तो अपनी ही मूर्खता है[१]। एक बार मिलकर बिछुड़ने की वेदना असहनीय होती है। विधाता ने भी प्रेम को कैसा बनाया है! आखिर यह प्रेम उत्पन्न ही क्यों हुआ, जन्म होते ही क्यों न मृत्यु हो गयी! विरह की मरणासन्न अवस्था से तो जन्म लेते ही मर जाना अच्छा था —'मिलि बिछुरन की वेदन न्यारी'। दोष कृष्ण का है, प्रेम का पोषण ही इन्होंने क्यों किया यदि उन पर इस प्रकार कुठाराघात करना था? यदि आरम्भ में ही वह बढ़ावा न देते तो इस प्रकार गोपियाँ मर्माहत क्यों होतीं[२]? गोपियों की दशा विचित्र है, घर-बाहर सभी से वह तिरस्कृत हैं, उस पर से कृष्ण की ओर से भी उपेक्षा! वैरियों को उपहास करने का अच्छा अवसर मिल गया। आखिर वे क्या करें?—

> अब हौं कहा करौं री माई।
> नंद-नंदन देखें बिनु सजनी, पल भरि रह्यो न जाई॥
> घर के मात पिता सब त्रासत, इहिं कुल लाज लजाई।
> बाहर के सब लोग हंसत हैं, कान्ह सनेहिनि आई॥[३]

'कान्ह सनेहिनि आई' में गोपियों की विवशता पर लोगों का कितना कूट-व्यङ्ग छिपा है।

अब वे प्रीति को ही कोसने लगी हैं, इस दुर्दशा से तो अच्छा था कि वह कृष्ण से प्रीति ही न करतीं। प्रीति करके किसी को कभी सुख नहीं मिला। वे बार-बार पछताती हैं कि मत्र जानते हुए भी उन्होंने कृष्ण से क्यों स्नेह जोड़ा। पतङ्ग प्रीति करता है तो अग्नि में अपना प्राण-दग्ध कर देता है, भौंरा कमल में बंध

---

१—सूरसागर, पद सं० ३८११।

२—हरि हम तब काहे कौं राखी।

> जब सुरपति ब्रज बोरन लीन्हौं, दियौं क्यौं न गिरिनाखी॥
> तौ हमकौं होतीं कत यह गति, निसि दिन मरपति भाँखी।
> सूरदास यौं भई फिरति ज्यौं, मधु टूटे की माखी॥

—सूरसागर, पद सं० ३८२८

३—सूरसागर, पद सं० ३८१६।

कर निर्जीव हो जाता है और हरिण नाद के वशीभूत होकर अपना प्राण विसर्जित कर देता है। ऐसी ही दशा गोपियों की हो गयी है[१]। गलती उन्हीं की है जो जानबूझ कर यह पीड़ा पाली। एक पल के सुख के लिए जीवन भर का दुख उठा लिया[२]।

**स्मृति, त्रास, कटुता**—किन्तु अब कोई उपाय नहीं है। एकबार जो कृष्ण के मोहक जाल में फँस गया वह छूट ही कैसे सकता है ? सिवाय विवशता के अब कुछ नहीं रहा। इधर अन्तर की व्याकुलता, उधर कृष्ण की ओर से सन्नाटा। ऐसी दशा में पिछली स्मृतियाँ उमड़ कर मन की वेदना को और भी तीव्र कर देती हैं। सारी ऋतुएँ एक के बाद एक पूर्ववत् आती-जाती हैं, किन्तु अब उनकी प्रतिक्रिया कृष्ण के अभाव में बिल्कुल बदल गयी है। जिस वर्षा में भींगकर कृष्ण के साथ हिंडोला झूलीं थी, वह अब उन्हें त्रसित कर रही है। ऋतुओं का उल्लास उनसे सहा नहीं जाता। वे पपीहा को चुप कराना चाहती हैं, मोर का नाचना बन्द करवा देने को कहती हैं। सारी ऋतुएँ उन्हें और ही लगने लगी हैं[३] ? सब से अधिक कष्ट वर्षा-ऋतु के आगमन पर होता है।[४]

---

१—सूरसागर, पद सं० ३६०७।

२—प्रीति तौ काहू सौं नहिं कीजै।
बिछुरें कठिन परै मेरी आली, कहौ कैसे करि जीजै॥
एक निमिष या सुख के कारन, युग समान दुख लीजै।
'परमानन्द' प्रभु जानि बूझ कै, कहो कि विषजल क्यों पीजै॥

—परमानन्द सागर, पद सं० ५५५

३—सबै रितु औरै लागति आहि।
सुनि सखि वा ब्रजराज बिना सब, फीकी लागत चाहि॥

—सूरसागर, पद सं० ३६९४

४—सजनी तेजलु जिवन क आश।
दारुण बरिखा जिउ भैल अन्तर, नाह रहल परवास॥ ध्रु०॥
बादर दर दर नाहि दिन अवसर, गरगर गरजे घटा।
अनिल हिलोल घनघोर ये यामिनि, झलकत तड़ित छटा॥
घन घन निस्वर डाहुक डाहुकिगण, चातक पिउ पिउ नीरे।
शिखण्ड मण्डल कामे कामाकुल, निराघात शबद करे॥

—पदकल्पतरु, पद सं० १७३५

यद्यपि वर्षा से गोपियों का विरह और अधिक उद्दीप्त होता है किन्तु उसमें प्रेमी का गुण पाकर वे उसकी सराहना भी करती हैं और कहती हैं कि अपनी अवधि जान कर बादल फिर लौटकर आए तो! किन्तु घनश्याम तो मधुपुरी जाकर छा ही रहे। जो जन वर्षा की प्रतीक्षा में थे उन्हें बादलों ने जीवन-दान तो दिया, किन्तु कृष्ण अपनी अवधि ही भूल गए और गोपियों को भी। बादल तो बहुत दूर बसते हैं—सुरलोक में, और वह भी इन्द्र के अधीन होकर। पर कृष्ण तो स्वतन्त्र है और पास ही, फिर भी नहीं आए[१]।

किन्तु गोपियाँ कृष्ण को जितना निष्ठुर समझती हैं उतने निष्ठुर वे हैं नहीं। उद्धव से वह गोकुल की प्रीति की चर्चा करते हैं और उनके द्वारा सन्देश भी भेजते हैं। किन्तु सन्देश प्रेम का न भेज कर योग का भेजते हैं। योग का सन्देश उद्धव को प्रेम की महत्ता अनुभव कराने के लिए भेजते हैं, किन्तु गोपियाँ क्या जानें? वे समझती हैं कि कृष्ण ने एक और निष्ठुरता की। उनकी आखें तो साँवले रूप की भूखी हैं और कृष्ण ने उन्हें योग का रूखा चार्ट भेज दिया। यदि कृष्ण स्वयं उस पर आचरण करते तब भी कोई मानता—करनी कुछ, कथनी कुछ। स्वयं तो रस-लम्पट बने विलास कर रहे हैं और युवतियों को भस्म रमाने का उपदेश भेजते हैं। ऐसी बातों पर कौन विश्वास करता है[२]।

गोपियाँ और कटु हो जाती हैं। कृष्ण की रस-लोलुपता पर व्यङ्ग करते हुए उनके रङ्ग तक पर आक्षेप करती हैं। कहती हैं, वे तन से काले तो हैं ही, मन से भी काले निकले। अन्ततः वे कृतघ्न ही ठहरे। कृष्ण का रूप, वचन, कर्म, सभी कुछ काला निकला। कृष्ण की भर्त्सना करते रहने पर भी उद्धव ज्ञान का उपदेश दिये चले जाते

---

१—बरु ए बदरौ बरसन आए।—
अपनी अवधि जानि नन्द नन्दन, गरजि गगन घन छाए॥
कहियत हैं सुरलोक बसत सखि, सेवक सदा पराए।
चातक पिक की पीर जानि कै, तेउ तहाँ तैं धाए॥
द्रुम किए हरित हरषि बेली मिलीं, दादुर मृतक जिवाए।
साज निविड़ नीड़ सचि सचि, पंछिनहूँ मन भाए॥
समुझति नहीं चूक सखि अपनी, बहुतै दिन हरि लाए।
सूरदास प्रभु रसिक सिरोमनि, मधुवन बसि बिसराए॥
—सूरसागर, पद सं० ३९२७

२—सूरसागर, पद सं० ४६००।
३—वही, पद सं० ४३८०।

हैं। गोपियों की स्थिति कटुता को पहुँच चुकी है। इस लपेट में उद्धव भी आजाते हैं। वे उनका खुलेआम उपहास करती हैं, उपहास ही नहीं गाली-सी भी दे देती हैं।[1]

**प्रेम-विवशता**—विरह के अतिरेक के कारण गोपियों में आक्रोश या तर्क उतना नहीं रह गया है जितनी विह्वलता और कातरता। कृष्ण बदल गये तो क्या, गोपियों का अनुराग पूर्ववत् है। कृष्ण के सिवाय उनके लिए संसार में और कोई आराध्य नहीं है। कृष्ण का मन नये नेहों में फँसकर दस-बीस हो सकता है किन्तु गोकुल में तो सब गोपाल के ही उपासक हैं[2]। कृष्ण के अभाव में उनका जीवन अत्यन्त शिथिल एवं निरर्थक है, फिर भी निःस्वार्थ प्रेमिकाओं की यही अभिलाषा है कि चाहे कृष्ण आवें या न आवें, वे जहाँ भी रहें चिरायु हों। उनकी यही अनन्यता, केवल मात्र कृष्ण से प्रेम करने की यह विवशता, उद्धव जैसे नीरस ज्ञानी को भी विचलित कर देती है और वे कृष्ण के सम्मुख जाकर गोपियों की मर्म-वेदना का अनुभूति-सिक्त चित्र अङ्कित करते हैं।

## पुनर्मिलन

कर्मक्षेत्र के नाना कर्तव्यों का सम्पादन करके जब कृष्ण को व्रजवासियों की सुधि आती है तब वे एक बार उनसे मिलने चलते हैं। वह कुरुक्षेत्र से लौटते हुए ग्वाल-गोपियों से मिलने आते हैं किन्तु महाराजा के वेश में और महारानी रुक्मिणी के साथ। इस स्थल पर गोपियों का मनोभाव द्रष्टव्य है। उन्हें रुक्मिणी से कोई ईर्ष्या नहीं होती, न ही रुक्मिणी को उनसे। विशेष कौतूहल से रुक्मिणी कृष्ण से पूछती हैं कि इन गोपियों में उनके बालपन की जोड़ी राधिका कौन है? कृष्ण के राधा को दिखाने पर दोनों परस्पर ऐसी भेंटीं जैसे एक ही पिता की बेटियाँ हों।

---

१—ऐसे जन बेसरम कहावत।
सोच विचार कछू इनकै नहिं, कहि डारत जो आवत॥ —सूरसागर, पद सं० ४१४४

२—ऊधौ मन न भये दस बीस।
एक हुतौ सो गयो स्याम संग, को अवराधै ईस॥
इन्द्री सिथिल भई केसव बिनु, ज्यौं देही बिनु सीस।
आसा लागि रहति तन स्वासा, जीवहिं कोटि बरीस॥
तुम तौ सखा स्याम सुन्दर के, सकल जोग के ईस।
सूर हमारे नन्द नन्दन बिनु, और नहीं जगदीस॥ —वही, पद सं० ४३४५

कृष्ण को देखकर गोपियों का सारा रोष वह जाता है, बल्कि कृष्ण के आने पर वह कृतज्ञता से भर जाती हैं[१]। राधा माधव मिल कर कीट-भृङ्ग की भाँति तद्रूप हो जाते हैं। राधा-कृष्ण का मिलन आध्यात्मिक सङ्केत से भरपूर है। उनके मिलन में व्रज-लीला की नित्यता इङ्गित है[२]।

समृद्धिमान् सम्भोग के अन्तर्गत गौड़ीय-साहित्य में राधा-कृष्ण के पुनर्मिलन का अत्यन्त विस्तृत वर्णन है। प्रवासी कृष्ण के आने के पूर्व राधा के मन में विरोधी विचार उठते हैं। कभी वह सोचती हैं कि कृष्ण को पाकर अचिरात् सारी सा॰ पूरी करेंगी, अपनी व्यथा की कथा कहेंगी, और कभी सोचती हैं कि वह उनकी भर्त्सना करेंगी। जब कृष्ण उनके भवन में आवेंगे तो उन्हें दूर रहने का वे आदेश देंगी। इस प्रकार का अन्तर्द्वन्द्व अत्यन्त स्वाभाविक रूप से चित्रित हुआ है। कभी वह स्वागत करने को सोचती हैं, कभी ताड़ना देने को[३]। इतने में सखी आकर कृष्ण के आगमन की सूचना देती है। सूचना मिलते ही राधा मान-कोप सब भूल कर कृष्ण के प्रेम में रङ्ग जाती हैं। इतने दिन के बाद संयोग होने पर उनकी ॰र चेष्टा किसी दुर्लभ वस्तु की प्राप्ति जैसी होती है।[४]

---

१—हमतौ इतनै ही सचु पायौ।
सुन्दर स्याम कमल दल लोचन, बहुरौ दरस दिखायौ॥
कहा भयो जो लोग कहत हैं, कान्ह द्वारिका छायौ।
सुनिकै बिरह दसा गोकुल की, अति आतुर है धायौ॥ —सूरसागर, पद सं० ४९१५

२—राधा माधव माधव राधा, कीट भृंग गति ह्वै जु गई।
माधव राधा के रंग रांचे, राधा माधव रंग रई।
राधा माधव प्रीति निरंतर, रसना करि सो कहि न गई।
बिहंसि कह्यौ हम तुम नहि अन्तर, यह कहिकै उन ब्रज पठई।
सूरदास प्रभु राधा माधव, ब्रज बिहार नित नई नई॥ —वही, पद सं० ४९११

३—जबहुं पिया मझु भवने आउब, दूरे रहु मुझे कहि पठाउब।
सकल दूखन तेजि भूखन, समक लाजब रे॥
लाज नवि मवे निकट आउब, रसिक भज-पति हिये सम्भायब।
काम-कौशल कोप-काजर, तबहुं राजब रे॥
कबहुं दुहु मेलि संगि गाउब, कबहुं कर गहि कंठे लाउब।
कबहुं कैतव-कोप किये रस, राखि रूसब रे॥ —पदकल्पतरु, पद सं० १९८३

४—अधर सुधा रसे लुबधक मानस, तनु परिरम्भन चाह।
मुख अवलोकने अनिमिख लोचने, कैछे होयत निरवाह॥
देखि सखि राधा-माधव-प्रेम, दुलह रतन जनु दरशन मानइ,
परशन गांठिक हेम॥ ध्रु०॥
मधुरिम हास-सुधारस वरिखने, गदगद रोवय भाष।
चिर दिने मिलन लाख-गुन निधुवन. कहतहिं गोविन्ददास॥ —वही, पद सं० १९८८

# कला-पक्ष

## कला-पक्ष

### शैली

शैली के प्रमुख रूप हैं—आख्यान, मुक्तक (पद)।

वर्णन-प्रधान आख्यानशैली, व्रजभाषा-काव्य में लीलाओं की पुनरावृत्ति में मिल जाती है; किन्तु वङ्गला में चैतन्य महाप्रभु पर लिखे गए चरितकाव्य के अतिरिक्त आख्यानशैली का व्रजबुलि-काव्य में अभाव है। वङ्गला-काव्य की प्रमुख अभिव्यञ्जना पद-शैली में ही हुई है। वस्तुतः कृष्ण-काव्य की पदशैली परवर्ती गीतिकाव्य की भाँति केवल भावात्मकता से ही नहीं पहिचानी जाती, उसमें वर्णन की भी प्रचुरता है। वह गेयात्मक अवश्य है, किन्तु विशुद्ध भावात्मक नहीं। वङ्गला-काव्य में चैतन्य-चरितामृत आख्यानशैली का सबसे प्रमुख नमूना है।

**आख्यान-शैली और उसके छन्द**—चैतन्य चरितामृत वङ्गला के प्रसिद्ध छन्द, चौदह अक्षरों के अक्षर-वृत्त पयार में लिखा गया है—

> **कृष्ण भक्तिर बाधक यत शुभाशुभ कर्म्म।**
> **सेइ एक जीवेर अज्ञान तमोधर्म्म॥**
> **जाहार प्रसादे एइ तमः हय नाश।**
> **तमः नाश करि करे तत्वेर प्रकाश॥**
> **तत्ववस्तु-कृष्ण, कृष्णभक्ति प्रेम रूप।**
> **नाम संकीर्तन सब आनन्दस्वरूप॥**[1]

यद्यपि मात्रिक छन्दों का भी व्रजबुलि-काव्य में उपयोग हुआ है तथापि वे पदों में ही प्रयुक्त हुए हैं; किसी आख्यान के प्रसङ्ग में नहीं। इस दृष्टि से वङ्गला के व्रजबुलि-साहित्य में आख्यानशैली अति विरल है।

अपेक्षाकृत व्रजभाषा-काव्य में आख्यानशैली का कुछ अधिक प्रयोग हुआ है। वैसे पदशैली की प्रभावात्मकता के सम्मुख कृष्ण-काव्य की अन्य शैलियाँ परास्त-सी हैं, फिर भी कुछ कवियों की रचनाओं में लीलावर्णन के प्रसङ्ग में आख्यानशैली के सुन्दर उदाहरण मिल जाते हैं। शैली में वर्णनात्मकता तो है ही, कवि की भावना

---

१—आदिलीला, प्रथम परि०, पृ० ७ (चैतन्यचरितामृत)।

के विशेष मेल होने के कारण तथा सङ्गीत की अन्तर्धारा से उसमें एक स्निग्धता भी आ गयी है। चैतन्यचरितामृत की आख्यानशैली की वर्णनात्मकता में तथ्य-निरूपण एवं तत्त्वचिन्तन की अधिक प्रवृत्ति है। महाप्रभु एवं उनके सहचरों के व्यक्तित्व के प्रति सम्भ्रम-मिश्रित भावुकता कहीं-कहीं प्रवाहित हुई है, किन्तु कुल मिलाकर उसमें आवेग का अभाव है; शैली चलती हुई है, किन्तु शुष्कप्राय है। इसके विपरीत हिन्दी की आख्यानशैली में कृष्ण की ललित लीलाओं की प्रधानता होने के कारण वर्णनात्मकता के साथ ही भावात्मकता का भी यथेष्ट समावेश हो गया है—दानलीला, रासलीला, चीरहरण-लीला आदि ऐसे ही प्रसङ्ग हैं। हाँ, असुर-संहार या देवदर्प-दलन आदि के प्रसङ्गों में कृष्ण के ऐश्वर्यरूप की प्रधानता होने के कारण कवि की वृत्ति रमती नहीं, वह चलते ढङ्ग से वर्णन कर देता है। 'भागवत' के अनुवाद में व्रजभाषा की आख्यानशैली पर्याप्त रूप से शुष्क है, उसमें जैसे-तैसे भागवत की कथा कह दी गई है।

हिन्दी की आख्यानशैली में प्रयुक्त होनेवाले छन्दों में से प्रमुख छन्द चौपाई, चौपई, चौबोला, रोला और दोहा हैं। इनके साथ सोरठा और छप्पय की भी सङ्गति कहीं-कहीं पर कर दी गयी है। आख्यानशैली में प्रमुख योग नन्ददास, सूरदास, ध्रुवदास, वृन्दावनदास तथा कुछ अंशों में हरिव्यास देव जी का है।

**चौपाई, चौपई, चौबोला**—चौपाई, चौपई और चौबोला के मिश्रण से कई कथात्मक प्रसङ्ग वर्णित हुए हैं। सूरसागर के भागवत-अनुवाद-प्रसङ्ग में यह मिश्रण द्रष्टव्य है। सप्तम-स्कन्ध में नृसिंहावतार के वर्णन में चौपाई, चौबोला और चौपई का मिश्रण है।

नरहरि नरहरि सुमिरन करो। नरहरि पद नित हिरदय धरो॥ —चौबोला
नरहरि रूप धर्‌यौ जिहिं जाइ। कहौं सो कथा सुनौ चित लाइ॥ —चौपई
हिरनकसिप सौं छिति कह्यौ आइ। भ्राता-बैर लेहु तुम जाइ॥ —चौपई
हरि जब हिरन्याच्छ कौं मार्‌यौ। बसन अंग्र पृथ्वी कौं धार्‌यौ॥ —चौपाई
हिरनकसिप दुःसह तप कियौ। ब्रह्मा आइ दरस तब दियौ॥ —चौबोला

गोविन्दस्वामी ने गोवर्द्धनधारण के प्रसङ्ग में इसी प्रकार का प्रयोग किया है—

व्रज में एक बड़ो है गाम। गोकुल कहियत जाको नाम॥ —चौपई
नंद महरि जहां कहियत राजा। मिलि बैठे सब गोप समाजा॥ —चौपाई
इन्द्र जग्य की बातें कहीं। श्रीहरि अपने मन में लहीं॥ —चौबोला
बैठे माइ पिता की गोद। देखत श्रीमुख भयो प्रमोद॥[1] —चौपई

---

१—गोविन्दस्वामी, [पद-संग्रह] पद सं० ७०।

**चौपाई-दोहा, सवैया**—केवल चौपाई छन्द में भी अनेक प्रसङ्गों का अवतरण हुआ है—जैसे सूरसागर में दूसरी चीरहरणलीला, यमलार्जुनोद्धारलीला (दूसरी), श्रीधर अङ्ग-भङ्ग, गोवर्द्धन की दूसरी लीला, उद्धव-गोपी संवाद, दशमस्कन्ध के आरम्भ में कृष्ण-जन्म का वर्णन आदि। यथा—

आदि सनातन, हरि अविनासी। सदा निरन्तर घट-घट वासी।
अगम अगोचर लीलाधारी। सो राधा बस कुंज बिहारी॥
बड़ भागी वे सब ब्रजवासी। जिनकें संग खेलें अविनासी॥
जा रस ब्रह्मादिक नहिं पावैं। सो रस गोकुल गलिनि बहावैं॥
सूर सुजस कहि कहा बखानै। गोविंद की गति गोविंद जानै॥[1]

चौपाई के साथ दोहा मिलाकर ध्रुवदास ने 'वैद्यक-ज्ञान-लीला' लिखा है—

वैद्य एक पंडित अति भारी। ठाढ़ो सब सों कहत पुकारी॥
जैसो रोग होइ हैं जाको। तैसी औषधि दे हौं ताको॥
जिनको हौं समुझत हौं अपने। तेतो भये रैनि के सपने॥
गज तुरंग सेवक सुत नारी। जागि परे ते बिया न बारी॥

दोहा एते पर समुझो रह्यो, समुझत नहिं मन मोर।
देखि-देखि नाचत मुदित, विषं बादरनि ओर॥[2]

रसमुक्तावलीलीला, ब्रजलीला, निर्त्तविलासलीला में भी यही छन्द व्यवहृत हुआ है।

चौपाई के साथ सवैया का योग भी ध्रुवदास की रचनाओं की विशेषता है। रसहीरावलीलीला दोहा और चौपाई के मिश्रण से लिखी गयी है किन्तु अन्त में ऋतुवर्णन में सवैया, चौपाई तथा दोहा का क्रम कर दिया गया है।

**रोला : दोहा**—नन्ददास के आख्यानककाव्य में रोला छन्द का विशेष प्रयोग हुआ है। रोला के साथ दोहा मिश्रित छन्द में वर्णित प्रसङ्ग अत्यन्त लोक-प्रिय है। इस रोला-दोहा छन्द में विशेष उल्लेखनीय सूर एवं नन्ददास हैं। नन्ददास की कुछ रचनाएँ—स्यामसगाई और भँवरगीत इसी छन्द के कारण लोकप्रिय हुई। सूर की

---

१—सूरसागर, पद सं० ६२१।
२—बयालीस-लीला [ध्रुवदास], पृ० ४।

कालियदमन-लीला (दूसरी), गोवर्द्धनपूजा (दूसरी), बालवत्स-हरण (दूसरी) तथा अर्धासुरवध आदि उल्लेखनीय हैं।

टेक के रूप में १० मात्राओं की पङ्क्ति जोड़ कर रोला दोहा की वर्णनात्मकता को अत्यन्त आकर्षक रूप दे दिया गया है। नन्ददास का भँवरगीत, तथा कुम्भनदास एवं सूरदास की दानलीला (दूसरी), इसी शैली में वर्णित है।

कुम्भनदास—जो तुम ऐसे ब्रह्म हमारे छींके ढूंढो ?
घर घर माखन खाइ काहू, तिरियन संग सूँठो।
तुमहि दोस नहि सांवरे, जाये कारी रात ॥
वन में ब्रह्म कहावहीं (सो क्यों) तजे पिता अरु मात।
कहति ब्रजनागरी ॥[1]

कुम्भनदास जी ने दोहा की द्वितीय पङ्क्ति में दो मात्राएँ बढ़ा दी हैं जैसे 'सो-क्यों', 'हों सौं।'

दोहा—दोहा छन्द को राधावल्लभ-सम्प्रदाय के कवियों ने बहुत अपनाया है। ध्रुवदास जी की वृन्दावन सतलीला, वृहद् वामनपुराण की भाषालीला, प्रीति-चौवनी-लीला, आनन्दाष्टकलीला तथा भजनाष्टक लीलाओं में दोहा छन्द ही अपनाया गया है। रास-छद्म-विनोद लीलाओं में कुछ लीलाएँ, जैसे चितेरिनलीला, सुनारिनलीला, गन्धिनलीला, मालिनलीला, मनिहारीलीला, वीणावालीलीला आदि दोहों में ही वर्णित हैं। केवल आरम्भ में टेक जोड़ दिया गया है। वृन्दावनदास ने दोहे की द्वितीय पङ्क्ति में दो मात्राओं का पद जोड़ कर नूतनता का समावेश कर दिया है।

१—तन चमकीलो सांमरी माये केशर आड़।
मुख जु भरें सुख बीज से कहें वचन (भरे) अति लाड़ ॥
मलिनियां पौरी आई ॥१॥
फूलन के गहने सबै हौं लाई हौं पोहि।
पहिरें कीरति नन्दिनी तब (कर) जु सफलता होहि[2] ॥२॥

---

१—कुम्भनदास, [पद-संग्रह] पद सं० २३।

२—मालिन लीला—रासछद्मविनोद (हित वृन्दावनदास) पृ० ३११।

२—ऊँची जामें धङ्गला कमनी सरवर तीर।
जाके अङ्ग सुवास सों जहां ह्वै रही अमरनभीर ॥ १ ॥
पंछी हू कौतिक ठगे ऐसी साभा अङ्ग।
आभा नीलमणी मनों (अस) तन कौ बरसत रङ्ग ॥ २ ॥[1]

दोहा-सोरठा, अरिल्ल, कुण्डलिया – दोहा-सोरठा का प्रयोग ध्रुवदास जी ने भजनसतलीला (एक स्थल पर कुण्डलिया का समावेश), हितशृङ्गारलीला (बीच में एक सवैया, चार कवित्त), सभामण्डल लीला (बीच-बीच मे कवित्त) में किया है। मानलीला में दोहा, सोरठा और अरिल्ल का मिश्रण है। रहस्यलता लीला में भी दोहा, सोरठा के बीच एक अरिल्ल है। इन लीलाओं का मुख्य छन्द वस्तुतः दोहा-सोरठा का ही है, अन्य छन्द आगन्तुक हैं।

दोहा—रची कुञ्ज मनि मय मुकुर, झलकत परम रसाल।
राजत हैं बोउ रङ्ग में, ह्वै गयो विच इक ख्याल ॥ १ ॥
देखि प्रिया प्रतिविम्ब छवि, चकित ह्वै रही लुभाइ।
तेहि छिन बैठी लाड़िली, मान कुञ्ज में जाइ ॥ २ ॥

सोरठा—को समुझै यह बात, कहा कहौ हिय चटपटी।
प्रान चले ये जात, रहि न सकत हैं प्रिया बिनु ॥ ७ ॥
सुनत बचन पिय के सखो भरि आए दृग नीर।
रहि न सखी ब्याकुल भई, चली प्रिया के तीर ॥ ८ ॥

अरिल्ल—कहति हिये की बात सुनौ जो कान दै।
बढ़्यौ सरस अनुराग प्रानप्रिय दान दै ॥
इत्तौ समझि कै बात विलम्ब न कीजिए।
पुनि (हाँ) हँसिकै प्यारौ लाल भुजनि भरि लीजियै ॥ २० ॥[2]

कवित्त, सवैया—ध्रुवदास की भजन-शृङ्गार-सत-लीला की तीनों शृङ्खलायें सवैया और कवित्त में वर्णित है। बीच-बीच में दोहे हैं, शेष समस्त लीला सवैया-कवित्त

१—बीनाबारी लीला—रासछद्मविनोद [हित वृन्दावनदास], पृ० ३१६

२—मानलीला—ब्यालीस लीला [ध्रुवदास], पृ० २७०-७१

के क्रम से ही वर्णित है, किसी-किसी सवैया के अन्त में एक सोरठा भी जोड़ दिया गया है। स्वतन्त्र रूप से सवैया का प्रयोग आख्यान-शैली में कहीं नहीं हुआ है। दोहा-चौपाई में वर्णित लीलाओं के बीच कहीं-कहीं सवैया भी रख दिये गये हैं जैसे, रस-हीरावलीलीला में या दोहा, सोरठा में वर्णित लीलाओं के बीच-बीच, जैसे सभामण्डललीला में। यों इन लीलाओं में साधारण क्रम सवैया-कवित्त का है।

सवैया—भाँति भली नवकुन्ज विराजत राधिका वल्लभ लाल बिहारी।
प्राननि की मनि प्यारी विहारनि प्यार सों प्रीतम लै उर धारी॥
ज्यों छवि चन्द्रिका चन्द के अङ्क में बाढ़ी महा छवि की उजियारी।
त्यों चहुँ कोद चकोरी सखी ध्रुव पीवत रूप अनूप सुधारी॥

कवित्त—भोर कुन्जद्वार खरे अङ्ग अङ्ग रंग भरे,
अरुनाई नैननि की बरनी न जाति है।
अधर अञ्जन लीक फबी है कपोल पीक,
बसन पलटि परे शोभा झलकाति है॥
रसमयी अलबेली लटकी है लाल भर,
सुन्दरी को आरसी निरखि मुसकाति है।
हित ध्रुव ऐसो छवि देखत ही रीझि रहै,
प्रीतम की अंखियाँ तो क्यो हूँ न अघाति है॥[१]

दोहा का नूतन प्रयोग—दोहा की प्रत्येक पंक्ति को तोड़ कर बीच में कुछ *मात्राओं की पंक्तियाँ जोड़ कर नये छन्दों की उद्भावना* हिन्दी कवियों के वसन्त-वर्णन में देखी जाती है।

गोकुल सकल गुपालिनी, घर घर खेलत फाग॥ मनोरा झूम करो।
तिन में राधा लाड़िली, जिनको अधिक सुहाग॥ मनोरा०।
झुंडनि मिलि गावति चलीं, झूमक नंद दुवार॥ मनोरा०।[२]

× × ×

खेलत हैं अति रसम से, रंगभीने हो।
अति रस केलि विलास लाल, रंग भीने हो॥

---

१—ध्रुवदास—भजन श्रृंखला, ब्यालीस लीला, पृ० १०८-१०१
२—सूरसागर, पद सं० ३४९३

जागत सब निसि गत भई, रंग भीने हो।
भले जु आए प्रात लाल, रंग भीने हो ॥[1]

इसमें यदि 'लाल रंग भीने हो' निकाल दिया जाय तो शुद्ध दोहा का रूप शेष रहता है—

खेलत हैं अति रसमसे, अति रस केलि विलास।
जागत सब निसि गत भई, भले जु आए प्रात ॥

अथवा, सब ब्रज कुल के राइ, लाल मन मोहना।
मन मोहनां निकसे हैं खेलन फागु लाल मनमोहना ॥[2]

इसमें मात्राएँ बढ़ी हैं।

**पदशैली**—कृष्णकाव्य की यही शैली उसकी अपनी विशेष शैली है। पदों में नाना प्रचलित छन्दों का प्रयोग तो है ही, कुछ नूतन छन्द भी बनाये गये हैं। अधिकांश पदों में टेक या ध्रुव का विधान है। हिन्दी के कृष्ण-काव्य में अक्षर-वृत्तों का प्रयोग नहीं मिलता, पर वङ्गला में इनका काफी प्रयोग हुआ है। चूंकि वङ्गला और हिन्दी के पद-छन्दों में आपस में कोई सादृश्य नहीं हैं, अतएव यहाँ पृथक् रूप से उनका विवरण दिया जा रहा है।

वङ्गला के पदों में मात्रिक एवं वर्णवृत्त दोनों का प्रयोग किया गया है। पहिले हम वर्णवृत्तों को लेते हैं। ये वर्णवृत्त वङ्गला-काव्य के निजी छन्द हैं, जैसे चौदह-अक्षरी पयार, आठ-अक्षरी, दश-अक्षरी और एकादश-अक्षरी एकावली, छब्बीस अक्षरों की दीर्घत्रिपदी एवं धमाली, इत्यादि।

**१—चौदह अक्षर का पयार—**

हेरइते दुहुँ जन दुहुँ मुख इन्दु। उछलल दुहुँ मन मनोभव सिन्धु ॥
दुहुँ परिरम्भने दुहुँ तनु एक। श्यामर गोरि किरन रह रेख ॥[3]

---

१—सूरसागर, पद सं० ३४८२

२—गोविन्दस्वामी—[पद संग्रह], पद सं० १२५

३—पदकल्पतरु, पद सं० ३४०

२—एकावली : (क) आठ-अक्षरी—

कह सखि किये भेल। देयासिनि कहाँ गेल ॥
हाम मुगधिनि नारि। ना शुनि अतनु आड़ि ॥[१]

(ख) दस-अक्षरी—

राई कानू, निकुञ्ज-मन्दिरे। वसियाछे वेदीर उपरे ॥
हेम मनि खचित ताहाते। विविध कुसुम चारिमिते ॥
राइ कानू से शोभा देखये। ये यदुनन्दन निरखये ॥[२]

(ग) एकादश-अक्षरी—

ए धनि ए धनि वचन शुन। निदान देखिया आइलूं पुन ॥
देखिते देखिते बाढ़ल व्याधि। यत तत करि ना हय सुधि ॥[३]

३—त्रिपदी : २६ अक्षर की दीर्घ त्रिपदी—

कानड़-कुसुम जिनि कालिया बरन खानि, तिलेक नयन यदि लागे।
तेजिया सकल काज जाति कुल शील लाज, मरिबे कालिया-अनुरागे ॥[४]

२० अक्षर की लघु त्रिपदी—

धरनी शयने झरये नयने,
सघने कांपये अङ्ग।
चम्पक बरन तापे मलिन,
हृदय दह अनङ्ग।
किछु कहना करह कानाई ॥[५]

मात्रिक छन्द—वर्णिक वृत्तों के अतिरिक्त ब्रजबुलिपदावली में मात्रिक छन्दों का भी प्रयोग हुआ है। इन छन्दों में प्रमुख हैं चतुष्पदी और त्रिपदी। अधिकांश पद-रचनाएँ इन्हीं के विभिन्न संघटनों में हुई हैं।

---

१—पदकल्पतरु, पद सं० २४१
२—वही, पद सं० ७४६
३—वही, पद सं० ९८
४—वही पद सं० ७६५
५—वही, पद सं० १६१

१—चतुष्पदी (क) आठ मात्रा—

अचिरे पुरब आश। बन्धूया मिलिब पाश॥
हिया जुड़ाइबो मोर। करिबें आपन कोर॥[१]

(ख) बारह मात्रा—

पुन जब मुरछलि गोरि। सखिगन भेल विभोरि॥
धनि-मुख-चान्द निहारि। रोयत कुन्तल फारि॥[२]

यहाँ अन्तिम वर्ण को दीर्घ करके पढ़ा जायेगा। अथवा—

कहे हेन हबें कि आमारे। ए नयने देखिब राइयेरे॥[३]

(ग) १६ मात्रा—

कुन्द कुसुमे भरु कबरिक भार। हृदये विराजित मोतिम-हार॥
चन्दन चर्चित रुचिर कपूर। अङ्गहि अङ्ग अनङ्ग भरपूर॥[४]

चरण के अन्त में स्थित लघु वर्ण को विकल्प में गुरु वर्ण माना जाता है। इस दृष्टि से भार, हार के अन्त्य 'र' को गुरु अर्थात् दो मात्राओं का मान कर १६ मात्रा पूरी की गयी हैं। यथा—

पति अति दुरमति कुलवति नारी। स्वामि-चरन पुन छोड़िन पारी॥
तें रूप यौवन एकु नह ऊन। विदगध नाह ना होय विनि पून॥[५]

(घ) विषम चतुष्पदी—

अर्थात् अयुग्म चरणों में १२ मात्रा एवं युग्म चरणों में १६ मात्रा—

---

१—पदकल्पतरु, पद सं० १९८१
२—वही, पद सं० १६६७
३—वही, पद सं० १५०५
४—वही, पद सं० ७५३
५—वही, पद सं० ६३०

लुठइ धरणि धरि सोय। श्वास-विहिन हेरि सहचरि रोय ॥
मुरछलि कान्हे परान। इह पर को गति दैवे से जान ॥[१]

उपर्युक्त उदाहरण में अन्तिम मात्रा का दीर्घ उच्चारण करना होगा। अथवा—

ना रहे गुरुजन माझे। बेकत अङ्गना झांपये लाजे ॥
बाला संगे जब रहई। तरुनि पाइ परिहास तहि करई ॥[२]

२—त्रिपदी : अट्ठाइस मात्रा—

सुया अपरूप रूप हेरि दूर सले। लोचन मन दुहुँ धाव ॥
परशक लागि आगि जलु अन्तर। जीवन रह किये जाव ॥
माधव तोहे कि कहब करि भंगी।[३]

२१ मात्रा—

मदिर-मरकत-मधुर मूरति। मुगध-मोहन छान्द ॥
मल्लि-मालति-माले मधु-मत। मधुप मनमथ फान्द ॥[४]

२३ मात्रा—

देखरि सखि श्यामचन्द। इन्दु-वदनि राधिका ॥
विविध यन्त्र-युवति वृन्द। गावये राग-मालिका ॥[५]

दीर्घचतुष्पदी—४७ मात्रा—

विपिने मिलल गोप-नारि
हेरि हसत मुरलिधारि
निरखि वयन पुछत बात
प्रेम-सिन्धु-गाहनि।[६]

---

१—पदकल्पतरु, पद सं० १८०
२—वही, पद सं० १०५
३—वही, पद सं० १५८
४—वही, पद सं० २४२६
५—वही, पद सं० १०६६
६—वही, पद सं० १२६६

यहाँ अन्तिम मात्रा का उच्चारण दीर्घ होगा।

**५१ मात्रा—**

**लाज नति भये निकटे प्राउब**
**रसिक व्रजपति हिये सम्भायब।**
**काम-कौशल-कोप-काजर**
**तबहु राजब रे।[१]**

हिन्दी के कुछ छन्दों में भी ब्रजबुलि कविता रची गयी है। द्वादश-मासिक विरह-वर्णन में कुछ ऋतुओं का वर्णन तोमर-हरिगीतिका छन्द में हुआ है। पदपादाकुलक का भी उदाहरण मिलता है। तोमर में (१२ मात्रा, चरणान्त में गुरु-लघु) और हरिगीतिका में (१६, पर विराम, अन्त में लघु-गुरु) होता है।

**तोमर—अब भेल सावन मास। अब नाहि जिवनक आश॥**
**घन गगने गरजे गम्भीर। हिया होत जनु चौचीर॥**

**हरिगीतिका—हिया होत जनु चौचीर घोरना। बान्धे पलकावो आर रे॥**
**झलके दामिनि खोलि खापसें। मदन लेइ तलोयार रे॥[२]**

तीसरी पंक्ति में दो मात्राएँ कम है।

**पदपादाकुलक**—प्रत्येक चरण के आदि में एक द्विकल, इसके पश्चात् अन्त तक प्रायः द्विकल रहते हैं।

**ब्रज-नन्दकि नन्दन नीलमणि। हरि चन्दन तीलक भाले बनी॥[३]**

**हिन्दी : मात्रिक छन्द**—हिन्दी कृष्णकाव्य में वर्णवृत्त का प्रयोग नहीं के बराबर हुआ है, मात्रिक छन्दों को ही पद-रचना के लिए अपनाया गया है। उनमें से प्रमुख छन्द निम्नलिखित हैं जिनमें प्राय: सभी पदों में एक पंक्ति की टेक जोड़ दी गयी है—

---

१—पदकल्पतरु, पद सं० १९८३
२—वही, पद सं० १८२३
३—वही, पद सं० १३२४

**विष्णुपद**—इस छन्द में १६, १० के विराम से २६ मात्राएँ होती हैं, अन्त में एक गुरु वर्ण का होना आवश्यक है। हिन्दी पदावली में इस छन्द का बहुलता से प्रयोग किया गया है।

**हितहरिवंश**—ब्रज नव तरुणि कदम्ब मुकुटमणि श्यामा आजु बनी।
नख-शिख लौं अङ्ग-अङ्ग माधुरी मोहे श्यामधनी॥
यों राजत कवरी गूंथित कच, कनक कंज वदनी।
चिकुर चन्द्रिकनि बीच अर्ध विधु, मानो ग्रसित फनी॥[१]

**हरिरामव्यास**—आजु कछु औरे ओप भई।
जित देखौं तितहीं तित दीखत मंगल मोदमई॥[२]

**मीरा**—दिन नहिं चैन रैन नहिं निदरा, सूखूं खड़ी खड़ी।
बाण विरह का लग्या हिये में, भूलूं न एक घड़ी॥[३]

**सूर**—हरिजू की आरती बनी।
अति विचित्र रचना रचि राखी, परति न गिरा गनी।
कच्छप अध आसन अनूप अति, डांड़ी सहस फनी॥[४]

**परमानन्ददास**—विकल फिरत राधे जू काऊ की लई।
काके विरह बदन अकुलानो तन की आब गई॥
को प्रीतम ऐसो जिय भावै जिनि यह दसा दई।
मैं तन की ऐसी गति देखी कमलनि हेम हई॥[५]

**सार, सरसी**—सार में १६, १२ पर विराम रहता है और अन्त में प्राय. दो गुरु तथा सरसी में १६, ११ पर विराम, चरणान्त में गुरु लघु।

---

१—हितचौरासी, पद सं० २६
२—भक्तकवि व्यास जी, पद सं० ११५
३—मीराबाई की पदावली, पद सं० ११६
४—सूरसागर, पद सं० ३७१
५—परमानन्दसागर, पद सं० ४३५

सार : हितहरिवंश—प्रीति की रीति रंगीलोई जानै ।
जद्यपि सकल लोक चूड़ामणि, दीन अपनपौ मानै ।
यमुना पुलिन निकुंज भवन में, मान मानिनी ठानै ।।
निकट नवीन कोटि कामिनि कुल धीरज मनहिं न आनै ।।[१]

छीतस्वामी—बादर झूमि झूमि बरसन लागे ।
दामिनि दमकत चौंकि श्याम घन-गरजन सुनि सुनि जागे ।
गोपी द्वारे ठाढ़ी भींजति मुख देखत अनुरागे ।
'छीतस्वामी' गिरिधरन श्री विठ्ठल ओत-प्रोत रस पागे ।।[२]

सूर—झूठी बात कहा मैं जानौं ।
जो मोकौं जैसेहिं भजैरी, ताकौं तैसेहि मानौं ।
तुम तप कियो मोहि कौं मन दे, मैं हौं अन्तरजामी ।
जोगी कौं जोगी ह्वै दरसौं, कामी कौं ह्वै कामी ।।[३]

मीरा · पिया अब घर आज्यो मेरे, तुम मोरे हूं तोरे ।
मैं जन तेरा पंथ निहारूं मारग चितवत तोरे ।।
अवध बदीती अजहुं न आये, दुतियन सूं नेह जोरे ।
मीरा कहै प्रभु कबरे मिलोगे, दरसन बिन दिन टारे ।।[४]

श्रीभट्ट—बंशी धुनि मनु बन सी लागी, आई गोप कुमारी ।
अरप्यौं धाइ चरन पद ऊपर लकुट कमतर धारी ।
श्रीभट मुकुट चटक लटकनि में अटक रही पिय प्यारी ।।[५]

हरिदास स्वामी—प्यारे की भांवती भांवती के प्यारे जुगल किसोर जानौ ।
छिनु न टरो पलु होउ न इत उत रहौं एकहि तानौ ।।[६]

---

१—हितचौरासी, पद सं० ४१
२—छीतस्वामी, [पद संग्रह], पद सं० ७०
३—सूरसागर, पद सं० २१८१
४—मीराबाई की पदावली, पद सं० ६५
५—युगलशतक, पद सं० २२
६—केलिमाल, पद सं० ३

सरसी : सूर—जसुदा यह न बूझि कौ काम ।
कमल नैन की भुजा देखि धौं, तैं बावें हैं दाम ॥
पुत्रहु तैं प्यारौ कोउ है री, कुल दीपक मनि-धाम ।[१]

गोविन्दस्वामी—प्यारी रूसनो निवारि ।
कब की ठाड़ी मनुहारि करति हौं रैनि गई घरी चारि ।
मेरो कह्यो तू मानि (री) सुहागिन अति प्रवीन सकुंवारि ॥
गोविंद प्रभु सौं (तू) हिलमिलि भामिनि तन मन जोवन वारि ॥[२]

मीरा—जोगिया से प्रीत किया दुख होइ ।
प्रीत कियां सुख ना मोरी सजनी, जोगी मीत ना कोई ॥
राति दिवस कल नांहि परत है, तुम मिलिया बिन मोइ ॥[३]

हरिव्यासदेव—बड़ भागन ते फागुन आयो करतहि करत उमंग ।
अद्भुत चनक कनक पिचकारी भरि केसरि के नीर ॥[४]

हितहरिवंश—चलहि किन मानिनि कुंज कुटीर ।
तो बिनु कुंवर कोटि बनिता जुत मथत मदन की पीर ॥
गद-गद सुर विरहाकुल, पुलकित श्रवत विलोचन नीर ।
क्वासि क्वासि वृषभानु नन्दिनी बिलपति विपिन अधीर ॥[५]

कहीं-कहीं सार और सरसी मिलाकर भी पद रचे गए हैं—

मुरली गति विपरीत कराई ।
तिहु भुवन भरि नाद समान्यौ, राधा-रमन बजाई ॥
बछरा थन नाहीं मुख परसत, चरति नहीं तृन धेनु ॥
जमुना उलटी धार चली बहि, पवन थकित सुनि बेनु ॥[६]

१—सूरसागर, पद सं० ६८५
२—गोविन्दस्वामी [पद संग्रह], पद सं० ४८४
३—मीराबाई की पदावली, पद सं० ५७
४—महावाणी—उत्साहसुख, पद सं० ४४
५—हितचौरासी, पद सं० ३७
६—सूरसागर, पद सं० १६८५

**ताटङ्क**—(१६, १४ मात्राओं पर विराम, चरणान्त में मगण) मीरा के अतिरिक्त इस छन्द का प्रयोग अन्य कवियों ने कम ही किया है। सार-छन्द के अन्त में एक गुरु वर्ण और जोड़ कर बनाये हुए ताटंक के कई उदाहरण मिल जाते हैं।

१—ताल पखावज मिरदंग बाजा, साधां आगे नाची रे।
कोई कहे मीरा भई बावरी, कोई कहे मदमाती रे॥[१]

२—तुमरे कारण सब सुख छाड़्या अब मोहि क्यूं तरसावो हो।
विरह बिथा लागी उर अंतर सो तुम आय बुझावो हो॥[२]

**कुण्डल, उड़ियाना**—कुण्डल के प्रत्येक चरण में १२, १० मात्राओं पर विराम रहता है और चरणान्त में दो गुरु का होना आवश्यक है। कुण्डल के पदान्त में एक गुरु होने पर वह उड़ियाना छन्द बन जाता है।

सूर—(१) जागिए व्रजराज कुंवर, कमल कुसुम फूले।
कुमुद वृन्द सकुचित भए, भृङ्ग-लता भूले॥[३]

(२) नंद जू के बारे कान्ह, छाड़ि दै मथनियां।
बार-बार कहति मातु जसुमति नंदरनियां॥[४]

**रूपमाला, शोभन**—रूपमाला में १४, १० के विराम से २४ मात्राओं का तथा अन्त में एक गुरु-लघु का विधान है। रूपमाला के अन्त में यदि जगण हो तो वही शोभन छन्द बन जाता है।

सूर—(१) बलि गइ बाल रूप मुरारि।
पाइ-पंजनि रटति रुनझुन, नचावहिं नर-नारि॥
कबहुं हरि को लाइ अंगुरी, चलन सिखवति ग्वारि॥—(रूपमाला)

× × × ×

(२) कबहुं अङ्ग भूषन बनावति, राइ लोन उतारि।
सूर सुर-नर सबै मोहे निरखि यह अनुहारि॥[५]—(शोभन)

---

१—मीराबाई की पदावली, पद सं० ४०
२—वही, पद सं० १०४
३—सूरसागर, पद सं० ८२०
४—वही, पद सं० ७६३
५—वही, पद सं० ७३६

समान सवैया—१६-१६ मात्राओं के विराम से ३२ मात्राओं के इस छन्द में पद प्रचुरता से लिखे गये हैं।

परमानन्ददास—मानिनी ऐतो मान न कीजे।
ये जीवन अञ्जलि को जल ज्यों जब गुपाल मांगे तब दीजे ॥[1]

सूर—मोहन सों मुख वनत न मोरे।
जिन नैननि मुख चन्द विलोक्यो, ते नहि जात तरनि सों जोरे ॥[2]

हितहरिवंश—लटकत फिरति जुवति रस फूली।
लता भवन में सरस सकल निशि पिय सङ्ग सुरत हिंडोरे झूली ॥[3]

हरिप्रिया—इस छन्द में १२, १२ और १२ १० के विराम से ४६ मात्राओं का तथा अन्त में दो गुरु का विधान है।

सूर—विहरत गोपाल राइ, मनिमय रचे अङ्गनाइ।
लरकत परंगि नाइ, घुटुरुनि डोलै ॥[4]

हरिरामव्यास—अंग अंग अति सुघंग, रंग गति तरंग सङ्ग।
रति-अनंग-मान भंग, मनि मृदंग बाजै।
सुर बंधान गान-तान मान जान गुननिधान,
भ्रुव कमान, नैन वान सुर विमान छाजै ॥[5]

विनय—१२, १२, ८ पर विराम तथा चरणान्त में प्राय: रगण होता है।

हितहरिवंश—मंजुल कल कुंज देश, राधा हरि विशद वेश,
राका नभ कुमुद वन्धु शरद जामिनी।
श्यामल द्युति कनक अंग विहरत मिलि एक संग,
नीरद मनि नील मध्य लसत दामिनी ॥[6]

---

१—परमानन्दसागर, पद सं० ४१३
२—सूरसागर, पद सं० ४४[illegible]२
३—हितचौरासी, पद सं० [illegible]७
४—सूरसागर, पद सं० ७१[illegible]
५—भक्तकवि व्यास जी, पद सं० ४६२
६—हितचौरासी, पद सं० ११

विट्ठल विपुल—अंग अंग गुण तरंग गौर श्याम रूप रासि।
मदनकेलि सुरत सिन्धु पुलक झेलिनी।[1]

विजया:—(१०, १०, १०, १० पर विराम, चरणान्त में प्रायः रगण) हितहरिवंश एवं चाचा वृन्दावनदास जी ने इस छन्द का अधिक प्रयोग किया है। अन्त में रगण का निर्वाह नहीं भी हुआ है।

हितहरिवंश—(१) कुसुम कृत माल नंदलाल के भाल पार,
तिलक भरि प्रगट यश क्यों न भाखो।
भोग प्रभु योग भरि थार धर कृष्ण पै,
मुदित भुजा दण्ड वर चमर ढारो ॥[2]

(२) श्याम संग राधिका रास मंडली बनी।
बीच नन्दलाल व्रजबाल चम्पक बरन,
ज्यौंवघन तड़ित बिच कनक मर्कत बनी ॥[3]

चाचा वृन्दावनदास—गौर अरु श्याम चरितनि हर्‌यौ जासु चित,
तिननि विषइनु कथा दूरिते परिहरी।
कुंज कमनीय लीला ललित आदरी,
गुरु कृपा दृष्टि जा ओर रंचक ढरी ॥[4]

त्रिपदी—सेवकवाणी में त्रिपदी छन्द का पर्याप्त प्रयोग हुआ है। श्रीहितजस-विलास, श्रीहितविलासप्रकरण, श्रीहरिवंशनामप्रतापजस आदि इसी छन्द में वर्णित हैं।

श्री हरिवंश चन्द्र शुभ नाम।
सब सुख सिंधु प्रेम रस धाम।
जाम घरी बिसरै नहीं।[5]

---

१—विट्ठलविपुल की वाणी, पद सं० ५
२—हितहरिवंश—स्फुटवाणी, पद सं० १८
३—हितचौरासी, पद सं० ७१
४—वृन्दावनजसप्रकासवेली, पद सं० ८, पृ० ७
५—सेवकवाणी, हितजसविलास, पद सं० १

वर्णवृत्त—(मनहरण)—मीराबाई की पदावली में मनहरण-कवित्त में कुछ पद मिलते हैं जिनमें कुछ तोड़-मरोड़ भी है। मनहरण में ८, ८, ७, ७ वर्णों के प्रयोग से १६, १५ पर यति का विधान है—

जूठे फल लीन्हें राम, प्रेम की प्रतीत जाए।
ऊँच नीच जाने नहीं, रस की रसी लगी ॥[१]

मुक्तक—मुक्तक शैली का प्रयोग बङ्गला-काव्य में नहीं मिलता। ब्रजभाषा-काव्य में हितहरिवंश जी के सम्प्रदाय, तथा निम्बार्क सम्प्रदाय में इस शैली के कुछ नमूने मिल जायेंगे। यह शैली अधिकतर सिद्धान्त या तत्त्वनिरूपण के प्रसङ्ग में किंवा वैराग्य की चर्चा में व्यवहृत हुई है।

दोहा—मुक्तक के अन्तर्गत दोहा का सर्वाधिक प्रयोग हुआ है। निम्बार्कमतानुयायी ललितमोहिनी देव, ललितकिशोरी देव, गोविन्द देव आदि, राधावल्लभी-वृन्दावनदासजी, नागरीदास जी तथा रसखान महत्त्वपूर्ण हैं।

नागरीदास—विषै वासना जारि कै, झारि उड़ावै खेह।
मारग रसिक नरेस कै, तब ढंग लागै देह॥
जामें मन की गति नहीं, तामे काढै गात।
व्यास सुवन पद पाइ बल, इहि विधि निकस्यौ जात॥[२]

रसखान—कमल तंतु सौं छीन, अरु, कठिन खड़ग की धार।
अति सूधौ टेढ़ौ बहुरि, प्रेम पंथ अनिवार॥
दंपति सुख अरु विषय रस, पूजा, निष्ठा, ध्यान।
इनतें परे बखानिए, शुद्ध प्रेम रसखान॥[३]

ललितमोहिनी देव—कहा त्रिलोकी जस किये, कहा त्रिलोकी दान?
कहा त्रिलोकी वस किये, करी न भक्ति निदान॥[४]

---

१—मीराबाई की पदावली, पद सं० १८७

२—नागरीदास की वाणी, दोहा सं० ७, ६ (प्रका० बाबा तुलसीदास)।

३—प्रेमवाटिका, दोहा सं० ६, १६ (रसखान और घनानंद)।

४—निम्बार्क-माधुरी—ललितमोहिनी देव, पद सं० २, पृ० ३४३

छप्पय तत्ववेत्ता जी ने छप्पय में कृष्ण-तत्व का निरूपण किया है।

भगवत रसिक—तात रिषभ सो होई मात मंदालस मानो।
पुत्र कपिल सो मिलै मित्र प्रहलादहि जानो॥
भ्राता विदुर दयाल योषिता द्रुपद दुलारी।
गुरु नारद सो मिलै अकिंचन पर उपकारी॥
भर्ता नृप अंबरीष सो राजा प्रभु सो जो मिलै।
'भगवत' भवनिधि उद्धरैं चिदानंद रस में झिलै॥[१]

सेवक जी—पढ़त गुनत गुन नाम सदा सत संगति पावै।
अरु बाढ़ै रस रीति विमल बानी गुन गावै॥
प्रेम लक्षणा भक्ति सदा आनंद हितकारी।
(श्री) राधा युग चरन प्रीति उपजै अति भारी॥[२]

कुण्डलिया : भगवत रसिक—आचारज ललिता सखी रसिक हमारी छाप।
नित्य किसोर उपासना युगल मंत्र को जाप॥
युगल मंत्र को जाप वेद रसिकन की बानी।
श्री वृन्दावन धाम इष्ट श्यामा महरानी॥[३]

कवित्त : रसखान—आई खेलि होरी ब्रजगोरी वा किसोरी संग।
अंग अंग रंगनि अनंग सरसाइगो॥[४]

सवैया : सरसदेव—स्याम भजे भ्रम दूर भयो भैया! भय न रह्यो जबते चितये हरि।
काम, कुरोग, कुसङ्ग, कुमन्त्र, कुमाल, कलेस कछू न रहे अरि॥
कुल कामिनि कञ्चन लागत कर्म कुभार भए सु गए भसमें जरि।
सरस लिए रस रासि प्रकास बिहारी बिहारिनि पूरि रहे भरि॥[५]

१—निम्बार्क-माधुरी—भगवतरसिक, पद सं० ७, पृ० ३५६

२—सेवकवाणी—हितध्यान प्रकरण, पद सं० ५

३—निम्बार्कमाधुरी—भगवतरसिक, पद सं० ७१, पृ० ३७१

४—रसखान और घनानंद, सुजानरसखान, पद सं० १२२

५—निम्बार्कमाधुरी, सरसदेव, पद सं० ६, पृ० २८२

रसखान—कौन को लाल सलोने सखी वह जाको बड़ी अँखियाँ अनियारी।
जोहन बंक बिसाल के बानन बेधत हैं घट तीछन भारी॥
रसखानि सम्हारि परै नहिं चोट सु कोटि उपाय करौ सुख मारी।
भाल लिख्यौ बिधि हेत को बंधन खोल सकै अस को हितकारी॥[1]

अलङ्कार-विधान—भक्तकवियों ने अलङ्कार का प्रयोग केवल चमत्कारप्रियता वश नहीं किया है। जहाँ उनकी भावना आराध्य के प्रति उत्कट होकर चमत्कृत हो उठी है, वहाँ अलङ्कार भाव के साथ स्वतः संश्लिष्ट हो गए हैं। इन कवियों का मानस कृष्ण-राधा के रूप से सर्वाधिक चमत्कृत हुआ है अतएव अप्रस्तुत-विधान की प्रेरणा अधिकतर इसी प्रसङ्ग से प्राप्त हुई हैं। शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार दोनों का प्रयोग हुआ है। शब्दालङ्कारों में अनुप्रास, एवं पुनरुक्तिप्रकाश का अधिक प्रयोग हुआ है। अर्थालङ्कार में औपम्यमूलक एवं सादृश्यमूलक अलङ्कारों की प्रधानता है, यद्यपि अन्य प्रकार के अलङ्कार भी प्रयुक्त हुए हे।

शब्दालंकार (अनुप्रास)—अपने कई भेदों में प्रयुक्त है।

गोविन्ददास—ढल ढल सजल तनु सोहन
मोहन अभरण साज।
अरुण नयन गति बिजुरि चमक जिति
दगधल कुलवति लाज॥[2]

भूपतिसिंह—पाणि परशित प्राण परिहर
पुरुष की रति आश।
कान्त कातरे कयहुं काकुति
करत कामिनि पाय।[3]

---

१—रसखान और घनानंद—सुजान-रसखान, पद सं० ४२
२—पदकल्पतरु, पद सं० ७३
३—वही, पद सं० ११४

गोविन्ददास—कुंचित केशिनि निरुपम वेशिनि,
रस आवेशिनि भमिनि रे।
अधर सुरंगिनि अंग तरंगिनि।
संगिनि नव नव रंगिनि रे।[१]

चतुर्भुजदास—ललित ललाट लट लटकतु लटकनु,
लाडिले ललन को लडावें लोल ललना।
प्रान प्यारे प्रीति प्रतिपालति परम रुचि,
पल पल पेखति पोढाइ प्रेम पलना।
बरपनु देखि देखि दतिया द्वै दूध की,
दिखावति है दामिनी सी दामोदर दुख दमना॥[२]

हितहरिवंश—विविध कुसुम, किशलय कोमल दल, शोभित चन्दनवार।
विदित वेद विधि विहित विप्रवर करि स्वस्तिनु उच्चार॥[३]

हरिव्यास देवाचार्य—आज कमनीय किशोर किशलय सयन
करत, मिलि कमल-कल-कुंज की केलिनी।
रहसि रति रमन रुचि रुचिर रगमग रसिक,
रमत रंजन ररै रंग रस रेलिनी।
परम परितोष प्रति अंग सुप्रभा-प्रदा,
प्रेम-परकासवा प्रापवा-पेलिनी॥[४]

आनुप्रासिक चमत्कार में वङ्ग-कवियों की वृत्ति कहीं-कहीं ऐसी रमी है कि पूरा पद सानुप्रासिक है। गोविन्ददास में यह प्रवृत्ति विशेष लक्षणीय है। एक ही

१—पदकल्पतरु, पद सं० २७०
२—चतुर्भुजदास, [पद संग्रह,] पद सं० १२
३—स्फुटवाणी, पद सं० १६
४—महावाणी-सुरत सुख, पद सं० ४१

वर्ण शब्द-शब्द में अनुस्यूत हैं। विरह के दश दशा-वर्णन में ऐसे पद बहुलता से प्राप्त होते हैं।

नन्द नन्दन निचय निरखलूं निठुर नागर जाति।
नारि नीलज नेह-निरमित, नाह-नामे मिलाति ॥ ध्रु० ॥
× × ×
नियड़ निवेदइ नविन निज-जन दास गोविंद तेरि।[१]

पुनरुक्ति प्रकाश – पुनरुक्ति प्रकाश कहीं-कहीं मात्र चमत्कारप्रियता के कारण आया है; किन्तु कहीं भावनाओं की प्रबलता का भी अभिव्यञ्जक बन कर प्रयुक्त हुआ है।

विन्दु—तुहु उर धरि धरि मरि मरि बोलति।[२]

यदुनन्दनदास—शुन शुन सखि कर अवधान।
झर झर अनुखन ए दुई नयान।
जर जर अन्तर ना जाये परान।[३]

हरिव्यास देवाचार्य —चकी चक चकी-सी जकी जक जकी-सी।
छकी छक छकी सी टकी टक-टकोय।[४]

रूपरसिक देव—झूमि झूमि झुमकनि दिवि दमक्नि-रमक्नि रस सरसात।
झटकि झटकि झट चटकि चटकि चट लटकि लटकि लटकात ॥[५]

रसखान—समझौ न कछू अजहूं हरि सों ब्रज नैन नचाइ नचाइ हँसै।
नित सास की सारी उसासिन सों दिन ही दिन माइ की कांति नसै ॥
चहुं ओर बबा की सौं सोर सुनै मन मेरेऊ आवति रीस करै।
पै कहा करौं वा रसखानि विलोकि हियो हुलसै हुलसै हुलसै ॥[६]

---

१—पदकल्पतरु, पद सं० १८९४
२—वही, पद सं ७१
३—वही, पद सं० ८७
४—महावाणी-सुरतसुख, पद सं० २५
५—निम्बार्क-माधुरी, रूपरसिकदेव पद सं० २४, पृ० २०२
६—सुजान रसखान, पद सं० ७० (रसखान और घनानन्द)

स्वामी हरिदास—(क) भूलीं सब राखौं देखि देखि।
जच्छ किन्नर नाग लोक देव स्त्री रीझि रही
भुवि लेखि लेखि।[1]

(ख) तू रिस छांड़िरी राधे राधे।
ज्यौं ज्यौं तोकों गहरु त्यौं त्यौं मोको बियारी साधे साधे।
प्रानिन कों पोषत सुनियत तेरें वचन आधे आधे।
हरिदास के स्वामी-स्यामा कुंजविहारी तेरी प्रीति बांधे बांधे।[2]

यमक का प्रयोग बहुत कम हुआ है। हिन्दी में तो प्रायः नहीं के बराबर है। सूर के कूट-पदों में अवश्य एक ही शब्द का विभिन्न अर्थों में प्रयोग किया गया है। बङ्गला काव्य में भी यह अत्यन्त विरल है। राधाकृष्ण की विनोद-वार्ता के एकाध स्थल पर श्लेष अपनाया गया है। वर्णों की ध्वन्यात्मक व्यञ्जना पर आधारित अनुकरणात्मकता (onomatopoeia) का सुन्दर प्रयोग दोनों भाषाओं के काव्य में देखा जा सकता है।

गोविन्ददास—कंज-चरनयुग जावक-रंजन
खंजन गंजन मंजिर बाजे।
नील वसन, मणि किंकिनि रणरणि
कुंजर-गमन दमन खिन माझे॥[3]

हरिव्यास देवाचार्य रुननु नूपुर रमक झमक हंसक
झुनुनु कुनुनु किंकिनि कलित कटि सुघगे।
चरन की धरन उच्चरन सप्तक
सुरन हरन मन न करन उर उमंगे॥
भृकुटि मटकें लटें लटक झटके
उझट झटक नासापुटे पटक पंगे॥[4]

---

१—केलिमाल, पद सं० ४२
२—वही, पद सं० १७
३—पदकल्पतरु, पद सं० १०३७
४—महावाणी-सेवा सुख, पद सं० ७२

रास के नृत्य-वर्णन में वाद्य एवं ताल के स्वरों में इतनी सजीवता है कि जैसे पद स्वयं बोल रहे हों। वातावरण की सङ्गीतात्मकता एवं लय की गति को चित्रित करने में रास के पद सबसे अधिक सफल हुए हैं।

अर्थालङ्कार : उपमा—परम्परागत उपमाओं, जैसे नेत्रों के लिए खञ्जन, कटि के लिए सिंहकटि, तथा उरु के लिए कदली-खम्भ आदि के अतिरिक्त मौलिक उपमाएँ भी दी गयी हैं, किन्तु वे अपेक्षाकृत कम ही हैं। कुछ उदाहरण यहाँ दिये जा रहे हैं।

वङ्गला : -राधामोहन—सो धनि दूबर खीयत येछन असित-चतुर्दशी चान्द ॥[१]

घनश्याम —माधवि लता-तले वसि।
चिबुके ठेकना दिया थाशि।
तोहारि चरित अनुमाने।
योगी जेन वसिला धेयाने ॥[२]

अनन्तदास—अभरण-वरण किरणे अंग ढर ढर
कालिन्दि जले जैछे चान्द कि चलना।[३]

व्रजभाषा :
चतुर्भुजदास–गिरधर-रूप अनूप निहारी अब भई ज्यों गुड़िया वस डोरी।[४]

स्वामी हरिदास—(१) इनकी स्यामता तुम्हारी गौरता जैसे सित
असित वेनी रही ज्यों भुवंग छवि।
इनको पीताम्बर तुम्हारो नील निचोल
ज्यों शशि कुंदन जेव रवि ॥[५]

(२) प्यारी तेरो वदन अमृत की पंक तामें बीधें नैन द्वै।[६]

---

१—पदकल्पतरु, पद सं० १७१
२—वही, पद सं० २२६
३—वही, पद सं० २६८
४—चतुर्भुजदास, [पद संग्रह], पद सं० २६३
५—केलिमाल, पद सं० २९
६—वही, पद सं० ७

हितहरिवंश—श्यामल दुति कनक अंग विहरत मिलि एक संग,
नीरव मणि नील मध्य लसत दामिनी।[1]

हरिदास स्वामी—हरि को हित ऐसो जैसो रंग मजीठ
संसार हित रंग कसूंभ दिन दुती को।[2]

सूरदास—(१) मेरो मन अनत कहां सुख पावै।
जैसे उड़ि जहाज को पच्छी फिरि जहाज पर आवै।[3]
(२)—अब कैसे निरवारि जात है, मिली दूध ज्यों पानी।[4]
(३)—पुलकित समुखी भई स्याम-रस, ज्यों जल में कांची गागरि गरि।[5]

परमानन्ददास—तुम बिन कान्ह कमल दल लोचन जैसे दूल्हे बिन जात बरात।[6]

रूपक—कृष्णकाव्य में रूपक का उपयोग उपमा से अधिक हुआ है।

गोविन्ददास—चन्द्रक-चारु फनागन-मण्डित, शिव-विषमारुण वीठ।
राइक अधर लुबध अनुमानिये, वशनक दंशन मीठ॥[7]

घनश्यामदास—सहजइ विषम अरुण दिठि ताकर आर ताहे कुटिल-कटाखि।
हेरइते हामारि भेदि उर अन्तर छेवल धैरेज शाखि॥[8]

सूरदास—सोभा सिन्धु न अंत रही री।
नंद भवन भरि पूरि उमंगि चलि, ब्रज की वीथिनि फिरति बही री।[9]

परमानन्ददास—री अबला तेरे बलहि न ओर।
बींधे मदनगोपाल महागज कुटिल-कटाच्छ नयन की कोर॥[10]

---

१—हित चौरासी, पद संख्या ११
२—सिद्धान्त के पद, पद सं० ७
३—सूरसागर, 'विनय', पद सं० १६८
४—वही, पद सं० २०७५
५—वही, पद सं० ७३८
६—परमानन्दसागर, पद सं० ५५०
७—पदकल्पतरु, पद सं० १०१
८—वही, पद सं० १५०
९—सूरसागर, पद सं० ६४७
१०—परमानन्दसागर, पद सं० ३४२

हिन्दी काव्य में साङ्ग-रूपक का अधिक प्रयोग हुआ है यथा—

हरिरामव्यास—नटवा नैन सुघंग दिखावत।
चंचल पलक सवद उघटत हैं, ग्रं ग्रं तत थेई थेई कल गावत॥
तारे तरल तिरप गति मिलवत, गोलक सुलप दिखावत।
उरप भेद भ्रूभंग संग मिलि, रति पति फुलनि लजावत॥
अभिनय निपुन सैन सर ऐंननि, निसि सारिद वरषावत॥
गुन गन रूप अनूप व्यास प्रभु, निरखि परम सुख पावत॥[1]

हरिदास स्वामी—संसार समुद्र मनुष्य मीन, नक्र मगर और जीव बहु वंविस।
मन वयार प्रेरे स्नेह फंद फंदिस, लोभ पंजर लोभी मरजीया,
पदारथ चारि खदि खंदिस।
कहि हरिदास तेई जीव पार भये जे गहि रहे चरन आनन्द नंदिस॥[2]

रूपकातिशयोक्ति—रूपकातिशयोक्ति का प्रयोग दोनों भाषाओं में है, हिन्दी में अपेक्षाकृत अधिक हुआ है।

राधावल्लभ—सजनि, अपरूप पेखलूं वाला।
हिमकर-मदन-मिलित मुख-मण्डल ता पर जलधर-माला॥[3]

हरिव्यास—चंद्र विम्ब पर वारिज फूले।
तापर फनि के सिर पर मनिगन, तर मधुकर मधुमद मिलि भूले॥
तहां मीन, कच्छप, सुक खेलत, वंसिहि देख न भये विफूले।
विद्रुम दारयो में पिक बोलत, केसरि नख पद नारि गरुले॥
सर में चक्रवाक, वक, व्यालिनि, विहरत वैर परस्पर भूले।
रम्भा सिंध बीच मनमथ घर, ता पर गान्धुनि सुनि सुख-मूले॥
सब ही पर घनु वरपत हरषत, सर-सागर भये जमुना-कूले।
पूजो आस व्यास चातक की, स्थावर जंगम भये विसूले॥[4]

---

१—भक्तकवि व्यास जी, पद सं० ३४२
२—सिद्धान्त के पद, पद सं० ९
३—पदकल्पतरु, पद सं० १९६
४—भक्तकवि व्यास जी, पद सं० ३७७

हितहरिवंश—श्राजु दोऊ दामिनि मिलि बहसी।
विचलै श्यामघटा अति नौतन ताके रंग रसी॥
एक चमकि चहुं ओर सखी री अपने सुभाय लसी।
आई एक सरस गहनों में दुहु भुज बीच बसी॥
अम्बुज नील उभय विधु राजत तिनकी चलन खसी।
हित हरिवंश लोभ भेदन मन पूरण शरद शसी॥[१]

सूरदास—अद्भुत एक अनूपम बाग।
जुगल कमल पर गज वर क्रीडत, तापर सिंह करत अनुराग॥
हरि पर सरबर, सर पर गिरिवर, गिरि पर फूले कंज-पराग।
रुचिर कपोत बसत ता ऊपर, ता ऊपर अमृत-फल लाग॥[२]

उत्प्रेक्षा—रूप-वर्णन के प्रसङ्ग में उत्प्रेक्षाओं की झड़ी लग जाती है। जहाँ कवि की भावना उपमा रूपक से अपने को अभिव्यक्त नहीं कर पाती वहाँ वह उत्प्रेक्षा का सहारा लेती है।

ब्रजभाषा: सूर—मुख छवि देखि हो नंद घरनि।
सरद ससि को अंसु अगनित इंदु आभा हरनि॥
ललित श्री गोपाल लोचन-लोल आंसू ढरनि।
मनहुं वारिज विथकि विभ्रम, परे पर-बस परनि॥
कनक-मनिमय-जटित-कुंडल-जोति-जगमग करनि।
मित्र मोचन मनहुं आये, तरल गति द्वै तरनि॥
कुटिल कुंतल मधुप मिलि मनु, कियो चाहत लरनि।
बदन कांति बिलोकि सोभा, सकै सूर न बरनि॥[३]

हरिदास (१) प्यारी तेरी पुतरी काजर हूते कारी,
मानो द्वै भंवर उड़ेरी बरावरि।[४]

---

१—हित चौरासी, पद सं० ५५

२—सूरसागर, पद सं० २७२८

३—वही, पद सं० ६६८

४—केलिमाल, पद सं० ७१

(२) कर नख शोभा कछि केश संवारत,
मानो नव घन में उडुगन झलकै।[1]

रूपरसिकदेव—स्याम घन तन चंदन छवि सेत।
मनहुं मंजुमनि नील सैल पर खिली चांदनी सेत॥[2]

वृन्दावनदेव—हरी भरी दूब पर इन्द्र वधू ठौर ठौर,
पहिरी मनो भूमि हरी चूनरी तरसि तरसि।[3]

कुम्भनदास—देखो ये आवें हरि धेनु लियें।
जनु प्राची दिसि पूरन ससि रजनी मुख उदौ किये॥[4]

बङ्गला-बलरामदास—करहुं कपोल थकित रहु झामरि जनु धन-हारि जुआरि।
बिछुरल हास रभस रस-चातुरि बाउरि जनु भेल गोरि॥[5]

कविशेखर—जागि रजनि दुहुं लोहित लोचन अलस निमीलित भांति।
मधुकर लोहित कमल-कोरे जनु शूति रहल मद माति॥[6]

प्रतीप, व्यतिरेक—रूपचित्रण में इन अलङ्कारों का भी पर्याप्त प्रयोग हुआ है। कवि की भावना आराध्य के रूप से इतनी उद्दीप्त हो उठती है कि उसे सारे उपमान फीके लगते हैं।

बङ्गला-राधामोहन—सखियन संगे चलति नवरंगिनि शोभा बरनि न होय।
कत शत चांद चरन-तले नीछई लाख मदन तहि रोय॥[7]

यदुनन्दन—अमृत निछिया फेलि कि माधुर्य पदावली कि जानि केमन करे प्राणे।[8]

अनंतदास—कपाले चन्दन-चांद कामिनी-मोहनि फाँद आंधारे करिया आछे आला।

---

१—केलिमाल, पद सं० १०३
२—निम्बार्क माधुरी, रूपरसिकदेव, पद सं० १७, पृ० १०३
३—वही, वृन्दावनदेव, पद सं० ६०, पृ० १५८
४—कुम्भनदास, (पदसंग्रह) पद सं० १८६
५—पदकल्पतरु, पद सं० १३६
६—वही, पद सं० २३२
७—वही, पद सं० ११३
८—वही, पद सं० १४२

मेघेर उपरे चांद सवाई उदय करे निशिदिन शशि वोल कला ॥[१]

मधुनंदन—कामेर कामान जिनि भुरूर भंगिमा गो हिंगूले बेढ़िया दूटि आंखि।
कत चांद निगांड़िया मुखानि मांजिल गो जदु कहे कत सुधा दिया।[२]

राजा शिवसिंह—बाहु मृणाल पाश वल्लरि जिनि डमरू सिंह जिनि माझा।
नाभि सरोवर सरोरुह दल जिनि नितम्ब जिनिया गजकुम्भा।[३]

ब्रजभाषा : हितहरिवंश १—वृषभानु नन्दिनी राजत हैं।

× × ×

इत उत चलत, परत दोऊ पग, मद गयन्द गति लाजत है।[४]

२—अधर अरुण तेरे कैसे कै दुराऊं।
रवि शशि शंक भजन किये अपवश अद्भुत रंगनि कुसुम बनाऊं।

× × × ×

हितहरिवंश रसिक नवरंग पिय भृकुटी भौंह तेरे खन्जन लराऊं॥[५]

स्वामी हरिदास—(क) प्यारी तेरी पुतरी काजर हू ते कारी।[६]
(ख) कुंज विहारी सकल गुन निपुन ताता थेई ताता थेई गति जुठई।[७]

सूरदास—मुख छवि कहा कहौं बनाइ।
निरखि निसि पति बदन सोभा, गयो गगन दुराइ।—(प्रतीप)

× × × ×

कनक कुंडल स्रवन विभ्रम कुमुद निसि सकुचाइ
सूर हरि की निरखि सोभा कोटि काम लजाइ॥[८]

---

१—पदकल्पतरु, पद सं० १२५
२—वही, पद सं० १४७
३—वही, पद सं० २७१
४—स्फुटवाणी, पद सं० १५
५—हितचौरासी, पद सं० १४
६—केलिमाल, पद सं० ७१
७—वही, पद सं० ३०
८—सूरसागर, पद सं० ६७०

मैना सावन भादों जीते ।
इनहीं विषय प्रानि राते मनु, समुदनि हूँ जल रीते ।।
वै झर लाइ बिना है उघरत, ये न भूलि मग देत ।
वै बरषत सब के सुख कारन, ये नंद नंदन हेत ।।
वै परिमान पुजै ह्रद मानत, ये बिन धार न तोरत ।
यह विपरीति होति देखति हौं, बिना अवधि जग बोरत ।।[१] (व्यतिरेक)

सन्देह, अपह्नुति—रूप के सम्भ्रम में सन्देह का भी प्रयोग हुआ है। अपह्नुति भी ऐसे स्थलों में प्रयुक्त हुआ है।

व्रजभाषा : रूपरसिकदेव—स्याम-घन तन चंदन छबि देत ।
मनहुं मंजु मनि नील सेल पर छिली चांदनी सेत ।
किधौं भीतर ते बाहिर प्रगट्यो प्रानप्रिया के हेत ।।[२]

सूर—कंधर की धर-मेरु सखी री ।
की बग-पंगति की सुक-सीपज, मोर कि पीड़ पखी री ।।
की सुर-चाप किधौ बनमाला, तड़ित किधौ पट पीत ।
किधौ मंद गरजनि जलधर की, पग नूपुर रव नीत ।।
की जलधर की स्याम सुभग तनु, यहै भोर तैं सोचति ।
सूरस्याम रस भरी राधिका, उमंगि-उमंगि रस मोचति ।।[३]

बङ्गला : गोविन्ददास— बंकिम हास विलोकत-अंचलि मधुपर जो दिठि देल ।
किये अनुरागिनि किये विरागिनि बुझइते संशय भेल ।[४]

अनन्तदास—वरनि ना हय रूप वरण चिकनिया ।
किये घनपुंज किये कुवलयदल किये काजर किये इन्द्र निलमणिया ।।[५]

यदुनन्दन— जल नहे हिमे जनु कांपाइछे सब तनु प्रति तनु शीतल करिया ।[६]
—(अपह्नुति)

---

१—सूरसागर, पद सं० ३८५४
२—निम्बार्कमाधुरी, रूपरसिकदेव, पद सं० १७, पृ० १०३
३—सूरसागर, पद सं० २६७५
४—पदकल्पतरु, पद सं० १६२
५—वही, पद सं० २६८
६—वही, पद सं० १४३

अत्युक्ति—विरह का वर्णन स्वाभाविक मर्मस्पर्शिता के अतिरिक्त ऊहात्मक ढङ्ग से भी हुआ है। ऊहा के आश्रित 'अत्युक्ति' का प्रयोग प्रायः सभी कवियों ने किया है।

बङ्गला—गोविन्ददास—१—कांचन-यूथि-कुसुम-मयगोरि ।
निरमई युवति जतन करि तोरि।
तुया अनुभावे आलिगइ ताय ।
सो तनु तापे भसम भई जाय ।[१]

२—सरस चन्दन परशे मुरछइ।
सजल जलत चीर ।[२]

ज्ञानदास—सोनार वरण तनु । काजर भै गेल जनु ॥[३]

ब्रजभाषा :

नन्ददास—अस कछु लखिये लखन लपेटी, दुसरी मनहुं समुद की बेटी।
ता भूपति के भवन कोउ, दीप न धारत सांझ।
विन ही दीपक दीप जिमि, दिपइ कुंवरि घर मांझ॥[४]
तातें सतगुन विरह की आगी, रूपमंजरी तन-मन लागी।
चंदन चरचे अति परजरैं, इंदु किरन घृत बुंद सी परैं।
घनसारहि दिखि मुरझति ऐसें, मृगीवंत जल बरसै जैसें॥
हार के मुतिया उर झर माहीं, तचि तचि तरकि लवा ह्वै जाहीं॥[५]

भाषा—बङ्गला-कृष्णकाव्य का अधिकांश भाग 'ब्रजबुलि' नामक एक ऐसी भाषा में लिखा गया है जो बङ्गला की अपेक्षा मैथिल एवं ब्रजभाषा से बहुत मिलती-जुलती है। मैथिलकोकिल विद्यापति ने जिस भाषा में पदावली की रचना की थी, वह बङ्गाल के कवि-मानस को अत्यन्त रुचिकर हुई। मिथिला उस समय ज्ञानार्जन का प्रधान केन्द्र था। बङ्गाल से विद्यार्थी वहाँ आया जाया करते थे, फलस्वरूप वे अपने विद्योपार्जन के साथ ही वहाँ की भाषा लेते आये। अवहट्ठ की अन्तःसलिला से युक्त मैथिल मिश्रित बङ्गला, जिसमें ब्रजभाषा का भी पुट सम्मिलित हो गया, बङ्गाल के कृष्णभक्तिधारा की साहित्यिक भाषा बनी।

---

१—पदकल्पतरु, पद सं० ६०
२—वही, पद सं० २१७
३—वही, पद सं० ११६
४—नन्ददास-भाग १, [रूपमञ्जरी, पंक्ति क्रम ७५] पृ० ४
५—वही, [रूपमञ्जरी, पंक्ति क्रम ५१५] पृ० २४

भाषा की दृष्टि से व्रजबुलिकाव्य का हिन्दी से जो साम्य दृष्टिगत होता है, उसके आधार पर तत्कालीन वङ्गाल एवं व्रज के साहित्य की भाषागत एकता पर प्रकाश पड़ता है। व्रजभाषा एवं व्रजबुलि-पदावली की भाषाओं में इतना अधिक साम्य है कि वङ्गला न जानने वाला पाठक भी थोड़ी-सी कुशाग्रता से उसका अर्थ अवगत कर सकता है।

हिन्दी कृष्णकाव्य में यद्यपि साम्राज्य व्रजभाषा का है, किन्तु मीरा और विद्यापति की भाषा को देखने से पता चलता है कि इस काव्य का भाषागत क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। हिन्दी कृष्णकाव्य में राजस्थानी डिंगल, गुजराती, बुंदेलखण्डी, मैथिली आदि भाषाएं भी मिली हैं। श्री परशुराम चतुर्वेदी ने मीराबाई की पदावली का राजस्थानी भाषा में भी सम्पादन किया है। इधर हितहरिवंश जी की पदावली में संस्कृतनिष्ठ गरिमा एवं कसाव है, उधर मीरां की पदावली में पश्चिमोत्तर सीमा की राजस्थानी, गुजराती, पञ्जाबी भाषाओं की सहज स्वीकृति। अष्टछाप के कवियों की भाषा अवधी एवं पूर्वी बोली आदि से असम्पर्कित न रह सकी। आवश्यकतानुसार उर्दू के अनेक शब्दों को भी अपनाया गया है।

संस्कृतनिष्ठ व्रजभाषा

हितहरिवंश—मंजुल कुल कुंज देश, राधा हरि विशद वेश,
राका नभ कुमुद बंधु शरद जामिनी।
श्यामल द्युति कनक अंग विहरत मिलि एक संग
नीरद मणि नीलमध्य लसत दामिनी।
अरुण पीत नव दुकूल अनुपम अनुराग मूल,
सौरभयुत शीत अनिल मन्दगामिनी।
किसलय दल रचित शैन, बोलत प्रिय चाटु बैन
मान सहित प्रतिपद प्रतिकूल कामिनी ॥[१]

राजस्थानी—मुक्त प्रवलाने मोटी नीरांत थई सामलो घरेनु म्हारे साचुं रे,
थाली जड़ाऊ पीठल बर केरी हार हरी ने म्हारो हइये रे।
चीन माल चतुरभुज चुड़लो सिद सोनी घर जइये रे ॥[२]

---

१—हित चौरासी, पद सं० ११
२—मीरांबाई की पदावली, पद सं० १३९

गुजराती—प्रेमनी प्रेमनी रे प्रेमनी मने लागी कटारी प्रेमनी।
जल जमुना मां भरवा गमांतां, हती गागर माथे हेमनी रे।[१]

इस पद के अतिरिक्त गुजराती-विभक्तियुक्त पद हिन्दी कृष्णकाव्य में नहीं है।

पञ्जाबी—पञ्जाबी के शब्दरूपों का मीराबाई ने पर्याप्त प्रयोग किया है, जैसे जुल्फां, सवारियां, किनारियां, वारियां आदि। वाक्य-विन्यास भी पञ्जाबी का है—

लागि सोही जाणे कठण लगण दी पीर॥[२]

उर्दू—हरिव्यासदेव—मैं बहुते करि मानिहौं मो पर तेरो अहसान।[३]

हरिदासस्वामी—बन्दे अखत्यार भला चित्त न डुला।
न फिर दर दर पिदर वर न होउ अंवला॥[४]

परमानन्ददास—आए आए सुनियत वाग में एलान भयो।
तब लागि मदन गोपाल देखन को जासूस गयो॥[५]

**ब्रजभाषा-ब्रजबुलि का साम्य**—दिनेशचन्द्र सेन जी की उक्ति है कि ब्रजभाषा से नाम-सादृश्य एवं बंगला की अपेक्षा हिन्दी से अधिक साम्य होने के कारण अनेक लोगों ने ब्रजबुलि को ब्रजधाम की भाषा समझ रखा है। सुतराम्, केवल 'ब्रजबुलि' काल्पनिक नाम के कारण बङ्गाल की ब्रजबुलि किसी प्रकार ब्रजभाषा की प्राचीन किंवा आधुनिक भाषा होने का दावा नहीं कर सकती।[६]

---

१—मीराबाई की पदावली, पद सं० १७२
२—वही, पद सं० १९१
३—महावाणी-उत्साहसुख, पद सं० ४०
४—हरिदास स्वामी—सिद्धान्त के पद, पद सं० ६
५—परमानन्द सागर, पद सं० ४९२
६—ब्रजलीलार वर्णना, ब्रजबुलि नाम ओ बांगलार अपेक्षा हिंदीर सहित अधिकतर सादृश्य देखिया, अनेकेइ ब्रजबुलि के ब्रजधामेर भाषा बलिया अनुमान करियाछेन—सुतरां। शुधू 'ब्रजबुलि' काल्पनिक नामटिर जोरे बांगलार ब्रजबुलि कोन मतेइ ब्रजधामेर प्राचीन वा आधुनिक भाषा बलिया दाबि करिते पारे ना।—पदकल्पतरु, पांचवां खण्ड, पृ० २३४

इस कथन में स्पष्ट रूप से यह स्वीकार किया गया है कि ब्रजबुलि ब्रजभाषा का पूर्ववर्ती या परवर्ती रूप नहीं है, पर यह भी स्वीकार किया गया है कि ब्रजबुलि का सादृश्य (नाम के अतिरिक्त भी) बङ्गला की अपेक्षा हिन्दी से अधिक है। इस युग का साहित्य हिन्दी उपकरणों से विशेषरूप से पुष्ट है—वृन्दावन की भाषा वैष्णव समाज की मौखिक भाषा में मिली-जुली थी, साहित्यिक भाषा भी वही बनी।[१] यह बात ब्रजबुलि के व्याकरण से पूर्णरूपेण स्पष्ट हो जायेगी।

पद—ब्रजबुलि की शब्दावली हिन्दी की शब्दावली से बहुत अधिक एकाकार है। यदि कहीं अन्तर आया है तो बङ्गप्रान्तीय उच्चारण के कारण। सादृश्यजनक शब्दों का थोड़ा-सा दिग्दर्शन यहाँ इस तथ्य को समझाने में सहायक होगा, यथा—

(१) किशलय शेज मणि-माणिक मास।
जल माहा डारह सबहुं जंजाल॥
अब कि करब सखि कह न उपाय।
कानु बिनु जिउ काहे नाहि बाहिराय॥[२]

(२) राइ नियडे (नियरे) उपनीत।[३]

(३) पहिले शुनिलुं ग्रनरूपध्वनि।[४]

---

१—एइ युगेर साहित्य हिन्दी-उपकरणे विशेषरूपे पुष्ट। एखन जे रूप इंगराजीभाषार राजत्व, वैष्णव-धर्मेर प्रभावकाले तखन छिल वृन्दावनीभाषार राजत्व।...एखन जे रूप आमरा बांगलाकथार मध्ये चारि आना इंगराजी मिशाइया विया देखाइया थाकि, सेखन सेइरूप वैष्णववर्गेर बांगला कथा चारि आना वृन्दावनीर मिश्रणे सिद्ध हइत।...

वैष्णव समाजेर कथित बांगला तखन वृन्दावनी भाषा-मिश्रित हइया छिल। सुतरां ताहांरा मुखे जाहा बलितेन लेखनीते ताहाइ व्यवहार करियाछेन।—'बंगभाषा ओ साहित्य' (दीनेशचन्द्रसेन) अष्टम संस्करण, पृ० २२६-२७

२—पदकल्पतरु, पद सं० ३६७

३—वही, पद स० ३६६

४—वही, पद सं० ३३

(४) राइक ऐछे दशा हेरि एक सखि तुरतहि करल पयान ।
निरजने निजगण सने जाहाँ माधव जाइ मिलल सोइ ठाम ।
शुन माधव अब हाम कि बोलब तोय
सो वृषभानु कुमारि वर सुन्दरि अहोनिशि तुया लागि रोय ।[१]

(५) मानिनि नाहक कि करसि रोय ।
निकटे आनि बात दुइ पूछिये ....[२]

(६) तेरे बन्धु हात भीख हम लेयब[३]—

इस प्रकार न जाने कितने ही शब्दों मे हिन्दी का प्रभाव सुस्पष्ट है। पदों के अतिरिक्त ब्रजबुलि और ब्रजभाषा के अन्य व्याकरण-रूपों में साम्य है। क्रियायें प्रायः एक-सी हैं। ब्रजबुलि की क्रियाओं पर बङ्गला एवं मैथिल की छाप भी पड़ी है, जैसे बैठलि, अनलि, टूटलि, झांपल आदि। वचन एवं सर्वनाम तथा प्रत्यय में भी पर्याप्त साहश्य है।

**वचन**—ब्रजबुलि में द्विवचन के लिए दुहुं, दोन का प्रयोग होता है और ब्रजभाषा में दोऊ का प्रयोग किया जाता है।

**लोचन मन दुहुं धाव ।[४]**
**एक सुभाव एक वय दोऊ, दोऊ हरि कौं प्यारी ।[५]**

बहुवचन के लिए ब्रजबुलि में सब गण प्रयुक्त होते हैं। ब्रजभाषा में भी 'सब' का प्रयोग किया जाता है।

**दिवस तिल आध राखवि यौवन, रहइ दिवस सब जाब ।[६]**
**बानिक बनि चली चोख मोख सो ब्रजजन सब इकसार ।[७]**

---

१—पदकल्पतरु, पद सं० ३७
२—वही, पद सं० ४५४
३—वही, पद सं० ३९८
४—वही, पद सं० १५८
५—सूरसागर, पद सं० ४६०६
६—पदकल्पतरु, पद सं० ४६३
७—चतुर्भुजदास [पद संग्रह], पद सं० ७८

'गण' का प्रयोग ब्रजबुलि में बहुलता से किया गया है, यह संस्कृत किंवा बङ्गला का प्रभाव है।

सर्वनाम—ब्रजबुलि के सर्वनामों में निजी विशेषता भी है, उनमें बङ्गला, मैथिल एवं ब्रजभाषा का प्रभाव भी पड़ा है।

अस्मद्—ब्रजबुलि में अस्मद् के कई रूप ब्रजभाषा से मिलते हैं जैसे हम, हाम, हमें-हामें, मोर-मेरो, हमारि, आदि। यथा—

हम-हाम—आजु हाम देयब तोहे उपदेश। —प० क० त०, पद ४६।

जो हम भले बुरे तो तेरे। —सू० सा०, विनय, पद—१७०।

ब्रजबुलि में हम की अपेक्षा हाम का प्रयोग अधिक हुआ है। ब्रजभाषा में हम अधिकतर प्रथमा द्विवचन किंवा बहुवचन में प्रयुक्त होता है, यद्यपि कहीं कहीं एकवचन में भी प्रयुक्त किया गया है जैसे उपर्युक्त उदाहरण में। ब्रजबुलि में 'हाम' का प्रयोग प्रथमा एकवचन में होता है।

हमें-हामें—अलिखित हामें हरि विहंसलि पोर।—प० क० त०, पद १६३।

हमें नन्दनन्दन मोल लिए। —सू० सा० विनय, पद १७१।

हामारि-हमारी – हामारि निठुरपना शुनइ इन्दुमुखी। प० क० त०, पद ४७।

तुम्हें हमारी लाज बड़ाई। —सू० सा० विनय, पद १७०।

मोर-मेरो—हरि हरि काहां गेओ प्राणनाथ मोर।—प० क० त०, पद ७६६।

सूरदास हंसि कहत जसोदा, जीत्यो है सुत मोर।

—सू० सा०, पद ८५८।

नाचत मोहन चन्द-दुलाल मेरो कान। —प० क० त०, पद ११४२।

मेरो मन लागो हरिसूं, अब न रहूँगी अटकी।

—मीराबाई की पदावली, पद २४।

मोहें-मोहि—गुरुजन मोहे कबहुं नह बाम। प० क० त०, पद १६०७।

मोहि लागी लगन गुरु चरनन की।

—मीराबाई की पदावली, पद १२५।

मोय—दुरजन वचन श्रवणे तुहु धारलि, कोपहि राखलि मोय।

—प० क० त०, पद ५०६।

युष्मद्—तुहुं, तोर, तोहारि, ताहे, तोसों, तोय आदि ब्रजबुलि के प्रचलित युष्मद् सर्वनाम-रूप हैं।

तुहुं-तुही—तुहुं बर-नारि चतुर बर कान।—प० क० त०, पद १२८।

देखि तुही सींके पर भाजन।—सू० सा०, पद ६५२।

तोर-तेरो—धनि धनि रमणि जनम धनि तोर।—प० क० त०, पद ६१।

मन्दिर लिखत छांड़ि हरि अकचक देखत हैं मुख तेरो।

—चतुर्भुजदास [पद संग्रह], पद सं० २५६।

तोहारि-तिहारी—नख पद हृदये तोहारि।—प० क० त०, पद ४२३।

और कछू हम जानति नाहीं, आई सरन तिहारी।

—सू० सा०, विनय, पद २२१।

तेरा तेरी—पन्थ नेहारत तेरा।—प० क० त०, पद ३१८।

तेरी सौं सुनु सुनु मेरी मैया। सू० सा०, पद ६५३।

ताको-ताक—ताकी सरवरि करै सो झूठौ।—सू० सा०, विनय, पद ३२४।

कि करब हाम ताक परबोधे।—प० क० त०, पद २५१।

तोहे-तोहि—मरमक वेदन तोहे परकाशल।—प० क० त०, पद १६६।

तोहि मनावन लाल।—गोविन्दस्वामी [पद संग्रह], पद ३१६।

तद्—ब्रजभाषा एवं ब्रजबुलि में सो, तापर, सोइ, ताहे (ताहि) समान रूप से प्रचलित हैं।

सो—सो हेन सुनागर सब गुण-सागर।—प० क० त०, पद १२७।

ज्ञानरूप हिरदै में बोलै, सो बछरनि के पाछैं डोलै।—सू० सा०, पद ६२१।

सोइ—आइ मिलब सोइ ठाम।—प० क० त०, पद ३७।

सोइ कुलीन, बड़ौ सुन्दर सोइ, जिहि पर कृपा करै।

—सू० सा०, विनय, पद ३५।

तापर— हिमकर-मदन-मिलित-मुख-मण्डल, तापर जलधर माला।
—प० क० त०, पद १६६।

जुगल कमल पर गज वर क्रीड़त, तापर सिंह करत अनुराग।
—सू० सा०, पद २७२८।

यद्—जो, जेइ, जाहि, जा सत्रे, जञ्छ, जाक, जाकर, जाके आदि ब्रजबुलि के यद् सर्वनाम के रूप हैं। इनमें से कुछ ब्रजभाषा के अनुरूप हैं। जैसे—

जो—जो पुरुख-रतन जतन नाहिं पाइये।—प० क० त०, पद ५१७।
जो घट अन्तर हरि सुमिरै।—सू० सा०, विनय, पद ८२।

जोइ—जोइ अधरे सदा मधुरिम हास।—प० क० त०, पद ६३।
जोइ-सोइ कछु गावै।—सू० सा०, पद ६६१।

जाक-जाको—तामहि जाक अवश भेल अङ्ग।—प० क० त०, पद १०७।
जाको नाम राधिका गोरी, ताको नित सुहाग।
—गोविन्दस्वामी, [पद संग्रह], पद ११०।

कौन—ब्रजबुलि में कौन, का 'को' 'कोन' रूप प्रचलित हैं।
को—सजनी को कह आउब माधव।—प० क० त०, पद १६५७।
सरन गये को को न उबार्‌यो।—सू० सा०, विनय, पद १४।
कोन-कौन—कोन सोम आगे चलित धाइया।—प० क० त०, पद २६२।
जन की और कौन पति राखै।—सू० सा०, विनय, पद १५।
कोई—मरकत-मदने कोइ जनु पूजल।—प० क० त०, पद ३०२।
कोई कहियो रे प्रभु आवन की।—मीराबाई की पदावली, पद १२२।

कारक—ब्रजभाषा तथा ब्रजबुलि के कर्त्ता ,एवं कर्मकारक में कोई विभक्ति नहीं होती। ब्रजबुलि कर्त्ताकारक में कभी-कभी 'ए' विभक्ति का प्रयोग किया जाता है। इन दोनों भाषाओं के करण कारक में कोई साम्य परिलक्षित नहीं होता, ब्रजबुलि में ए, हि, हि विभक्ति चिह्नों का प्रयोग होता है, ब्रजभाषा में 'तैं' पैं आदि का। अपादान कारक में भी 'से', 'सत्रे' और 'तें' का अन्तर है; किन्तु इन भाषाओं के सम्बन्धकारक में आश्चर्यजनक साम्य है। ब्रजबुलि में ब्रजभाषा की ही भाँति सम्बन्ध-कारक में 'का' 'कि' 'को' का प्रयोग किया जाता है यद्यपि इसका इकरान्त, अकारान्त

लिङ्गभेद से प्रेरित नहीं है। केवल 'क' का प्रयोग ब्रजबुलि की अपनी विशेषता है। जैसे -

क—मीटब पुरवक दूख।—प० क० त०, पद १०४२।

कि, की—डारसि शोक कि कूपे।—प० क० त०, पद ४४०।

मथत मदन की पीर।—हितचौरासी, पद ३७।

के—जाके मन्त्री अभिन्न कलेवर।—प० क० त०, पद ११।

जाके सिर मोर मुकुट।—मीराबाई की पदावली, पद १५।

ब्रजबुलि में अधिकरण कारक का विभक्ति-चिह्न प्रायः 'ए' 'हि' 'हिं' है। कहीं-कहीं 'मध्य' के लिए 'मांह' 'माहा' 'माझे' का प्रयोग हुआ है जो ब्रजभाषा के निटक है। यथा—

मांझ—शूतलुं मन्दिर मांझ।—प० क० त०, पद ६०८।

कहा करौं सुंदर मूरति, इन नैननि मांझ समानी। —सू० सा०, पद २२७५।

मांहि-माहा—हौं उन मांह कि वे मोहि महियाँ।—सू० सा०, पद ७५३।

चन्दन-चान्द माहा मृगमद लागल।—प० क० त०, ४०५।

प्रत्यय—ब्रजबुलि के प्रत्ययों का साम्य अवधी से अधिक है। ब्रजभाषा की क्रियाओं के प्रत्यय ब्रजबुलि के कुछ प्रत्ययों से मिलते हैं।

—अत—निरखि वदन पुछत बात।—प० क० त०, पद १२५६।

उमत झुमत ढरत चरत, चरन धरत थोर।—वही, पद ३८२।

फूल के हार आछे हिए दरसत हैं॥

× × ×

सीतल पान मुख बीरा रचत हैं।—गोविन्दस्वामी [पद संग्रह], पद १६४।

—अये—आने वा पातये कान—प० क० त०, पद ६८५।

ते सब भूखे दुःखित भए। गज को मोह छांडि उठि गए।

सू० सा०, पद ४ ६।

इ—सूर तरौ हरि के गुन गाइ। सू० सा०, पद ४२८।

काहु के चुम्बइ कांचुलि फारइ। प० क० त० पद ६१५।

—ए, ऐ—ज्ञावदास कहे उहार उइ से बेमार।—प० क० त०, पद ८२६।

काहु के वैर कहा सरे,

ताकी सरवरि करै सो झूठौ जाहि गोपाल बड़ौ करै।

—सू० सा०, विनय, पद २३४।

—इये—जत निवारिये नाथ निवार न जाय रे।—प० क० त०, पद ८३५।

अब मोहि सरन राखिये नाथ।—सू० सा० विनय, पद २०८।

—ओ, औ—तोहे कहाँ सुबल सांगाति।—प० क० त०, पद ५६।

लाज ओट यह दूरि करौ।—सू० सा०, पद १४०८।

व्रजबुलि की भूतकालिक क्रियाओं में अल, अलि, अलु का प्रयोग मैथिली एवं बङ्गला के सदृश है, ब्रजभाषा के नहीं। भविष्यत् काल में 'अब' प्रत्यय अवधी के 'अब' (करब, जाब) प्रत्यय से एकदम मिलता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अन्तर्विभेद होते हुए भी ब्रजभाषा एवं व्रजबुलि में पर्याप्त समानता है। इसी साम्य के आधार पर बङ्गाल की भाषा को व्रज की बोली (बुलि) कह दिया गया है। वस्तुतः व्रजबुलि है बङ्गाल की ही भाषा, ब्रज की नहीं, किन्तु मध्ययुग में कृष्णभक्ति की प्रदेश-प्रदेशान्तर व्यापी प्रेरणा ने इन दोनों प्रान्तों की साहित्यिक भाषाओं को कुछ हद तक एक-सा करना चाहा। सांस्कृतिक दृष्टि से यह भाषा-साम्य विशेष महत्त्वपूर्ण है।

———

# संस्कृति

# मध्ययुगीन कृष्णभक्ति आन्दोलन का सांस्कृतिक मूल्यांकन

## आध्यात्मिक-संस्कृति में योगदान

धर्म, भारत का प्राण है, सामाजिक जीवन की मूल प्रेरणा है। धर्म का अर्थ ब्रह्म का गूढ़ सूक्ष्म दार्शनिक विवेचन ही नहीं है, वरन् जीवन की एक व्यवस्था और स्वभाव है। जीवन का संचालनकरने वाली मूल प्रकृति है, जैसा कि भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा था कि स्वधर्म के आचरण में मृत्यु भी श्रेयस्कर है, परधर्म में सफलता भी हेय है। भारत का यह धर्म मात्र वाह्याचार का समर्थक न होकर जीवन के आन्तरिक विकास का पोषक रहा है, आन्तरिक ही नहीं, उस आन्तरिक विकास से ओतप्रोत वाह्य विकास का भी। अन्तर के विकास की चरम-इति पैने मानसिक दृष्टिकोणों पर आधारित बुद्धि-कौशल नहीं है, और न वह ताड़ना है जो देह और प्राण की वृत्तियों को जबर्दस्ती वश में रखने का प्रयास करती है; न ही वाह्य विकास, का तात्पर्य जीवन की सुख-सुविधा का अधिकाधिक उपभोग है। भारत में आन्तरिक-विकास चेतना की उस 'संवित्' पर जाकर विश्राम लेता है जो आत्म-पूर्ण है, सारी अपूर्णता जिसका अर्द्ध किंवा प्रच्छन्न प्रकाशन है और जो सतत उसके आकर्षण से बँधी उसी ओर अभियान कर रही है।[१] यह चैतन्य बुद्धि, प्राण, देह—

---

१. "Spirituality is not necessarily exclusive, it can be and it must be all-inclusive . . . But still there is a great difference between the spiritual and the purely material and mental view of existence. The spiritual view holds that the mind, life, body are man's means and not his aims and even that they are not his last and highest means, it sees them as his outer instrumental self and not his whole being. It sees the infinite behind all things finite by higher infinite values of which they are the imperfect translation and towards which, to a truer expression of them, they are always trying to arrive." —Shri Aurobindo, The Renaissance of India, P. 70.

सबकी चेतना का पूर्ण उत्स है और उनके प्रत्यारोहण का अनिवार्य विश्रामस्थल। इस संवित् की संज्ञा 'अध्यात्म' (Spirit) है। इसमें मनःपरक सीमाएँ टूट जाती हैं, इसका आलोक अपनी बृहत् असीमता में न केवल मन, वरन् प्राण और देह की चेतना को भी पूर्ण संसिद्धि प्राप्त कराता है, उन्हें किसी कैद में न रख कर अथवा स्वच्छन्द अस्त-व्यस्त में न छोड़कर उनकी आत्म-परिणति तक पहुँचाता है। यही प्रज्ञा अभिव्यक्त चेतना में सञ्चरण कर बाह्य जीवन को ऐसी सुचारुता, ऐसा सामञ्जस्य प्रदान करने को प्रयत्नशील है जिसमें पार्थिव-अपार्थिव का तीव्र भेद मिट जाता है।

यह अध्यात्म, भारतीय जीवन-साधना का मूलमन्त्र है। इतिहास में इस अध्यात्म के कई मोड़ आये। आरम्भ में वैदिक संस्कृति मानव के अन्तर्बाह्यजीवन को अध्यात्म-चेतना से ओतप्रोत करने में प्रयत्नशील रही। सत्ता का कोई अङ्ग इसके स्पर्श के अयोग्य नहीं समझा गया। इस संस्कृति का प्रभाव उपनिषद् काल तक रहा. ब्राह्मण काल में ऊर्ध्व चेतना से रहित कर्मजीवन का मायाजाल फैला हुआ था, और इसके ठीक विपरीत बौद्धकाल में जीवन का एकदम तिरस्कार कर 'शून्य' में विलीन हो जाने का श्रमण-अध्यात्म खड़ा हो गया। जीवन में ये दोनों अतिवाद अधिक दिन तक टहर न सके। बौद्धमत के प्रभावस्वरूप शङ्कर का अद्वैतवाद जब जन-जीवन में घोर अनास्था, कुण्ठा उत्पन्न करने लगा तब भक्ति-सम्प्रदायों का अभ्युदय हुआ। ब्राह्मण एवं तन्त्र की उपयोगितावादी अन्तचेतना-शून्य प्रवृत्ति तथा शङ्करमत की जीवन-विहीन निवृत्ति, दोनों की मध्यस्थ रेखा पर खड़े होकर सगुणभक्ति-पन्थ, विशेषकर कृष्ण-भक्ति आन्दोलन ने अध्यात्म और जीवन के सामञ्जस्य की ऐसी उर्वर भूमि खोज निकाली जिससे सन्तप्त भारतीय जीवन बहुत कुछ तृप्त हो सका। कृष्णभक्तिधारा में किसी प्रकार के अतिवाद को प्रश्रय नहीं दिया गया। वैराग्य का गुणगान करने वाली निवृत्ति की उसने दाद नहीं दी, संसार की एषणाओं पर आधारित प्रवृत्ति का उसने समर्थन नहीं किया। निवृत्ति में प्रवृत्ति का दिव्य सन्देश लेकर कृष्णभक्ति अवतरित हुई—जीवन में मनुष्य को प्रीतियुक्त करते हुए उसने आत्मोज्ज्वल, निर्विकार प्रवृत्ति का सन्देश दिया। यह प्रवृत्ति धर्मशास्त्र या समाज-शास्त्र द्वारा सञ्चालित प्रवृत्ति नहीं थी, वरन् आत्मसंस्कार की वह आत्यन्तिक स्थिति थी जहाँ प्रवृत्ति, निवृत्ति बन जाती है, निवृत्ति प्रवृत्ति, तथा जहाँ जीवन भक्ति बन जाता है भक्ति जीवन।

भारतीय साधना के इतिहास में उत्तर भारत में कृष्ण-भक्ति का उन्मेष एक ऐसा मोड़ था जहाँ पर बाह्य-जीवन में चलने वाले झंझावात में प्रकाश-स्तम्भ खोजना अनिवार्य हो उठा। कहा जाता है कि राजनीति में निःशक्त होकर हिन्दुओं ने

ईश्वर के सगुण अवतार का पल्ला इसलिये पकड़ा कि वे जीवन के पराजय से उत्पन्न नाना प्रकार की हीनताओं को भूल जायँ। सङ्घर्ष की क्षमता उनमें नहीं रही। अस्तु, वास्तविकता से पलायन के लिये अवतारी श्रीराम से अधिक श्रीकृष्ण उपयोगी सिद्ध हुए, विशेषतः भी उनकी वृन्दावन-क्रीड़ा। आत्म-पराजय को विस्मृत करने के लिये कृष्ण का इतना रक्षक, मधुरातिमधुर चित्र खींचा गया कि सङ्घर्षजन्य कटुता के विष की एक बूँद भी उन्हें न छू सके। किन्तु यही सम्पूर्ण सत्य नहीं है। इस पर कुछ गहराई से विचार करने की अपेक्षा है। यह सत्य है कि वहुधा ईश्वर का आश्रय अहं के परास्त होने पर ही मनुष्य ग्रहण करता है, किन्तु पराजय से उत्पन्न ग्लानि भगवान् के त्रातारूप का स्मरण करती है, रक्षक रूप का नहीं। ईश्वर के जिस रूप को कृष्णभक्ति ने अपनाया वह धर्मरक्षक, विजेता का न होकर, रक्षक, ललित, मनोज्ञ क्रीड़ाप्रियता का है। जिस मुगल-शासन में कृष्णभक्ति का आविर्भाव हुआ वह शान्ति और समृद्धि का युग था। राजनीति में कुछ शासकों में चाहे टीस उठती रही होगी, किन्तु जनसाधारण राजनैतिक जीवन से तटस्थप्राय था, वह बाह्य सङ्घर्ष में कोई रुचि लेता नहीं दीखता। यदि उसे राजनीति में रुचि होती तो रावण-दलनकारी प्रभु रामचन्द्र यशोदानन्दन गोपीजनवल्लभ कृष्ण से अधिक प्रिय हुए होते। किन्तु यह ऐतिहासिक तथ्य है कि कृष्णभक्ति ही अधिक लोकप्रिय हुई। इसका कारण यह था कि जनसाधारण किसी बाह्य व्यवस्था में शान्ति न खोजकर अपने आन्तरिक जीवन में एक ऐसा समन्वय खोज रहा था जिसके प्रकाश से स्नात होकर बाह्य-जीवन स्वतः स्वच्छ, शान्त और पवित्र बन सकें। धार्मिक जीवन में तान्त्रिक वामाचार से जनता विक्षुब्ध थी, अद्वैतवादियों के नकली संन्यास से वह खिन्न थी। इन दोनों के विकारों से दूर रहकर इनमें निहित सत्य को वह पा लेना चाहती थी। इधर मुगलों की सामाजिक एवं कलात्मक भव्यता से भी वह प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकी। किन्तु उसमें से विलासिता की जो बू आ रही थी, वह सात्विकताप्रिय हिन्दू जनता को पसन्द न थी। जीवन को भव्य भी बनाया जाय, साथ ही दूषित न हो, उसे कलात्मक भी बनाया जाय किन्तु पलायनवादी न हो, इन प्रेरणाओं ने मध्ययुगीन भारतीय संस्कृति को अनिवार्यतः आध्यात्मिक बना दिया। किन्तु यह आध्यात्मिकता परलोक पर टकटकी लगाये रखने वाली नहीं थी। ऐसी थोथी आध्यात्मिकता से लोग काफी ऊब चुके थे। ब्रह्म तो सत्य था ही, जगत् की भी सत्यता मनवाई गई। लीला-प्रवण कृष्ण को केन्द्र बनाकर जिस संस्कृति का उदय हुआ, वह आध्यात्मिकता में सारे संसार को समेट लाई।

कृष्णभक्ति ने न केवल आत्मा या बुद्धि के प्रकाश में परम चेतना का साक्षात्कार किया, वरन् रागात्मकता एवं इन्द्रिय-वृत्ति को भी उसके प्रकाश में डुबाकर उसे महाश्वेता ही नहीं रहने दिया वरन् कृष्ण के मोरमुकुट की भाँति इन्द्रधनुषी बना डाला। मानव प्रवृत्ति का कोई अङ्ग छोड़ा नहीं गया। मानव की भावप्रवणता, ऐन्द्रियता को भी स्थान मिला, किन्तु साधारण मानवचेतना के उस धरातल पर नहीं जिसके अधःप्रवाह के दुर्दान्त प्रतिक्रियास्वरूप निवृत्तिमार्गी शङ्कर का अद्वैतवाद तथा बुद्ध का शून्यवाद गर्जन कर उठा था। सत्ता के अङ्गों को छोड़ा नहीं जा सकता किन्तु इन्हें ज्यों का त्यों अपनाना भी तो विकसित मानव-चेतना के लिये उत्साहजनक नहीं है। जगत् की सत्यता का अर्थ जीवन को यथायथ स्वीकार कर लेना नहीं है। जीवन के अन्धकार में बन्दी मत्प्रवृत्ति की मुक्ति जगत् की सत्यता का रहस्य है। कृष्णकथा भी यहीं से आरम्भ होती है। भाद्रपद की अंधेरी मध्यरात्रि में श्रीकृष्ण का उदय, अन्धकारग्रस्त जीवन में सत्य-सौन्दर्य-मण्डित दिव्य मानव-चेतना का उदय है। चेतना का यह पुरुषोत्तम-प्रकाश ही क्षर-जीवन का वास्तविक सञ्चालक है, देह मन-प्राण की टटोलती हुई वृत्तियाँ नहीं। मध्ययुग के भक्ति-आन्दोलन ने विशेषकर कृष्ण-भक्ति आन्दोलन ने देह, प्राण, मन को उनके पङ्क से निकालकर कृष्ण की चिदात्मक क्रीड़ास्थली में पहुँचाया। ब्रह्म और मानव का सम्बन्ध केवल आत्मा तक ही सीमित नहीं है, 'अहंब्रह्माऽस्मि' का गौरव वाक्य ही साधना की इति नहीं है। मन, प्राण के तमाम वैचित्र्य में ब्रह्म का उतरना, इदम् का ब्रह्ममय होना, 'सर्वंखल्विदंब्रह्म, जीवन जगत् की परम परिणति है—यही कृष्णभक्ति की विजय है।

बहुधा यह आरोप लगाया जाता है कि मन-प्राण के वैचित्र्य में उतरने से ब्रह्म मानव हो गया। कृष्ण का चित्रण अत्यन्त मानवीय रङ्गों और आकारों में हुआ। किन्तु मानव को जो साधन प्राप्त हैं, उन्हीं के माध्यम से तो वह ब्रह्म का अनुभव करेगा। अपने अनुभव, अपने सम्बन्धों के अतिरिक्त वह ब्रह्म का साक्षात्कार किस प्रकार करे? क्या उन्हें अगम, अगोचर कहकर छोड़ दे? अपनी पूर्णता की खोज भी तो उसे है, और उसका यह विश्वास है कि ब्रह्म समस्त पूर्णता का आकर है। भारतीय साधना में ब्रह्म केवल सूक्ष्म अनिर्वचनीय अनुभूति नहीं है, वह हमारे भौतिक, मानसिक, नैतिक, सामाजिक आत्मान्वेषण की सिद्धि है। वह व्यक्तिगत एवं सामूहिक पूर्णता का प्रेरक एवं सञ्चालक है। अवतार दशा में इसी प्रयास को प्रतिफलित करने वह पृथ्वी पर मानवीय रूप धारण कर आता है। यह जगत् यन्त्रारूढ़ की भाँति जिनसे परिचालित हो रहा है, जो सम्पूर्ण भूतों के ईश हैं, वे यदि

किसी उद्देश्य से अपनी अतिमानवता को छिपाकर मानवीयता का आवरण ओढ़ते हैं, तो उसमें 'मानवीयता' के आरोप की गुञ्जाइश कहाँ हैं ? मानवीयता की परिपूर्णता ही कृष्ण का अतिमानवत्व है। मनुष्य और भगवान् का परस्पर अविनाबद्धभाव है। इन दोनों को पृथक् नहीं किया जा सकता, इस विच्छेद से सत्य नष्ट हो जाता है।[१] इस कृत्रिम भिन्नता ने ही तो उद्देश्यहीन प्रवृत्ति और निरुद्देश्य निवृत्ति को जन्म दिया। कृष्णभक्ति में मानवीय रस की प्रचुरता है किन्तु यह मानवीयता ऐसी है जो दिव्य बन चुकी है, अतिचेतन को अपने में रमण कराने की योग्यता से भरपूर है। यह दिव्य मानवीयता कोई खिलवाड़ नहीं है, अविचलभाव से व्यक्तित्व के सब अङ्गों को पुरुषोत्तम में समर्पित करने की अथक, अतन्द्रिल साधना का परिणाम है। कृष्ण-भक्ति ने मानव-मन के समस्त वैचित्र्य को, प्राण की अजस्र गतियों को, कृष्ण से सम्बन्ध जोड़ने की छूट दे दी। अर्जुन से भी श्रीकृष्ण ने यह प्रतिज्ञा की कि जो उन्हें जिस भाव से भजता है वे भी उसे उसी भाव से भजते हैं। भक्त और भगवान् का आदान-प्रदान अनोखा है। इष्टदेव के वचन से आश्वस्त होकर कृष्णभक्त ने हृदय के स्थायी अनुराग से तो कृष्ण से रति जोड़ी ही, साथ ही मन में सञ्चरण करने वाले असंख्य लघु-लघु भावों (सञ्चारी), चित को विचलित करने वाले नाना कायिक, वाचिक, मानसिक गुणों (उद्दीपन), भाव-चेष्टाओं (अनुभाव) तथा देह को अधिकृत करने वाले विकारों (सात्विक) को भी कृष्णरति के अतिरिक्त और कुछ सोचने तथा अनुभव करने का अवसर नहीं दिया।

इसीलिए कृष्णरति इतने सङ्कुल रूप में मानव-व्यक्तित्व पर चरितार्थ हुई। कृष्ण ने भक्त के किसी भाव, विचार, देहगत चेष्टा को नहीं छोड़ा। इन सभी को अपनी मानवीय लीला के आकर्षण में बाँध लिया, बाँधकर ऐसी अलौकिकता प्रदान किया कि ये मानवीय होकर भी दिव्य हो गये; उनकी लीला को अभिव्यक्त करने में सक्षम हुए, किसी महत् 'शून्य' से अभिभूत होकर आत्मविसर्जन करने को मजबूर नहीं किये

---

१. "Man and God exist together. One cannot be seperated from the other. Any attempt to do so must destroy the reality of both. Yet the two cannot be identified with one another without similarly destroying the reality and truth of both. This is the central God-idea as it is also the central man-idea in the philcsophy of Bengal Vaishnavism".—Bipil Chandra Pal, Bengal Vaishnavism, P. 139.

गये। अंशी से जुड़ कर अंश पूर्ण हो गया और अंश में अभिव्यक्त होकर अंशी कृतार्थ।

किन्तु लौकिक-अलौकिक का परस्पर ओतप्रोत-भाव बहुत दिनों तक क़ायम न रह सका। भक्तिकाल के समाप्त होते ही जो युग आया उसमें कृष्णभक्ति की अद्‌भुत उपलब्धि ने ऐसा विकृत रूप धारण किया कि अवाक् रह जाना पड़ता है। कुछ समय तक तो कृष्णभक्ति जनजीवन को ललित कृष्ण-प्रेम की ओर उन्मुख करती रही, किन्तु बाद के युग में इसका परिणाम क्या हुआ? रीतिकालीन साहित्य और सहजिया सम्प्रदाय की मान्यताओं का जन्म कहाँ से हुआ? इसका दावा नहीं किया जा सकता कि कृष्णभक्ति-आन्दोलन में परवर्ती काल की प्रवृत्तियों का कोई बीज नहीं था। यह सच है कि कृष्णभक्ति-धारा ने जानबूझ कर अपनी उदात्त भाव-साधना में ऐसे तत्वों की मिलावट नहीं की जो मानव की मानवीय तो क्या, पाशविक अधोगति का द्वार उन्मुक्त कर दें। मानवता को उन्नत करने के लिये सम्पूर्ण करुणा और आन्तरिक सच्चाई के साथ कृष्णभक्ति-धारा प्रयत्नशील हुई। सम्भव है कि प्रवृत्ति की स्वीकृति में वह इस दुष्परिणाम के प्रति अधिक जागरूक नहीं थी; किन्तु यह भी सम्भव है कि मानवीयता के दिव्य रूपान्तर की प्रणाली में ही कोई ऐसी भूल रह गई हो जिसने जनसाधारण के जीवन को और भी निम्नस्तर पर उतर जाने का सहारा दिया। क्या यह नहीं कहा जा सकता कि उनकी पकड़ अत्यधिक मानवीय थी—मानवीय प्राण, संवेग, देह, और मन की पकड़! कृष्णभक्ति के उन्नायकों की संरक्षकता में मानव-व्यक्तित्व के अङ्गों ने अपनी दिव्य दिशा पहिचानी अवश्य, किन्तु इन ज्योति-वाहकों के संसार से तिरोहित होते ही संवेग, प्राण आदि ने अपना गन्तव्य भुला दिया। ये भ्रान्त होते-होते पथभ्रष्ट हो गये। यद्यपि कृष्णभक्ति के अभ्युदय में मानव-मन की अधःप्रवृत्तियों ने आत्मोन्नयन किया किन्तु क्या फिर भी यह उन्नयन आत्यन्तिक था? क्या उसमें किसी खास गहरी सत्ता के नियन्त्रण की आवश्यकता नहीं थी? ऐसा प्रतीत होता है कि उनका पूर्णरूपान्तर नहीं सध सका, क्योंकि दृष्टिकोण के मूल में ही कोई त्रुटि रह गई—त्रुटि थी मानवीयता को उसके समस्त ऊँचे-नीचे रूपों में ग्रहण कर लेना। समर्पण से मानवीयता दिव्यता में परिणत अवश्य हो सकती है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि समर्पण में किसी प्रकार का वर्जन न हो। प्रतिकूल बातों का वर्जन समर्पण की अनुकूलता के लिये आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। कृष्णभक्ति ने विरोधी भावों तक को कृष्ण में संजोने का मार्ग प्रशस्त किया, किन्तु जो भाव अत्यन्त सङ्कुचित हों, भक्ति में समर्पित

न हो पाते हों, उन क्षुद्रातिक्षुद्र भावों को कृष्ण-प्रेम की स्थायी रति में सञ्चारी बनाकर भक्तिमय बना डालना क्या सबके लिये सम्भव है ? भक्ति का जो मूलभूत गम्भीर मनोभाव है वह तिरोहित हो गया—रह गया उद्वेग, प्रलाप, मूर्च्छा, त्रास, शंका, अपस्मार आदि प्राणगत आवेगों का स्वच्छन्द विलास । भागवत् प्रेम में अन्तश्चेतना की अतल गहराइयों का निःशब्द उन्मीलन, अन्तरात्मा के शतदल की सौन्दर्य-पंखुड़ियों का खिलना थोड़े ही कवि देख पाये । यद्यपि राधा में प्रेम की मौन मधुरिमा का कहीं-कहीं प्रस्फुटन हुआ है, किन्तु कुल मिलाकर प्रेम का हाहाकार ही सर्वत्र सुनाई पड़ता है । कारण यह है कि कृष्णभक्ति की प्रेरणा विशुद्ध चैत्यप्रवण (Psychic) न होकर संवेग एवं प्राणगत है । अन्तरात्मा या चैत्यसत्ता के प्रभाव से भागवत्प्रेम जिस मधुर विकास के साथ अभिव्यक्त होता है वह सवेग, प्राण के द्वारा नहीं । वह सत्ता नितान्त हृद्-गुहा की चेतना है जिसके स्पर्श से संवेग और प्राण, देह आदि बिना किसी मान-अभिमान की प्रतिक्रिया के मुकुलित हो जाते हैं, स्वतः दिव्यता में प्रस्फुटित होने लगते हैं । उनके समर्पण एवं रूपान्तर की साधना झंझावात में प्रकम्पित किसी टहनी की भाँति नहीं होती, वरन् स्निग्ध आलोक की दृष्टि से विकसित होने वाले प्रसून की पंखुड़ियों की भाँति होती है । उनका आत्मसौन्दर्य सहज ही खुलता जाता है । चैत्य-चेतना का यह सतत स्पर्श कृष्णभक्ति की साधना में बना नहीं रह सका । चैतन्य महाप्रभु, श्रीवल्लभाचार्य, हितहरिवंश, स्वामी हरिदास तथा उनके कुछ भक्तों में यह उत्कट चैत्य-अभीप्सा प्रत्यक्ष है, किन्तु धीरे-धीरे इस प्रकाश केन्द्र को अन्य मानवीय उपकरणों ने आच्छादित कर लिया । बाद में मानवीय उपकरण चैत्यप्रकाश ग्रहण न कर सके, फलस्वरूप केवल मानवीय बने रहकर अतिमानवीयता का झूठा दावा करने लगे । आन्दोलन के आरम्भ में वे किसी महत्तर प्रेरक शक्ति के प्रभाव से आसानी से अपनी दिव्य परिणति पाते रहे । किन्तु बाद में लोगों ने कृष्णभक्ति के सिद्धान्त को ठीक-ठीक समझा नहीं, समझा भी तो अपनी निम्नवासनाओं की तृप्ति का साधन बना डाला, क्योंकि इस भक्ति में मानवीयता और अतिमानवीयता की विभाजक-रेखा अत्यन्त सूक्ष्म है, विरले ही किसी अन्तर्दृष्टि-सम्पन्न को दिखाई पड़ती है । उस पर से मधुर-भक्ति, सिंहनी का दूध ही थी जिसे सब लोग नहीं पचा सकते थे, और मदार के दूध को सिंहनी का दूध समझकर पीना तो उस दूध का गुण नहीं सञ्चरित कर देगा ! जिनकी अन्तरात्मा इतनी सशक्त है कि वे सिंहनी का दूध पचा सकें, जिनकी अन्तर्दृष्टि इतनी प्रबुद्ध है कि बाह्य रङ्गत के एक दीखने पर भी इन्हें अलग-अलग पहिचान सकें, वे ही महाभावस्वरूपा भक्ति के

अधिकारी हैं, मानवीय मनोभावों से पर-ब्रह्म श्रीकृष्ण को आकर्षित करने में सक्षम हैं। सामाजिक पतन का कारण धर्म नहीं था, वरन् उसमें जग जानेवाली अधार्मिक, स्वार्थपरायण भौतिक प्रवृत्तियाँ थीं।[१] भारत का अभ्युदय सदैव धर्म से हुआ है, किसी अन्य वाह्य समाधान से नहीं।

सामाजिक विशृङ्खलता का कारण मनुष्य की वर्बर वृत्तियाँ तो होती ही हैं, भारतीय अध्यात्म की कर्मविमुखता भी धर्मपोषित समाज के पतन का एक कारण है। मध्ययुगीन साधना में निर्गुण-भक्ति ने मायापिशाचिनी से त्रास दिलवाकर अनलहक में बन्दे को आश्वस्त किया, और सगुण-भक्ति ने आराध्य के परमाकर्षक रूप में मन को बसाकर शेष कर्म-जीवन को निर्वासित कर दिया। राम-भक्ति ने कर्ममय जीवन के सङ्घर्ष को अवश्य पहिचाना, किन्तु उसने जो समाधान प्रस्तुत किया वह मानव-विकास की आन्तरिक आवश्यकता को पूर्ण परितृप्त न कर सका। नीति-प्रधान धर्मशास्त्र से अनुमोदित आचरण सामयिक समाधान तो दे सकते हैं, किन्तु जो वृहत्तर कदम अपनी उन्मत्तता मे प्रकृति उठा लेती है उसका उद्देश्य क्या है? कर्म का क्षेत्र अत्यन्त जटिल है, साधारण मानवीय चेतना में रहकर वाह्य जीवन की अनन्त गुत्थियों को नहीं सुलझाया जा सकता। शास्त्र कर्तव्य-अकर्तव्य की अन्तिम सीमा नहीं है, वरन् पुरुषोत्तम में स्थित होकर निष्काम कर्म ही विराट् कर्म-जीवन की जटिलता को सुलझाने में समर्थ है। जीवन के कुरुक्षेत्र से कतरा कर अन्तर्जगत् के वृन्दावन में शरण ले लेने से तो सामाजिक विकास नहीं हो जाता। कर्म से विरत करके मनोराग तथा संवेग के सहारे सामूहिक जीवन को चिरवृन्दावन में नहीं पहुँचाया जा सकता। प्रेम ही व्यक्तित्व की समग्रता नहीं है, मनुष्य में ज्ञान और कर्म की प्रवृति भी है। बहुधा यह कह दिया जाता है कि जब भगवान् के लिये

---

१. "The fall, the failure does matter, and to lie in the dust is no sound position for man or nation. But the reason assigned is not the true one. If the majority of Indians had indeed made the whole of their lives religion in the true sense of the word, we should not be where we are now: it was because their public life become most irreligious, egoistic, self-seeking, materialistic that they fell".—Shri Aurobindo The Renaissance of India, P. 79.

प्रेम जग पड़ता है तो कर्म और ज्ञान स्वतः सिद्ध हो जाते हैं। किन्तु श्रीकृष्ण के मथुरा चले जाने पर, कर्मजीवन में उनके अपना प्रकाश फैलाने पर गोप-गोपियों का रोना-धोना, मर्माहत होना, क्या प्रेम द्वारा प्राप्त ज्ञान और कर्म की संसिद्धि मानी जा सकती है ? क्या मथुरा, कुरुक्षेत्र, द्वारिका में वृन्दावन के श्रीकृष्ण के पदारविन्दों ने विचरण नहीं किया ?

वस्तुतः कृष्णभक्तिधारा अतिवादी हो गई। जगत् को सत्य मानकर उसने क्या किया ? जगत् को सत्य कहते हुए उसने शङ्कराचार्य के 'जगन्मिथ्या' का खण्डन किया, किन्तु क्या वह वास्तव में शङ्कराचार्य के मिथ्या संसार को अस्वीकार कर सकी ? सृष्टि का रहस्य क्या कृष्णभक्ति-धारा ने सुलझा लिया ? उसके द्वारा प्रस्तुत समाधान भी शङ्कर की भाँति संसार-त्याग का था, कुछ संशोधन के साथ और कुछ भिन्न दृष्टिकोण से। ससार और जगत् का पारिभाषिक भेद तो किया गया किन्तु 'संसार' में अध्यास से उत्पन्न मायानटी की अपरम्पार लीला से सभी भक्त त्रस्त हुए हैं। यहाँ पर उन्होंने शङ्कर का ही अनुसरण किया है। शङ्कर का अध्यासवाद अपने में महान् सत्य है, परमचेतना की विशालता के पट में संसार का मनोप्राण-देहमय जीवन एक स्वप्न के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, जब तक कि यह उसी चेतना से दीप्त हो जाग्रत नहीं होता। कृष्ण-भक्ति-दर्शन ने इसी तथ्य को बौद्ध-दृष्टिकोण से ग्रहण किया। भक्ति में यह निश्चित रूप से स्वीकार किया गया कि इस संसार में कुछ भी स्थायी नही है, सभी कुछ नश्वर है। ससार दुःखमय है, यहां के समस्त सुखों का पर्यवसान दुःख मे ही होता है, जो भी सुखभोग है वह नश्वर है और अन्त में क्लेश और सन्ताप मे परिणत हो जाता है। नाना तृष्णाएं जो वाह्यतः आकर्षक रूप धारण करके मन को मुग्ध करती है,वे जीवन की प्रन्वचनायें हैं और सुखाकांक्षा आशा, तृष्णा से ही संबद्ध है। अतएव इस नश्वर संसार का परित्याग कर अन्तर के वृन्दावन में प्रवेश करना चाहिये जहाँ माया का प्रवेश नहीं है, चिरन्तन सुख का साम्राज्य है। किन्तु उस जगत् का क्या हुआ जो 'संसार' की यवनिका के पीछे निरन्तर विद्यमान है और जिसकी केवल आन्तरिक सत्ता ही नहीं, वाह्यसत्ता भी है, जो भावगत ही नहीं, वस्तुगत सत्य है ? जगत् और वृन्दावन का पारस्परिक सम्बन्ध तो स्पष्ट नहीं किया गया, किन्तु फिर भी यह स्वीकार किया गया है कि इस जगत् में कृष्ण क्रीड़ा कर रहे हैं। उनकी इस क्रीड़ा का क्या तात्पर्य है ? लीलावाद को स्वीकार करने के पश्चात् जगत् को कृष्ण की लीलास्थली स्वीकार करना भी आवश्यक हो जाता है। किन्तु जगत् में कृष्ण की लीला क्या सिर्फ इतनी ही है कि जीव को भ्रम से निकाल कर अपने में सन्निहित कर लें ? लीला का तात्पर्य क्या क्रीड़ा ही है, वह भी

भावविलास ? क्या वृन्दावन ही एक मात्र कृष्ण का जगत् है, वहाँ की लीला ही क्या एकमात्र कृष्ण-लीला है ? क्या कुरुक्षेत्र में सारथिवेश में छिपे अवतार कृष्ण के आत्म-प्रकाशन की वह लीला कोई महत्वपूर्ण लीला नहीं है जिसने संसार की विभीषिका को झेलकर 'अनित्यम् असुखम् लोकम् इमम्' में सत्य को प्रतिष्ठित किया, 'संसार' की विडम्बनाओं को काट कर 'जगत्' को आविर्भूत किया ?

कृष्णलीला आन्तरिक प्रेम के मधुर वृन्दावन से आरम्भ अवश्य हुई, किन्तु उसका विकास आततायी कंस का वध, वन्दीगृह से शरणागतों की मुक्ति, कुरुक्षेत्र में अर्जुन के लिये सुदर्शन-चक्र धारण करते हुए हुआ है, केवल मक्खन खाते और रासलीला में नृत्य करते नहीं। जीवन केवल वृन्दावन नहीं है, मथुरा है, द्वारिका है, कुरुक्षेत्र भी है। जीवन का 'अष्टयाम' केवल वंशी-कूजन सुनने में ही नहीं बीतता, पाञ्चजन्य की पुकार उसे सोने नहीं देती। जो उस उद्घोष के प्रति बधिर होकर केवल मुरली-ध्वनि ही सुनने को आतुर रहता है वह बाह्य जीवन के लिये निरर्थक, व्यर्थ और अनुपादेय हो जाता है, गोप-गोपियों की भाँति दीन, क्षीण, मलीन होता जाता है। हार कर अन्त में उसे यही कह देना पड़ता है कि कृष्ण जहाँ भी रहें सुखी रहें। किन्तु कृष्ण के सम्पूर्ण जीवन से तटस्थ रह कर उनके सुख की कामना करना क्या अर्थ रखता है ?

**लोकसंस्कृति को कृष्ण-भक्ति की देन**—यह सत्य है कि कृष्ण-दर्शन समाज की अत्यन्त बाह्य समस्याओं से नहीं जूझ सका किन्तु इसे भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि उसने सामाजिक जीवन में शान्ति और सौन्दर्य की स्थापना का प्रयास किया। यह स्थापना किसी समाजशास्त्र के द्वारा नहीं की गई—रूढ़ धर्म-शास्त्र किंवा युग की समस्याओं को बाह्य दृष्टि से समझ कर किसी सामयिक समाधान से नहीं। जीवन का सङ्घर्ष आन्तरिक विकास का सङ्घर्ष होता है, समाज का सङ्घर्ष सच्चिदानन्द की सत्-सृष्टि का सङ्घर्ष होता है। इस बात में आस्था रखकर कृष्णभक्ति ने व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन का समाधान बाह्याचार से न करके ऐसी अन्तश्चेतना के प्रसार से करना चाहा जो शाश्वत सौन्दर्य के उन्मेष से जीवन में सत्य एवं शिव की स्थापना करती है। कृष्णभक्ति ने भारत की संन्यासासक्त मनोवृत्ति को सौन्दर्य के सम्भार से भर दिया, उजड़े हुए जीवन को मधुराधिपति के बहुमुखी कलात्मक व्यक्तित्व के आकर्षण में बाँध दिया। कृष्ण-भक्ति ने सौन्दर्यवृत्ति के माध्यम से जीवन को उदात्त और सुन्दर बनाने का प्रयास किया। मानव की रसात्मक प्रवृत्ति को उसने ऐसी भावभूमि पर उन्नीत करना चाहा जो जीवन का अनुरञ्जन करती हुई उसे महत्तर लोक में विचरण कराती रहे। ऊर्ध्व चेतना को कृष्णभक्ति ने ललित कलाओं, विशेषकर

साहित्य और सङ्गीत के जीवन्त-स्वरों से अधिकार जन-जन को वितरित करने की चेष्टा की और काव्य उसका सबसे सूक्ष्म माध्यम है। सूरदास आदि कवियों ने जिस अन्तः-प्रेरणा से लीलागान किया वह परवर्ती युग के जन-मानस में ठीक-ठीक ग्रहीत न हो सका, साधना तथा श्रद्धा के अभाव में भगवद्लीला का यशोगान रीतिकालीन नायक-नायिका की चर्चा में परिणत हो गया। भक्त-कवियों ने जीवन के अतिपरिचित भावों को ऐसी गरिमा प्रदान किया कि उसमें वे अपने आराध्य की लीलाओं को भी अभिव्यक्त कर सकें। उन्होंने देवभाषा संस्कृत में काव्य का प्रणयन न करके प्रान्तीय भाषाओं में कृष्ण-कथा का वर्णन कर भक्ति, उपासना, और साहित्य को जन-जीवन के निकट लाने का प्रयास किया, लोकमानस में उतारने का श्लाघ्य प्रयत्न किया। साहित्य के माध्यम से अपार्थिव भावों का प्रेषण कुछ अधिक सूक्ष्म होता है, इसलिये कृष्णभक्ति के आचार्यों ने मूर्ति (विग्रह)-पूजा का इतना भव्य तथा कलात्मक रूप प्रस्तुत किया, तथा सङ्गीत के भावुक स्वरों से भक्ति-चेतना को ऐसा प्रवाहित किया कि जन-जन कृष्ण में अनुरक्त होने लगा, और उस शाश्वत सौन्दर्य के मन्दिर मे प्रवेश करने लगा जो जीवन में आश्वासन ही नहीं, चमत्कार उत्पन्न कर देता है। इसीलिए कृष्ण-भक्ति आन्दोलन जन-आन्दोलन बन सका। उसने साधारण मानव में भी कुछ अधिक आन्तरिक चेतना जगाने का प्रयास किया। कृष्णभक्ति ने जनसाधारण की भावनात्मक तथा प्राणगत प्रवृत्तियों को आन्तरिक रूप से पकड़ा और इन्हें इन्हीं के माध्यम से आत्मोपलब्धि करवाना चाहा। साधारण जन जिस चेतना में निवास करता है उसे ही आकर्षित कर उसको आध्यात्मिकता के मन्दिर में प्रवेश करवाना चाहा। बाह्य-चेतना कलात्मक विधान से अधिक आकर्षित होती है इसलिये मन्दिरों में भव्यमूर्ति-पूजा की सेवाप्रणाली का उद्भावन हुआ। भक्ति का यह कलात्मक रूप केवल बाह्याङ्ग तक ही सीमित नहीं रहा, उसने जन-मन की कल्पना का उन्मेष किया, उसकी श्रद्धा तथा रागात्मकता को जगाया। मन्दिरों में या जन-पथ पर जो कीर्तन हुआ करते थे, उससे जन-जीवन में एक क्रान्ति-सी उपस्थित हो गई और सभी कृष्णलीला की रागात्मकता की ओर खिचने लगे। कीर्तन से एक विशेष लाभ यह हुआ कि जन जीवन में जागरण तो आया ही, भारतीय सङ्गीत का भी उन्मेष हुआ। भक्त कवि उच्चकोटि के गायक थे। यद्यपि कीर्तन लोकधुन में भी बद्ध होते थे, तथापि प्रमुखता उनमें शास्त्रीय सङ्गीत की ही थी। समस्त कृष्णकाव्य विभिन्न राग-रागिनियों में बद्ध है। प्रातः काल से लेकर सायंकालीन प्रचलित अप्रचलित असंख्य रागों में कृष्ण को जगाने से लेकर शयन पर्यन्त की भावुक चर्चा है। पदसाहित्य शास्त्रीय सङ्गीत की प्रणाली पर ही गाया जाता था। ख्याल तब हल्की गायकी समझा जाता था। ध्रुपद की प्रकृति गम्भीर और उदात्त होने के कारण कृष्णकाव्य अधिकतर इसी गायन-शैली में

अभिव्यक्ति हुआ। ध्रुपद के स्वरों में जो एक स्थैर्य, गाम्भीर्य और मननशील प्रकृति होती है उसने कृष्णलीला को क्षुद्र प्रकृति का नहीं बनने दिया था, उसी कृष्ण-कथा को परवर्ती सङ्गीतकारों ने ठुमरी, ख्याल की चञ्चल प्रकृति में बाँध कर चुलबुलाहट उत्पन्न करने की चेष्टा की। भक्ति-सङ्गीत, मृदङ्ग की मधुर, सूक्ष्म तथा प्रौढ़ तालों पर तन्मय भक्त के गद्गद्-कण्ठ से अवतरित होकर जिस चेतना को जाग्रत करता था, जनता उसमें आत्मविस्मृत-सी हो उठती थी। बाद में उस सङ्गीत की गरिमा भुला दी गई और सङ्गीत-साधक नहीं, गवैये जलसों में आँख और हाथ नचाकर वाद्य-यन्त्रों की सङ्गत में अपने हृदय के कलुष को राधाकृष्ण का 'ख्याल' बनाकर गाने लगे। यों, भक्त कवियों ने सङ्गीत और साहित्य के माध्यम से लोकरुचि का परिमार्जन कर उसे दिव्य रसानुभूति तक पहुँचाना चाहा।

मध्ययुगीन भारतवर्ष में एक विशेष लोक-संस्कृति का उदय हुआ जिसे हम व्रज-संस्कृति कह सकते हैं। बङ्गाल की कृष्णरञ्जित संस्कृति में यद्यपि तत्कालीन युग-संस्कृति का संस्कार है, किन्तु आराध्य की जन्मभूमि होने के नाते व्रज के लोकतत्व का बङ्गला के कृष्ण-काव्य में पर्याप्त चित्रण है। व्रज की संस्कृति स्थान-विशेष की संस्कृति तो है, किन्तु वह उस महत्तर संस्कृति का प्रतीक बन गई जिसमें लोक-जीवन का प्रत्येक क्रियाकलाप—व्रत, उत्सव, पर्व, संस्कार—परमानन्द श्रीकृष्ण के दिव्य व्यक्तित्व से जुड़ गया। एक ओर जहाँ इस संस्कृति में लोकतत्व की पूरी स्वीकृति है, दूसरी ओर वहाँ उसे ऐसे धरातल पर खड़ा कर दिया गया है जो जीवन का सामान्य धरातल नहीं है, किसी मानवेतर उत्साह और आनन्द की छाप उसमें सुस्पष्ट है। व्रज में पुत्र के जन्मोत्सव को ही ले लीजिए। शोभासिंधु कृष्ण के गोकुल में प्रकट होने पर नन्द महर के घर निशान बजने लगा। यशोदा और नन्द, आनन्द से उमँगे तो उमँगें, सारा गोकुल भी उस आनन्द से इतना सराबोर हो जाता है कि कृष्ण यशोदा के ही आह्लादक न रहकर जड़-चेतन, मानव, देवता, ऋषिमुनि सब को आनन्दोन्मत्त कर डालते हैं।[१] छठी, अन्नप्राशन आदि कौमार-वयस के संस्कार, गोचारण, गोदोहन

---

१—आनन्द भरी जसोदा उमङ्गि अङ्ग न माति, आनन्दित भई गोपी गावति चहर के।

× × ×

आनन्द मगन धेनु स्रवैं थनु पय फेनु उमंग्यौ जमुन जल उछलि लहर के।
अङ्कुरित तरु पात, उमठि रहे जे गात, बन बेली प्रफुलित कलिनी कहर के।
आनन्दित विप्र, सूत, मागध, जाचक-गन, उमङ्गि असीस देत सब हित हरि के।
आनन्द मगन सब अमर गगन छाए, पुहुप विमान चढ़े पहर पहर के।
सूरदास प्रभु आइ गोकुल प्रकट भए, सन्तनि हरष दुष्ट जनमन धरके॥

—सूरसागर, पद सं० ६४८

आदि पौगण्ड के संस्कार, तथा विवाहादि कैशोर के संस्कारों का कृष्ण-साहित्य में इतना सजीव चित्रण है कि इस मानवीयता में कृष्ण की अतिमानवीयता को पहिचानना मुश्किल हो जाता है। वर्षोत्सव में विभिन्न सम्प्रदायों में विभिन्न उत्सव मनाये जाते थे जिनमें फाग (होली) का सभी सम्प्रदायों में अत्यधिक महत्त्व था। होली के पर्व में सभी नर-नारी, बाल-वृद्ध, आनन्द में उन्मत्त होने लगते हैं। लोकलाज का कोई प्रश्न ही नहीं रह जाता। व्रजाङ्गनायें अपनी टोली बनाकर यशोदा के द्वार पर आ खड़ी होती हैं। उधर कृष्ण और बलराम गोपों की भीड़ लेकर उनका मुकाबला करने के लिये प्रस्तुत होते हैं। फिर क्या! चन्दन, चोवा, अरगजा की कीच मच जाती है, पिचकारियों से सुगन्धित रंगों की धारायें फूट निकलती है। कामिनियाँ कृष्ण की आँखों में जी भर कर काजल आँजती हैं, और भी न जाने कितनी दुर्गति कर डालती हैं, अग्रज बलराम का तनिक भी लिहाज् नहीं करतीं। अन्त में हार कर कृष्ण फगुवा देने को तैयार हो जाते हैं। फाग का सजीव चित्रण जिस चलती हुई शैली में सूरदास जी ने किया है, उसमें शायद ही अन्य कोई कवि कर सका है। हरि को होली के लिये ललकारते हुए सूरदास कहते हैं कि ज्ञान-वैराग्य छुड़ा कर होली खेलो, इसमें शठ, पण्डित, वेश्या, वधू, सबका भेद मिट जाता है, उस आनन्द रस में सब एकसार हो जाते हैं।[१]

सामाजिक उत्सवों को कृष्ण-लीला में खुलकर महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया। इसके अतिरिक्त व्रज के ग्रामीण वातावरण का भी हिन्दी कृष्णभक्ति-साहित्य में चित्रण हुआ है। वङ्गला के कृष्णकाव्य का वातावरण उतना ग्रामीण नहीं है, फिर भी कृष्ण-कथा, लोक-जीवन का इतना अनिवार्य अङ्ग बन गई कि कृष्ण-काव्य के साहित्यिक गीतों में लोक गीत का चटक रङ्ग चढ़ा हुआ है। 'रामा हे' सम्बोधन वाले कई पद वङ्गला पदावली में मिल जायेंगे, यथा—

(क) रामा हे तेजह कठिन मान।[२]

(ख) रामा हे कि आर बोलसि आन।

१—जग जीतहु बल अपने, हरि होरी है।
ग्यान बिराग छंडाइ, अहो हरि होरी है॥
× × ×
शठ, पंडित, या, वधू हरि होरी है।
सबै भए इकसारि, अहो हरि होरी है॥ —सूरसागर, पद सं० ३५३३

२—पदकल्पतरु, पद सं० १६६१

तोहारि चरण शरण सोहरि,अबहुं ना मिटे मान ॥[१]

प्रवासी कान्त के प्रति विरहिणी नायिका के जैसे उद्‌गार लोकगीत में मिलते हैं, वैसे उद्‌गार बङ्गला पदावली के विरह-वर्णन में सहज ही सुनाई पड़ते हैं, शैली भी वैसी ही है, जैसे—

सजनी तेजलु जीवनक आश ।
दारुण बरिखा जिउ भेल अन्तर, नाह रहल परवास ॥
बादर दर दर नाहि दिन अवसर, गरगर गरजे घटा ।[२]

ब्रजभाषा के कृष्णकाव्य में लोकगीत का प्रभूत स्पर्श है । सूरदास जी के काव्य में जो सजीवता और आकर्षण है, उसका कारण उसकी साहित्यिकता के अतिरिक्त उसमें गुञ्जित लोकगीत का प्राणवान् स्वर भी है । ब्रज की ग्वालिनों का वर्णन, उनसे कृष्ण की छेड़-छाड़, नैसर्गिक रूप से ऐसे गीतों में फूट पड़ी जो साहित्यिक गीति से लोक-गीतों के अधिक निकट हैं। यौवन मदमाती ग्वालिन का एक चित्र गोविन्दस्वामी ने जिन शब्दों में अङ्कित किया है उसकी लोकगीत-सुलभ सजीवता दर्शनीय है ।

गोरे अंगवारी गोकुल गांव की ॥
वाको लहर-लहर जीवन करै थहर-थहर करै देह ।
धुकर पुकर छाती करैं वाको बड़े रसिक सों नेह ॥
कुअटा कौं पान्यो भरे नए नए लेजलु लेहि ।
घूंघट वावै वांत सो उह गरव न ऊतर देहि ॥
वाकौं तिलक बन्यो अंगिया वनो अरु नूपुर झनकार ।
बड़े नगर तें निकरि नन्दलाल खरे दरबार ॥
पहिरे नवरंग चूनरी अरु लावण्य लेहि संकोरि ।
अरग परग सिर गागरी मुह मटकि हंसे मुख मोरि ॥
चालि चले गजराज की नैननि सों करै सेन ।
'गोविन्द' प्रभु पर वारिके दीजे कोटिक मैन ॥[३]

चांचर, चैतवभूमका, गाली, चैती तथा फाग आदि लोकगीत के न जाने कितने प्रकार ब्रजभाषा-कृष्णकाव्य में भरे पड़े हैं। सामूहिक लोकगान के लिए कृष्णभक्त

---

१—पदकल्पतरु, पद सं० ५१६
२—वही, पद सं० १७३४
३—गोविन्दस्वामी [पद संग्रह], पद सं०१३८

कवियों के पद ऐसे चोखे लगते हैं कि उनकी साहित्यिकता लोकधुन में एकदम तिरोहित हो जाती है। हरिव्यास देवाचार्य जैसे निम्बार्कमत के सिद्धान्त-प्रतिपादक आचार्य राधाकृष्ण का चेतवझूमका झूम कर गा उठते हैं—

आवो आवो री मिलि गाओ रंगीलो झूमका।
दोउ लालन को दुलरावो रंगीलो झूमका॥

पहिलो झूमक जाहि को जाके मन मोहन आधीन।
दूजो झूमक ताहि को जाहि प्रानप्रिया बस कीन॥

रंगीलो झूमका, गतिराच्यो झूमका, मतिराच्यो झूमका, अतिराच्यो झूमका।

× × ×

ईहि भांतिन झूम झूमाय सुझूमक रङ्ग० सिंहासन पर पधराय रंगीलो०॥[१]

'ट' 'र' वर्णों के जोड़ देने से, जैसे गुजरेटी, जोटी, कुअटा, वारी (वाली) आदि, व्रजभाषा के साहित्यिक गीतों में लोकगीत की प्रतिभा आ गई है। होली के कई पद सामूहिक गान के लिए अत्यन्त उपयुक्त है। प्रत्येक पंक्ति में एक टेक लोकधुन को साकार कर देती है। जैसे सूरदास जी का यह पद —

या गोकुल के चौहटें, रंग भीजी ग्वालिनि।
हरि संग खेलैं फाग, नैन सलोने री रंगराची ग्वालिनि।[२]

इन गीतों में लोक आनन्द की वेगवान् लय है, ऋजु और भावुक प्रवाह है। व्रज की लोक-संस्कृति में सर्वत्र तीव्र आनन्द का स्वर है, आह्लाद का उच्छलन है।

इस आह्लाद में डूबकर किसी को समाज-सुधार की चिन्ता नहीं रह जाती, आवश्यकता भी नहीं रही। व्रज का समाज तो उन मनुष्यों की समष्टि से निर्मित है जिनका जीवन ही कृष्ण- रङ्ग में रँग गया है। कृष्ण उनके सखा हैं, शिशु हैं, प्रियतम हैं, सभी कुछ हैं। उनके समाज में सुचारुता, सौन्दर्य के अतिरिक्त और कुछ रह ही नहीं सकता। काव्य के माध्यम से वृन्दावन का जो चित्र उपस्थित किया गया है, उसमें ऐसे समाज-निर्माण का स्वप्न है जिसके केन्द्र में श्रीकृष्ण हैं और समस्त मानव-आचरण उन्हीं के सन्दर्भ से हैं, अहं के लिए नहीं। ऐसे समाज में स्त्री-पुरुष, जाति-

---

१—महावाणी, उत्साह सुख, पद सं० २९
२—सूरसागर, पद सं० ३४८६

पाँति, और ऊँच-नीच का भेद तिरोहित हो जाता है क्योंकि वहाँ आत्मा के मूल ऐक्य की मान्यता है, कृत्रिम अन्तरायों की नहीं। भगवान् का स्वभाव भक्तवत्सलता का है, वे जाति, गोत्र, कुल, रङ्क-राजा का भेद नहीं करते।[१] इसलिए भक्ति के आचार्यों ने चण्डाल तक को भक्ति का अधिकार प्रदान किया। महाप्रभु वल्लभाचार्य की शिष्य परम्परा में मुसलमान रसखान थे श्री नाथ जी की सेवा में पहिले एक बङ्गाली को नियुक्त किया गया था। स्वामी हरिदास के शिष्य मियाँ तानसेन मुसलमान होने के बाद भी गुरु के चरणों में अपना सङ्गीत निवेदित करने आते थे। चैतन्य महाप्रभु ने ब्राह्मणों द्वारा निर्मित समाज-व्यवस्था में एक क्रान्ति मचा दी। चैतन्य-सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने वाले सर्वमान्य आचार्य सनातन, रूप, और जीवगोस्वामी यवन थे। महाप्रभु के अन्तरङ्ग शिष्यों में से हरिदास एक थे, वह भी यवन और उन्हें ब्राह्मण के समकक्ष ही सम्प्रदाय में सम्मान प्राप्त था। कृष्ण-भक्त वैष्णवों ने धर्मशास्त्र का पल्ला नहीं पकड़े रहना चाहा, वरन् आन्तरिक समता के आधार पर समाज के नवनिर्माण का क्रियात्मक प्रयास किया, रूढ़िगत समाज की सङ्कुचित सीमाओं का उल्लङ्घन कर वर्गभेद रहित ऐसी सामूहिकता को प्रश्रय दिया जिसमें किसी के प्रति हीन-दृष्टि, विद्वेष आदि का भाव नहीं था। हाँ, भक्ति-साधना में उपलब्धि के कारण श्रेष्ठ साधकों के प्रति अधिक श्रद्धा अवश्य रखी गई, चाहे साधक हिन्दू होता या मुसलमान, ब्राह्मण होता या शूद्र। श्रीकृष्ण की उत्कट आराधना ने सामाजिक वैषम्य को मिटा दिया। कृष्णभक्ति ने जनजीवन में आन्दोलन मचा दिया। वह किन्हीं विशिष्ट महानुभावों की सम्पत्ति नहीं रही, वरन् मानवमात्र की सञ्जीवनी बनकर प्रकट हुई। यह समझा गया कि जीवनी की प्राथमिक आवश्यकता अपनी अन्तरात्मा को पहिचानना है, और उसके द्वारा पुरुषोत्तम से सम्बन्ध जोड़ना है। इस सम्बन्ध के जुड़ने से भौतिक, मानसिक, नैतिक, सामाजिक, आध्यात्मिक—सभी समस्याओं का समाधान धीरे-धीरे होने लगता है। श्रीकृष्ण अतिमानव हैं, हमारे नैतिक निर्णयों, सामाजिक तथा व्यक्तिगत पूर्णता के प्रयास के लक्ष्य हैं। सब कुछ

---

१—राम भक्त वत्सल निज बानौं।
  जाति, गोत, कुल, नाम, गनत नहिं रंक होइ कै रानी॥ —सूरसागर, 'विनय' पद सं० ११

# परिशिष्ट

# परिशिष्ट १

व्रज तथा वङ्गाल की कृष्णभक्ति में इतना साम्य है कि उसे हम भक्ति के स्वाभाविक मनोविज्ञान का प्रतिफलन तो मानते ही हैं साथ ही, पारस्परिक आदान-प्रदान, विचार-विनिमय का परिणाम भी स्वीकार करते हैं। यह सत्य है कि भक्त, सिद्धान्तों की जकड़न में साधना नहीं करता, जब वह उनकी सीमाओं को तोड़कर ऐसे मनोराज्य में प्रवेश करता है जहाँ आराध्य की लीला के अतिरिक्त और कुछ नहीं रह जाता तब जिन आत्माओं से उसका उस अपार्थिव स्तर पर मिलन होता है उनसे उसका सहज ही तादात्म्य स्थापित हो जाता है क्योंकि एक ही आराध्य के नाते वे परस्पर सङ्गुम्फित रहते हैं। उस भावभूमि को व्यक्त करने की शब्दावली चाहे भिन्न हो, किन्तु अन्तश्चेतना एक ही होती है, वहाँ तक पहुँचने की अन्तःप्रेरणा भी पर्याप्त साम्य लिए रहती है। यही साम्य हम हितहरिवंश, वल्लभाचार्य, स्वामी हरिदास, निम्बार्क तथा चैतन्य-सम्प्रदायों के भक्ति-भाव में पाते हैं। यद्यपि व्रज के सम्प्रदायों ने अपनी साधना तथा उपलब्धि को केवल काव्यात्मक रूप दिया है, उसका शास्त्रीय विवेचन नहीं किया, प्रेमभक्ति की साधना को शान्त, प्रीति, प्रेय आदि का नाम नहीं दिया, तथापि वल्लभ-सम्प्रदाय में दास्य, सख्य, वात्सल्य, मधुर, ये सभी रस हैं। जिस 'निकुञ्जरस' की मधुर-रस से पृथक् कोई शास्त्रीय चर्चा उज्ज्वलनील-मणि में नहीं की गई, और जिसको हितहरिवंश, स्वामी हरिदास, तथा निम्बार्क के मत में मूर्धन्य तथा एकमात्र स्थान प्राप्त हैं, वह चैतन्य-सम्प्रदाय के काव्य में वर्णित हुआ है, यही नहीं व्रज के इन सम्प्रदायों की भाँति चैतन्यमत ने भी उसे भक्ति की चरम सिद्धि माना है। इस सिद्धान्तगत साम्य का कारण सम्प्रदायों का एक-दूसरे के निकट आना है। इन सम्प्रदायों में निजी वैशिष्ट्य हैं, किन्तु प्रतिस्पर्द्धा और सङ्कुचित भावना से मुक्त भक्त-महात्मा एक-दूसरे के सिद्धान्तों को भी अपने-अपने सम्प्रदाय में ग्रहण करते रहे हों तो आश्चर्य क्या ?

अपनी प्रतिभा से सम्पन्न वल्लभ-सम्प्रदाय व्रज का कदाचित् सबसे शक्तिशाली सम्प्रदाय था। उसकी मौलिकता की सराहना किये बिना नहीं रहा जा सकता, पर गोविन्दस्वामी का एक पद ले लीजिए—

चितवत रहत सदा गोकुल तन ।
नरमसखा सुख संग ही चाहत भरत कमल दल लोचन ।[१]

इस पद में 'नरमसखा' शब्द का आ जाना क्या अकस्मात् माना जा सकता है ? सख्यरस के विवेचन में गौड़ीय-सम्प्रदाय ने 'वयस्य' का वर्गीकरण सखा, सुहृद्, नर्मसखा तथा प्रियनर्मसखा में कर रक्खा है । क्या कवि गोविन्द स्वामी ने पारिभाषिक नर्मसखा शब्द से नितान्त अनभिज्ञ होते हुए यहाँ इस शब्द का प्रयोग किया है ? किन्तु ऐसा सम्भव नहीं जान पड़ता । इसी प्रकार सूरदास, जिनके वृहत् सूरसागर से उनके सम्प्रदाय तथा गुरु का नाम खोज निकालना टेढ़ी खीर है, एक स्थल पर 'सुहृद् सखा' शब्द का प्रयोग करते हैं—

हरि जू कौं ग्वालिनि भोजन ल्याई ।
सानि सानि दधि भात लियौ कर, सुहृद सखनि कर देत ।[२]

यह कहा जा सकता है कि यहाँ 'सुहृद्' शब्द का प्रयोग सहज, स्वाभाविक रूप में हुआ है, सखाओं के लिये विशिष्ट पारिभाषिक रूप में नहीं, किन्तु एक ही अर्थ को ध्वनित करने वाले दो शब्दों का यह प्रयोग क्या अकारण है ? क्या यह असम्भव है कि वे 'सुहृद्' के पारिभाषिक अर्थ से भी अवगत थे और उस अर्थ को समझकर उन्होंने यहाँ सखा शब्द के साथ 'सुहृद्' का प्रयोग किया हो ?

अनुमान ही नहीं, प्रत्यक्ष है कि ब्रज के कृष्ण-भक्ति-सम्प्रदाय गौड़ीय-सम्प्रदाय द्वारा निरूपित भक्ति के शास्त्रीय रूप से भलीभाँति परिचित थे । नन्ददास ने सिद्धान्त पञ्चाध्यायी में स्पष्ट ही 'उज्ज्वल रस' शब्द का प्रयोग किया है –

जैसेई कृष्ण अखण्ड रूप चिद्रूप उदारा ।
तैसेई उज्ज्वलरस अखण्ड तिनकर परिवारा ॥ १८५ ॥[३]

और जिस सम्प्रदाय में राधा के उत्कर्ष पर नित्यविहारपरक निकुञ्जरस की स्थापना की गई, उस सम्प्रदाय में 'महाभाव' का अर्थ भी आत्मसात कर लिया गया था । हित ध्रुवदास ने एक स्थान पर कहा है—

---

१—गोविन्दस्वामी, पद सं० ३१८

२—सूरसागर, पद सं० १०३४

३—नन्ददास, द्वितीय भाग, पृ० १८१

महाभाव गति अति सरस, उपजत नव नव भाव।
मोहन छवि निरख्यौ करत, बढ़यो प्रेम को घाव।।३६।।

राजत अंक में लाड़िली, प्रीतम जानत नाँहि।
बिलपत रुदन बढ़यो जहाँ, महाभाव उर माँहि।।३७।।[1]

यहाँ पर 'महाभाव' शब्द की दो बार आवृत्ति निश्चय ही ध्रुवदास के 'महाभाव' के परिभाषिक शब्द से परिचित होने का प्रमाण है। यही नहीं, भक्तिरसशास्त्र के पाँचो रसों की उन्हें पूर्ण जानकारी है यद्यपि उनके अपने सम्प्रदाय में 'निकुञ्जरस' के अतिरिक्त और किसी रस की व्यावहारिक मान्यता नहीं थी। भजनाष्टक लीला में कहते हैं—

ज्ञान शांत रस ते अधिक, अद्‌भुत पदवीदास।
सखाभाव तिनतें अधिक, जिनके प्रीति प्रकास॥

अद्‌भुत बालचरित्र को, जो जसुदा सुख लेत।
ताते अधिक किशोर रस, व्रज बनितनि के हेत॥

सर्वोपरि है मधुर रस, युगल किशोर विलास।[2]

ध्रुवदास को दास्य और शान्त का दो पृथक् रस होना भलीभाँति विदित था, अन्यथा इन दोनों रसों में सामान्य दृष्टि से भेद ही क्या है? मधुर रस शब्द का प्रयोग भी उन्होंने किया है, यद्यपि उसे केवल युगल-रस का पर्याय बना दिया है और गोपियों के रस को किशोर-रस की संज्ञा दे दी है।

निम्बार्क-मत में राधा के लिए 'ह्लादिनी' शब्द का प्रयोग बार-बार किया गया है। कृष्ण का आनन्दरूप होना तो साम्प्रदायिक शब्दावली की अपेक्षा नहीं रखता, किन्तु राधा को चैतन्य-सम्प्रदाय में कृष्ण की ह्लादिनी शक्ति कह कर अभिहित किया गया है, उसका प्रभाव निम्बार्क-सम्प्रदाय पर भी पड़ा है। अन्य सम्प्रदायों में राधा को या तो स्वयं आनन्दरूप या रसरूपा, तथा सुखरूपा कहा गया है। महावाणी के सिद्धान्त-सुख में हरिव्यासदेवाचार्य ने स्पष्ट कहा है :—

---

१—ब्यालीस लीला—अनुरागलता लीला, पृ० २३८

२—वही भजनाष्टक लीला, पृ० ६३

आनन्द कि अहलादिनि स्यामा, अहलादिन के आनन्द स्याम ।[१]
आनन्द अहलादिनि अदभुत वर, गौर श्याम शोभा अपरं पर ॥[२]

चैतन्य-सम्प्रदाय में स्वामी हरिदास और हितहरिवंश जी के सखी-भाव की प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती है, तथा राधाकृष्ण-लीला-वर्णन के प्रसङ्ग में बङ्गला के भक्तकवियों ने सखीभाव की श्रेष्ठता स्वीकार की है :—

अदभुत हेरसूं प्रियसखि-प्रेम । निज सखि दुखे दुखि सुखे माने क्षेम ॥[३]

यहाँ पर राधावल्लभ-सम्प्रदाय के तत्सुख-सुखी भाव की स्वीकृति है। अथवा,

आनन्द सायरे निमगन सखिगन हेरइते दुहुंक उल्लास ।[४]

क्या यह उस सहचरीभाव से एकदम एकाकार नहीं है जो स्वसुख की वाञ्छा छोड़कर युगल के आनन्द में निमज्जित हो जाता है? चैतन्यचरितामृत में राधावल्लभ-सम्प्रदाय की भाँति सखीभाव को गोपीभाव से श्रेष्ठतर एवं अन्य सभी भावों में श्रेष्ठतम स्वीकार किया गया है ।[५]

गौड़ीय-सम्प्रदायों में गोपियों का सखी तथा मञ्जरी में उपभेद किया गया है, जिनमें से 'मञ्जरी' श्रेष्ठ मानी गई है । मञ्जरी, राधाकृष्ण की लीला का दर्शन कर विभोर होती है, कृष्ण से उसका कोई स्वतन्त्र सम्बन्ध नहीं होता ।

ब्रजमण्डल में बस जाने के कारण चैतन्यमत के विद्वान् षड्गोस्वामी ब्रज के सम्प्रदायों से पूर्णतया अवगत रहे होंगे । रूपगोस्वामी ने हरिभक्तिरसामृत-सिन्धु में शान्त, दास्य, सख्य, तथा वात्सल्य-रस का इतना साङ्गोपाङ्ग विवेचन क्या एतद् सम्बन्धी काव्य से प्रभावित हुए बिना ही कर डाला, जबकि चैतन्य सम्प्रदाय के पदों में वात्सल्य तथा सख्य-भावों के पद अत्यन्त कियत् और साधारण हैं, एवं शान्त और

---

१—महावाणी—सिद्धान्त सुख, पद सं० २६

२—वही, पद सं० १४

३—पदकल्पतरु, पद सं० १६६१

४—वही, पद सं० २८४

५—राधाकृष्णेर लीला एइ अति गूढ़तर ।
दास्य वात्सल्यादि भावेर ना हय गोचर ।
सबे एक सखीगनेर इहार अधिकार ॥—चैं० च०, मध्यलीला, अष्टम परिच्छेद, पृ० १४८

दास्य की तो चर्चामात्र है, वह भी नगण्य । वल्लभ-सम्प्रदाय से वह पूर्णतया परिचित थे, एक स्थान पर उन्होंने अपने सम्प्रदाय की रागानुगा भक्ति को पुष्टिमार्ग का समानार्थक माना है ।[१]

व्रज और बङ्गाल के सम्प्रदायों में पारस्परिक सम्पर्क तो रहा ही, व्रज के चारों सम्प्रदायों में भी आपस में घनिष्ट सम्बन्ध था—ऐसा उन सम्प्रदायों के काव्य से प्रतीत होता है । हितहरिवंश जी के सम्प्रदाय में एकमात्र सहचरीभाव पर आश्रित 'निकुञ्जरस' की मान्यता है, किन्तु उनके सम्प्रदाय ने दास्य, सख्य, वात्सल्य, और मधुर रस को व्रजरस कहकर उनकी सत्ता स्वीकार किया है । ध्रुवदास जी के पूर्वोल्लिखित अष्टक में सभी भावों का उल्लेख है । स्वामी हरिदास तथा हितहरिवंश जी की सखीभावना में अत्यधिक साम्य है । आरम्भ में वल्लभ-सम्प्रदाय में केवल दास्य, सख्य, वात्सल्य-भाव स्वीकृत थे, किन्तु विट्ठलनाथ जी ने समकालीन प्रभाव से गोपीभाव को भी समाविष्ट कर लिया और अन्य सम्प्रदायों की भाँति मधुररस को सर्वोच्च मान्यता दी । कुछ कवियों ने तो 'सखीभाव' के पद भी रच डाले । निम्बार्क-मत ने हितहरिवंश जी का सहचरीभाव अपना लिया, केवल अष्ट सखियों एवं उनके उपभेदों की नामावली में कुछ अन्तर है । मानविरह-रहित 'नित्यविहार' का सिद्धान्त ज्यों का त्यों ग्रहीत हो गया, जैसे :—

**मान बिरह भ्रम को न लेश जहाँ रसिकराय को रसमय भौन ।**[२]

**जय जय नित्यविहार जय जय वृन्दावन धाम ।**[३]

'सखी' के साथ 'सहचरी, और 'मञ्जरी' जैसे पारिभाषिक शब्दों का उल्लेख भी महावाणीकार ने किया है :—

**सखी सहेली सहचरि सुंदरि मञ्जरि महल टहल टग लागि ।**[४]

---

१—पुष्टिमार्गतया कैश्चिदियं रागानुगोच्यते—भक्तिरसामृतसिन्धु, पू० वि०, द्वि० ल०, पृ० ९६, अच्युत-ग्रन्थमाला प्रकाशन ।

२—महावाणी—सिद्धान्त सुख, पद सं० ४

३—वही, पद सं० १६

४—वही, पद सं० ४ ।

# परिशिष्ट २

## साम्प्रदायिक-शब्दावली

### वल्लभ-सम्प्रदाय

पुष्टि—पुष्टि शब्द ने वल्लभ-सम्प्रदाय में आकर अत्यन्त गम्भीर तथा सूक्ष्म अर्थ धारण कर लिया। संक्षेप में श्रीकृष्ण का अनुग्रह या कृपा, पुष्टि कहलाती है, क्योंकि उनका अनुग्रह भक्त का पोषण करने वाला होता है। जीव, प्राकृत अवस्था में ज्ञान, वैराग्य, श्री, आदि भगवद्गुणों से विहीन हो जाता है। और उसमें इन धर्मों की प्रतिष्ठा तथा इन गुणों का पोषण भगवान् अपने अनुग्रह किंवा 'पुष्टि' शक्ति द्वारा करते हैं। भक्त की अन्तर्बाह्य कमियों का दूर होना तथा उसमें परा-भक्ति का सञ्चार भगवान की पुष्टि द्वारा सम्भव होता है। भट्ट रमानाथ शास्त्री ने श्रीमद्भागवत तथा सुबोधिनी के अनुसार पुष्टि शब्द के कई अर्थ स्थापित किये हैं—रक्षा, कृपा, प्रवेश (अपनी कार्यसिद्धि के लिए जो भगवान् का पदार्थों में प्रवेश है, वही पुष्टिलीला है), अभिवृद्धि, स्थिति और अनुग्रह।[१]

पुष्टि पर आधारित मार्ग को पुष्टिमार्ग का नाम दिया गया। इस मार्ग में विहित-अविहित समस्त साधनों के अभाव में भी केवलमात्र भगवत्कृपा से ही भक्ति की सर्वोच्चस्थिति तक प्राप्त हो जाती है। "इस मार्ग में अनुग्रह ही साधन है, कृपा से ही जीवोद्धार होता है।"[२]—"जब अनुग्रह होता है तब भगवत्सम्बन्ध होता है, तब उसी अवस्था में ही अधिकारी भी हो जाता है। इसलिए पुष्टिमार्ग में अनुग्रह ही नियामक है। भगवान् की अनुग्रहरूपा पुष्टिलीला काल, कर्म और स्वभाव का बाध कर देने वाली है। और यह लीला लोकसिद्ध है, इसकी सत्ता गुप्त रक्खी गई है।"[३]

पुष्टि, मर्यादा, प्रवाह—संसार-चक्र में बहते रहने को प्रवाह कहा गया है। वेदविहित मार्ग मर्यादामार्ग है तथा कृपामार्ग, पुष्टि-मार्ग है। मर्यादामार्गी जीव अधिक से अधिक अक्षर ब्रह्म से ऐक्य प्राप्त कर सकते हैं, प्रवाही जीव सदैव संसार में पड़े रहते हैं, और पुष्टिजीव पूर्ण पुरुषोत्तम में प्रवेश पाते हैं। पुष्टिजीवों की सृष्टि भगवान् की स्वरूप सेवा के लिये है। किन्तु पुष्टिजीव सदैव विशुद्ध प्रेम से ही परिचालित

---

१—भट्ट रमानाथ शास्त्री—अनुग्रह मार्ग, पृ० ११
२—वही, पृ० १६
३—वही, पृ० १८

नहीं होता, इसलिए उसके दो भेद किये गये हैं—शुद्ध और मिश्र। शुद्ध, पुष्ट भक्त भगवान् के नित्य सान्निध्य में रहते हैं, उनकी लीला का अनवरत उपभोग करते हैं। मिश्रपुष्ट-भक्त के प्रेम में अन्य मार्गों का मिश्रण भी रहता है। मिश्रपुष्ट तीन प्रकार के होते हैं—प्रवाहमिश्र, मर्यादामिश्र और पुष्टिमिश्र। पुष्टिमिश्र भक्त सर्वज्ञ होते हैं, प्रवाह-मिश्र-पुष्ट-भक्त कर्म में प्रीति रखने वाले होते हैं तथा मर्यादामिश्र भगवद्‌गुणों के जानने वाले होते हैं। प्रेम से शुद्ध हुए शुद्धपुष्ट जीव दुर्लभ हैं।[१]

निरोध—चित्त को यावत् प्रपञ्च से हटाकर भगवान् में निवेशित करने को वल्लभ-सम्प्रदाय में 'निरोध' कहा गया है। भगवान् में मन का निरुद्ध हो जाना, निरोध है। संसार में लिप्त मन से भगवत्सेवा नहीं हो सकती, न ही उनका किसी प्रकार का सान्निध्य प्राप्त हो सकता है। भगवल्लीला की अनुभूति के लिए 'निरोध' दशा आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। वल्लभाचार्य जी का मत है कि दुष्ट इन्द्रियों को सांसारिक विषयों से हटाकर भगवान् में मन लगाते हुए निरोध का प्रयत्न करना चाहिए।[२] किसी भी उपाय द्वारा इन्द्रियों एवं तत्सम्बन्धी व्यापारों तथा मन को भगवान् में समर्पित करने से 'निरोध' सिद्ध होता है। निरोध की कई दशायें हैं। उसकी आरम्भिक दशा वह होती है जब अविद्या की निवृत्ति और श्रीकृष्ण के स्वरूप का ज्ञान होने पर भक्त में यह भाव आ जाता है कि वह प्रभु का दास है, किन्तु फिर भी प्रभु से दूर है, वियुक्त है। मध्यमदशा निरोध की तब होती जब भक्त अन्तःकरण में भगवान् के वियोग से उत्पन्न पीड़ा वेदना, सन्ताप तथा क्लेश का अनुभव करने लगता है। इस अनुभव से संसार से आसक्ति क्षीण होती-होती हट जाती है, और कृष्ण में आसक्ति बढ़ जाती है। इस दशा में लीला की स्फूर्ति भी होती है। लीला का अनुभव करते-करते श्रीकृष्ण से साक्षात्कार हो जाता है। उत्तम निरोध वह है जब कृष्ण का साक्षात्कार हो जाता है और वे हृदय में पूर्णतया प्रतिष्ठित हो जाते हैं किन्तु फिर भी फलरूपा विरह-दशा उपस्थित होती है। यह विरह-दशा, भक्त पर श्रीकृष्ण की अत्यन्त प्रबल कृपा

---

१—ते हि द्विधा शुद्धमिश्रभेदान्मिश्रास्त्रिधा पुनः।
प्रवाहादिविभेदेन भगवत्कार्य सिद्धये ॥१४॥
पुष्ट्या विमिश्राः सर्वज्ञाः प्रवाहेण क्रिया-रताः।
मर्यादया गुणज्ञास्ते शुद्धाः प्रेम्णाऽतिदुर्लभाः ॥१५॥
—वल्लभाचार्य-षोडशग्रंथ-पुष्टि-प्रवाह, मर्यादा, पृ० ४०

२—संसारावेश-दुष्टानामिन्द्रियाणां हिताय वै।
कृष्णस्य सर्ववस्तूनि भूम्न ईशस्य योजयेत् ॥१२॥—निरोधलक्षण-षोडश ग्रन्थ, पृ० १०५

के फलस्वरूप उत्पन्न होती है, किसी अन्य प्रकार के साधन आदि से इसे प्राप्त नहीं किया जा सकता। यही भगवद्‌पुष्टि का सर्वोत्तम फल है। व्रज के परिकर इसी उत्तम निरोध में कृष्ण के अनुग्रह से निरुद्ध थे।

स्नेह, आसक्ति, व्यसन—निरोध की उपर्युक्त तीन अवस्थाओं के अनुरूप ही भक्ति भाव की तीन दशायें होती है जिन्हें पुष्टिमार्ग में स्नेह, आसक्ति और व्यसन कहा गया है। ये शब्द अपना लौकिक अर्थ छोड़कर प्रगाढ़ से गाढ़तर और गाढ़तर से गाढ़तम भक्तिभाव के व्यञ्जक हैं। भगवान् में रति का प्रादुर्भाव 'स्नेह' कहलाता है। इस 'स्नेह' के उत्पन्न होने से भक्त का स्नेह जागतिक पदार्थों से हट जाता है, उसके 'राग' का नाश हो जाता है। स्नेह के और प्रगाढ़ होने को आसक्ति कहते हैं, प्रभु में आसक्ति होने से गृहादि से अरुचि हो जाती है, गृह सम्बन्धी समस्त भाव तथा पदार्थ उसे भगवत्प्रीति में बाधक प्रतीत होते हैं। व्यसन में भक्ति कृतार्थ हो जाता है।[१]

जब भक्त को भगवान् का व्यसन हो जाता है तब उसे एक पल का भी विच्छेद सहन नहीं होता, भगवान् के बिना उसे कुछ भी नहीं भाता। वह संसार को जञ्जाल समझने लगता है। व्यसन की अवस्था में भक्त का गृह में रहना प्रभुस्नेह को मिटाने वाला होता है, इसलिए श्रीकृष्ण की आत्यन्तिक प्राप्ति के लिए गृहादि का त्याग करके भक्त जिस फलरूपा भक्ति को प्राप्त करता है, वह चारों प्रकार की मुक्तियों से श्रेष्ठ है।[२]

## राधावल्लभ-सम्प्रदाय :

हरिवंश:—प्रतिष्ठापक आचार्य के नाम, हरिवंश के अनेक साङ्केतिक अर्थों को सम्प्रदाय में प्रतिपादित किया गया है। 'हरिवंश' शब्द के चार अक्षर चार विचार स्वरूप हैं—हित, चित, आनंद, भाव। इन चारों के द्वारा ही रस-निष्पत्ति होती है। इनमें से हित तत्त्व हरिवंश जी हैं, चित श्रीकृष्ण, आनन्द राधा, तथा भय सेवक है।[३] नित्या विहार के विधायक चारों तत्त्व—हरि, राधा, वृन्दावन, सहचरी,' हरिवंश' शब्द

---

१—स्नेहाद्रागविनाशः स्यादासक्त्या स्याद्गृहारुचिः ॥ ४ ॥
गृहस्थानां बाधकत्वमनात्मत्वं च भासते।
यदा स्याद्व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदैव हि ॥ ५ ॥ —भक्तिवर्द्धिनी-षोडशग्रन्थ, पृ० ७४

२—तादृशस्यापि सततं गृहस्थानं विनाशकम्।
त्यागं कृत्वा यतेद्यस्तु तदर्थार्थैकमानसः ॥ ६ ॥
लभते सुदृढां भक्तिं सर्वतोऽप्यधिकां पराम्। —वही, पृ० ७४

३—सुधर्मबोधिनी, पृ० ६ (दोहा ५४, ५५)।

के एक-एक वर्ण पर निवास करते हैं। अतएव श्रीहरिवंश नाम के श्री अक्षर में राधा, हरि में घनश्याम, वंश में सहचरी, धाम सभी सन्निहित हैं।[1]

हित—हित शब्द का प्रयोग राधावल्लभ सम्प्रदाय में अलौकिक प्रेम के लिए हुआ है। इस हित की बड़ी विचित्र महिमा है। [illegible], भोक्ता और भोग दोनों के बीच प्रेम का हितरूपी सम्बन्ध है, ये राधाकृष्ण की चित्तवृत्ति की प्रतीक हैं।[2] यही नहीं, हित तत्व इतना व्यापक है कि उसमें अलौकिक रस के सभी उपकरण अन्तर्भुक्त हैं, कृष्ण, राधा, सहचरी, वृन्दावन सब हितरूपी समुद्र के मीन हैं।[3]

प्रेम नेम—नेम का तात्पर्य साधन क्रिया धर्माचरण भी है, विलास-क्रीड़ा भी है। साधारण कामकेलि (नेम) राधाकृष्ण के प्रेम में नहीं होती। प्राकृतभाव में प्रेम और काम एक साथ नहीं रह पाते, राधाकृष्ण का 'नेम' उनके प्रेम में वन्दित है, गुंथा हुआ है क्योंकि वह हर पहलू से अप्राकृत है। उनका नेम, प्रेम की ही सावधान अवस्था है। ध्रुवदास जी कहते हैं कि प्रेम की क्रिया विवशता है और नेम की क्रिया सावधानता। राधाकृष्ण का प्रेम एकरस, अखण्ड, नित्य, निमित्तरहित महामाधुरी स्वरूप निकुञ्ज के विषय है। नेम, प्रेम की सञ्चारी दशायें हैं जो प्रेम से उठकर पुनः उसी में विलीन हो जाती हैं। यह प्रेम का उल्लास है, उसकी तरङ्ग है।[4]

निकुञ्जरस-नित्यविहार—राधाकृष्ण के सतत, निरवच्छिन्न, अभेद तथा रसोल्लास का पारिभाषिक नाम 'निकुञ्जरस' है। मधुररस जब राधाकृष्ण के अनाहत प्रेम में व्यक्त होता है तब उसे निकुञ्जरस कहा जाता है। दास्य, सख्य, वात्सल्य, मधुर (किशोर) आदि व्रज रसों से यह भिन्न है, उनसे श्रेष्ठ भी है। इस रस की आस्वादिका एकमात्र राधा की सखियाँ हैं, अन्य किसी को निकुञ्जरस पान का अधिकार नहीं है। राधाकृष्ण

---

१—श्रीअक्षर में गौर तन हरि अक्षर घनश्याम।
वंश अंश नर नारि सब जहाँ सदा धामीधाम ॥ १० ॥ —सुधर्मबोधिनी, पृ० २१

२—लाल सर्व-सुख भोक्ता बाल सर्व-सुख दानि।
संधि रची हित दुहुँन में सर्वसुखनि की खानि ॥ १२ ॥

सखी दुहुँन हित वृत्ति नित अभिलाष सुरस की रूप।
संख्या नहीं असंख्य विधि सेवत जुगलस्वरूप ॥ १३ ॥ —वही, पृ० २२

३—गौर स्याम सहचरी विपिन हित समुद्र के मीन।
जा घर सर हित नाम जल तहाँ लसत परवीन ॥ १६ ॥ —वही, पृ० २१

४—ध्रुवदास—बयालीस लीला, सिद्धान्त विचार लीला, पृ० ४२

सदा निकुञ्ज में स्थित रहकर चित्र-विचित्र क्रीड़ाओं में संलग्न रहते हैं, वे और कहीं नहीं जाते, न ही कभी उनका विच्छेद होता है। निकुञ्जरस की गति अति अद्भुत है। यह रस चिरसंयोगात्मक है और राधाकृष्ण एकमेक होकर विहार करते हैं, इसीलिए इसे 'नित्यविहार' भी कहते हैं। इस नित्यविहारपरक प्रेम में स्थूल विरह तथा मान का प्रवेश नहीं हो पाता, क्योंकि विरह तथा मान (जो कि विरह का ही एक रूप है), रस को निर्बाध और अक्षुण्ण नहीं रहने देते, अखण्ड रस में द्वैत उत्पन्न कर देते हैं।[1] किन्तु स्थूल विरह के अभाव में भी इस चिरन्तन संयोग में कोई नीरसता नहीं आ पाती क्योंकि यह संयोग ही सूक्ष्मविरहात्मक है अर्थात् इसमें सदैव विरह की सी चाह, अतृप्ति, मिलन की उत्कण्ठा, तादात्म्य प्राप्त करने की विह्वलता, तथा एकाकार होने की तीव्र चेष्टा आदि बनी रहती है। नित्यविहार का आदिअन्त नहीं है, नई-नई भाँति से राधाकृष्ण का पुरातन प्रेम विलसित होता है, उन्हें ऐसा लगता है मानो वे पहिले कभी मिले ही नहीं।[2] नित्यविहार वृन्दावन के निकुञ्ज में चलता रहता है, और इसका दर्शन सहचरियाँ करती रहती हैं। गौर, श्याम, सहचरी, विपिन, नित्यविहार के चार तत्व हैं। ये चारों तत्व अन्तरङ्ग चेतना में नित्य प्रकट रहते हैं, इन्हें 'हित' के दिव्यचक्षु से देखा जा सकता है।[3] इन तत्वों का अन्तरङ्ग अर्थ भी है—चिद्रूप तन वृन्दावन है, मन कृष्ण है, इन्द्रियाँ सखियाँ हैं, और आत्मा राधा।

**सहचरीभाव**—सखी 'सहचरी' शब्द का प्रयोग राधावल्लभ-सम्प्रदाय में विशिष्ट अर्थ से किया गया है। डॉ० विजयेन्द्र स्नातक जी के शब्दों में सहचरी या सखी शब्द राधावल्लभ-सम्प्रदाय में जीव के निज रूप की पारमार्थिक स्थिति का नाम है—जब तक वह जीवरूप में अपने को मानकर इस लोक में लीन रहता है, भ्रम के जाल में भटकता रहता है, किन्तु जब उसके ऊपर श्री राधा की कृपा होती है तब वह सहचरी रूप को प्राप्त होकर लौकिक सुख-दुख की अनुभूतियों से ऊपर उठकर उस

---

१—जब बिछुरत तब होत दुख, मिलतहि हियौं सिराइ।
याही में रस है भये, प्रेम कह्यौ क्यों जाइ॥
—प्रीतिचौवनीलीला, पृ० ५६; ध्रुवदास—बयालीसलीला

२—न आदि न अन्त विलास करैं दोउ लाल प्रिया मैं भई न चिन्हारी।
है नई भाँति नई छवि कांति नई नवला नव नेह विहारी॥
—बयालीसलीला, भजनतृतीय, श्रृंखला लीला, पृ० १०२

३—गौर स्याम सहचरि विपिन सम्पति नित्यविहार।
अन्तरङ्ग सो प्रगट हैं हित के नैन निहार॥ १३॥ —सुधर्मबोधिनी, पृ० २

आनन्द को प्राप्त करने का अधिकारी बनता है जो नित्यविहार के दर्शन से उपलब्ध माना गया है"।[1] सहचरी का कृष्ण से कोई रतिसम्बन्ध नहीं होता, वह राधा की आराधिका तथा सेविका होती है, राधा के सुख में ही सुखी रहती है, राधा के नाते ही कृष्ण उसे प्रिय होते हैं, स्वतंत्र रूप से नहीं।[2] सहचरी निकुञ्जरस की सम्पोषिका है, युगल को जो कुछ रुचिकर है, वह उन्हें जुटाती है।[3] स्वसुख की कामना से रहित होकर राधाकृष्ण की निकुञ्जक्रीड़ा का अवलोकन करना सहचरीभाव है। सखियाँ राधाकृष्ण की प्रेमलीला को देखती हुई आनन्दविह्वल रहती हैं, युगल का आनन्द उसका आनन्द है। राधाकृष्ण का परममाधुरीमय निकुञ्जरस सहचरीभाव से ही गम्य है; इस परात्पर रस में दास्य, सख्य आदि तो क्या गोपीभाव तक का प्रवेश नहीं है। सहचरी जीवात्मा की उस तुरीयावस्था का प्रतीक है जब वह सनातन ब्रह्म, शक्ति-शक्तिमान की परात्पर लीला का साक्षीभाव से दर्शन कर उसी में आत्मविलयन कर देती है। सहचरी 'अहं' की पूर्णाहुति है। सहचरी को गोपी से भी श्रेष्ठ माना गया है, क्योंकि उसमें स्वसुख का लेश भी नहीं रहता।

तत्सुख-सुखीभाव राधाकृष्ण अपने को एक दूसरे के सुख में सुखी मानते हैं, कृष्ण जो कुछ करते हैं वह राधा को रुचिकर होता है, राधा जो कुछ करती हैं वह कृष्ण को।[4] मदीय भाव को छोड़कर ये तदीयभाव में सुख मानते हैं। इन दोनों के सुख से सखियाँ सुखी होती हैं। यही तत्सुख-सुखीभाव है।[5] सखियाँ तत्सुख-सुखीभाव से पुत्र, मित्र, पति, आत्मवत् दोनों का लाड़ लड़ाती हैं।[6]

## चैतन्य-सम्प्रदाय

रसराज-महाभाव—रसराज के साकार विग्रह श्रीकृष्ण हैं तथा महाभाव की श्रीराधा। ह्लादिनी का सार अंश प्रेम है, प्रेम का परम सार महाभाव है। महाभाव

---

१—राधावल्लभ सम्प्रदाय: सिद्धान्त और साहित्य, पृ० २१६

२—व्यास सुवन के प्राणधन गौर वर्ण निज नाम।
तिनके नाते नेह सों प्यारो प्रीतम स्याम ॥ १५ ॥—सुधर्मबोधिनी, पृ० ६३

३—तहाँ सहायक निज आली लाड़ परस्पर चाय।
जे जे रुचि चिवि उर उठै ते सब देत बनाय ॥ १६ ॥ —वही, पृ० ६४

४—हितचौरासी, पद सं० १

५—दम्पति की आसक्ति में अटके रसिक सुजान।
दुलराई बहुविधि सबनि तत्सुख सों रति मान ॥ २७ ॥ —वही, पृ० ३

६—निशि दिन लाड़ लड़ावहीं अति माधुर्य सुरीति।
पुत्र मित्र पति आत्मवत उज्ज्वल तत्सुख प्रीति ॥ २४ ॥ —वही, पृ० ३

के बिना रसराज का आनन्द तिरोहित रहता है, अप्रकट रहता है। उसे प्राप्त करके ही कृष्ण आनन्दी होते हैं।

महाभाव की पराकाष्ठा श्रीराधा में है, किन्तु राधा की कायव्यूह होने के कारण, उनकी आत्म-प्रसारिणी शक्ति होने से, गोपियों में भी इस भाव की स्थिति है। इस भाव को वहन कर सकने के लिए अत्यन्त सिद्ध चेतना की आवश्यकता होती है। भक्तिसन्दर्भ में जीवगोस्वामी ने कहा है कि व्रजाङ्गनाओं की देह महाभाव-तेजोमय हैं। महाभाव प्रकाश का आकार-स्वरूप है। अन्य कोई भक्त देह, अधिक क्या कृष्ण-महिषियों की देह भी महाभाव को धारण करने में समर्थ नहीं है। जिस प्रकार गङ्गा का वेग एकमात्र महादेव ही धारण करने में समर्थ हैं, उसी प्रकार महाभाव के वेग को धारण करने में एकमात्र गोपीदेह ही समर्थ है।

**प्रीति का तारतम्य**—भगवत्प्रीति की विशेषता का निरूपण करते हुए जीव-गोस्वामी ने प्रीति के सन्दर्भ की ८४ वीं वृति में कहा है कि – (१) प्रीति भक्त-चित्त को उल्लसित करती है; (२) ममता द्वारा योजित करती है; (३) विश्वासयुक्त करती है; (४) प्रियतातिशय द्वारा अभिमान विशिष्ट करती है; (५) विगलित करती है; (६) अपने विषय के प्रति अभिलाषातिशय द्वारा आसक्त करती है; (७) प्रतिक्षण अपने विषय को नूतन से नूतनतर रूप में अनुभव कराती है और (८) असमोर्द्ध चमत्कारिता द्वारा उन्मादित करती है।

प्रीति के इन्हीं लक्षणों से भगवत्प्रीति की रति, स्नेह आदि दशाओं को पहिचाना जाता है। जो प्रीति केवल उल्लास का आधिक्य व्यक्त करती है, उसका नाम रति है। रति उत्पन्न होने से केवल भगवान् से ही तात्पर्य (प्रयोजन) रह जाता है, उनसे भिन्न अन्य सभी वस्तुओं में तुच्छ बुद्धि उत्पन्न होती है। ममतातिशय के आविर्भाव से समृद्धा प्रीति प्रेम कहलाती है। प्रेम उत्पन्न होने पर प्रीतिभङ्ग करने वाले समस्त कारण उसके स्वरूप को क्षीण नहीं कर पाते। अतएव प्रेमलक्षणाभक्ति में ममता के आधिक्य के कारण ममता को ही भक्ति कहा गया है, जैसे नारद पाञ्चरात्र में—'अनन्यममता विष्णौ ममता प्रेमसंयुता।' विश्रम्भातिशयात्मक प्रेम का नाम प्रणय है। प्रणय उत्पन्न होने पर सम्भ्रम आदि की योग्यता भी जाती रहती है। प्रियतातिशय के अभिमानवश प्रणय जब कौटिल्याभासपूर्वक भाव वैचित्र्य धारण, करता है, तब उसे मान कहते हैं। अत्यन्त चित्त द्रवात्मक प्रेम-स्नेह है। स्नेह के उदय होने पर भगवान् के सम्बन्ध के आभास से ही महाबाष्प आदि विकार, प्रियदर्शन में अतृप्ति, एवं प्रियतम श्रीकृष्ण के अत्यन्त सामर्थ्यवान् रहते हुए भी उनका कोई अनिष्ट न कर दे ऐसी आशंका उत्पन्न होती है। अतिशय अभिलाषात्मक स्नेह राग है। राग

में क्षणिक दुख भी असहनीय होता है, संयोग में परमदु:ख भी सुखरूप प्रतीत होता है, और वियोग में परमसुख भी दु:ख रूप प्रतीत होता है। वही राग अपने विषयालम्बन को अनुक्षण नवीन-नवीन रूप में अनुभव कराके स्वयं भी नूतन से नूतनतर होने पर अनुराग नाम धारण करता है। असमोर्द्ध चमत्कार द्वारा उन्मादक अनुराग ही महाभाव नाम से अभिहित होता है।

**परकीयाप्रेम या जारभाव**—कृष्ण भक्ति में परकीया भावना किसी लौकिक जारभाव से साम्य नहीं रखती। यह किसी अविवेकी का मदनावेग नहीं है जिसमें व्यक्ति कर्तव्य की भावना को कुचल देता है, वरन् दिव्यप्रेम के दुर्धर आवेग का परिचायक है। 'श्रीकृष्ण-सन्दर्भ' में कहा गया है कि जारभाव से कृष्ण-भजन का प्रावल्य सूचित होता है। जार शब्द से लोकधर्म और लोकमर्यादा का अतिक्रमण दिखाकर गोपीभाव का निर्वाधत्व प्रदर्शित किया गया है, अर्थात् त्याग ही प्रेम का परिचायक है। गोपियों ने त्याग में कुण्ठा का बोध नहीं किया, प्राप्ति के लिए उनमें तीव्र उत्कण्ठा थी। उस उत्कण्ठा के प्रबल प्रवाह में जितनी लौकिक बाधायें थीं। उन्हें गोपियों ने तृण की भाँति तोड़ दिया। यदि यह जार बुद्धि न होती, तो गोपाभाव के उत्कण्ठातिशय एवं गोपीप्रेम की महिमा-प्रदर्शन से लिए कोई उपाय नहीं था। श्रीकृष्णभजन में यह उत्कण्ठा ही प्रयोजनीय है, इसलिए जारभाव के माध्यम से भजन की प्रबलता प्रदर्शित की गई है।[१]

---

१—जीवगोस्वामी श्रीकृष्ण सन्दर्भ, पृ० २६३

# परिशिष्ट ३

## वल्लभ-सम्प्रदाय के दार्शनिक विचार

सच्चिदानन्दपरमब्रह्म

- अगणितानन्द पूर्ण पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण, जिनसे ब्रज की सृष्टि तथा ब्रज के परिकर उत्पन्न हुए हैं।
- गणितानन्द अक्षर ब्रह्म जिससे जीव, जगत, देवतागण तथा गुणावतार (ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र) उत्पन्न हैं।
- अन्तर्यामी अर्थात् परब्रह्म का अपने आनन्दांश से सृष्टि की प्रत्येक वस्तु में प्रविष्ट अंश।

कृष्णरति
आलम्बन विभाव
(विषयरूप)
कृष्ण
कृष्णभक्त
(आश्रयरूप)
स्वरूप
अन्यरूप
साधक
सिद्ध
आवृत
प्रकट
संप्राप्तिसिद्ध
(साधना अथवा
कृपा द्वारासिद्ध)
नित्यसिद्ध
(नित्यपरिकर)
उद्दीपन विभाव
गुण
चेष्टा
प्रसाधन
अन्य
कायिक
वाचिक
मानसिक
वय
सौन्दर्य
रूप
मृदुता
कौमार
पौगण्ड
कैशोर
यौवन
आद्य
मध्य
शेष
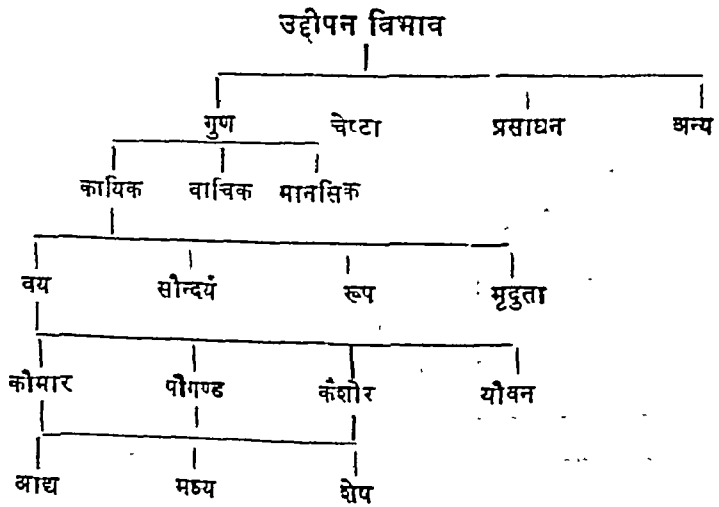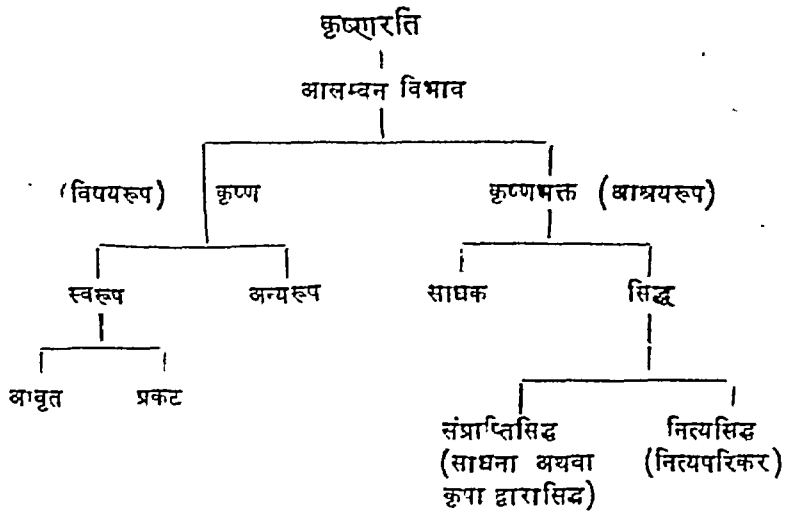
# सहायक-ग्रन्थ सूची

## संस्कृत


अणु-भाष्य : रत्नगोपाल भट्ट द्वारा सम्पादित, बनारस संस्कृत-सिरीज, १९०७।

श्रीमद्-ब्रह्मसूत्राणुभाष्यम् : गुर्जरगिरानुवाद सहित, पुष्टिमार्गीय वैष्णव महासभा, अहमदाबाद से प्रकाशित।

अलङ्कार-कौस्तुभम् : कवि कर्णपूर, रामनारायण विद्यारत्न के वङ्गानुवाद सहित, वहरमपुर मुर्शिदाबाद से प्रकाशित, फाल्गुन १३०५।

उज्ज्वल-नीलमणि : जीवगोस्वामी की लोचनरोचनी टीका तथा विश्वनाथ चक्रवर्ती की आनन्दचन्द्रिका टीका सहित, वङ्गला में अनुवादक तथा प्रकाशक—रामनारायण विद्यारत्न, वहरमपुर, द्वितीय संस्करण, चैत्र १२९५।

उद्धव-सन्देश : रूपगोस्वामी विरचित, प्रकाशक—बाबा कृष्णदास कुसुमसरोवर वाले (गोवर्द्धन), मथुरा, सं० २०१४।

कृष्ण-कर्णामृतम् : भक्त भारत अङ्क, सम्पादक—श्री रामदास जी शास्त्री, चार सम्प्रदाय आश्रम, वृन्दावन, संवत् २००७, अप्रैल १९५०।

(श्री) कृष्ण-सन्दर्भ : वङ्गानुवाद सहित प्राणगोपाल गोस्वामी, द्वारा सम्पादित, वैष्णव पाड़ा, नवद्वीप।

काव्य-प्रकाश : आचार्य मम्मट, व्याख्याकार डॉ० सत्यव्रत सिंह, चौखम्भा विद्या विभाग, बनारस, १९५५ ई०।

ग्रन्थरत्नाष्टकम् : (१) मन्त्रार्थ दीपिका—विश्वनाथ चक्रवती; (२)

पद्यावली : रूपगोस्वामी द्वारा संकलित, रामनारायण विद्यारत्न द्वारा सानुवाद प्रकाशित, बहरमपुर, मुर्शिदाबाद, आषाढ़ १२९१ ।

प्रीति-सन्दर्भ : जीवगोस्वामी, नवद्वीपचन्द्रदास विद्याभूषण के बङ्गानुवाद सहित, संपादक—प्राणगोपाल गोस्वामी, प्रकाशक—नवद्वीप, चन्द्रदास, लेमुआ, नोआखाली ।

प्रेमसम्पुट : विश्वनाथ चक्रवर्ती, प्रकाशक—बाबा कृष्णदास, मथुरा, सं० २००३ ।

ब्रह्मसंहिता : अंग्रेजी में अनुवाद सहित, प्रकाशक—त्रिदण्डी स्वामी भक्तिहृदय, गौड़ीय मठ, मद्रास, १९३२ ई० ।

भक्तिरसतरंगिणी : श्रीनारायण भट्ट, प्रकाशक बाबा कृष्णदास, सं० २००४ ।

(हरि) भक्तिरसामृत सिंधु : रूपगोस्वामी, जीवगोस्वामी की दुर्गमसंगमनी टीका सहित, संपादक तथा अनुवादक रामनारायण विद्यारत्न, प्रकाशक—हरिभक्तिप्रदायिनी सभा, बहरमपुर, चैत्र १३२० ।

भक्ति-सन्दर्भ : जीवगोस्वामी, प्राणगोपाल गोस्वामी के बङ्गानुवाद सहित, प्रकाशक—यदुगोपाल गोस्वामी, वैष्णवपाड़ा-नवद्वीप, १३४४ ।

भगवत्सन्दर्भ : जीवगोस्वामी, सत्यानन्द गोस्वामी के बङ्गानुवाद सहित प्रकाशित १०८, नारिकेल डांगा, मेन रोड, स्वर्णप्रेस कलकत्ता, १३३३ ।

(श्रीमद्) भागवत : गीता प्रेस, गोरखपुर ।

(श्रीमद्) भगवद्गीता : वही ।

महाप्रभु ग्रन्थावली : चैतन्यदेव, प्रकाशक—बाबा कृष्णदास, सं० २००९ ।

महामन्त्रव्याख्याष्टकम् : प्रकाशक—बाबा कृष्णदास, सं० २०११ ।

यमुनाष्टकम् : हितहरिवंश, प्रकाशक—बाबा हितदास, बिलासपुर, १९५० ।

## हिन्दी


अनुग्रह मार्ग : देवर्षि पं० रमानाथ शास्त्री, श्री पुष्टिमार्ग सिद्धान्त-भवन परिक्रमा, नाथद्वार से प्रकाशित, सं० १९९६ सन् १९३९।

अष्टादश सिद्धान्त के पद : (टीका सहित) रचयिता – स्वामी हरिदास, प्रकाशक तुलसीदास बावा विक्रमाब्द २००९।

अष्टछाप परिचय : प्रभुदयाल मीतल, प्रकाशक—अग्रवाल प्रेस, मथुरा, द्वितीय संस्करण, सं० २००९।

अष्टछाप और वल्लभ-संप्रदाय : प्रकाशक—अष्टछाप डॉ० दीनदयाल गुप्त, प्रकाशक—हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, प्रथम संस्करण, सं० २००४।

कुम्भनदास : स्मारक समिति, विद्याविभाग, कांकरोली।

केलिमाल : स्वामी हरिदास, प्रकाशक -श्रीकुंजविहारी पुस्तकालय, श्रीविहारी जी का मन्दिर, वृन्दावन, सं० २००९।

कलि-चरित्र वेली : हितवृन्दावनदास, प्रकाशक—बावा तुलसीदास, वृन्दावन, विक्रमाब्द २००९।

कीर्तन संग्रह : भाग १ (वर्षोत्सव के कीर्तन) प्रकाशक—लल्लूभाई छगनलाल देसाई, अहमदाबाद।

काव्य में अभिव्यंजनावाद: लक्ष्मीनारायण सुधांशु, जनवाणी प्रकाशन, १६१।१ हरिसन रोड, कलकत्ता-७, तृतीय संस्करण, वैशाख २००७।

(श्री) कृष्णावतार : देवर्षि रामनाथ शास्त्री, प्रकाशक शुद्धाद्वैत पुष्टिमार्गीय सिद्धान्त कार्यालय, नाथद्वार, सं० १९९२।

बयालीस लीला (वाणी तथा पद्यावली) : हित ध्रुवदास, प्रकाशक—बाबा तुलसीदास, श्रीराधावल्लभ जी का मन्दिर, वृन्दावन, सं० २०१०।

व्रजमाधुरी सार : संपादक—वियोगीहरि, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, सं० २००५।

वल्लभ विलास : तीसरा-चौथा भाग, सं० १९५९।

वल्लभ पुष्टिप्रकाश : संपादक—गंगाविष्णु श्रीकृष्णदास, मालिक लक्ष्मीवेंकटेश्वर स्टीम प्रेस, कल्याण, बम्बई, सं० १९९३।

ब्रह्मवाद : देवर्षि रमानाथ शास्त्री, पुष्टिमार्ग कार्यालय, नाथद्वार, प्रथम संस्करण, सं० १९९२।

ब्रह्मसम्बन्ध (पुष्टिमार्गीय दीक्षा) : भट्ट रमानाथ शास्त्री।

भक्तमाल : नाभादास, श्री प्रियादास जी प्रणीत टीका सहित, प्रकाशक—तेजकुमार बुक डिपो, लखनऊ, (उत्तराधिकारी नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ) सन् १९५१ ई०।

भक्ति और प्रपत्ति का स्वरूपगत भेद : देवर्षि रमानाथ शास्त्री, प्रकाशक—दे० व्रजनाथ शास्त्री, परिक्रमा, नाथद्वार, सं० १९९२।

भक्तकवि व्यास जी : वासुदेव गोस्वामी, प्रकाशक—अग्रवाल प्रेस, मथुरा, सं० २००९ वि०।

भावसिंधु : श्रीमद्गोस्वामी गोकुलनाथ जी, मालाप्रसंग वाला विरचित, लल्लूभाई छगनलाल देसाई, अहमदाबाद।

भारतीय साहित्य की सांकृतिक रेखाएँ : परशुराम चतुर्वेदी, साहित्य भवन लि०, इलाहाबाद, १९५५ ई०।

भारतीय संस्कृति की रूपरेखा : गुलाबराय, साहित्य प्रकाशन मन्दिर, ग्वालियर, सं० २००९।

भारतीय साधना और सूर-साहित्य : डॉ० मुंशीराम शर्मा, एम० ए०, पी-एच० डी०, प्रकाशक—आचार्य शुक्ल, साधना-सदन, १९/४४ पटकापुर, कानपुर, प्रथम संस्करण, सं० २०१० वि०।

भक्तिसूत्र (नारद) : गीता प्रेस, गोरखपुर।

भक्तिरत्नावली : श्री विष्णुपुरी, अनुवादक कृष्णनन्द जी महाराज, प्रकाशक—स्वामी श्री नारायणदास, श्री विष्णु ग्रंथ-माला, वृन्दावन, फाल्गुन ६४ वि०।

भक्ति-रहस्य : स्वामी विवेकानन्द।

भक्तियोग : अश्विनीकुमार दत्त, अनुवादक—चन्द्रराज भण्डारी, प्र० हिन्दी पुस्तक एजेन्सी, १२६, हरिसन रोड, कलकत्ता, प्रथम संस्करण, १९७९।

भागवत-संप्रदाय : बलदेव उपाध्याय, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सं० २०१० वि०।

मीराबाई की पदावली : संपादक—श्री परशुराम चतुर्वेदी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, पंचम संस्करण, २०११।

मीरा की प्रेम-साधना : भुवनेश्वर मिश्र 'माधव'।

मीरा : श्यामपति पांडेय।

मीरा वृहत् पदसंग्रह : पद्मावती शबनम, लोकसेवक प्रकाशन, बुलानाला, काशी, सं २००९

मीरा-माधुरी : संपादक तथा प्रकाशक—ब्रजरत्नदास, हिन्दी साहित्य कुटीर, काशी, सं० २००५ वि०।

महावाणी : हरिव्यास, देवाचार्य, प्रकाशक—ब्र० विहारीशरण, वृन्दावन, सं० २००८।

मध्यकालीन भारतीय संस्कृति : गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद, १९५१।

मध्यकलीन प्रेम-साधना : परशुराम चतुर्वेदी, साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद।

मध्यकालीन धर्म-साधना : हजारीप्रसाद द्विवेदी, प्रकाशक—साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद, प्र० संस्करण, १९५२।

राधाकृष्ण तत्व : भट्ट रमानाथ शास्त्री।

रासलीला विरोध परिहार : भट्ट रमानाथ शास्त्री, प्रकाशक—देवर्षि पं० व्रजनाथ शर्मा विशारद, श्रीनाथद्वार, सं० १९८१।

राधावल्लभ सम्प्रदाय—सिद्धान्त और साहित्य : विजयेन्द्र स्नातक, हिन्दी अनुसन्धान परिषद्, दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली के निमित्त, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली द्वारा प्रकाशित प्रथम संस्करण, सं० २०१४।

रसखान और घनानन्द : संकलनकर्ता—स्व० बाबू अमीरसिंह, नागरी प्रचारिणी सभा काशी, द्वितीय संस्करण, सं० २००८ वि०।

रीतिकालीन कविता और शृंगाररस का विवेचन-(सन् १६००-१८५०) : राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी, प्रकाशक—सरस्वती बुक सदन, आगरा।

रस-मीमांसा : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, संपादक—विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सं० २००८।

राधिकानामावली : किशोरीअली, संग्रहकर्त्ता एवं प्रकाशक—राधेश्याम गुप्त, बुकसेलर पुराना शहर, वृन्दावन, सं० २०१५।

रसिक पथचन्द्रिका : हित वृन्दावनदास, प्रकाशक—बाबा तुलसीदास वृन्दावन, वि० २००९।

रासछद्मविनोद लीलायें वही।

युगल शतक : श्री भट्ट देवाचार्य, प्रकाशक—लाला लक्ष्मीनारायण लुधियाना, श्रीधाम वृन्दावन भवन, श्रीनिम्बार्काब्द ५०५१, विक्रमाब्द २०१३।

लाड़सागर : हित वृन्दावनदास, प्रकाशक—लाला जुगल किशोर काशीराम, रोहतक मण्डी (पूर्व पंजाब), प्रथम संस्करण, सं० २०११।

वैष्णव-धर्म : परशुराम चतुर्वेदी, विवेक प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, १९५३।

वैष्णवधर्म-रत्नाकर : गोपालदास, लक्ष्मीवेंकटेश्वर प्रेस, कल्याण, बम्बई।

वृन्दावन जसप्रकास वेली : हित वृन्दावन दास, प्रकाशक —तुलसीदास वावा, वि० २००९।

विवेकपत्रिकावेली : वही।

विद्यापति : कुंअर सूर्यवली सिंह, लाल देवेन्द्र सिंह, संपादक—विश्वनाथप्रसाद मिश्र, प्रकाशक—सरस्वती मंदिर, जतनवर, वनारस, सं० २००७।

व्यास वाणी (पूर्वार्द्ध) : प्रकाशक—अखिल भारतवर्षीय श्री हितराधावल्लभीय वैष्णव महासभा, वृन्दावन, हिताव्द ४६२

श्रीमद्वल्लभाचार्य और उनके सिद्धान्त : भट्ट श्री व्रजनाथ शर्मा, विशारद, प्रकाशक—शु० वै० वेल्लनाटीय विद्यासमिति, वम्वई, प्रथमावृत्ति, सं० १९८४।

शुद्धाद्वैत दर्शन : भट्ट श्रीरमानाथ शर्मा, सन् १९२५।

श्रीराधा का क्रमविकास : शशिभूषणदास गुप्त, एम० ए०, पी-एच० डी०, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी, १९५६।

श्री सुधर्मवोधिनी : लाड़लीदास कृत, प्रकाशक— पं० भीमसेन जी रामानंद जी पुरोहित, अटेर, राज्य ग्वालियर, प्रथम संस्करण वि० १९८४।

सूरसागर (पहला खंड) : संपादक—श्रीनन्ददुलारे वाजपेयी, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, द्वितीय संस्करण, सं० २००९ वि०।

सूरदास (दूसरा खण्ड) : वही, तृतीय संस्करण, सं० २०१८ वि०।

सूर-साहित्य : आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी।

सूरसाहित्य-दर्शन : प्रो० जगन्नाथ शर्मा, विद्याधाम, १३७२ वल्लीमारान्, दिल्ली।

सूरसाहित्य सुधा : संपादक—नरोत्तमदास स्वामी, नवयुग ग्रन्थकुटीर, वीकानेर।

सूरसाहित्य और सिद्धान्त : यज्ञदत्त शर्मा, आत्माराम एण्ड सन्स, काश्मीरी गेट दिल्ली ६, १९५५।

सूर की काव्यकला : मनमोहन गौतम, एम० ए०, पी-एच० डी०, हिन्दी अनुसन्धान-परिषद्, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, ओर से भारती साहित्य मन्दिर, फव्वारा, द्वारा की प्रकाशित, १९५८।

सूर के सौ कूट : संकलनकर्त्ता—चुन्नीलाल 'शेष', प्रकाशक—कृष्णचन्द्र बेरी, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, ज्ञानवापी, वाराणसी।

साहित्यलहरी सटीक : भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा संग्रहीत, खड्गविलास प्रेस, बाँकीपुर, १८९२ ई०।

सूरदास : डॉ० व्रजेश्वर वर्मा, प्रकाशक—हिन्दी परिषद्, विश्वविद्यालय, प्रयाग, द्वितीय संस्करण, १९५०।

सोलहवीं शती के हिन्दी और वङ्गाली वैष्णव कवि : डॉ० रत्नकुमारी, भारतीय साहित्य मन्दिर, फव्वारा, दिल्ली।

सेवा-कौमुदी : बालकृष्ण भट्ट प्रणीता भट्ट रमानाथ शर्मा द्वारा प्रकाशित, बड़ा मन्दिर, मुलेश्वर बम्बई, १९१९।

स्वप्न-प्रसंग (अनन्य अली की वाणी) : प्रकाशक—बाबा तुलसीदास, वि० २००९।

स्वाप्न-लीला (हितवृन्दावनदास) वही।

स्वामी हरिदास अभिनन्दन ग्रंथ : प्रकाशक—प्रबन्ध कमेटी, मन्दिर श्री बाँकेबिहारी जी महाराज, श्री वृन्दावनधाम, सं० २०१४।

साहित्य-वार्ता : गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश', भारती साहित्य मन्दिर, फव्वारा, दिल्ली।

हिन्दी के वैष्णव कवि : व्रजेश्वर एम० ए०।

हित सुधासिंधु अर्थात् हितचौरासी : स्फुटवाणी तथा सेवकवाणी रचयिता, प्रथम दो के हितहरिवंश; सेवकवाणी के सेवकजी; प्रकाशक—रामलाल श्यामसुन्दर चतुर्वेदी, श्री हितपुस्तकालय, पुराना शहर, वृन्दावन, सं० २०१४।

हितहरिवंश और उनका सम्प्रदाय : ललिताचरण गोस्वामी, वेणुप्रकाशन, वृन्दावन, सं० २०१४ वि०

हिन्दी साहित्य और उसकी प्रगति : विजयेन्द्र स्नातक, क्षेमचन्द्र 'सुमन' आत्माराम एण्ड सन्स, काश्मीरी गेट, दिल्ली-६, १६५२

हिन्दी काव्यधारा में प्रेम प्रवाह : परशुराम चतुर्वेदी, किताब महल, इलाहाबाद, १६५२।

हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास : डॉ० रामकुमार वर्मा, एम०, ए०, पी-एच० डी०, प्रकाशक—रामनारायणलाल, इलाहाबाद, तृतीय संस्करण, १६५४।

हिन्दी साहित्य की भूमिका : हजारीप्रसाद द्विवेदी, प्रकाशक—हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, प्रथम संस्करण, १६४०।

## बंगला


कड़चा : गोविन्ददास, जयगोपाल गोस्वामी द्वारा सङ्कलित, प्रकाशक— संस्कृत प्रेस, डिपोसिटरी, २० कार्नवालिस स्ट्रीट, कलकत्ता, प्रथम संस्करण, शक सं० १८१७।

कृष्ण-कीर्तन : चण्डीदास, सम्पादक—वसन्त रञ्जनराय, प्रकाशक— वङ्गीय साहित्य परिषद्, द्वितीय संस्करण, १३४२।

चैतन्यचरितामृत : कृष्णदास कविराज विरचित, प्रकाशक सतीशचन्द्र मुखोपाध्याय, वसुमती साहित्य मन्दिर, प्रथम संस्करण, चैतन्याब्द ४४६।

चैतन्यचरितेर उपादान : विमानविहारी मजूमदार, कलकत्ता-विश्वविद्यालय से प्रकाशित १९३९।

चैतन्य भागवत : वृन्दावनदास ठाकुर, प्रकाशक—श्री मृत्युञ्जय दे, २५।४ तारक चैटर्जी लेन, कलकत्ता, सन् १३५४ साल। प्राप्ति स्थान—विक्टोरिया लाइब्रेरी, १ नं० गरानहाटा स्ट्रीट, कलकत्ता।

चण्डीदास-पदावली (प्रथम खण्ड) संपादक—श्रीहरेकृष्ण मुखोपाध्याय व श्री सुनीतिकुमार चट्टोपाध्याय, आश्विन १३४१।

गौड़ीय वैष्णवीयरसेर अलौकिकता : डॉ० उमा राय (शोध-प्रबन्ध)।

गौड़ीय वैष्णव तत्व : शैलेश्वर सान्याल, प्रकाशक—शैलेश्वर सान्याल, ७, बालीगंज इस्टर्न रोड, कलकत्ता १३५३ साल, ई० १९४६।

(श्री-श्री) पदकल्पतरु : १, २, ३, ४, ५ भाग संपादक—सतीशचन्द्र राय, वङ्गीय साहित्य परिषद्।

वङ्गला साहित्येर रूपरेखा : गोपाल हालदार।

वङ्गला साहित्येर इतिहास (प्रथम खण्ड) : श्री सुकुमार सेन, प्रकाशक—उपेन्द्रचन्द्र भट्टाचार्य, मॉडर्न बुक एजेन्सी, १० कालेज स्क्वायर, कलकत्ता, द्वितीय संस्करण, सन् १९४८।

वङ्गभाषा ओ साहित्य : डॉ० दिनेश चन्द्र सेन, प्रकाशक—शैलेन्द्र नाथ गुहाराय, ३२ अपर सर्क्युलर रोड, कलकत्ता, अष्टम संस्करण, सन् १३५६ साल।

बांगलार वैष्णव-धर्म। तर्कभूषण।

वैष्णवसाहित्य प्रवेशिका : श्री हिमांशु चन्द्र चौधरी।

वैष्णव साहित्येर विरह-तत्व : सुन्दरानन्द विद्या विनोद, बी० ए०, प्रकाशक—श्रीगौड़ीय मठ, कलकत्ता, वङ्गाब्द १३४०।

कीर्तन : खगेन्द्र नाथ मित्र, विश्वभारती ग्रन्थालय, २ वङ्किमचन्द्र चॅटर्जी स्ट्रीट, कलकत्ता, आषाढ़ १३५२।

रासलीला : निखिलचन्द्र राय।

भक्तिर प्रान : भागवतकुमार शास्त्री।

भक्ति-तत्व : राधिकाप्रसाद शास्त्री, भारतधर्म महामण्डल शास्त्र, प्रकाश विभाग, काशी, सन् १३२६ साल।

भक्ति योग : अश्विनीकुमार दत्त, १५ वां संस्करण, प्रकाशक—कलकत्ता १५, १९५०।

राग कल्पद्रुम : संपादक—नगेन्द्रनाथ वसु, प्रकाशक—वङ्गीय साहित्य परिषद् मंदिर, कलकत्ता, सं० १९७३।

संकीर्तनामृत : पदकर्ता—दीनबन्धुदास द्वारा संकलित, सम्पादक—श्री अमूल्यचरण विद्याभूषण, प्रकाशक—वङ्गीय साहित्य परिषद् मन्दिर, १३३६।

## अंग्रेजी


A Bird's Eye-view of Pustimarga— Natwar Lal Gokuldas Shah, Pub.—Jethlal G. Shah, Secy. Pustimargiya—Vaishnav Mahasabha, Ahmedabad, 1930.

A History of Brajbuli Literature— Sukumar Sen, Pub. by Calcutta University, 1935.

Avatars— Annie Besant.

A History of Kanarese Literature (The heritage of India series). By Edward P. Rice, Pub.—Calcutta Association Press, London Oxford University Press.

Bengal Vaishnavism— B.C. Pal, Pub. by Modern Book Agency, 10, College Square, Calcutta, 1953.

Brahma Samhita (with English translation) of Bhakti Sidhanta Saraswati, Ed. by Gaudiya Math, Madras, 1952.

Chaitanya and His Age— D. C. Sen, Pub. by Calcutta University, 1922.

Early History of Vaishnav Faith and Movement in Bengal— S. K. De.

Early History of Vaishnavism in South India. S. K. Aiyangar, The Oxford University Press, 1920.

Eight Upnishads (with English Translation of Sri Aurobindo)— Pub. by Sri Aurobindo Ashram, Pondichery, 1953.

Essays on Gita, Ist series—Sri Aurobindo, Pub. by Arya Publishing House, College Street, Calcutta, 1919.

Hinduism Monier Williams—Pub. by Sushil Gupta, (India) Ltd. 35, Chittaranjan Avenue, Calcutta, 1951,

Krishna and the Puranas—Tattvabhushan Sitanath, Printed and Pub. by Trigunnath Roy, at the Brahma Mission Press, 211, Cornawallis Street, Calcatta, 1926.

Krishna and Krishnaism— Bulloram Mullic, Pub. by S. K. Lahiri and Co., 54, College Street, Calcutta, 1898.

Letters II series— Sri Aurobindo, Pub. by Sri Aurobindo Circle, Bombay 1st ed. 1947.

Madieaval Mysticism in India— Kshitimohan Sen, translated by Monomohan Ghosh, Lurzac & Co. London, 1930.

Monograph on the Religious sects in India among the Hindus— Pai

New Light on Sri Krishna and Gita— Vol. I—Mohan Sinha, Pub. by S. Sher Singh, B/2, Kapurthala. House, Lahore, 1944.

On the Veda— Sri Aurobindo, Pub. by Sri Aurobindo Ashram, Pondichery, 1956.

On Yoga— Vol. I Sri Arbindo Pub. by Sri Aurobindo Ashram, Pondichery 1955.

Proceedings and transactions of All-India Oriental Conference; Oct. 1955.

Pathway to God in Hindi Literature— R.D. Ranade, Adhyatma Vidya Mandir, Sangli, Nimbal ( R. S. ), Allahabad, 1954.

Sri Krishna, the soul of Humanity— A. S. Ramaian Adyar (Madras), 1918.

Sri Krishna the darling of Humanity— Panchapakesa Ayar, Madras Law Journal Office, Madras, 1952.

Sri Krishnavatara Lila— Kasamere Text, English translation by Grierson, The Asiatic Society of Bengal, Calcutta, 1928.

Sri Vallabhacharya-Life, Teachings and Movement— Bhai Manilal C. Parekh, Pub. by Harmony House, Rajkot, Ist Ed. 1943.

Sri Chaitanya Mahaprabhu— Tridandi Bhikshu Bhakti Pradip Tirtha Pub. by Gaudiya Mission, Baghbazar, Calcutta, 1947.

Sri Krishna Chaitanya— N. K. Sanyal, Pub. by Sri Gaudiya Math, Royapettah, Madras, 1933.

Some Aspects of Literary Criticism in Sanskrit or the Theories of Rasa and Dhvani— A. Sankaran, Pub. by the University of Madras, 1929.

The Religious Quest of India— (An outline of the Religious Literature of India) by J. N. Farquhar, Pub. by Humphry Milford, Oxford University Press, 1920.

The Bhakti Cult in Ancient India— Bahagwat Kumar Goswami, M., A., Ph. D., Pub. by B. Banerjee and Co., 25, Cornawallis St. Calcutta.

The Cultural Heritage of India— Pub. by Sri Ram Krishna Mission.

The Erotic Principle and Unalloyed Devotion— N.K. Sanyal, Pub. by Gaudiya Mission, Calcutta, 1941.

The Chaitanya Movement—M. T. Kenaedy, Oxford University Press, 1925.

The Vaishnavik Reformers of India— Raja Gapalchariar.

The Dance of Shiva— Anand Kumar Swamy, Asia Publishing House, Bombay, Calcutta, 1956.

The Vaishnav Literature of Mediaeval Bengal— D. C. Sen. Pub. by University of Calcutta, 1917.

The Philosophy of Vaishnav Religion— G. N. Mallick, Pub. by Punjab Sanskrit Book Depot, Saidmitha, Lahore, 1927.

The Life Divine— Sri Aurobindo, Pub. by the Sri Aurobindo Library, New York, 1949.

The Renaissance of India—Sri Aurobindo, Pub by Arya Publishing House, College Street, Calcutta, 1946.

The Foundations of India culture— Sri Aurobindo, Pub. by The Sri Aurobindo Library, New York, 1st Edition, 1953.

Vaishnavism, Shaivism and other minor Religions' Systems— R. G. Bhandarkar : Oxford University Press, Bombay, 1913.

Vaishnavism— Real and Apparent, Pub. by The Vishwa Vaishnava Raja Sabha, Ultadingi Junction Road, P. O. Shyambazar, Calcutta.

World Parliament of Religious Commemoratien Volume— Swami Shivananda Ashram.

## हस्तलिखित ग्रन्थ

### प्रयाग-संग्रहालय से प्राप्त

श्री स्वामिनी स्त्रोत टीका —विट्ठलेश्वर रचित।
स्वमिन्याष्टक टीका —विट्ठलेश्वर रचित।
श्रीराधावल्लभीय पद, प्रसंगमाला :
अष्टक संग्रह : —श्री प्रबोधानन्द, वल्लभाचार्य, सेवकजी आदि विरचित।
श्री राधासुधानिधि : —श्री हितहरिवंश गोस्वामी।

### नेशनल लाईब्रेरी कलकत्ता से प्राप्त हरिदासनंदी का संकलन

गोविंददास पदावली
श्यामसुंदर अष्टक —रूपगोस्वामी।
चाटु पुष्पांजलि स्त्रोत :
प्रेमभक्तिचन्द्रिका
चैतन्यचरितामृत (अपूर्ण)
भक्तिरसामृतसिंधु : शक १६४४ (सन् १७२२) की प्रति।

### भागवताचार्य की पाठबाड़ी, वराहनगर-कलकत्ता में संकलित सामग्री

जीवगोस्वामी की समाधि से प्राप्त चरणादि अंकित वस्त्र।
सनातनगोस्वामी : " " "
महाप्रभु का वस्त्र : (ब्रोकेड सहित)।
महाप्रभु का हस्ताक्षर

अकबर का फर्मान : नित्यानन्द के प्रपौत्र को अकबर द्वारा प्रदत्त गोविंदजी की जमींदारी
जयदेव गोस्वामी की जपमाला।
सनातन गोस्वामी की समाधि से प्राप्त करताल।

---